५·३

(सर्वाधिकार सुरक्षित हैं)

क्यों ?

(पूर्वार्द्धमात्र)

भूमिका लेखक :—

अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज

ग्रन्थ लेखक :—

श्री पं० माधवाचार्य्य शास्त्री

तथा—

व्याकरणाचार्य,

श्रीकण्ठ शास्त्री एम. ए., एम. ओ. एल.

प्रकाशक :—
माधव पुस्तकालय
धर्मधाम १०२ ए कमलानगर, देहली।

मुद्रक—धर्मप्रेस कमला नगर, देहली।

समर्पण

अशरण शरण !

'यत्करोषि—कर मुझे समर्पण'—
नाथ ! आपका विदित निदेश ।
पालन हित—यह तुच्छ भेंट लो,
आया शरण भक्त-हृदयेश ! ।।
तेरे ही वर का प्रसाद यह,
अपना है क्या मेरे पास ?
तेरे वरद हस्त में अर्पित,
इसे संभालो ! रमा-निवास ! ।।

दासानुदास :—
माधव

उपहार

ी ....

.... महोदय !

(१)

मगर’ से ग्रस्त डूबते गज को हरि ही सके उबार,
ंध अगर मगरसे निगलित, सम्प्रति नव शिक्षित संसार।
ु-नच किन्तु परन्तु नक्र का, करने को सहसा संहार,
ज्ञसार यह ‘क्यों’ माधव का चक्र सुदर्शन सुनिशित धार।

(२)

ा मानसरोवर वासी, राजहंस चिद् अंश उदार,
ासा प्रियतमा सहचरी, दिव्य दयित दम्पति अविकार।
सम्भूत तनय ‘क्यों?’ नामक, प्रश्नरूप निगमागम सार,
ीर-क्षीर विवेक अर्थ, अवतरित भेंट यह नव उपहार॥

समर्पक—

....

....

'क्यों ?' के सम्बन्ध में—

श्रीमन्नारायण की अनुकम्पा से आज हम 'क्यों' ग्रंथ के जिस चिर
ोक्षित द्वितीय संस्करणको पाठकोंकी भेंट कर रहे हैं, इसका सम्पादन
बहुत पहिले हो चुका था, परन्तु धर्मप्रचार कार्य में अतीव व्यस्तता
कारण चाहते हुए भी हम इसे प्रकाशित न कर सके थे। यद्यपि इस
वे अर्से में पाठक एक दिन भी 'क्यों ?' को नहीं भूले, अनेक धर्म-
यों ने इसके शीघ्र छप जाने की उत्सुकता प्रकट की, सख्त तक़ाजे
लम्ब और दीर्घसूत्रता के लिए प्रेमपूर्ण तानों से भरे बहुत से
भी लिखे, परन्तु गत वर्ष जब नित नए वायदों से ऊबकर हमारा
तरात्मा भी हमें लज्जित करने लगा, तब अन्य सब काम छोड़कर
इसे छाप डालने का दृढ़ संकल्प किया। फलस्वरूप 'क्यों' पूर्वार्ध
यह द्वितीय संस्करण आपके हाथ में है।

इस ग्रंथ के सम्पादन में जिन महानुभावों के अनुकूल किंवा प्रतिकूल
ों या विचारों से हमें कुछ भी सहायता मिली है, हम उन ज्ञात
या अज्ञात सभी सज्जनों के अत्यन्त आभारी हैं, विशेषकर अनन्त
विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज के—जिन्होंने अनेक धर्म-
ओं में अधिक व्यस्त होते हुए भी इस ग्रंथ की भूमिका लिखकर
का गौरव बढ़ाया था। इस ग्रंथ में जो मननीय सामग्री है वह
दि शास्त्रों की है और जो दोष हैं, वे सब हमारे हैं। भगवान् हमें
दें कि हम 'क्यों उत्तरार्ध' का भी द्वितीय संस्करण भेंट कर सकने
ी शीघ्र ही समर्थ हों! तथास्तु!!

संस्करण
त् २००६
संस्करण
त् २०१६

—माधवाचार्य

—श्रीकण्ठ शास्त्री

क्यों ?—एक अध्ययन

धर्म श्रद्धा का विषय है और राजनीति तर्क का। हमारे मह- ं ने योग की अलौकिक शक्ति द्वारा प्राप्त अपनी दिव्य से प्रकृति के जिन रहस्यों का जिन सूक्ष्म तत्त्वों का जिस में प्रत्यक्ष अवलोकन किया है उन्हें ही अपने ग्रन्थों में लिख ा है। वह उनकी कल्पना नहीं और न अनुमान ही है, वह न के अनुभव में आये हुए प्रत्यक्ष देखे हुए सिद्धांत हैं अतः न मानने का या उन पर विश्वास न करने का कोई प्रश्न ही उठता और न वह उठा ही। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर ा से एक हजार वर्ष पूर्व तक हम अपने उन महर्षियों द्वारा ाये गए मार्ग पर चलते रहे, उनके बताये हुए सिद्धांतों पर रण करते रहे और इसी का परिणाम यह हुआ कि बिना किसी प्रयत्न के हम इस दिशा में सकल जगत् के मार्गदर्शक रहे और हमारा देश जगद्गुरु के पद पर अभिषिक्त रहा।

समय ने करवट ली। भारत परतंत्र हुआ। हमारे जो नये क आये वे यहाँ राज्य करने के लिये ही नहीं आये थे अपितु त के धर्म-प्राण नागरिकों को अपने मजहब में दीक्षित ना भी उनका एक प्रधान उद्देश्य था। एक हाथ में कुरान दूसरे में तलवार लेकर ही उन्होंने इस देश में प्रवेश ा था और इसके लिये सबसे पहिले उन्होंने हमारे धर्मग्रंथों ही नष्ट करने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया।

शासकों के हरमों में पानी गर्म करने के लिये हमारे धर्म ईंधन की भांति फुंकने लगे। वह फुंकते रहे फुंकते रहे और

जब तक एक भी धर्म ग्रंथ उन की दृष्टि में शेष रहा उन फुंकना बन्द नहीं हुआ ।

और जब उनके शासन का अन्त हुआ तो अंग्रेज हमा नया शासक बन कर इस देश में आ गया । तलवार तो उ भी एक हाथ में थी किन्तु उसके दूसरे हाथ में कुरान के स्थ पर बाईबिल थी । वह हमें ईसाई बनाना चाहता था और इ लिए भी यह आवश्यक था कि हम अपने धर्म ज्ञान से शून्य जायें । इसके लिए उसने हमारे धर्मग्रंथों को फूका तो नहीं कि बड़े-बड़े मूल्य देकर जहाँ तहाँ देश के अन्धेरे कोनों में ि हमारे शेष बचे धर्म ग्रंथों को खरीद कर उनसे अपने के पुस्तकालयों की आलमारियों को सजाने के लिए ले गया।

मुग़ल हमामों की भट्टियों और अंग्रेजों की इस लूट पश्चात् यदि फिर भी हमारे कुछ ग्रंथ बच रहे तो सचमुच इसे एक आश्चर्य ही कहा जा सकता है ।

इस प्रकार एक ओर धर्मग्रन्थों का अभाव हुआ और दूस ओर धर्महीन शिक्षा का प्रसार । जनता पर इसका प्रभ गुलामी के पहिले आठ सौ वर्षों में जितना न हो सका उत पिछले डेढ़ सौ वर्षों में हुआ । मुसलमानों के शासन काल में जब जब भी हमारे सामने अपना सिर अथवा सिर की चोटी से किसी एक को दिये जाने का प्रश्न उठा तो हमने सदैव ि ही दिया किन्तु सिर को चोटी से पृथक् नहीं होने दिया कि इस अंग्रेजी काल में किसी के बिना कहे सुने ही हमारे सिर चोटी गायब हो गई । मुसलमानों ने जब तक हमारे धर्म ग्रन का विनाश जारी रक्खा हमने उन्हें आततायियों की दृष्टि बचाने के लिये अपने ही पेट फाड़ कर और उन ग्रन्थों को उस सी-सी कर उन्हें बचाया किन्तु अंग्रजी काल में धर्महीन शि

प्रभाव से मरना तो दूर कोई अंगुली भी नहीं काटता किन्तु र भी किसी के घर में एक भी धर्म पुस्तक ढूंढे नहीं मिलती। सी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि जनता धर्म से नभिज्ञ होती चली जाये।

अंग्रजी शासन काल में हमारी शिक्षा की बागडोर परम्परा-त गुरुओं के हाथ से हट कर पाश्चात्यों के हाथ में आई। श्चिम का प्राण है उसकी राजनीति जो तर्क का विषय है। अतः स शिक्षा ने हमें भी तर्क करना ही सिखाया। हम हर क्षेत्र में र्क करने लगे।

अनन्तश्री विभूषित श्री स्वामी करपात्री जी के शब्दों में द्यपि धर्म प्रत्यक्षानुमानादि का विषय नहीं है, केवल अनादि पौरुषेय शास्त्रों के द्वारा ही उसका अवगम होता है, किन्तु इस क्षा के प्रभाव से धर्म के क्षेत्र में भी तर्क तीव्रता से प्रवेश पाने गा, मानव बुद्धि में धर्म के भी प्रत्येक विषय की 'क्यों' जानने ी जिज्ञासा जागृत हो उठी।

मत मतान्तरों, रिलीजनों, महजबों में एक भूकम्प सा आ गा। उनकी महजबी पुस्तकों में कहीं ढूँढे भी क्यों का उत्तर े का साधन न मिला और उन्होंने क्यों पूछने वालों को फिर की उपाधि देकर ही अपना पिण्ड छुड़ाया। किन्तु वेद स्त्र और पुराणों का अनुयायी सनातनधर्म इस क्यों का काबला करने के लिये छाती ठोक कर सामने आया। उसने र्म के प्रत्येक अंग को क्यों की कसौटी पर कसे जाने के लिए स्तुत कर दिया।

और इसका श्रेय सनातन धर्म के जिन विद्वान् महानुभावों है उनमें सर्व प्रमुख हैं प्रस्तुत ग्रन्थ रचयिता हमारे शास्त्रार्थ-हारथी एवं अद्वितीय वक्ता श्री पण्डित माधवाचार्य जी शास्त्री।

पण्डित जी ने सनातनधर्म के प्रत्येक अंग पर बहु लिखा है इतना कुछ कि उसके पढ़ने के पश्चात् सम्भवतः तन धर्म के विषय में और कुछ पढ़ने को शेष नहीं रह किन्तु यदि उन्होंने इतना सब कुछ न लिखकर केवल ग्रन्थ ही लिखा होता तो भी वे धार्मिक साहित्य प्रणेता अग्रणी ही माने जाते ।

शास्त्री जी की महान् रचना 'क्यों' में विज्ञान सम्मत द्वारा सनातन धर्म के विभिन्न प्रकरणों पर अत्यन्त ही शैली से और आधुनिक भाषा में प्रकाश डाला गया है ग्रन्थ रत्न में केवल 'क्यों' का ही निरूपण नहीं है किन्तु साथ ही साथ 'क्या' और 'कैसे' पर भी विशद रूप से वि किया गया है ।

ग्रन्थकार के शब्दों में—संसार में किसी भी वस्तु की के लिए तीन अंग ही आवश्यक होते हैं । संस्कृत साहित्य में क्रमशः पक्ष, हेतु और दृष्टान्त कहा जाता है । लौकिक भाष उन्हें क्रमशः दावा, दलील और मिसाल कह सकते हैं और ग्रन्थ की भाषा में उन तीन अंगों को ही क्रमशः क्या क्यों कैसे कहा गया है । और यह कहना किंचित् भी अतिशयो नहीं है कि लेखक अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुए हैं ।

'क्यों' ग्रन्थ की रचना सर्वथा मौलिक और साथ ही वैज्ञा पद्धति से हुई है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विस्तृत रूप से आध भूत मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन है । जड़ और चेतन स्थूल और सूक्ष्मवाद, दृष्ट और अदृष्टवाद, अनन्त और सान्त प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षवाद, अण्ड और पिण्डवाद, शुचि अशुचिवाद, लोक और परलोकवाद, आदि विभिन्न वादों जिस विस्तार और योग्यता से निरूपण हुआ है वह देखते

नता है। ग्रन्थ का प्रारम्भ ही एक रूप से समस्त ग्रन्थ का लाधार है। धर्म विषयक अनेकों शंकाओं का समाधान तो वल इसी अध्याय के अध्ययन मात्र से ही हो जाता है। और फिर उसके पश्चात् एक के वाद दूसरे सिद्धान्तों को लेकर उनकी भी शंकाओं का सामाधान इस ग्रन्थ में किया गया है। र्मिक साहित्य में सचमुच ही यह ग्रन्थ अद्वितीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में जन्म से कर मृत्यु पर्यन्त के सभी वैदिक संस्कारों के साथ २ दिनचर्या त्रिचर्या ग्रहविज्ञान, महूर्तविज्ञान यज्ञ आदि विषयों पर वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। उत्तरार्ध में ईश्वर उपासना, मूर्तिपूजा अवतार, श्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, आदि विभिन्न साम्प्रदायिकवाद, यज्ञ, पर्व त्यौहार आदि विषयों पर अधिकार पूर्वक शास्त्रीय विवेचन किया गया है। ५०० पृष्ठों के इस बृहद् ग्रन्थ को सनातन धर्म के रहस्यों का अक्षय कोष कहें तो अत्युक्ति न होगी।

इस ग्रन्थ के अध्ययन के पश्चात् लोकसभा के अध्यक्ष माननीय श्री अनंतशयनम् आयंगर महादय के इन शब्दों से सभी व्यक्ति सहमत होंगे कि 'वर्तमान युग में एक ऐसे ग्रन्थ की, जिसमें सनातन धर्म के मूल सिद्धान्तों पर शास्त्रीय प्रमाणों के अतिरिक्त युक्ति-युक्त वर्णन हो अत्यन्त ही आवश्यकता थी और विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ द्वारा उस आवश्यकता की पूर्ति करके एक महान् कार्य किया है। अतः इस ग्रन्थ का जितना भी प्रचार होगा सनातन धर्म का उतना ही प्रचार होगा इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है।'

—श्री मदन गोपाल सिंघल

(लोकालोक से साभार)

भूमिका

[अभिनव-शङ्कराचार्य्य, विश्ववन्द्य, अनन्त श्री विभूषित स्व
हरिहरानन्द सरस्वती 'करपात्री' जी महाराज ने हिमाचल द्व
के एकान्तवास में इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण स्वयं पढ़कर तथा लेख
सुनकर भूमिकास्वरूप नीचे लिखी पंक्तियां लिखने की अनुकम्पा की
जो देखने में संक्षिप्त किन्तु भाव गाम्भीर्य में 'गागर में सागर'
भरते हुवे मीमांसा आदि दर्शनों की सर्वतन्त्र पद्धति से प्रस्तुत ग्रन्
मथितार्थ को प्रकट करती हैं। पाठक एक-एक अक्षर को मनो
देकर मनन करें—लेखक]

प्रख्यात-प्रवक्ता, विश्रुत-कीर्ति, सनातन-धर्म स्तम्भायम
शास्त्रार्थ-महारथ, श्री माधवाचार्य्य जी के 'पुरा
दिग्दर्शन' आदि विद्वत्तापूर्ण अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो
जनता का महान् उपकार कर रहे हैं। उन्हीं का
प्रस्तुत ग्रन्थ 'धर्म-दिग्दर्शन' है जो जनता में 'क्यों
इस नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है।

इसमें शास्त्रों एवं शास्त्र-सम्मत तर्कों के द्वारा भी सनातनधर्म
विभिन्न मर्मों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के विभि
प्रकरण बड़े ही रोचक ढङ्ग से परिष्कृत, आधुनिक भाषा में अपन
भावाभिव्यञ्जना में सफल हुवे हैं।

यद्यपि धर्म प्रत्यक्षानुमानादि का अविषय है, केवल अनादि अपौ-
य शास्त्रों के द्वारा ही उसका अवगम होता है। जो उपाय, प्रत्यक्षा-
ान द्वारा नहीं ज्ञात हो सकते उनका गमक होने से ही वेदों का
त्व सम्प्रतिपन्न होता है, जैसे चक्षुरादि के अविषय, शब्द का बोधक
ा से ही श्रोत्र की सार्थकता होती है वैसे ही प्रत्यक्षानुमानाविषय
संबोधक होने से ही वेदों की सार्थकता और धर्मब्रह्म की वेदैक-वेद्यता
ल द्ध होती है। इनमें भी ब्रह्म, 'भूत–' अर्थात्—सिद्धवस्तु है उसमें तर्क
लेश अवकाश हो सकता है परन्तु धर्म तो 'भव्य' अर्थात्—क्रिया निर्वृत्त
ा ता है अतः उसमें तर्कादि को अवकाश नहीं रहता। यद्यपि नैयायिक,
ार'षिक आदिकों ने अनुमान के द्वारा ईश्वर सिद्ध किया है और ईश्वर-
ग्रन्थक होने से वेदों का प्रामाण्य माना है तथापि मीमांसकों ने उन
मनों का सर्वथा खण्डन कर दिया है, उनका कहना है कि 'पहिले तो
र साधक अनुमान, अनेक उपप्लवों से युक्त है, अनुमानसिद्ध ईश्वर
ा भी लिया जाय तो वह 'ईश्वर-सामान्य' ही सिद्ध होगा 'ईश्वर-
ायमष' नहीं। जैसी युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेगा
ुरा ही युक्तियों से अन्यान्यवादी भी स्वाभिमत ग्रंथकार या आचार्य्य
हो ईश्वर सिद्ध करेगा, ऐसी दशा में वेदकार के ईश्वर होने में कोई
ा ष वाचोयुक्ति नहीं होगी, अतः अपौरुषेय वेदों से ही धर्म ब्रह्म की
स्यों द्ध होती है। इस तरह धर्म और ब्रह्म दोनों ही वेदैक-वेद्य हैं, यही—

) 'तं त्वौपनिषदं-पुरुषं पृच्छामि'

) 'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'

) 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'

—इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है। अतः वेद-शास्त्राविरोधी तर्को
ही धर्म का अनुसन्धान करना मनु भी कहते हैं।

विज्ञान का आंशिक प्रवेश बाह्य भौतिक तत्त्वों में ही होता
सूक्ष्म वस्तु तक उसका प्रवेश नहीं, केवल प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षायित ज्ञान
विज्ञान की सीमा है उसमें भी अभी तक उसकी कहीं स्थिरता
हुई उसके पीछे अनादि, अपौरुषेय, अपास्त-समस्त-पुंदोष
कलंक, वेदादि शास्त्रों को दौड़ाना अनुचित ही है। प्रत्यक्षवादी चा
को भी दूसरों के संशय, विपर्य्यय, अज्ञान, जिज्ञासा आदि जानने
लिए अनुमान या शब्द का ही सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि
के संशयादि का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव ही नहीं या तो उनके वच
या मुखाकृति विशेष आदि से ही उनका ज्ञान सम्भव है। तर्क
तो स्वयं प्रमाण नहीं है, किन्तु व्याप्तिग्रहादि का अनुग्राहक हो
अनुमान में उपयोगी होते,हैं परन्तु कितने ही ऐसे अचिन्त्य भाव हैं
अनुमान का प्रवेश नहीं होता।

(क) 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्

(ख) 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इत्यादि अनेक प्रमाण साक्षी

तार्किक-शिरोमणि न्यायभाष्य-कार वात्स्यायन, वार्तिककार भ
द्वाज उद्योतकर और वार्तिक-तात्पर्य्य कार वाचस्पति मिश्र सब
स्वर से कहते हैं कि आगम विरुद्ध अनुमान चाहे कितना भी निर्दु
पर वह अनुमानाभास ही होता है। यथा—

'नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यंगत्वात्, शंखशुक्तिकादि
यह अनुमान–**'नारं स्पृष्ट्वाऽस्थिसस्नेहं सचैलो जलमावि**
——इस आगम वचन से विरुद्ध होने के कारण ही अनुम

स है अन्य कोई दोष नहीं है। यदि आगमार्थ भी तर्कानुमान से
द्ध ही होता तब तो सत्प्रतिपक्ष आदि दूषणों से ही पूर्वोक्त अनुमान
षित हो जाता, फिर 'आगमविरुद्धत्वात्' हेतु से उसे अनुमानाभास
से कहा जा सकता ? तभी जैसे प्रत्यक्षागम्यावगमार्थ ही आगम की
पेक्षा होती है, अपरीक्षित अनुमान और अतत्पर आगम से प्रत्यक्ष
वल होता है, प्रत्यक्ष से साध्याभावादि निश्चित होने से अनुमान की
ध्यता प्रसिद्ध है। **'आदित्यो यूपः'** इत्यादि स्वार्थ में अपर्य्यवसित
गम भी प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से गौणार्थक मान लिये जाते हैं, परन्तु
रीक्षित अनुमान से भ्रमात्मक प्रत्यक्ष का ही बाध होता है, जैसे चन्द्र
र्य आदि का प्रादेशमात्र परिमितत्व और स्थिरत्वादि अनुमान से
धित होते ही हैं।

उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्गों द्वारा स्वार्थपर्य्यवसायी तत्पर
गम से प्रत्यक्षानुमान सबका ही बाध हो जाता है, अग्निहोत्र-
म और स्वर्ग का कार्यकारणभाव प्रत्यक्षानुमान से विरुद्ध होने
भी तत्पर आगम की प्रबलता से प्रत्यक्षानुमान का ही बाध होता है।
गम विरुद्ध, अस्थि-शुचित्वानुमान का बाध भी दिखलाया जा चुका
वेदान्त में ऐसे सहस्रों उदाहरण मिल सकते हैं।

तथापि तत्त्व को बुद्ध्यारूढ़ करने के लिये यथासम्भव तर्क का
योग दूषित नहीं है इसलिये **'श्रोतव्यः'** इस वाक्य से ब्रह्म साक्षा-
ारार्थ श्रवण का विधान करके **'मन्तव्यः'** इस वचन से श्रुत अर्थ
व्यवस्थापनार्थ उपपत्तियों का आदर किया गया है। नैयायिकों
ा कहना है कि यह न्यायचर्चा 'श्रवणान्तरागता' ईश्वर की उपासना
ी है।

धर्म के सम्बन्ध में अनेक उपपत्तियां ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती
है। यद्यपि वहां भी उपपत्ति का प्रवेश जिस अंश में होता है वह

अंश शास्त्र तात्पर्य का विषय नहीं समझा जाता अतः तद् बो वेद वाक्यों को भी अनुवादक होने से स्वार्थ में अप्रमाण ही मा जाता है, क्योंकि तात्पर्यार्थ अवश्य ही सर्वथा मानान्तरागम्य तथापि उतने से ही लोकबुद्धि में तत्त्वारूढ़ कराने के लिये उपयो होने से तर्क का आदर होता है।

इसी तरह अनेक उपासनाओं, कर्मकाण्डों, सदाचारों, तीर् तथा व्रतों आदिकों का शास्त्रैक-समाधि-गम्य अर्थ तर्कादि से अग ही है फिर भी उनके बाह्य और गौण स्वरूप के सम्बन्ध में त श्रवण करने से ही दुस्तर्कों का समाधान होता है, पुनः सूक्ष्म वस्तु आस्था हो जाती है, एतदर्थ ही विद्वान् लोग, तर्कप्रिय या तर्क-रसि लोगों के सन्तोषार्थ तर्क या विज्ञान का नाम लिया करते हैं। वा गौण वस्तुओं की प्रत्यक्षायित ज्ञान सिद्धतामात्र से वैज्ञानिकता की च भी की जाती है। इस दृष्टि से आजकल के तर्कतत्त्वानभिज्ञ, तर्काभा प्रिय आधुनिक नवशिक्षित समाज को भी वास्तविक तत्त्व की ओ उन्मुख करने के लिये तर्क विज्ञान आदि का प्रयोग किया जाता है इत्यादि अनेक दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है, इससे आधुनिक जगत् का अधिकाधिक उपकार सम्भव है। निश्चित ही इसके द्वार शास्त्र मर्मज्ञान की ओर जनता की प्रवृत्ति बढ़ सकती है। तथास्तु!

इन्द्र-प्रस्थ
श्रावणी २००६

करपात्र स्वामी

विषय-सूची।

सिद्धान्ताध्यायः

[पहिला अध्याय ३२ से ११२ तक]

विषय	पृष्ठांक
वेद में 'क्यों' वाद	३५
विरोधी भी शरण में	३६
वैदिक 'क्यों' का नमूना	४०
धर्म निर्णय में 'क्यों' का स्थान	४४
अन्यमत और क्यों ?	४८
सनातनधर्म और क्यों ?	५१
'क्यों' ? ग्रन्थ प्रयोजन और अधिकारी	५६
'क्यों' ? निर्णायक दार्शनिक पद्धति	५७
धर्म दिग्दर्शन सूत्रमाला	५८
आधारभूत मौलिक सिद्धान्त	६५
जड़ और चेतनवाद	६६
स्थूल सूक्ष्मवाद	६८
दृष्ट और अदृष्टवाद	६९
शाश्वतवाद और विपरिणामवाद	७०
अनादिवाद और सादिवाद	७१

१६ अनन्तवाद और सान्तवाद
१७ प्रत्यक्षवाद और परोक्षवाद
१८ अण्ड पिण्डवाद
१९ पाप और पुण्यवाद
२० भावनावाद
२१ शुचि और अशुचिवाद
२२ लोक परलोकवाद
२३ देश वैचित्र्यवाद
२४ वेद में देश-वैचित्र्यवाद
२५ काल वैचित्र्यवाद
२६ वस्तु वैचित्र्यवाद
२७ जाति वैचित्र्यवाद

अहोरात्रचर्याध्यायः

[दूसरा अध्याय पृष्ठ ११३ से २९६]

२८ नियमित दिनचर्या क्यों ?
२९ यथा विधि करने से क्या लाभ ?
३० क्या विधि-विधान व्यर्थ ढकोंसला है ?
३१ प्रात: जागरण
३२ प्रात: जागरण क्यों ?
३३ प्रात: स्मरण
३४ प्रात: स्मरणीय शिष्टाञ्जलि और उसका महत्त्व
३५ कर दर्शन

भारत माता की वन्दना १३०
भारत माता के आधुनिक पुजारियों से दो दो बातें १३१
राष्ट्रीय चेतना का मूल मंत्र १३२
प्रातः दर्शनीय पदार्थ १३३
मल विसर्जन १३९
बोलें क्यों नहीं ? १४२
पशुता की ओर १४४
मार्ग में क्यों नहीं ? १४६
मिट्टी या साबुन ? १४७
कौन मिट्टी न ली जाय १५०
मल मूत्र त्याग और शुद्धि के विशेष नियम १५१
दन्त धावन १५१
अमुक काष्ठ से अमुक लाभ १५१
दातुन किस वृक्ष की और कैसे ? १५७
दातुन बनाम टूथ पेस्ट ! १५९
कब न करें १६१
व्यायाम १६१
भारतीय व्यायाम पद्धति १६४
सूर्य प्रणाम १६६
आज की दयनीय दशा १६७
तेल मर्दन १६९
तेल मर्दन क्यों ? १७०
रवि मंगल आदि वारों को क्यों नहीं ? १७२

५९ **स्नान**
६० स्नान क्यों ?
६१ स्नान विधि
६२ बिना स्नान खाये क्यों नहीं ?

६३ **आसन विज्ञान**
६४ शास्त्रीय स्वरूप
६५ वैज्ञानिक विवेचन
६६ मृग व्याघ्र सिंह चर्म ग्राह्य क्यों ?
६७ कपड़ा, कुर्सी, पत्थर की शिला वर्जित क्यों ?
६८ अमुक दिशा को ही मुख क्यों ?
६९ शास्त्रीय-स्वरूप
७० वैज्ञानिक-विवेचन

७१ **तिलक धारण क्यों ?**
७२ शास्त्रीय-स्वरूप
७३ वैज्ञानिक-विवेचन
७४ जय हिन्द
७५ मांग में सिन्दूर क्यों ?
७६ हनुमान जी सिन्दूरी चोले में क्यों ?
७७ तिलक की सार्वभौम विजय

७८ **शिखा बन्धन क्यों ?**
७९ शास्त्रीय-स्वरूप
८० वैज्ञानिक-विवेचन
८१ **कुशा धारण क्यों ?**

२ शास्त्रीय-स्वरूप २०६
३ वैज्ञानिक-विवेचन २१०
४ वातावरण : नई खोज में २११
५ धर्मानुष्ठान में ही बाधक क्यों ? २१४

६ **संध्या**

७ संध्या से श्वास क्रिया का नियमन २१६
८ संध्या से आयुष्य वृद्धि २१७
९ संध्या से पारलौकिक लाभ २१९
० संध्या के मुख्य कर्म २२२
१ संकल्प क्यों ? २२३
२ संकल्प में जल ग्रहण क्यों ? २२६
३ तीन आचमन क्यों ? २२७

४ **प्राणायाम** २२८
५ प्राणायाम क्यों ? २३०
६ प्राणायाम के पांच रहस्य २३२
७ शारीरिक विकास २३२
८ श्वास साधना २३६
९ मानसिक विकास २३७
० क्या मनुष्य अमर हो सकता है ? २३७
१ प्राणायाम की पूर्णता २४०

२ **सूर्योपस्थान क्यों ?** २४२
३ **वैदिक संध्या बनाम आर्यसमाज** २४६
४ **माला आवश्यक क्यों ?** २४९

१०५ मध्यमांगुलि से ही क्यों ?
१०६ तुलसी रुद्राक्ष आदि की क्यों ?
१०७ शास्त्रीय-स्वरूप
१०८ माला कण्ठी गले में क्यों ?
१०९ माला के १०८ दाने क्यों ?
११० श्री १०८ क्यों ?

१११ भोजन

११२ वैज्ञानिक विवेचन
११३ सबको खिलाकर खाओ
११४ बलिवैश्वदेव : आदर्श समाजवाद
११५ बलिवैश्वदेव का संक्षिप्त संस्करण
११६ दरिद्रनारायण संस्करण
११७ भोजन के समय पालनीय नियम
११८ नियमों का स्पष्टीकरण
११९ भोजन के नियम पालन से आयुष्य वृद्धि
१२० कितनी बार चबाकर खाना चाहिये ?
१२१ भोग लगाने से क्या लाभ ?
१२२ सावधान !
१२३ उक्त विधि से भोजन करने से लाभ
१२४ पेट पर हाथ फेरना क्यों ?
१२५ जलार्द्र अंगुली आंखों पर क्यों लगायें ?
१२६ चहल कदमी क्यों ?
१२७ बांई करवट से लेटना क्यों ?
१२८ दो काम करने, दो नहीं करने

२९ दिन में क्यों न सोएँ ? २९०
३० अन्यान्य उपयोगी नियम २९१
३१ लांग खोलकर मूत्र त्याग करे २९१
३२ लांग बांधना २९२
३३ रात्रिचर्या २९३
३४ सोते समय दक्षिण को पांव क्यों नहीं ? २९४

जीवनचर्याध्यायः

[तीसरा अध्याय पृष्ठ २९७ से ६२२]

३५ संस्कार २९७
३६ संस्कार कब से ? २९९
३७ संस्कार की आवश्यकता ३००
३८ संस्कार क्यों ? ३०२
३९ संस्कार कितने ? ३०५
४० संस्कार में अधिकारी विचार ३०७
४१ भेद क्यों ? ३०८
४२ अधिकार या भार ? ३०९
४३ संस्कारों के सामान्य कृत्य ३१२
४४ स्वस्तिवाचन और शान्ति पाठ ३१२
४५ हरि ॐ क्यों ? ३१३
४६ **श्री गणेश प्रथम पूज्य क्यों ?** ३१३
४७ गणेश पूजन यत्र तत्र सर्वत्र ३१५
४८ अहिन्दुओं में परोक्षतया गणेश का ही पूजन ३१७
४९ शास्त्रीय-स्वरूप ३२०

१५० गणेश पूजन और एकेश्वरवाद
१५१ हाथी का शिर क्यों ?
१५२ हाथी की आंखें क्यों ?
१५३ लम्बी नाक क्यों ?
१५४ बड़े कान क्यों ?
१५५ हाथी की जीभ क्यों ?
१५६ हाथी के दांत क्यों ?
१५७ आकण्ठ नर-शरीर क्यों ?
१५८ लम्बोदर क्यों ?
१५९ मूषक वाहन क्यों ?
१६० ऋद्धि सिद्धि सेविकायें
१६१ गणेश की विचित्र उत्पत्ति
१६२ पौराणिक स्वरूप
१६३ वैदिक स्वरूप
१६४ आध्यात्मिक भाव
१६५ स्वरूप-विवेचन
१६६ आधिदैविक भाव
१६७ विघ्न विनाशक गणेश
१६८ क्या गणेश अनार्य देवता है ?
१६९ गणेश के द्वादश नाम
१७० मनोमूर्ति गणेश
१७१ गणेश विश्वतोमुख प्रणव है

१७२ ग्रह पूजन विज्ञान

१७३ ब्रह्माण्ड भर से भाई चारा

१७४ शास्त्रीय-स्वरूप ३७२
१७५ आवाहन से ग्रह कैसे आ सकते हैं ? ३७३
१७६ ग्रह मनुष्य पर कैसे चढ़ जाते हैं ? ३७४
१७७ क्या पोप जी ग्रहों के एजेन्ट हैं ? ३७५
१७८ अण्ड पिण्ड मूलक आयुर्वेद ३७७
१७९ **हवन-विचार** ३७९
१८० देवताओं की तृप्ति से क्या लाभ ? ३८४
१८१ **गर्भाधान संस्कार विचार** ३८७
१८२ वैदिक-स्वरूप ३८७
१८३ गर्भाधान, संस्कार क्यों ? ३९१
१८४ गर्भाधान क्रिया ज्ञान ३९४
१८५ स्त्री की अनुमति ३९७
१८६ पर्वादिकों में सहवास निषेध ३९८
१८७ पर्वादि में सहवास निषेध क्यों ? ४००
१८८ अमुक रात्रि में अमुक सन्तान क्यों ? ४०४
१८९ रजस्वला अशुचि क्यों ? ४०८
१९० **पुंसवन संस्कार विचार** ४१३
१९१ पुंसवन के लिये दो अव्यर्थ उपचार ४१५
१९२ **सीमन्तोन्नयन संस्कार विचार** ४१७
१९३ सीमन्त की इतिकर्तव्यता का प्रभाव ४२०
१९४ **जातकर्म संस्कार विचार** ४२४
१९५ माता या धाय किसका दूध ? ४२६
१९६ मधु, घृत क्यों चटायें ? ४२८
१९७ **नामकरण संस्कार विचार** ४२९

१९८ नामकरण संस्कार क्यों ?
१९९ नाम कैसा हो ?
२०० नामकरण कब

२०१ **निष्क्रमण संस्कार विचार**
२०२ **अन्न प्राशन संस्कार विचार**
२०३ **चूड़ाकरण संस्कार विचार**
२०४ शिखा क्यों ?
२०५ शिखा और संसार की विभिन्न जातियें

२०६ **उपनयन संस्कार विचार**

२०७ क्या यज्ञोपवीत धारण काम्य है ?
२०८ यज्ञोपवीत क्या है ?
२०९ संस्कार का संक्षिप्त स्वरूप
२१० यज्ञोपवीत कब से ?
२११ आधुनिक गवेषकों के दृष्टिकोण से
२१२ यज्ञोपवीत की व्यापकता
२१३ उपनयन कब ?
२१४ काल विभाग क्यों ?
२१५ उपनीत के लिये आवश्यक नियम
२१६ शुद्ध स्वदेशी हाथ के बने हों
२१७ सदोपवीतिना भाव्यम्
२१८ शौचादि के समय कान पर क्यों ?
२१९ शास्त्रीय दृष्टि से
२२० स्वास्थ्य की दृष्टि से
२२१ लौकिक दृष्टि से

२२२ यज्ञोपवीत निर्माण विधि ५०२
२२३ विशेष विधि क्यों ? ५०२
२२४ ९६ चप्पे क्यों ? ५०५
२२५ तीन सूत और त्रिवृत क्यों ? ५०९
२२६ ब्रह्मग्रंथी क्यों ? ५१२
२२७ दो यज्ञोपवीत क्यों ? ५१४
२२८ **स्त्री शूद्रोपनयन विचार** ५१५
२२९ निषेध परक प्रमाण ५१८
२३० प्रमाणाभास निरास ५२७
२३१ **समावर्तन संस्कार विचार** ५३७
२३२ **विवाह संस्कार विचार** ५४२
२३३ विवाह की विभिन्न रीतियां ५४५
२३४ महाशयों में विवाह की मिट्टी पलीद ५४७
२३५ विवाह कितने हैं ? ५५०
२३६ ब्रह्म विवाह बनाम प्रेम विवाह ५५२
२३७ एक घण्टे में दो बार विधवा ५५४
२३८ विवाह कब ? ५५६
२३९ विवाह क्यों ? ५६४
२४० विवाह के पांच उद्देश्य ५६५
२४१ विवाह संस्कार की रूपरेखा ५६८
२४२ हाथ ५६८
२४३ हरिद्रा हस्त ५६९
२४४ बान ५६९
२४५ मण्डप पूजन ५७१
२४६ घुड़चढ़ी ५७३

२४७ द्वाराचार ५७४
२४८ विवाह-संस्कार ५७७
२४९ कन्यादान ५७८
२५० लाजा-होम, भांवरें ५७९
२५१ सप्तपदी ५८४
२५२ छन ५८९
२५३ धान्य वर्षण ५८९
२५४ गृह-प्रवेश ५९१
२५५ ग्राम परिक्रमादि ५९३
२५६ **वानप्रस्थ विचार** ५९३
२५७ वानप्रस्थ क्यों ? ५९४
२५८ **संन्यास आश्रम विचार** ५९५
२५९ संन्यास क्यों ? ५९६
२६० **मृत्यु सज्जा विचार** ५९६
२६१ गोबर से लेपन क्यों ? ५९७
२६२ कुशा आस्तरण क्यों ? ५९९
२६३ भूमि पर विस्तर क्यों ? ६०१
२६४ चौंकी तख्त क्यों नहीं ? ६०२
२६५ उत्तर दिशा को शिर क्यों ? ६०३
२६६ चित्त क्यों लेटाएं ? ६०४
२६७ शिर के नीचे घुटना क्यों ? ६०५
२६८ मुमूर्षु स्वयं अपना भला कर सकता है ? ६०७
२६९ गंगाजल, तुलसीदल क्यों ? ६०८
२७० नाम स्मरण क्यों ? ६०९

२७१ ॐ या राम नाम ? ६१०
२७२ दीपदान क्यों ? ६११
२७३ अन्येष्टि संस्कार विचार ६१३
२७४ शास्त्रीय-स्वरूप ६१३
२७५ शव को जलाना ही क्यों चाहिए ? ६१४
२७६ कपाल क्रिया क्यों ? ६१६
२७७ सचैल स्नान क्यों ? ६१८
२७८ अग्नि स्पर्श निम्बपत्र चर्वण क्यों ? ६१९
२७९ अस्थियों को गंगा में क्यों डालें ? ६२०

प्रकीर्णाध्यायः

[चौथा अध्याय पृष्ठ ६२३ से समाप्ति तक]

२८० मुहूर्त विज्ञान ६२४
२८१ अन्यान्य मतों में मुहूर्त साधना ६२४
२८२ शास्त्रीय स्वरूप ६२७
२८३ वैज्ञानिक-विवेचन ६२७
२८४ मिस मेयो की मरम्मत ६२९
२८५ मानव पिण्ड शामिल बाजा ६३०
२८६ गुरु शुक्रास्त वर्जित क्यों ? ६३२
२८७ सिंह गत गुरु में विवाह क्यों न हों ? ६३३
२८८ आधिदैविक दृष्टि से ६३७
२८९ धन मीन के सूर्य में मलमास क्यों ? ६३८
२९० मीन के सूर्य में उपनयन क्यों ? ६३९
२९१ आर्य-समाज में विचित्र विवाह मुहूर्त ६४१

२९२ **यात्रा विज्ञान** ६४४
२९३ शास्त्रीय-स्वरूप ६४४
२९४ वैज्ञानिक-विवेचन ६४६
२९५ अहिन्दुओं पर प्रभाव क्यों नहीं ? ६४८
२९६ दिक्शूल क्यों ? ६५०
२९७ **वार क्रम विज्ञान** ६५०
२९८ चौथा ग्रह ही वाराधिपति क्यों ? ६५२
२९९ क्या मरना भी मुहूर्त में ? ६५५
३०० शास्त्रीय-स्वरूप ६५७
३०१ वैज्ञानिक-विवेचन ६५७
३०२ **अभिवादन-विज्ञान** ६५९
३०३ शास्त्रीय-स्वरूप ६६०
३०४ अभिवादन क्यों करें ? ६६३
३०५ ईसाई प्रथा अव्यवहार्य ६६३
३०६ मुस्लिम प्रथा रोगों का घर ६६४
३०७ आर्य समाजी गए बीते ! ६६५
३०८ नमस्ते कहना पाप ! ६६९
३०९ सनातन धर्मी प्रथा ६७३
३१० साष्टांग प्रणाम क्यों ? ६७३
३११ चरण छूकर क्यों ६७५
३१२ **गो महिमा** ६७८
३१३ शास्त्रीय स्वरूप ६७८
३१४ पञ्चगव्य पान क्यों ? ६७९

श्री गणेशाय नमः

क्यों ?

धर्म-दिग्दर्शन पूर्वार्द्ध

धर्म-दृढ-बद्ध-मूलो, वेद-स्कन्धः पुराण-शाखाढ्यः ।
क्रतु-कुसुमो मोक्ष-फलो, मधुसूदन-पादपो जयति ॥१॥

ये वै पुरातन-महर्षिवरा नृलोके,
प्राप्तं विचिन्त्य कलिकालमनर्थमूलम् ।
शङ्का-कलङ्क-कलुषं परिमार्ष्टुकामा,
ग्रन्थान् प्रणिन्युरिह ते नितरां प्रणम्याः ॥२॥

मन्दोप्यहं यत्कृपया गभीरं
सद्धेतुसिन्धुं मथितुं प्रवृत्तः ।
प्रणम्य तच् श्री गुरुपादपद्मं
'श्री धर्मदिग्दर्शन'मातनोमि ॥३॥

चार्वाक-व्रात-दम्भ-द्रुम-दवदहनो, बौद्ध-यज्ञाङ्ग-यूपः[१],
ईसाई-सर्प-तार्क्ष्यो, यवन-घन-मरुत्, कापडेयेभसिंहः[२] ।
सौशल्येष्टान्धकार[३]-क्षपण-दिनकरः, काम्यनिष्ठाद्रि[४]-वज्रः
ग्रन्थो वेदार्थहृद्यो, जगति विजयते, धर्म-दिग्दर्शनाख्यः॥४॥

आम्नाय-वाङ्मय-विधावकृतश्रमाणां,
नाना-कुतर्क-मलदूषितमानसानाम् ।
पाश्चात्य-शिक्षण-कषायित-मस्तकानां
मोहान्धकार-हरणं भवतादनेन ॥५॥

कृतिर्ममैषा विदुषां समाजे,
स्यात्कीर्तनीया बत ! निन्दिता वा ।
नूनं पुनर्धर्मविदूषकाणां
कृते भवेदुग्रविभीषिकेयम् ॥६॥

जन्मतो मृत्युपर्य्यन्ता याः क्रिया धर्मसम्मताः ।
ता एवात्र निरूप्यन्ते हेतुवादपरिष्कृताः ॥७॥

ये पालयन्ति मनुजा निजधर्मकृत्यान्
सद्विद्यया प्रतिभया च धनेन वापि ।
तेषां कृते लघुतरो हि मम प्रयासो
ज्ञेयास्त एव विबुधा अधिकारिणोऽस्य ॥८॥

टिप्पणी—(१) यागीय पशु (२) कापडीवंशोद्भव-दयानन्दमतावलम्बी (३) सोशलिस्ट (४) कम्यूनिस्ट ।

सिद्धान्ताऽध्यायः

(पहिला अध्याय)

अनन्तपारं शास्त्राब्धिं, नानाशङ्कोर्मिसंकुलम् ।
सिद्धान्तपोतमारुह्य, तरन्तु तरणोत्सुकाः ॥

वेद में 'क्यों'वाद

जिस प्रकार मुसलमान ईसाई अपने पन्थों के तत्तत् अनुष्ठानों की इतिकर्तव्यता को अवैज्ञानिक एवं कपोल-कल्पित होने के कारण 'क्यों ?' की कसौटी पर कसने में घबड़ाते हैं और ऐसे जिज्ञासु को 'काफिर' कह कर टाल देते हैं, ठीक इसी प्रकार कुछ हमारे अनुयायी भी वेद शास्त्रों की आज्ञाओं में 'क्यों ?' का अड़ंगा लगाना अनुचित अनुभव करते हैं। हम जहां इन महानुभावों को प्रमाणप्रतिष्ठापक प्रवृत्ति का आदर करते हैं, वहां यह भी नम्रता-पूर्वक कह देना चाहते हैं कि जब स्वयं वेद में ही बड़े विस्तार से 'क्यों ?वाद' भरा पड़ा है, तब आपको अहिन्दुओं की भांति अपनी धार्मिक व्यवस्थाओं को 'क्यों' की कसौटी पर कसते हुए देखकर भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं। सोने के भाव मुलम्मा बेचने वाले व्यक्ति को तो यह भय हो सकता है, कि यदि मेरे

इस मुलम्मे को अग्नि में तपाया गया, या कसौटी पर कसा गया, तो इसकी पोल खुल जायगी, अतः वह केवल कसमें खाकर ग्राहक को विश्वास दिलाना चाहा करता है और परीक्षा से भयभीत हुआ करता है, परन्तु जिसके पास खरा सोना हो, उसे परीक्षा से घबराने की क्या आवश्यकता ? वह तो भरी सभा में अपने खरे सोने को आग में तपाने और कसौटी पर कसने की खुली छुट्टी देता है ! चैलेंज करता है !! ललकारता है !!! ठीक इसी प्रकार अहिन्दू घबड़ाएं तो घबड़ाएं ! क्योंकि वे जानते हैं कि वैज्ञानिक कसौटी पर हमारा मजहब खरा साबित नहीं हो सकता, इसलिये उनके यहां 'बाइबिल या कुरान पर यकीन लाओ !' अथवा 'खुदाके इकलौते बेटे ईसा पर या अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद पर यकीन लाओ' का बोलबाला रहता है । ईसाई जगत् तो मजहब को केवल चर्च की चाहर दिवारी के अन्दर २ ही चर्चा करने योग्य वस्तु मानता है। चर्च में बैठो तो कहो 'खुदा ने सिर्फ छः दिन में कुल दुनिया बना दी'। साइन्स रूम में जाओ तो कहो 'दुनिया के बनने में करोड़ों वर्ष से कम समय नहीं लग सकता'। सो, 'नहीं सांच को आंच' के अनुसार, जब मैं जानता हूं, कि सनातन धर्म खरा सोना है ग्राहक जैसे चाहे वैसे परीक्षा कर देखे, तब मुझे उसे 'क्यों' की कसौटी पर कसने का खुला अवसर देते हुए आपत्ति क्या ?

विरोधी भी शरण में—

निःसन्देह हम प्रमाणवादी हैं, परन्तु संसार के समस्त पुरुषों को खुला निमन्त्रण देते हैं कि वे जैसे चाहें हमारे धर्म की परीक्षा कर देखें। हमें सोलहों आने विश्वास है, कि वे जब परीक्षा करने

के लिये प्रवृत्त होंगे, तो कुछ दिन में स्वयं सनातनधर्म की सत्यता के विश्वासी बन जायेंगे । यह हम स्वयं अनुभव कर चुके हैं ।

(१) एक बार लायलपुर (पंजाब) में और नैरोबी (अफरीका) में श्रीमद्भागवत पुराण की कथा करते हुए, हमने आर्यसमाज के जिम्मेवार व्यक्तियों को स्वयं इसलिये निमन्त्रण दिया, कि वे कथा सुनते हुए शङ्कास्पद बातों को नोट करें और कथा के अन्त में पूछें, उत्तर दिया जाएगा । प्रथम दिन वे बड़े जोश के साथ आए, दशों बातें नोट कीं, अन्त में उत्तर दिया गया । दूसरे तीसरे दिन शङ्काओं की संख्या कम होने लगी, दो चार बातें ही पूछीं । एक सप्ताह के बाद ऐसा अवसर आ गया, कि वे नित्य की भांति कागज पैन्सिल तैय्यार किये बैठे रहे परन्तु नोट कुछ नहीं किया । जब अन्त में पूछा गया कि आज कुछ क्यों नहीं नोट किया तो उनके मुखिया ने कहा, कि शङ्का की दृष्टि से कथा सुनते हुए कथा का रस भंग हो जाता है, आज मुझे ऐसा आनन्द आया कि रस में तन्मय हो गया, आज से आगे कागज पेन्सिल ही न लाऊंगा । इस शांतिपूर्ण मार्ग का तो मुझे आज ही पता लगा है, खाक डालो शङ्काओं के सिर पर । बस, उस दिन से वे सब लोग एक सच्चे कथाश्रोता की भांति आने लगे । आर्यसमाज में इसकी बहुत चर्चा चली । कई कट्टर कठमुल्लाओं ने इसमें आर्यसमाज की 'तौहीन' अनुभव की । मिटिंग बुलाकर प्रस्ताव पास कर दिया कि 'पुराणों की कथा में समाज का कोई सदस्य सम्मिलित न हो'—परन्तु वह पार्टी नहीं हटी । नगर के सुप्रतिष्ठित सज्जन होने के कारण उनपर अनुशासन का शस्त्र न चल सका ।

(२) शिमले की पहाड़ियों में आज भी एक मिस्टर स्टाक नाम के अंग्रेज निवास करते हैं । ये लार्ड खानदान के सज्जन

मिश्नरी बनकर ईसाई मत के प्रचारार्थ भारत में आये थे* । दसों वर्ष काम करने पर उन्हें यह अनुभव हुआ कि कोई भी हिन्दू ईसाई-धर्म को श्रेष्ठ समझ कर उसमें-प्रविष्ट नहीं हुआ । उन्हें यदि ईसाई बनने के लिये कुछ लोग मिले भी, तो वे नौकरी चाकरी या अन्य किसी लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए इस मत में दीक्षित होने वाले पिछड़ी जाति के लोग थे । उन्होंने अपने किन्हीं हिन्दू मित्र से यह चर्चा की, तो मित्र ने विनोद में कहा कि जब तक आप हमारे धर्म में कोई दोष न बतायेंगे तो मैं अपने धर्म को छोड़कर आपके मत में क्यों आने लगा ? पादरी स्टाक को यह बात जंच गई । तब उन्हें यह जानने की आवश्यकता पड़ी कि 'हिन्दू धर्म क्या है ?' और इसे समझने के लिये कौन ग्रंथ पढ़ा जाए,क्योंकि हिन्दू धर्म को समझ कर ही उसमें छिद्रान्वेषण किया जा सकता है । इसके लिये भी उसे किसी जानकार हिन्दू ने बताया कि यों तो सनातन धर्म के वेदादि बहुत ग्रन्थ हैं जिन्हें जीवन भर में पूरे नहीं पढ़ पाओगे, परन्तु थोड़े में ही यदि हिन्दू-धर्म का भेद जानना हो तो इसके लिये 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' पढ़ लेनी पर्याप्त होगी । यह छोटी सी पुस्तक हिन्दू धर्म की संक्षिप्त 'डायरैक्ट्री' कही जा सकती है ।

पादरी अपने मिशन की सफलता के लिये दोष दर्शन के विचारसे गीता पढ़नेमें प्रवृत्त हुआ । मिसेज एनीबेसेन्ट का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ने लगा । गीता पढ़ते हुए अभी चार पांच महीने ही हुए थे कि उसके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगा और गीता की पहिली आवृत्ति समाप्त होते ही वह लार्ड कृष्ण और हिन्दू धर्म के महत्त्व का विश्वासी बन गया । इस समय

---

*पता चला है कि वे तो परलोकगामी होगए, परन्तु उनका परिवार है ।

उक्त पादरी के परिवार के चार दर्जन से अधिक मनुष्य यहां थे। उसने सब को इकट्ठा करके एक दिन कहा कि तुम सब मिल कर या तो मुझे 'ईसाइय्यत' समझादो अन्यथा मुझ से हिन्दू धर्म समझलो, अब परिवार के आदमी या ईसाई रहेंगे या हिन्दुओं की तरह शेष जीवन बितायेंगे। खूब कसमकस हुई। घर वालों ने अनेक बड़े बड़े पादरी बुलाकर मि० स्टाक की तसल्ली करनी चाही, परन्तु फल विपरीत हुआ, क्योंकि घर वाले भी जब स्टाक तथा अन्य पादरियों की बहस (वादानुवाद) सुनते थे तो इन्हें ईसाई पन्थ की निर्बलता और हिन्दू सिद्धांतों की सत्यता का सुस्पष्ट अभास होता था। अन्त में इस सारे के सारे परिवार ने अपने को हिन्दू घोषित कर दिया। इनकी अपनी बहुत सी जमीन है, और ये शिमले के किसानों में अच्छे प्रतिष्ठित जमींदार रईस माने जाते हैं। घर में लार्ड कृष्ण का मन्दिर बना है, सब गीता पाठ करते हैं। नित्य प्रातः सायं दोनों समय 'लार्ड कृष्ण लार्ड कृष्ण' का कीर्तन होता है। आर्यसमाजी आदि किसी प्रपंची से इस परिवार ने 'शुद्धि' का अभिनय नहीं रचाया। न ये लोग खान पान के लिये किसी हिन्दू को अपने सम्पर्क में आने देने के इच्छुक हैं, किन्तु गीता के 'येऽपि स्युः पापयोनयः' सिद्धान्त के अनुसार अपने आपको इसी कोटि का हिन्दू मानते हैं।

(३) इसी तरह से एक फ्रांसीसी सज्जन काशी में रहते हैं। वे भी हिन्दू धर्मानुसार अपने आपको अन्त्यज मानते हुए अपना सात्विक जीवन बिता रहे हैं। आप अपना हिन्दू नाम 'शिव शरण' बतलाते हैं और हिन्दी के साप्ताहिक पत्र 'सिद्धांत' (बनारस) में इसी नाम से धार्मिक लेख लिखते भी हैं।

इन दृष्टान्तों का तात्पर्य केवल यह है कि सनातनधर्मियों

को अन्यान्य पन्थों की भांति 'क्यों' से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं अपितु सर्व साधारण को खूब—'क्यों ?' 'क्यों ?' पूछने की खुली छुट्टी देनी चाहिये और उनकी, दार्शनिक रीति से तथा वर्तमान भौतिक-विज्ञान से भली भांति तसल्ली करनी चाहिये। हमारा अनुभव है कि इस मार्ग के अवलम्बन से हम अधिक से अधिक नास्तिकों को प्रमाणविश्वासी सनातन-धर्मानुयायी बना सकने में कृतकार्य हो सकेंगे।

यहां पाठकों को हमारे प्रत्येक समाधान में प्रयुक्त 'विज्ञान' शब्द को देखकर इस प्रकार की आशंका नहीं करनी चाहिये कि जब वेद स्वतः प्रमाण है तब वेदोक्त भावों के भी समर्थन के लिये 'वैज्ञानिक विवेचन' करना मानों वेदों के प्रामाण्य में सदेह करना है—जो किसी भी आस्तिक को अभीष्ट नहीं हो सकता। परन्तु यह शंका व्यर्थ है क्योंकि स्वयं वेद, विज्ञान द्वारा अपने को समझने का आदेश देता है यथाः—

विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति इमञ्च लोकममुञ्च विज्ञानं ब्रह्मे त्युपास्ते (छान्दोग्य ७। ७। १। २)

अर्थात्—विज्ञान से ऋग्वेद को जानता है, विज्ञान से ही इस लोक और परलोक का रहस्य जाना जा सकता है। विज्ञान साक्षात् ब्रह्म है, यह जानकर विज्ञान की उपासना करनी चाहिये।

—❀:०:❀—

वैदिक 'क्यों' का नमूना

अब हम वेद के कतिपय ऐसे प्रमाण उद्धृत करते हैं, जिनमें वैदिक सिद्धान्तों की 'क्यों' जानने का सुस्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त २, ७ और ८ के कुछ मंत्रांश मननीय हैं यथा:—

(क) केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य ? केन मांसं संभृतं ?
केन गुल्फौ ? केनाङ्गुलीः ? पेशनीः केन खानि ?
केनोच्छ्लङ्खौ ? मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ।।१।।

(ख) कति देवाः ? कतमे त आसन् ?…कति स्तनौ व्यदधुः ? कः कफौडौ ? कति स्कन्धान् ? कति पृष्टीरचिन्वन् ? ।।४।।

(ग) क उ तच्चिकेत ? ।।७।।
दिवं रुरोह कतमः स देवः ? ।।८।।

(घ) प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नंदांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ? ।।९।।

(ङ) को अस्मिन् रूपमदधात् …कश्चरित्राणि पूरुषे ? ।१२।
को अस्मिन्प्राणं ? को अपानं ? व्यानमु ? समानमस्मिन्को देवः ।
को अस्मिन्सत्यं ? कोऽनृतं ? कुतो मृत्युः ?
कुतोऽमृतम् ? ।।१४।।

(च) को अस्मै वासः पर्यदधात् ? को अस्यायुरकल्पयत् ?
बलं को अस्मै प्रायच्छत् ? को अस्याकल्पयज्जवम् ? ।।१५।।

(छ) केन पर्जन्यमन्वेति ?……केनास्मिन्निहितं मनः ।१६।
(अथर्व १० । २ । १—१६)

(ज) कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्वा ? (अथर्व १० । ७ । २)

(झ) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ? तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये । (अथर्व १० । ८ । ४)

अर्थात् —(क) मनुष्य की एडियें मांस से क्यों भरी होती हैं ? टखने अंगुली इस प्रकार की क्यों होती हैं ? सब इन्द्रियों के छिद्र क्यों खुले रहते हैं ? दोनों शङ्खास्थियों के बीच में चीर क्यों रहता है ? (ख) देवता कितने होते हैं ? और वे कौन से हैं ? स्त्रियों के स्तनाशय क्यों होता है ? कोहनी आदि जोड़ मुड़ते तुड़ते क्यों हैं ? कन्धों और पीठ की रचना इस प्रकार की क्यों है ? (ग) इन सब तत्त्वों का जानने वाला कौन है ? वह कौन शक्ति है जो यह सब कुछ रचकर स्वयं द्यौलोक में चढ़ गया ? अर्थात् अदृश्य हो गया । (घ) यह मनुष्य स्वप्न में प्रिय और अप्रिय पदार्थ क्यों देखता है ? तथा उससे आनन्द या दुःख क्यों अनुभव करता है ? (ङ) पुरुष में रूप सौन्दर्य कहां से आता है ? और इसके चरित्रों का अधिष्ठान क्या है ? मानवपिण्ड में प्राण अपान, समान, उदान और व्यान किसने फूंके ? सत्य और झूठ का आधार क्या है ? तथा मृत्यु और अमरत्व का हेतु क्या है ? (च) मानव समाज को वस्त्र पहिनना किसने सिखाया ? और इस आयुष्य की अवधि का क्या रहस्य है ? बल और वेग दोनों क्या

वस्तुएं हैं ? (छ) बादल क्यों बरसता है ? मन के न लगने का क्या आधार है ? (ज) अग्निका प्रकाश चुन्धियाने वाला क्यों होता है ? वायु की सरसराहट अज्ञात किन्तु सुनिश्चित सी क्यों होती है ? (झ) बारह पर्वों वाला एक चक्र=पहिया है, परन्तु उसकी नाभि तीन क्यों हैं ? यह तत्त्व कौन जानता है ? उसमें तीन सौ साठ कीलें ठुकी हैं जो निरंतर चलती फिरती क्यों रहती हैं ? अर्थात्—बारह महीने का एक वर्ष गाड़ी के पहिये की भांति घूमता है परन्तु गर्मी, सर्दी और वर्षा ये तीन प्रकार की उसकी नाभ उत्तरायण दक्षिणायन और विषुवत् रेखा पर आश्रित क्यों है ? वर्ष के तीन सौ साठ दिन छोटे वड़े क्यों होते हैं ?

अथर्ववेद के दसवें काण्ड में कई सूक्त 'क्यों' से भरे पड़े हैं। यदि हम चारों वेदों के केवल प्रश्नात्मक मन्त्रों का संग्रह करें तब तो हमारे 'क्यों ?' से भी कई गुणा बड़ा एक स्वतन्त्र महाग्रन्थ ही तैयार हो जाय, फिर यदि उसके उत्तरों का शब्दानुवाद मात्र भी लिखने बैठें, तो रेलवे की एक छत्तीस टन की गाड़ी भर जाय, विवेचन और व्याख्यान की कथा तो कथा ही है। 'केन उपनिषद्' का नाम ही उसके 'क्यों' होने का प्रमाण है, यही बात 'प्रश्नोपनिषद्' के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये।

इस प्रघट्ट से हम पाठकों को नास्तिकों की 'क्यों' का सदैव उत्तर देने के निमित्त कटिबद्ध रहने के लिये प्रोत्साहित करना चाहते हैं। भगवत् कृपा से सनातन धर्म के पास सब क्योंओं का उत्तर देने की विपुल सामग्री विद्यमान है, वे जब जो चाहें सो पूछें, परंतु यह ध्यान रहे कि यदि हमने किसी नास्तिक से एक भी क्यों पूछ ली, तो सात जन्म तक भी उसका उत्तर देने में समर्थ न हो सकेंगे। इतने पर भी यदि किसी को अपनी तर्कशील

बुद्धि का अधिक भरोसा है तो वह नीचे के कतिपय प्रश्नों पर आजमाइश कर देखें, और जरा बतायें कि—

१—बेर के वृक्ष की समान टहनी में जो कांटे होते हैं उनमें से एक सीधा और दूसरा टेढ़ा क्यों ?

२—ढाक के सदैव तीन पात क्यों ?

३—मीठे नदी नदों का जल समुद्र में पहुंचते ही खारा क्यों ? और वही पुनः बादल से बरसने पर मीठा क्यों ?

४—सर्प के कान एवं पांव, मेंढक के जीभ और चिमगादड़ के गुदा क्यों नहीं ?

५—सोने में गंध, ऊख में फल, चंदन में फूल, करीर में पत्ते और कंक, (गोघड़-नामक श्वेत रंग की चील) में चहचहाना क्यों नहीं ?

—:—:(:❀:):—:—

धर्म निर्णय में 'क्यों' का स्थान

(युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः)

'हेतुवाद' किंवा 'तर्कवाद' धर्म निर्णय का अन्यतम साधन है। वैदिक वाङ्मय में यत्र तत्र 'क्यों' मूलक प्रश्नों का समावेश है इसका दिग्दर्शन पीछे कराया ही जा चुका है। स्वभावतः मानवबुद्धि में प्रत्येक विषय की 'क्यों' जानने की जिज्ञासा रहती है। स्तनंधय बालक जब से कुछ बोलना सीखता है, तब से लेकर आयु भर नवीन वस्तु को देखते ही 'किं' शब्द की मुहारणी रटने लगता है। खासकर बच्चे तो 'यह क्या' 'यह क्यों' 'यह

कैसे' और 'यह किस लिये' आदि प्रश्नों का तांता बांधते हुये अपने अभिभावकों के नाकों दम कर डालते हैं। हमारे पूर्वज महर्षियों ने जहां अन्यान्य मानसिक प्रवृत्तियों को उच्छृङ्खलता के दायरे से निकालकर मर्यादित एवं नियंत्रित करने का पुनीत प्रयत्न किया है, वहां हेतुमूलक जिज्ञासा प्रवृत्ति की भी इयत्ता स्थिर करके धर्म निर्णय में इसका उचित मूल्य निर्धारित किया है। तदनुसार शास्त्र कहते हैं किः—

(क) आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।
(अमृतनादोपनिषद् १७)

(ख) आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
(मनु १२। १०६)

(ग) योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥
(मनु २। ११)

अर्थात्—(क) आगम शास्त्र का विरोध न करके जो समझने की चेष्टा करना है उसे तर्क कहते हैं। (ख) महर्षियों द्वारा समाधि-लब्ध वेद और तदुपदिष्ट स्मृत्यादि अनुमोदित धर्म का वेद शास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा, जो व्यक्ति अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं। (ग) जो द्विज हेतुशास्त्र के आश्रय से=कुतर्कों के बल से-धर्म की मूलभूत श्रुति और स्मृति का अपमान करता है, वह नास्तिक एवं वेदनिन्दक होने के कारण सज्जन पुरुषों द्वारा बहिष्कार करने योग्य है।

महर्षि वेदव्यास वेदान्तदर्शन (२ । १ । ११) में सुस्पष्ट लिखते हैं कि:—

तर्क अप्रतिष्ठानात् ।

अर्थात्—धर्माधर्म-निर्णय में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। भारत के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री भर्तृहरि ने अपने महा महिम ग्रन्थ वाक्यपदीय में तर्क की प्रामाण्यता की सीमा सुतरां निर्धारित की है, यथा:--

(क) न चागमादृते धर्मः । (१ । १३)

(ख) वेदशास्त्राविरोधी च तर्कः । (१ । १३६)

अर्थात्-(क) आगम शास्त्रीय प्रमाण के अतिरिक्त धर्म निर्णय में अन्य कुछ प्रमाण नहीं है। (ख) वेद शास्त्र के अविरुद्ध तर्क भी मान्य है ।

महर्षि चरक—जो कि भारतीय आयुर्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में प्रमुख हैं—शारीरिक रोगों का प्रधान कारण पूर्व जन्म कृत पाप मानते हुये स्वास्थ्य सम्बर्द्धन के निमित नास्तिक बुद्धि के परित्याग का परामर्श देते हैं। यथा:--

बुद्धिमान् नास्तिकबुद्धिं जह्यात् ।

(चरक सूत्र स्थान ११-७-८)

अर्थात्—बुद्धिमान् पुरुष को नास्तिक बुद्धि का परित्याग कर देना चाहिये। तत्त्व यह है कि हेतुवाद किंवा तर्कवाद धर्म-निर्णय का अन्यतम साधन होते हुए भी धर्माभिमानियों के निकट गौण साधन है। ऋषियों की सम्मति में हमें अपनी जीवन रूपी गाड़ी वेद रूपी इञ्जन के पीछे जोड़ देनी चाहिये । वह,

तर्कवाद रूप पहियों के आधार पर तो अवश्य लुढ़के, किंतु उसका पथ प्रदर्शक प्रमाणवाद होना चाहिये। यही सनातन धर्म का आदर्श है।

आज भले ही वेदाभिमानी होने का दावा करने वाले आर्य-समाजी, वेद रूपी गाड़ी को अपने तुच्छ तर्क रूपी इञ्जन के पीछे खींचने का उपहासास्पद प्रयास करते हों और इस तरह तर्क को वेद ज्ञान का अन्यतम साधन मात्र न मानकर उसे वैदिकत्व परखने की खरी कसौटी समझते हों, एवञ्च जिन अनुभवैक-वेद्य विषयों के याथातथ्य निर्णय में वह तर्क कुण्ठित होता दीख पड़ा कि झट उस विषय पर अवैदिकता की मुहर लगाने की धृष्टता कर सकते हों परन्तु पुरातन काल से कल तक के सभी आस्तिक महानुभावों ने तो एक स्वर से--प्रत्यक्षानुमानोपमानादि-सर्व-प्रमाणान्तर से सर्वथा अविज्ञात विषय का 'इदमित्थं' ज्ञान प्रदान करना ही वेद का 'वेदत्व' प्रकट किया है, यथा--

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात्--प्रत्यक्ष में किंवा अनुमान से अथवा अन्य प्रमाण से जो उपाय नहीं विदित हो सकता है उसे वेद से जाना जा सकता है, यही वेद का 'वेदत्व' है। अस्तु,

संसार की प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिये तीन अंग आवश्यक होते हैं। संस्कृत साहित्य में उन्हें क्रमशः --पक्ष, हेतु और दृष्टांत कहा जाता है। लौकिक भाषा में--दावा, दलील और मिसाल कह सकते हैं, हम इस ग्रंथ की भाषा में उन्हीं तीनों अंगों को क्रमशः 'क्या, क्यों और कैसे ?' कहेंगे।

धर्म क्या है ? यह जानना हो तो यह तत्त्व वेद और धर्मशास्त्रों द्वारा विदित होगा, अतः हम श्रुति और स्मृति को संक्षिप्त शब्दों में 'क्या' ? कह सकते हैं।

तत्तद् धर्म क्रियायें तथैव क्यों आचरणीय हैं—यह तत्त्व दर्शनशास्त्रों से विदित होता है, इसलिये उन्हें हम एक शब्द में 'क्यों' कह सकते हैं।

'क्यों' रूप धर्म की 'क्यों' रूप कारणावली को समझ लेने पर प्रत्येक धर्मानुरागी के मन में स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होगी, कि तादृश धर्मानुष्ठान की इति-कर्तव्यता का, किस व्यक्ति को क्या लाभ हुआ यह कैसे जाना जाये।—इस तत्त्व का निरूपण पुराणेतिहास ग्रंथों से जाना जा सकता है। इसलिये इन्हें हम 'कैसे' कह सकते हैं।

इस प्रकार सनातन धर्म की सिद्धि के लिये आर्य साहित्य में तीनों अंग विद्यमान हैं। वेद ने कहा—'सत्य वद' अर्थात् सत्य बोलो—यह दावा है।। दर्शन शास्त्र ने कहा—'सत्यप्रतिष्ठायां सर्वव्यवहारसिद्धिः' अर्थात् सत्य के आश्रय से समस्त व्यवहार सिद्ध हो जायेंगे—यह दलील है। पुराणेतिहास ने साक्षी दी कि जैसे राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य की उपासना के बल से अपना और अपनी प्रजा का कल्याण किया—यह मिसाल है।

❀ ❀

अन्यमत और क्यों ?

इस प्रकार सनातनधर्म दावा, दलील और मिसाल तीनों प्रकार के शास्त्रों से सम्पन्न होने के कारण सर्वांगपूर्ण है, परंतु

ईसाई मुसलमान आर्यसमाजी आदि सभी मतों में केवल दावा मात्र है। किसी अंश में यथाकथञ्चित् मिसाल भी मिल जाती है, परंतु दलील का सर्वथा अभाव है। यदि हम किसी मुसलमान से पूछें कि वह दाढ़ी रखता हुआ भी मूछों को क्यों कटा डालता है ? और खुदा को निर्विशेष रूप से सर्वत्र मानता हुआ भी केवल काबे की ओर मुख करके ही निमाज क्यों पढ़ता है ? तो वह यही कहेगा कि हमारे कुरान और हदीसों में ऐसा करने का हुक्म है। यदि पुनः पूछा जाय कि ऐसा हुक्म क्यों है ? तो वह कुछ भी हेतु —दलील देने में असमर्थ होने के कारण बिगड़ कर यही कहेगा कि 'तू काफिर है, जो मजहव में 'क्यों' का अडंगा लगाता है।' इसी भांति किसी ईसाई से पूछिये, कि आपका पादरी कमर में रस्सा क्यों बांधता है ? और गले में लकड़ी का बना क्रास चिह्न क्यों लटकाता है ? तो वे भी यही कहेंगे—हमारे धर्मग्रंथ अंजील और तौरेतमें ऐसा करना लिखा है। पुनश्च पूछा जाय कि ऐसा क्यों लिखा है ? तो वे भी पूछने वालों को 'काफिर' कहने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते।

भारतीय सम्प्रदायों में आर्यसमाज भी एक ऐसा मत है कि जो कहने को तो बड़ा तार्किक बनता है और वह अपना जन्म ही शिवलिंग पर चढ़े चूहे को देखकर—'जब यह प्रतिमा अपने ऊपर चढ़े चूहे को भी नहीं हटा सकती तो यह हमारी रक्षा कैसे कर सकेगी'—इस तर्क या कुतर्क के आधार पर मानता है। अन्यान्य सभी सम्प्रदायों की धार्मिक क्रियाओं का उपहास उड़ाने में भी अपने तर्क तोमर की तीव्र धार का बड़ी बेरहमी से प्रहार करता है, परंतु स्वयं इतना दकियानूस और 'दादावाक्यं प्रमाणम्' की

दल-दल में आकण्ठ मग्न है कि अनेक सर्वथा मिथ्या और कपोलकल्पित बातों को भी केवल इसलिये हठात् पकड़े बैठा है कि वे बातें दयानंदी टकसाल के सांचे में ढली हैं। उदाहरणार्थ—

समाजियों से पूछिये कि हवन क्यों करते हो ? तपाक से उत्तर देंगे—वायु शुद्ध करने के लिये। पुनः प्रश्न कीजिये कि वायु शुद्धि तो अग्नि में यथा तथा सुगंधित द्रव्य डालने मात्र से हो सकती है फिर आप साथ २ मंत्र क्यों बोलते हो ? उत्तर मिलेगा कि इस बहाने से वेद मंत्र भी कण्ठस्थ हो जायेंगे। पुनश्च पूछिये कि यदि मंत्र कण्ठ करने मात्र के ही अभिप्राय से बोले जाते हैं—तो अकल का तकाजा है कि अमुक २ मंत्र कण्ठ हो जायें तो पुनः नये २ मंत्र बोलने चाहियें। परंतु तुम तो अन्यून एक शताब्दी से वही स्वा. दयानन्द संगृहीत 'हवन मंत्राः' नामक साढ़े सात मंत्रों के ट्रैक्ट को रटते हो—सौ वर्ष में भी यदि ये साढ़े सात मंत्र कण्ठस्थ न हो पाये, तो इस सुस्त रफ्तार और इतनी कुन्द जहनियत से एक लक्ष मंत्र वाले वेदों का पूरा पारायण तुमसे सहस्र जन्मों में भी नहीं हो सकेगा। बस, यह सुनते ही दयानन्दियों की दलीलों का दिवाला निकल जायगा और शास्त्रार्थ को शस्त्रार्थ बनाने के प्रयत्न में तत्पर हो जाएंगे।

वास्तव में इन सभी पंथों के पास 'क्यों ?' बताने के साधनभूत ग्रंथ ही नहीं हैं। आर्यसमाज भी यदि किसी एक भी दर्शन को मानले तो उसकी रेत की दीवार तत्काल धम्म से गिर जाय। सभी दर्शनों में मूर्तिपूजा, ईश्वर का अवतार, मृतश्राद्ध, जन्मना वर्ण व्यवस्था, तीर्थ और छुवाछूत आदि वैदिक विषय ओतप्रोत हैं। अतः वह 'केवल वेदानुकूल और प्रक्षेप रहित अंश हमें मान्य

हैं' इस बहाने से उन्हें न सर्वांश में मान सकता है न छोड़ सकता है —'भई गति सांप छछुंदर केरी'।

अस्तु, अन्य मत वाले 'क्यों' से बहुत घबराते हैं। 'क्यों' पूछा कि प्रश्नकर्ता को 'काफिर' की उपाधि मिली। वस्तुतः ये सब सम्प्रदाय 'क्यों' का उत्तर देने में विवश हैं ! लाचार हैं !!

सनातनधर्म और क्यों

'क्यों' की समस्या एक उदाहरण से अच्छी तरह समझ में आ सकती है। आपने देखा होगा कि बड़े २ रेलवे स्टेशनों, बैंकों और आफिसों में सार्वजनिक जिज्ञासाओं की निवृत्ति के लिए पूछताछ (Enquiry) का दफ्तर होता है। यहां लम्बे लम्बे वेतन वाले सुयोग्य व्यक्ति केवल इसी काम के लिये महकमे की ओर से नियुक्त रहते हैं, कि वे जनता की पूछताछ का उचित उत्तर दें। जनता उनसे सौ बार भी पूछे तो वे बुरा नहीं मानते, बराबर उचित उत्तर देते रहते हैं। कुछ लोग तो ऐसे अनावश्यक ऊलजलूल प्रश्न भी करते हैं कि जिन्हें सुनकर सर्व साधारण में भी झुंझलाहट सी होती है परंतु इस कार्यालय के इंचार्ज अजीब मिट्टी के पुतले होते हैं, अतः उनके धैर्य का बांध नहीं टूटता। तथैव मुस्कराते हुये सौ बार कहा सुना उत्तर पुनरपि अन्वादेश= (रिपीट) कर देते हैं, परंतु यदि किसी ऐसे व्यक्तिसे, जो कि वस्तुतः पूछताछ का अध्यक्ष नहीं–कोई प्रश्न किया जाय तो वह प्रश्न का उत्तर देने के लिये बाध्य न होगा। एक बार यदि उपकारकी दृष्टि से कुछ बता भी दे तो पुनः पूछने पर झुंझलाकर डांट ही बताएगा। ठीक इसी प्रकार सनातनधर्म रूप इस महान् आफिस में एक दो नहीं पूरे छः पूछताछ के कार्यालय खुले हैं। संसार भरको

जिज्ञासाओं='क्योंओं'को छः भागोंमें विभक्त करके एक एक क्यों का सर्वाङ्ग पूर्ण उत्तर देने के लिये एक २ प्रधान अध्यक्ष और उसके अनेक सहकारी शिष्य प्रशिष्य नियत हैं। प्रधानाध्यक्षों के नाम हैं—कपिल, गोतम, कणाद, पतंजलि, जैमिनि और व्यास।

इन महात्माओं ने अपने २ विभाग की सर्वांगपूर्ण दर्शनसंचिका =डायरैक्ट्री तैयार कर रक्खी हैं, जिनके नाम हैं क्रमशः—सांख्य न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा और वेदांत। आप पूछिये कि यह संसार क्या है? तो झट कपिल जी महाराज अपने शास्त्र सांख्यदर्शन को खोलकर उत्तर देंगे, कि केवल २५ ही तो मूलतत्त्व हैं जिनसे यह अनंत प्रपंच दीख पड़ता है। बस, इसी तरह पदार्थ की दृष्टि से प्रश्न करने पर गोतम जी प्रमाण प्रमेय आदि केवल सोलह पदार्थ समझाकर आपकी जिज्ञासाओं का समाधान करेंगे। यदि आप इसी बात को और भी संक्षेप में पूछना चाहें तो श्री कणाद जी बात की बात में द्रव्यगुणादि केवल सात ही पदार्थों के वर्णन से शार्ट में समझा देंगे। अपनी देह के अस्तित्व और उसमें होने वाली अज्ञात शक्तियों को विकसित करके, सदेह लोकांतरगमन, परकाय-प्रवेश, सर्व-भूत-रुत-ज्ञान, क्षुत्पिपासा-निवृत्ति आदि अनन्त सिद्धियों का भेद जानना चाहते हों तो इस 'क्यों ?' का उत्तर महर्षि पतञ्जलि प्रदान कर देंगे। यज्ञ यागादि अनेक धार्मिक क्रियाओं की इतिकर्तव्यता से सम्बंध रखने वाली समस्त शंकाओं का समाधान श्री जैमिनि जी करेंगे। अंत में अथ से लेकर इति पर्यन्त सब प्रपंच के जन्म स्थिति निलय से संबंध रखने वाले समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुये श्रीकृष्ण द्वैपायन वादरायण व्यास, नर को नारायण तक पहुंचाने का मार्ग परिष्कृत कर देंगे।

आपके उल्टे सीधे जितने भी प्रश्न होंगे उन सब के सर्वाङ्गपूर्ण उत्तर देने के लिये उक्त ग्रन्थों के अनेक भाष्यकार, टीका टिप्पणीकार और प्रस्थानत्रयी के उदार भाष्यकार तैयार बैठे हैं। इन धुरन्धर महानुभावों के पास जाते हुए यदि आप अपनी अयोग्यता के कारण भयभीत होते हैं तो 'सिया राम मय सब जग जानी' के अनुसार आप में भी अपने इष्ट देव की बांकी झांकी देखने वाले सौम्यमूर्ति गोस्वामी तुलसीदास जी के ही सम्पर्क में आजाइये, वे ही आपके तुच्छ से तुच्छ और बड़े से बड़े दार्शनिक प्रश्न का आपकी ही भाषा में अकाट्य समाधान कर डालेंगे। क्या आपको शङ्का है कि निर्गुण कहा जाने वाला भगवान् सगुण कैसे हो जाएगा ? तो सुनिये गोस्वामी जी क्या कहते हैं—

जो गुण रहित सगुण सो कैसे ?
जल हिम उपल विलग नहीं जैसे ॥

यदि इतने पर भी आप, जल और हिम-उपल के तारतम्य को समझने में असमर्थ हैं तो आपकी हिमालयप्रख्य बुद्धि की बलिहारी ! आप भूलकर भी—'एक दारुगत देखिये एकू । पावक युग सम ब्रह्म विवेकू'—के पचड़े में मत पड़िये ।

हां, तो सनातन धर्म में ये सब महात्मा 'क्यों' कार्यालय के अवैतनिक अध्यक्ष हैं। सम्भवतः क्या—निश्चित ही, आपको इन तक पहुँचने का कष्ट भी न होने दिया जाएगा। मादृश कई स्वयंसेवक उक्त महानुभावों के द्वार पर ही जिज्ञासुओं की सुव्यवस्था के लिये निरन्तर खड़े पायेंगे—आपकी शंकाओं के समाधान का तो हमीं प्रबंध कर सकेंगे। खबरदार ! कुतर्कों और ननु, नच, किन्तु, परन्तु से परिपूर्ण हुज्जतों का पुलिन्दा व्यर्थ ही साथ न उठा लाना, क्योंकि ऐसी आपत्तिजनक सामग्री का यहां प्रवेश

निषिद्ध है। हम लोग इसीलिये ही द्वार पर तैनात हैं। यदि ह
आपके पड़ौस में भी उक्त वस्तुओं की दुर्गन्ध आगई तो लेने
देने पड़ जायेंगे। कुतर्कों का ऐसा कचूमर निकाला जाएगा! न
नच को नोच नोच कर ऐसा चकनाचूर किया जाएगा—कि
परन्तु की ऐसी तुनतुनी तोड़ी जाएगी, कि हुज्जतें हाय हा
करती हुईं जहन्नुम रसीद हो जायेंगी।

इसलिए हम उपर्युक्त स्थापना द्वारा डंके की चोट यह घोषि
करते हैं कि जिस भी तार्किक को अपनी क्यों का गर्व हो व
सनातन धर्म के सामने आए। जिज्ञासु के स्वागत में हम पल
बिछायेंगे और हुज्जतबाजों को खरीखरी—किन्तु सभ्य भाषा
सुनायेंगे। सो जिस 'क्यों ?' के पचड़े से पागल हुए पाद
'प्लायताम्' के पाठ की प्रैक्टिस करने लग जाते हैं और जि
'क्यों' के मारे मुल्ला मौलाना मेमने की तरह मिमियाते हुए मग
मारी के मरीज बन जाते हैं—तथा बड़े से बड़े बौद्ध विद्वान् जि
'क्यों ?' को 'बुद्धिबाह्य' बताकर बातें बनाना भूल जाते हैं—
जिस 'क्यों ?' की दहाड़ से विदीर्ण हृदय होकर दादा वाक्य
वेद मानने में दिलेर दकियानूस दयानन्दी अपनी 'सुध बुध'
दिन दहाड़े दीवाला निकाल डालते हैं—अथ च दूसरी सा
समाज सोसाटियों के सदस्य भी जिस 'क्यों ?' की सनक सव
हो जाने से सदा के लिए सन्देह सागर में समा जाते हैं—उ
कल्पित पन्थों को डराने वाली महाकाली 'क्यों ?' को सनात
धर्म रूप शंकर ने अपनी अर्धाङ्गिनी बना छोड़ा है। ऐसी स्थि
में—ब्रह्म का अपनी अभिन्न छाया माया से, धर्म का शा
समस्त तर्क से, और 'क्या' का 'क्यों' से वही सम्बन्ध है जो

सती साध्वी अनुगामिनी अर्धाङ्गिनी का अपने सर्वस्व प्राणाधार पति से होता है।

यह बात सर्वविदित है कि आजकल सनातन धर्म की प्रत्येक बात पर चारों ओर से 'क्यों ?' का कोलाहल मचाया जाता है। यह भी आपको मालूम ही है कि पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित जन समुदाय को हमारा रहन-सहन, हमारी उठ-बैठ, हमारा जीवन-मरण, गर्ज है कि हमारी ऐहलौकिक और पारलौकिक समग्र दैनन्दिनी चर्या अथ से लेकर इतिपर्यन्त कोरो पोप-लीला ही जंचती है !! इसलिए कथित बुद्धिवादी भी धर्म पराङ्मुख न हों उनकी भी धर्म में प्रवृत्ति बनी रहे एतदर्थ—गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त संस्कारों की इति कर्तव्यता का, प्रातः जगने से लेकर पुनःशयन तक की आह्निक क्रियाओं का, चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके विभिन्न अनुष्ठेय कर्मों की इयत्ता का, अमुक २ पदार्थों के स्पृश्यास्पृश्य, ग्राह्याग्राह्य और भक्ष्याभक्ष्य होने की व्यवस्था का,—गर्ज है कि सनातनधर्म की प्रत्येक रीति और नीति का सप्रमाण सयौक्तिक वैज्ञानिक रहस्य प्रकट करने के लिए, आस्तिक समाज के एक मात्र धर्म्माधर्म्म निर्णायक सर्वथा और सर्वदा शिरोधार्य शब्द प्रमाण के साथ प्रत्यक्षवादी किंवा बुद्धिवादी कहे जाने वाले लोगोंको यथा कथञ्चिद् सन्तोष दिलाने वाली 'क्यों ?' अर्थात्—हेतुवाद—का भी धर्म निर्णय में विशेष स्थान है। इसलिए जहां पतञ्जलि जी महाभाष्य के शब्दों में 'शब्द-प्रामाणिका वयम्' कहते हुए वेद प्रतिपादनको प्रमाण मानने वाले कहलाने में गर्व अनुभव करते हैं वहां 'युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' कहते हुए 'युक्तिवाद' का भी यथेष्ठ आदर करते हैं। यही सनातन धर्म में 'क्यों ?' का स्थान है।

'क्यों' ग्रंथ प्रयोजन और अधिकारी

प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने में हमारा एक ही तात्पर्य है और वह यह कि मुट्ठी भर शास्त्र श्रद्धालु आस्तिक तो धर्मानुष्ठान के अदृष्ट फल में विश्वास रखते हुए नित्य नैमित्तिक कर्मों का सम्यग् अनुष्ठान कर सकते हैं परन्तु आज के युग में बहु-संख्यक मनुष्य-समाज इतना प्रच्छन्न नास्तिक बन गया है कि वह पदे पदे अमुक अमुक धर्मानुष्ठान का प्रत्यक्ष फल देखकर ही उसमें प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं, ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि सर्वसाधारण के कल्याण के निमित्त तत्तत् धर्मानुष्ठानों से होने वाले प्रत्यक्ष लाभों का भी दिग्दर्शन कराया जाए जिससे ऐसे मनुष्यों की भी धर्म में अभिरुचि बढ़े ।

हमारा यह दावा कदापि नहीं कि इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है वह सर्वथा और सर्वदा 'ब्रह्म वाक्य' है, परन्तु हमारा यह निजी अनुभव अवश्य है कि लगातार तीस वर्ष पर्यन्त धर्म प्रचार करते हुए जब कभी भी हमने उक्त रहस्यों का निरूपण किया है, तो जिज्ञासु किंवा जिगीषु, दोनों प्रकार के लोगों ने संतोष अनुभव किया है और बहुत से लोग तो उस दिन से धर्म-पथ के पथिक बन गए हैं ।

यहां यह कह देना आवश्यक न होगा कि उत्तम श्रेणी के आस्तिक विद्वान् तो संकेत मात्र से सब कुछ समझ सकते हैं और उन्हें समझाया भी जा सकता है अतः वे महानुभाव उक्त ग्रन्थ के अधिकारी नहीं, और नां ही मध्यम श्रेणी के वे अर्धविदग्ध= अधकचरे सज्जन ही इसके अधिकारी हैं जिनको समझाने में हम प्रायः अकृतकार्य रहे हैं और जिनको लक्ष्य करके श्रीभर्तृहरि

सरीखे महाकवियों को भी—झख मारकर कहना पड़ा है कि—

'ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति।

अर्थात्—ज्ञान के लवमात्र से जो बुरी तरह पाण्डित्य के अभिमान में भुना बैठा हो उसको तो ब्रह्मा भी नहीं रिझा सकता।

हां! तीसरी श्रेणी के कोरे नास्तिकों से जब जब भी हमारा वास्ता पड़ा तभी हम उनको समझा सकने में सोलहों आने सफल हुए। हमें स्मरण नहीं कि कभी कोई नास्तिक शङ्का समाधान में किंवा जिज्ञासा पूर्ति में संतुष्ट न हुआ हो! इसलिए जब कभी हमें पाश्चात्य रंग में रंगा हुआ और पश्चिमी सभ्यता तथा आज के भौतिक विज्ञान का अभिमान रखने वाला श्रोता मिला, तो हमने उसे उपयुक्त पात्र समझा और उसे पाकर हमें बहुत संतोष भी हुआ, क्योंकि थोड़े प्रयास से ही हमने उसे उसके ही शस्त्रास्त्रों से काबू कर लिया। सो इस ग्रन्थ के अधिकारी वे ही तीसरी श्रेणी के महाशय हो सकते हैं। भारत में आज ऐसे ही लोगों का आधिक्य है। उन्हीं के लिए यह ग्रन्थ रामबाण सिद्ध होगा, यह हमारा अनुभव है।

—:❀:—

क्यों निर्णायक दार्शनिक पद्धति

भारतीय पद्धति के अनुसार इस प्रकार के आलोचनात्मक ग्रन्थों को दर्शन नाम से स्मरण करने की पुरानी परिपाटी प्रसिद्ध है। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांत विषयों के प्रख्यात दर्शन भारतीय साहित्य की निधि हैं। शाण्डिल्य और नारद प्रणीत भक्ति-सूत्र भी दर्शन नाम से प्रसिद्ध है। उक्त

आस्तिक दर्शनों की भांति नास्तिक दर्शन भी पाये जाते हैं, सो इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम भी 'धर्म दिग्दर्शन' है---जिसके सर्व साधारण में 'क्यों ?' नाम से अधिक प्रख्यात हो जाने के कारण हमने भी उसे नामान्तरके रूपमें स्वीकार कर लिया है। सो हमने 'धर्म दिग्दर्शन' नाम को अन्वितार्थ करने के लिये इस ग्रन्थ का मूल ढांचा भी सूत्रों में निबद्ध किया है, जिससे थोड़े में ही ग्रन्थ का सब तात्पर्य सूत्ररूपेण हृदयङ्गम हो सकता है। आशा है पाठक हमारे इस प्रयास से सन्तुष्ट होंगे।

धर्म दिग्दर्शन सूत्रमाला

(थोरेउ में सब कहों बुझाई ❀ जाते सकल मोह भ्रम जाई)

अथातो धर्मजिज्ञासा । १ ।

अर्थ—(अथ) [संसार की बढ़ती हुई अशान्ति अन्य किसी भी उपाय से शान्त नहीं हो रही है]—यह अनुभव करने के अनन्तर (अतः) [धर्म ही एक मात्र सब दुःखों को दूर करके प्राणिमात्र का कल्याण करने में समर्थ है]---इस हेतु से, 'धर्म-जिज्ञासा'=धर्म जानने का उपक्रम किया जाता है।

प्रेरकश्रुत्युपदिष्टो धर्मः । २ ।

अर्थ----['अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिये—इस प्रकार की] प्रेरक श्रुतियों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व धर्म है।

प्रेरणं न निष्प्रयोजनम् । ३ ।

अर्थ—वेद, जिन कर्मों को करने के लिये और जिन कर्मों को न करने के लिये प्रेरणा करता है वह प्रेरणा बिना प्रयोजन नहीं है।

दृष्टादृष्टफलश्रवणात् । ४ ।

अर्थ—वेद विहित कर्मों के करने से और वेद निषिद्ध कर्मों के त्याग से दृष्ट=देखा जा सकने योग्य प्रत्यक्ष लाभ और अदृष्ट=चर्म चक्षुओं से न देखा जा सकने योग्य पारलौकिक कल्याण—दो प्रकार का फल मिलता है। यह वेदादि शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है।

साक्षात्कृतधर्मभिरदृष्टफलस्मरणात् । ५ ।

अर्थ=समाधि में जिन महर्षियों ने धर्म का साक्षात्कार किया है उन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने—धर्म सेवन का 'अदृष्ट फल' स्मृतियों में कहा है, यथा—'धर्मानुगो गच्छति मर्त्य एकः'। इसलिये उसकी सत्ता पर सन्देह नहीं हो सकता।

दृष्टफलदर्शनाच्च । ६ ।

अर्थ—और धर्मानुष्ठान का 'दृष्टफल' दर्शन शास्त्रों में प्रकट किया गया है, यथा—'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' इसलिए वह तो प्रत्यक्ष ही है।

नाऽव्यवहार्यम् । ७ ।

अर्थ—वेदादि शास्त्रों में ऐसा कोई विधि निषेध नहीं है मनुष्य, जिसका पालन न कर सकता हो।

ऐतिह्याख्यानात् । ८ ।

अर्थ—क्योंकि इतिहास और पुराणों में ऐसे आख्यान देखे जाते हैं कि जिनसे धर्म के तत्तद् अङ्गों का हमारे पूर्वजों द्वारा अनुष्ठान करना और उनसे लाभान्वित होना सिद्ध होता है।

उपर्युक्त आठ सूत्रों में धर्म विषयक सभी तत्त्वों का समावेश

हो जाता है। आज संसार में फैले हुए अनर्थों को सभी दूर करना चाहते हैं, परन्तु अर्बों रुपया खर्च करने और अनेक शिर तोड़ प्रयत्न करने पर भी वे अनर्थ घटने के बजाय बढ़ते जा रहे हैं। सन् १९१४ का महायुद्ध=ग्रेट वार शान्त भी न हुआ था कि दूसरा महायुद्ध शिर पर आ पड़ा। यह अभी पूरी तरह समाप्त भी न हो पाया है कि तीसरे प्रलयङ्कर युद्ध की सम्भावनाएं दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही हैं। ऐसी दशा में अब संसार अपने त्राण का दैवी अमोघ उपाय ढूंढने में प्रयत्न शील है। सो सब अनर्थों को दूर करने का अव्यर्थ उपाय धर्मानुष्ठान ही है। अतः उसकी जिज्ञासा ही सर्व साधारण का कल्याण कर सकती है।

आज भले हो मानव समाज धर्म के स्थान में अपनी कल्पना से तत्काल घड़े हुए धर्माभास को ही हठात् धर्म्म बनाने के लिए 'अंधेरे में डले ढोने का प्रयत्न' करता हो, परन्तु वस्तुतः धर्म का अन्तिम निर्णय वेद शास्त्र ही कर सकते हैं—यह अमिट तथ्य है। इसे मानव समाज चाहे आज समझले, और चाहे शताब्दियों और सहस्राब्दियों पर्यन्त ठोकरें खाने के बाद समझे 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय !'

वेद शास्त्रों में जो धार्मिक विधान हैं वे निष्फल नहीं हैं किन्तु उनसे ऐहलौकिक उन्नति='अभ्युदय' और पारलौकिक कल्याण='निःश्रयस्' दो फल प्राप्त होते हैं। सो जो लोग 'प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात्—बिना प्रयोजन तो मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते इस सिद्धांत के कट्टर पक्षपाती हैं उनके लिये भी डबल फल दायक होने के कारण धर्म, सर्वथा और सर्वदा अनुष्ठेय है।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने धर्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करके स्मृति-ग्रन्थों में उसका और उसके पारलौकिक फलों का विशद निरूपण किया है। जैसे—आयुर्वेदोक्त विषों को विष ही समझा जाता है, इसमें संदेह करके स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये विष खाने का प्रयत्न नहीं किया जाता और ऐसी मूर्खता करना निश्चित मृत्यु का आवाहन करना ही है, ठीक इसी प्रकार उन्हीं आयुर्वेद-प्रणेता महर्षियों की बताई हुई पाप पुण्य व्यवस्थायें भी सर्वथा विश्वसनीय हैं। उनका उल्लंघन करके हानि लाभ का स्वयं परीक्षण करने वाला व्यक्ति भी निःसन्देह खतरा खरीदता है।

कदाचित् मूर्खतावश, सर्व साधारण, धर्म के अदृष्ट फलों में आस्था न भी रक्खे, तो भी दर्शन-शास्त्रों में तत्तद् धर्मानुष्ठानों के प्रत्यक्ष दृष्ट फलों का भी निरूपण किया गया है। एतावता दृष्ट फलाग्रही मनुष्यों के लिये भी धर्म सर्वथा अनुष्ठेय है।

बहुत से लोग धर्मानुष्ठान से इस भ्रम से जी चुराते हैं कि यह बहुत ही कठिनतम व्यापार है। उनकी सम्मति में धर्म, केवल ग्रन्थों में लिखने और कहने सुनने मात्र का ही विषय है, व्यवहार जगत् में उसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्तियों को यह समझना चाहिये कि महाभारत रामायण और पुराणादि ग्रन्थों में धर्मपरायण आस्तिकों की जो अनेक कथाएं आती हैं उनमें बहुत से ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे जाना जाता है कि मनुष्यों को साधारण धार्मिक अनुष्ठान से भी अतुल सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, यथाः—

(क) क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

(ख) स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

अर्थात्—(क) झटपट धर्मात्मा बन जाता है और उसे कभी नष्ट न होने वाली चिर शान्ति प्राप्त हो जाती है। (ख) धर्म की थोड़ी सी भी की हुई रक्षा, मनुष्य को महान् भय से बाल बाल बचा देती है।

अजामिल, व्याध, गज, गणिका आदि इसके अनेक निदर्शन हैं। सो अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष को श्रवण कीर्तन आदि सरलतर धर्मानुष्ठानों द्वारा ही अपना मार्ग निष्कण्टक बनाना चाहिये।

अमुक धर्मानुष्ठान से अमुक फल प्राप्त होता है—इसका उल्लेख तो इस ग्रन्थ में तत्तद् अनुष्ठानों के वर्णन प्रसंग में किया जाएगा, परन्तु अमुक क्रिया इसी रूप में क्यों की जाती है? इसके हेतुभूत सिद्धान्तों का वर्णन एक पूरे अध्याय में किया गया है। उक्त सिद्धान्तों के मूल सूत्र यहां अङ्कित किए जाते हैं-

फलमनुद्दिश्य प्रवृत्तेरभावात्फलजिज्ञासा । ९ ।

अर्थात्—फल के उद्देश्य बिना प्रवृत्ति नहीं होती इस हेतु से फल जानने का प्रयत्न किया जाता है।

कलियुग-अविद्या-नास्तिक्य-दारिद्र्य-आलस्यादि-सन्निधानान्नादृष्टफले सामन्यजन-आस्था । १० ।

अर्थात्—कलियुग के प्रभाव से, पठन पाठन की कमी के कारण, नास्तिकता बढ़ जाने से, रोटी के ही प्रश्न में उलझे रहने के कारण और आलस्य दोष से, धर्म के अदृष्टफल में अब सर्वसाधारण की आस्था नहीं रही।

सर्वकल्याण-कामनया दृष्टफल-समारम्भः ।११।

अर्थात्—सर्वविध मनुष्यों के कल्याण की कामना से, इस ग्रन्थ में धर्म के दृष्ट=प्रत्यक्ष लाभों के निरूपण का प्रयत्न किया गया है।

नामूलम् । १२ ।

अर्थात्—दृष्टफल कल्पना निर्मूल नहीं है ।

ज्ञानविज्ञान-प्रमाणोपन्यासात् । १३ ।

अर्थात्—क्योंकि इस ग्रंथ में ज्ञान=मोक्ष विषयक वेदादि शास्त्रों के और विज्ञान=शिल्पशास्त्र आदि भौतिक विज्ञान के प्रमाणों का सर्वत्र उल्लेख किया गया है ।

नाहैतुकं षोडशवाद-प्रमाणात् । १४ ।

अर्थात्—दृष्टफल कल्पना बिना हेतु की नहीं है किन्तु उसमें वक्ष्यमाण सोलह ‘वाद’ प्रमाण हैं ।

जड-चेतनसमन्वयात् । १५ ।

अर्थात्— जड़ और चेतन दो विभिन्न तत्त्वों का समन्वय करने से [अनेक धार्मिक अनुष्ठानों की तादृश इतिकर्तव्यता के कारणों का ज्ञान हो सकता है]।

स्थूल-सूक्ष्मसमीक्षणाद् । १६ ।

अर्थात्—स्थूल और सूक्ष्म के भली प्रकार जानने से ।

दृष्टादृष्टदर्शनात् । १७ ।

अर्थात्—दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के पदार्थ देखने से ।

शाश्वत-विपरिणामि-विश्लेषणात् । १८ ।

अर्थात्—सदैव रहने वाले और क्षण में बदलने वाले द्विविध पदार्थों का विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करने से ।

अनादिसादिवीक्षणात् । १९ ।

अर्थात्—अनादि और सादि दो प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व होने से ।

अनन्त-सान्त-निरीक्षणात् । २० ।

अर्थात्–अनन्त और सान्त द्विविध पदार्थों की विद्यमानता से

प्रत्यक्ष-परोक्षपरीक्षणात् । २१ ।

अर्थात्—इन्द्रियों से अनुभूत और इन्द्रियों से अननुभू द्विविध तत्त्वों का परीक्षण करने से ।

अण्ड-पिण्डसाम्यात् । २२ ।

अर्थात्—ब्रह्माण्ड और शरीर पिण्ड की तुलनात्मक स्थिति

पाप-पुण्यपरिज्ञानात् । २३ ।

अर्थात्—अमुक कृत्य पाप है और अमुक कृत्य पुण्य है—ऐ सर्व-वादि-सम्मत व्यवस्था के परिज्ञान से ।

भावना-भावात् । २४ ।

अर्थात्—सर्व कार्यों की सिद्धि असिद्धि में भावना का सा ज्य होने से ।

शौचाशौच-व्यवस्थापनात् । २५ ।

अर्थात्—शुचि और अशुचि द्विविध वस्तु जात की व्यवस्था

लोकपरलोकसंस्थानात् । २६ ।

अर्थात्—भूलोक के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक लोकों की सत्ता होने के कारण—

देशकालवस्तुजातिवैशिष्ट्यानुरोधात् । २७ ।

अर्थात्—देश, काल, वस्तु, और जातिगत नानाविध वैचित्र्य होने से—

यहां हमने जान बूझकर ही इन सूत्रों का साधारण अर्थ किया है क्योंकि उक्त हेतु सूत्रों की ही विशेष व्याख्या अनुपदं तत्तद्वादों के रूप में अगले प्रघट्ट में हो दी जा रही है। आशा है पाठक, दार्शनिक प्रक्रिया से तत्तद् धार्मिक क्रियाओं की 'क्यों ?' समझने में उक्त सताइस सूत्रों की नक्षत्र माला का सदुपयोग करेंगे।

आधारभूत मौलिक सिद्धान्त

ब्रह्माण्ड में अगणित वस्तुजात की जुदा जुदा परीक्षा और समीक्षा करना सर्वथा असम्भव है। मनुष्य जीवन में विभिन्न वस्तुओं के वलक्षण्य का निरन्तर अनुभव होते ही तत्काल 'यह क्या ?' 'यह क्यों ?'—की परम्परा की भी कोई सीमा नहीं। ऐसी स्थिति में त्रिकालदर्शी महर्षियों ने थोड़े में सब कुछ समझ लेने की जिस परिपाटी का आविष्कार किया था उसका नाम—'सिद्धांत वाद' है, एक मात्र इसी नाव के सहारे अनन्त पार दुस्तर तर्क-सागर को पार किया जा सकता है। इसलिये हम इस अध्याय में प्रकृति के कुछ ऐसे अटल नियमों का उल्लेख करना चाहते हैं कि जिनको समझ लेने पर बहुत सी शङ्काओं का अपने आप समाधान हो जाता है। यह प्रघट्ट पढ़ने में बड़ा अटपटा प्रतीत

होगा और साथ ही अनावश्यक सा भी जान पड़ेगा, परन्तु
किसी भी ऊंचे प्रसाद की आधार भित्ति (नींव) टेढ़े मेढ़े वि
घड़े बेडौल पत्थरों की होती हुई भी उस प्रासाद की मूल आध
होती है। उसका एक पाषाण निकाल लेने पर समस्त
अट्टालिकाऐं धराशायी हो सकती हैं, ठीक इसी प्रकार इस
को भी उक्त ग्रन्थ की रोढ़ समझना चाहिये। पाठक यदि सा
धानी से एक २ अक्षर का मनन करेंगे तभी वे आगे के समाध
को समझ पायेंगे।

जड़ और चेतनवाद

(उभयं वा एतत् प्रजापति:)

संसार में पत्थर मिट्टी पानी आदि वस्तुओं को 'जड़'
जाता है और पशु पक्षी मनुष्य आदि को 'चेतन' कहा जाता
परन्तु विचार पूर्वक यदि जड़ और चेतन का विश्लेषण कि
जाय तो ऐसी एक भी वस्तु उपलब्ध नहीं होगी जिसे केल 'विशु
जड़' या केवल 'शुद्ध चेतन' कहा जा सके। विधाता का यह
का सब प्रपञ्च ही जड़ चेतन दोनों तत्त्वों के विमिश्रित-सङ्घ
का विपरिणाम है। यह हो सकता है कि पाषाण आदि में
तत्त्व का बाहुल्य है और चेतन तत्त्व उसमें विकसित नहीं
पाया है परन्तु—यह सर्वथा और सर्वदा चेतन सत्ता से शून्य
विज्ञानवेत्ता यह स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वर्तमान युग
भौतिक शास्त्रवेत्ताओं ने सनातन धर्म के पुरातन सिद्धान्त 'वृ
वनस्पति चैतन्य' को तो स्वीकार कर ही लिया है। श्री जगदी
चन्द्र वसु आदि भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने यन्त्रों की सहाय
से चैतन्य के लक्षण—देखना, सूंघना, सुनना, आदि क्रियायं वृ
में सुस्पष्ट दिखलादी हैं। जीवित पाषाण भी चेतनांश से अशू
हैं इसके अनेक निदर्शन तो आर्य साहित्य में उपलब्ध होते

परन्तु भौतिक यन्त्रों द्वारा पाश्चात्य जगत् को विश्वास दिला सकने की परिस्थिति में हम नहीं हैं। पाषाण शब्द के साथ 'जीवित' विशेषण देखकर पाठक अवश्य चकित होंगे परन्तु उनको यह समझना चाहिये कि जैसे जीवित मनुष्य और उसका प्राणशून्य शव=लाश विभिन्न दो वस्तुएं हैं ठीक इसी प्रकार हरे भरे वृक्ष और कटे सूखे लक्कड़, वृक्षों के जीवित और मृत कलेवर समझने चाहियें। इसी प्रकार पहाड़ के परिवर्द्धनशील पाषाण और उससे पृथक् हुए शिला बट्ट आदि समझने चाहियें।

कहना न होगा कि जड़ और चेतन दोनों तत्त्वों के विमिश्रण का नाम ही संसार है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में 'जड़ चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार' कहते हुए प्राचुर्य्य विकार और प्राधान्य अर्थ सूचक 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग करके इस रहस्य को प्रकट किया है। अर्थात्—यह विश्व जड़ और चेतन तत्त्वों का 'आवास' मात्र नहीं किन्तु यह तो उक्त दोनों तत्त्वों की प्रचुरता विकृति और प्रधानता के कारण 'तन्मय' है। इसलिये यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि विश्व में किसी भी वस्तु को केवल जड़ या केवल चेतन नहीं कहा जा सकता किन्तु यहां प्रत्येक जड़ चेतन से अधिष्ठित है और प्रत्येक चेतन जड़ का अधिष्ठान है। जिस वस्तु में उक्त दोनों में से जिस किसी एक तत्त्व का अधिक विकास हुआ है उसी तारतम्य से 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार उसका वैसा नाम पड़ गया। जैसे हलवाई की दुकान में मैदा, घी, खांड, पानी, पत्तल, दोना, लक्कड़, कड़ाही, थाल अनेक तरह का सामान रहता है तथापि उसे व्यवहार में हलवा+ई=हलवे वाले की दुकान कहा जाता है। तथा चिड़िया, मोर, सिंह, व्याघ्र, ऊंट, घोड़े बनमानुस आदि

अनेक प्रकार के जीवों से संकुल अद्भुतालय को 'चिड़िया
कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार स्थूलांश की अधिकता के का
पाषाण वृक्षादि को जड़, और सूक्ष्मांश की अधिकता के का
मनुष्य पशु आदि को चेतन कहने की परिपाटी पड़ गई
वस्तुतः जड़ से चेतन को और चेतन से जड़ को पृथक् नहीं कि
जा सकता। ये दोनों तत्त्व प्रत्येक वस्तु में अपरिहार्य रूप
विद्यमान रहते हैं। मुर्दा देह में भी, प्राणवायु का सञ्चार
होते ही 'धनञ्जय' नाम का वायु उसमें व्याप्त हो जाता है,
प्रकार 'जीव' भी पांचभौतिक स्थूल शरीर को छोड़ते ही तत्का
'वायुभूतो दिगम्बरः' के अनुसार दिव्य अथवा यातनामय श
से सम्पन्न हो जाता है। इस लिये विश्व की प्रत्येक वस्तु
चेतनमय है।

स्थूल-सूक्ष्म-वाद—

(अणोरणीयान्महतो महीयान्)

जड़ और चेतन की भांति संसार की प्रत्येक वस्तु में स्थू
और सूक्ष्म ये दोनों भाव भी समान रूप से पाये जाते हैं। मनु
देह स्थूल है परन्तु उसका चेतन आत्मा सूक्ष्म है। फूल स्थूल
किन्तु उसमें रहने वाला गन्ध सूक्ष्म है। लड्डू, पेड़ा मिश्री
हैं किन्तु इन सबमें रहने वाला रस=स्वाद सूक्ष्म है। चुम्ब
पत्थर स्थूल है उसमें रहने वाला आकर्षण सूक्ष्म है। संखि
वत्सनाभ आदि विष स्थूल द्रव्य हैं किन्तु उनमें रहने वा
मारण सामर्थ्य सूक्ष्म है। उसी प्रकार अन्यान्य स्थूल पदार्थों
अन्यान्य सूक्ष्म तत्त्व पाये जाते हैं।

प्रत्येक पदार्थ के स्थूलांश में आकार, प्रकार, रंग, तो

जन प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, पन्तु सूक्ष्मांश में आकार प्रकार ग रूप तोल वजन कुछ नहीं रहता। उदाहरणार्थ— मनुष्य, शारीरिक दृष्टि से काला गोरा टन मन सेर पौंड रत्तल भार का कहा जा सकता है परन्तु उस देह में रहने वाला चेतन जीव काला गोरा टन मन सेर तोला माशा रत्ती भर का नहीं कहा जा सकता। सेर भर पेड़े चटकर जाने वाले चौबा जी यह बताने में असमर्थ हैं कि पेड़े में रहने वाला स्वाद, लम्बा चौड़ा गोल तिकोन चपटा आदि किस आकार प्रकार का है? और श्वेत श्याम रक्त पीत में से किस रंग का होता है, एवं टन मन तोला रत्ती किस परिमाण का है? कल्पना कीजिए कि गुलाब का स्थूल फूल गुलाबी रंग, मण्डलाकार, और चार तोले का है, तो भी उसके सूक्ष्म भाग गन्ध का आकार रंग और तोल नहीं बतलाया जा सकता।

प्रकृति का यह अटल सिद्धांत है कि संसार की प्रत्येक स्थूल वस्तु में एक सूक्ष्म तत्त्व भी रहता है इसलिये स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों अंशों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। संसार की प्रत्येक स्थूल वस्तु सूक्ष्म से अधिष्ठित है और प्रत्येक सूक्ष्म वस्तु स्थूलका अधिष्ठान है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों तत्त्वों के अपरिहार्य संघात का विपरिणाम तत्तत्पदार्थ हैं।

दृष्ट और अदृष्टवाद

(एको देवः सर्वभूतेषु गूढः)

संसार में जिन पदार्थों का, घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से साक्षात्कार हो सकता है वे सब पदार्थ दृष्ट कहे जाते हैं, परन्तु जिन तत्त्वों का मनः बुद्धि=अन्तःकरण द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है उन्हें अदृष्ट कहते हैं।

नेत्र, मोदक के केवल रंग रूप को ही देखने में समर्थ हैं, उसके रसास्वादन के साक्षात्कारमें समर्थ नहीं। जिह्वा यद्यपि अन्धकार में भी मोदक के रसास्वादन में निपुण है किन्तु उसका रंग रूप जानने की उसमें सामर्थ्य नहीं। एतावता चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी मोदक के रस की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता और रासनिक प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी मोदक के तादृश रूप रंग का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। इसीप्र प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से अननुभूत किन्तु 'ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः' के अनुसार मानस साक्षात्कार के विषयभूत तत्त्व का अपलाप नहीं हो सकता। सुतरां अवाङ् मनसो गोचर तत्त्व भी 'दृश्यते त्वग्र्यावुद्ध्या' के अनुसार समाधिनिष्ठ योगियों को हस्तामलक की भांति भासता है। इसलिये जैसे दृष्ट पदार्थों के रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द के प्रत्यक्ष में तत्तत् ज्ञानेन्द्रियें प्रमाण हैं उसी प्रकार अदृष्ट अंश के साक्षात्कार में भी मन बुद्धि=अंतःकरण प्रबल प्रमाण है। तभी तो 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' यह आभाणक है सुप्रसिद्ध है।

शाश्वतवाद और विपरिणामवाद—

(विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति)

जो तत्त्व सर्वदा निर्लेप निरञ्जन निर्विकार और सदैव स्व-स्वरूप में अवस्थित रहता है उसे शाश्वत सनातन कहते हैं। वेदान्तवेत्ताओं का ब्रह्म, श्रीमद्भगवद्गीता वर्णित जीव और नैयायिक के परमाणुरूप-पृथ्वी, अप, तेज, वायु आदि पदार्थ शाश्वत कोटि में परिगणित किए गए हैं। इसके सर्वथा विपरीत

जो तत्त्व क्षण क्षण में बदलता हो-कुछ का कुछ बन जाता हो—उसे विपरिणामी कहते हैं। निरुक्तकार यास्क ने लिखा है कि—

"षड् भावविकारा भवन्ति,—अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यति" (निरुक्त। १।१।२)

अर्थात्—प्रत्येक वस्तु में ६ भाव विकार होते हैं, जैसे—सत्ता, उत्पन्न होना, बढ़ना, पकना, घटना और नष्ट हो जाना।

सो, विश्व में जड़ चेतन स्थूल सूक्ष्म और दृष्ट अदृष्ट पदार्थों की भांति शाश्वत और विपरिणामी इन दोनों तत्त्वों का संघात भी सर्वत्र दीख पड़ता है।

अनादिवाद और सादिवाद—

(अनादि मत्परं ब्रह्म, जन्माद्यस्य यतो मतम्)

विश्व प्रपञ्च में कुछ पदार्थ अनादि माने जाते हैं। यद्यपि उनकी संख्या में तत्तत्सम्प्रदायानुरोध से कुछ अन्तर पाया जाता है तथापि अनादि तत्त्व की सत्ता आनास्तिक सभी सम्प्रदाय एकस्वरेण स्वीकार करते हैं इसलिये अनादि तत्त्व सर्ववादिसम्मत है। अमुक पदार्थ को अनादि मान लेने पर तदतिरिक्त अन्य पदार्थ स्वभावतः आदि सिद्ध हो जाते हैं, अतः अनादि और सादिवाद सभी मतों में परिगृहीत हैं। जिसका आदि न हो अर्थात् जो 'मूले मूलाभावादमूलम्' के अनुसार स्वयं मूलभूत होने के कारण अपने अन्य किसी मूल की अपेक्षा न रखता हो वह पदार्थ अनादि है। 'ब्रह्म' इसका सर्वसम्मत उदाहरण है। इसके विपरीत 'जिसका आदि हो' अर्थात् जो एक दिन अमुक कारणसे उत्पन्न हुआ हो वह 'सादि' है। 'दृश्य जगत्' इसका निदर्शन है। कहना

न होगा कि यह दृश्य जगत् भी केवल विपरिणाम को दृ से ही सादि कहा जा सकता है, किन्तु 'हरिरेव जगद् जगदे हरिः' के अनुसार प्रवाह से तो अनादि ही है। 'वीजांकुर' न्या से पहिले बीज या पहिले अंकुर ? बीज के बिना अंकुर सम्भ नहीं और अंकुर के बिना बीज सम्भव नहीं।—ऐसी अनवस्थ का एकमात्र दार्शनिक उत्तर—संसार को प्रवाह से अनादि मानने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। सो अनादि और सादिवा भी सर्व सम्मत हैं।

अनन्त और सान्तवाद—

(क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते)

जिन पदार्थों का कभी अन्त न हो वे 'अनन्त' माने जाते हैं औ जिनका अन्त निश्चित हो, वे 'सान्त' कहे जाते हैं। परमात्म अनन्त है और 'अन्तवन्तइ मे देहाः' के अनुसार शरीर सान्त है सभी अनादि पदार्थ अनन्त भी हों—दार्शनिक विद्वान् यह व्या मानने को प्रस्तुत नहीं। उनकी दृष्टि में—'प्रागभाव' (कार्य क उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था) अनादि होता हुआ भी सान्त हो है, अर्थात् घट के बनने से पूर्व जो उसका अभाव चला आता थ वह अनादि तो अवश्य है परंतु घट रूप कार्य बनते ही उस प्राग भाव का विनाश हो जाता है। अतः वह अनादि सान्त है। इस प्रकार 'प्रध्वंस' (कार्य नष्ट हो जाने के वाद की स्थिति) सादि परन्तु है वह अनन्त, अर्थात् घट फूट जाने पर जो उसका अभा हुआ है वह अभी घट फूट जाने के समय से आरम्भ हुआ है अत वह 'सादि' है परन्तु अब वह अभाव कभी पूरा न हो सकेगा अतः वह 'अनान्त' भी है। सो जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विना

अवश्य होता है और जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसका विनाश भी कभी नहीं होता—यह जो लोक प्रसिद्ध व्याप्ति है वह दार्शनिकों की दृष्टि में तुच्छातितुच्छ है क्योंकि प्रागभाव की कभी उत्पत्ति नहीं होती परंतु उसका विनाश होता है इसीप्रकार प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होता है परंतु वह कभी विनष्ट नहीं होता, इस लिये अनन्त और सान्तवाद का गम्भीर तारतम्य खूब समझ लेना चाहिये।

प्रत्यक्षवाद और परोक्षवाद—

(प्रत्यक्षाद् बलवच्छास्त्रम्)!

नास्तिक लोग 'प्रत्यक्ष' को ही सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं, और 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' कहकर प्रत्यक्षवाद का अभिनन्दन करते हैं परन्तु देवता=विद्वान् प्रत्यक्ष को अनेक भ्रान्तियों का आगार एवं कोरी धोखे की टट्टी समझते हैं। अतः उससे द्वेष रखते हैं और परोक्ष= इन्द्रयातीत शब्द प्रमाण का आदर करते हैं। इसलिये वेदादि शास्त्रों का यह डिण्डिम घोष है कि—

परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

अर्थात्—देवता परोक्ष को प्यार करते हैं और प्रत्यक्ष के शत्रु हैं। वह किस प्रकार धोखे से भरा है यह बात एक दो दृष्टान्तों से भलीभांति समझ में आजाती है। सूर्य देखने में प्रत्यक्ष हमें थाली के बराबर दीख पड़ता है परन्तु विज्ञान और गणित के अनुसार है वह हमारी पृथ्वी से भी बड़ा। कोई भी प्रत्यक्षवादी गंवार इस प्रत्यक्षवाद के धोखे में आकर सूर्य की वास्तविक विशालता के ज्ञान से वञ्चित रह सकता है।

इसीप्रकार सूर्य आदि ग्रह प्रत्यक्ष तो पूर्व से पश्चिम की ओर जाते दीख पड़ते हैं परन्तु वस्तुतः वह इसके सर्वथा विपरीत पश्चिम से पूर्व की ओर जा रहे हैं। शुक्ला दूज के चांद की छोटी सी कला पश्चिम से निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ते बढ़ते पौर्णिमा को ठीक उदयाचल पर प्रतिष्ठित हो जाती है। इस निदर्शन से अन्यान्य ग्रहों का भी पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ना भली प्रकार समझा जा सकता है।

चन्द्रमा, प्रत्यक्ष तो श्वेतिमासम्पन्न दीख पड़ता है परन्तु जब वह सूर्य और पृथ्वी के ठीक मध्य में समानान्तर रेखा पर पड़कर सूर्य को ढांप लेता है तो हम उसके वास्तविक काले भयङ्कर रूप से परिचित होते हैं और उसे सूर्य-ग्रहण के नाम से याद करते हैं। कवि लोगों की कल्पना प्रत्यक्षवाद पर अवलम्बित होकर ही नायिका को चन्द्रमुखी कहनेमें चरितार्थ होती है, अन्यथा चन्द्रमा का वस्तुतः काला कलौटा कलेवर यमराज और उसके भैंसे की उपमा का ही पात्र है।

प्रत्यक्ष में वृक्षों की पत्तियें हरी भरी हैं। कैरव कुमुद चम्पा का फूल श्वेत है, कौव्वा कोयल–काले, एवं शुक हरित रंग के दीख पड़ते हैं, परंतु विज्ञान की गवेषणा के अनुसार ब्रह्माण्ड भर की कोई वस्तु स्वयं रंगीन नहीं होती किन्तु जैसे सूर्य का प्रकाश समुद्र जल में पड़कर अपनी परछांही से चांदके अभास्वर गोलेको श्वेतिमा प्रदान करता है और स्वच्छ स्फटिकके निकट किसी रंगीन वस्तुकी छाया उसे रंजित कर डालती है तथा अति स्वच्छ समुद्रजल अपनी गहराई के अनुपात से उत्तरोत्तर अधिकाधिक काला दीख पड़ता है एवं शून्य आकाश प्रत्यक्ष नीला मालूम होता है–वैसे ही

संसार की रंग रहित तत्तत् वस्तुएं एकमात्र सूर्य के विभिन्न रंगों के तारतम्य से रंगीन मालूम पड़ती हैं।

हमारे वेदादि शास्त्रों में तो सूर्य को सप्तरश्मि, प्रभाकर, विभाकर, चित्रभानु, त्विषांपति, आदि नामों से स्मरण किया ही गया है, जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि सूर्य सात प्रकार की किरणों वाला है, विभिन्न आभाओं का आगार है, चित्र विचित्रता का हेतु है एवं समस्त कान्तियों का एक मात्र आधार है, परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक भी यह घोषणा कर चुके हैं कि संसार की कोई वस्तु रंगीन नहीं होती किन्तु सूर्य की सात किरणों में ही वस्तुतः सात रंग रहते हैं। सूर्यनिष्ठ सात रंग ही तत्तत् वस्तुओं को अमुक रंग में आभासित करते हैं, जो वस्तु जिस रंग की दीख पड़ती है वास्तव में वह वस्तु सूर्य के सात रंगों में से अमुक रंग को ग्रहण कर सकने की योग्यता रखती है—यही उसकी विशेषता है। जिस वस्तु को हम श्वेत=सफेद समझते हैं लौकिक दृष्टि में वह रंगहीन समझी जाती है, परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में—सातों रंग जब जीवित दशा में समान रूप से सम्मिलित हो जाते हैं तब श्वेत बनता है और यदि यही सातों रंग मृत अवस्था में समान रूप से सम्मिलित हो जाएं तो काला रंग बन जाता है। सफेद और काला दोनों ही सात रंगों के समान सम्मेलन का परिणाम है, अन्तर केवल जीवित और मृत रंगों का है। यही कारण है कि श्वेत वस्तु में सातों रंगों में से किसी भी एक को प्रकट किया जा सकता है, परंतु कालापन मृत रंगों का परिणाम होने के कारण पुनः किसी एक रंग को प्रगट करने की योग्यता नहीं रखता, इसीलिये—'सूरदास खल काली कमलिया चढ़त न दूजो रंग'—यह कहावत चरितार्थ होती है।

पाठकों ने वर्षा ऋतु में कई बार इन्द्र धनुष को अवश्य देखा होगा, वह सूर्यबिम्ब की ठीक सामने की दिशा में गोलार्ध आकृति में दीख पड़ा करता है। शून्य आकाश में क्रमशः सातों रंगों की यह सुहावनी रेखायें किसी भी भावुक के मन को मुग्ध किये बिना नहीं रहतीं। ये सातों रंग सूर्य की किरणों से ही प्रतिफलित होकर आकाशस्थ जलीय वाष्प पुञ्ज के निरोध के कारण दीख पड़ा करते हैं। जल प्रपात और फव्वारों में तथा पिचकारी द्वारा छोड़े हुए जलसंघात में भी इन्द्र धनुष का आभास देखा जा सकता है। बालकों की क्रीड़ा की साधन कांच की सफेद गोलियों में भी सातों रंगों का आभास दीख पड़ता है। इन सब लम्बे चौड़े दृष्टांतों का यही आशय हुआ कि संसार की प्रत्यक्ष में रंगीन दीख पड़ने वाली समस्त वस्तुएं वास्तव में रंगीन नहीं होती किन्तु वे सूर्यकिरण-गत सात रंगों में से अमुक अमुक एक या एक से अधिक रंगों को व्यक्त=कैच कर सकने की योग्यता के कारण ही रंगीन दीख पड़ती हैं। यह प्रत्यक्ष के द्वारा उपस्थित होने वाला सुस्पष्ट धोखा है। इसलिये सर्वदा प्रत्यक्षवाद का ही विश्वास करके परोक्ष प्रमाण=आगम प्रमाण को नहीं झुठलाना चाहिये किन्तु आगम को प्रत्यक्ष से अधिक विश्वासनीय समझना चाहिये। यही एक मात्र 'निष्कण्टक मार्ग' है।

अण्डपिण्डवाद—

(ब्रह्माण्डरूपी भगवान्नरपिण्डकृतालयः)

अकारण-करुण, करुणावरुणालय परमात्मा ने जीवों के उद्धार के निमित्त चौरासी लाख योनियों में सर्वोपरि जो सर्वाङ्ग-पूर्ण मानव शरीर प्रदान किया है हम इस प्रघट्ट में उसे ही पिण्ड और

सूर्य गोलक से चारों ओर व्याप्त पचास कोटि योजन (योजन=चार कोश या आठ मील) परिधि वाले आकाश प्रदेश को ब्रह्माण्ड कहेंगे। ब्रह्माण्ड में—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, सितारे सय्यारे, आकाश गङ्गा, धूमकेतु और उल्का पिण्डों के अतिरिक्त पृथ्वी अप तेज वायु आकाश=पञ्चभूतों का विस्तृत प्रपञ्च विद्यमान है। श्रीमन्नारायण भगवान् प्रकृति के द्वारा ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का नियमन करते हैं, ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के नियमों में बन्धी हुई आज्ञाकारी सेवक की भांति बिना ननु नच किये ठीक ठीक शाश्वत मर्यादा में स्थिर है। इसी शाश्वत मर्यादा का नाम धर्म' है; यवनादि इसे ही 'कुदरते कानून' कहते हैं। आधुनिक विज्ञानवेत्ता इसे ही 'ला आफ नेचर' के नाम से स्मरण करते हैं।

जैसे एक माता के दो पुत्र हों, एक बड़ा युवक-जो सर्वगुण सम्पन्न और अपने पांवों पर खड़ा होकर अपने हानि लाभ को सोचने समझने तथा तादृश आचरण कर सकने की सामर्थ्य के साथ २ दुर्दैव से सम्भावित आपत्तियों का प्रतिकार कर सकने की भी क्षमता रखता हो, दूसरा छोटा स्तनन्धय—जो स्वयं अपना हानि लाभ सोचने समझने में अकृतकार्य, तादृश आचरण करने की योग्यता से शून्य और अपने किसी भी कष्ट का प्रतिकार कर सकने में असमर्थ, एक मात्र माता की कृपा पर निर्भर! माता बड़े बेटे से प्रेम करती है उसका कल्याण भी चाहती है, परन्तु उसकी संरक्षा के लिये चौबीसों घन्टे पोछे पीछे डोलना व्यर्थ समझती है, क्योंकि वह स्वयं अपनी संरक्षा का दायित्व सम्भालने की क्षमता रखता है। स्तनन्धय=दुधमुंहा बालक एकमात्र

मातापर निर्भर है। वह आग में हाथ डालना चाहता है; सर्प को पकड़ने दौड़ता है; भरे रिवाल्वर को खिलौना समझकर हथियाना चाहता है—यदि माता थोड़ी भी उपेक्षा करे, लापरवाही से काम ले— तो दिन में बीसों बार वह मृत्यु का ग्रास बन सकता है। अतः माता हर समय उसकी रक्षा में सचेष्ट रहती है अमुक बुराई से स्वयं रोकती है अमुक भलाई में स्वयं नियुक्त करती है।

ठीक इसी प्रकार प्रकृति माता के भी दो पुत्र हैं। बड़ा पुत्र— बुद्धिजीवी मनुष्य, और छोटा दुधमुंहा बच्चा—परमुखापेक्षी पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च। प्रकृति, तिर्यञ्चों को पापमार्ग में प्रवृत्त होने से स्वयं रोकती है और उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करती है। हम सब अच्छी तरह जानते हैं कि बैल ऊंट घोड़ा आदि कोई भी पशु गर्भधान के काल के बिना अनृतु अवस्था में व्यवाय =मैथुन में प्रवृत्त नहीं होता किन्तु नासिका से गर्भाशय को सूंघ कर पहिचान लेता है और स्वयं ही उपरत हो जाता है। घूंटकर जल पीने वाला कोई पशु कभी मांस नहीं खाता फिर चाहे वह कितना ही क्षुधित क्यों न हो। गाय भैंस वानर आदि अनेक जीव इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्रकृति ही इनको इस पापाचार से रोकती है। इसी लिये वेद में सुस्पष्ट लिखा है कि—

'यस्य व्रतं पशवो यान्ति सर्वे'

अर्थात्—सब पशु भगवान् के नियन्त्रण में रहते हैं।

सभी पक्षी निरन्तर प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त में जगकर भगवद् गुणानुवाद में प्रवृत्त हो जाते हैं। कुक्कुट जैसा मलभोजी पामर जीव भी इस नित्य कर्म में कभी आलस्य नहीं करता। यह सब श्रेय प्रकृति माता को ही है।

इसी प्रकार सभी तिर्यञ्च प्रकृति की देख भाल में और उसी के नियन्त्रण में मर्यादित जीवन बिताते हैं, परंतु प्रकृति माता ने मनुष्य रूप ज्येष्ठ पुत्र को बुद्धिजीवी प्राणि समझकर अपने नियन्त्रण की कैद से सर्वथा उन्मुक्त कर दिया है; उसे यथेष्ट स्वतन्त्रता प्राप्त है। यद्यपि मनुष्य प्रकृति की इस अहैतुक अनुकम्पा से अनुचित लाभ उठाता हुआ अत्याचार, अनाचार, दुराचार और व्यभिचार के गहरे गर्त में आंखें बंद करके कूद पड़ता है और उसे अन्त में इस जघन्य स्वेच्छाचारिता का कुपरिणाम—'ये कपूयाचरणास्ते कपूयां योनिमापद्येरन्'—के अनुसार मनुष्य पद से भ्रष्ट हो कर सूकर कूकर आदि योनियों में जन्म लेने के रूपमें भुगतना पड़ता है तथापि तात्कालिक सुखाभास के प्रयास में ही सुर दुर्लभ मनुष्य जीवन का अपव्यय करना 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' बन गई है।

कदाचित् कोई मनुष्य अपना उद्धार करना भी चाहे तो अनेक कल्पित पन्थों का ऐसा जटिल जाल उसके चारों ओर बिछा हुआ है कि वह वास्तविक कल्याण का मार्ग ढूंढने में कृतकार्य नहीं हो पाता।

'सत्य क्या है ? असत्य क्या है ?'—इस समस्या को हल करने का प्रथम उपाय—ततद् सम्प्रदायों के ग्रन्थों का गुरु मुख से स्वाध्याय करके पुनः तुलनात्मक अनुसन्धान से सत्यासत्य का विश्लेषण करना—कहा जा सकता है, परंतु यह मार्ग सुवर्ण का सुमेरु होते हुए भी सर्वथा दुष्प्राप्य है क्योंकि प्रथम तो इस छोटी सी आयु में सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों को पढ़ सकना ही सर्वथा असम्भव है। केवल एक वेद-संहिता मात्र पढ़ने के निमित्त ही प्रथम—'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' की खैबर घाटी पार करना

सर्व साधारण के लिए कठिन कार्य है। यदि कोई आग्रही ग्रन्थों के पठन पाठन और अनुसन्धान में ही समस्त आयु बिता भी डाले तो उमर भर पत्थर कूटते २ मर जाने वाले कुली की भांति मोटर में बैठकर सड़क पर सुगमता पूर्वक चलने का तो उसे कभी अवसर आ ही नहीं सकता। सड़क केवल पत्थर कूटने के लिए नहीं होती किन्तु गाड़ी चलाने के लिए होती है, ठीक इसी प्रकार ग्रन्थों का स्वाध्याय केवल तोता रटन=रिसर्चमात्र के लिए नहीं होता किन्तु उनमें लिखे सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को संयत बनाकर जीवन्मुक्त होने के लिए होता है। सो यदि समस्त आयु केवल सत्य की खोज में ही व्ययित हो जाए तो फिर इस सत्य पर आरूढ़ होने का अवसर कब मिलेगा ? इसलिए सत्य के अन्वेषण के निमित्त ग्रन्थों का तुलनात्मक स्वाध्याय करते करते आयु बिता डालना बड़ा लम्बा और कण्टकाकीर्ण मार्ग है। फिर ढलती अवस्था के, कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को, किंवा सर्वथा अपठित देहातियों को तो सत्य की खोज के लिये समस्त सम्प्रदायों के ग्रन्थों का तुलानात्मक स्वाध्याय करने का परामर्श देना मानो उनको एक प्रकार से टालना ही ठहरा।

धर्माधर्म निर्णय का अन्तिम उपाय शास्त्रार्थ भी कहा जा सकता है। प्रायः समझा जाता है कि अमुक २ सम्प्रदायों के मध्य में यदि शास्त्रार्थ हो तो उसे सुनकर सत्यासत्य का पता लगाया जा सकता है। प्राचीन समय में यह मार्ग भले ही प्रशस्त रहा हो परन्तु अब शास्त्रों के नाम पर होने वाले अनेक वाग्युद्धों में स्वयं प्रवृत्त हुए एक भुक्तभोगी की भांति अधिकार पूर्वक यह कहा जा सकता है कि आज के शास्त्रार्थों को शास्त्रार्थ कहना ही वाद समारोह का घोर अपमान करना है। आज पहिले से ही दोनों पक्ष

अपनी अपनी बात को सिद्ध करना और दूसरे की बात का खण्डन करना अपना २ ध्येय बना लेते हैं। यही कारण है कि ऊंट चाहे किसी करवट बैठे परन्तु पंचों का कहना सिर माथे पर होते हुए भी पैनाला जहां का तहां रहता है। अब न श्री शंकराचार्य और मण्डन मिश्र जैसे सत्यनिष्ठ वादी प्रतिवादी होते हैं और नांही श्रीविद्यावती और भारती जैसे निष्पक्ष मध्यस्थ मिल सकते हैं। कहीं कहीं तो आर्यसमाज आदि मतों के हठ के कारण जनता को ही मध्यस्थ मान लेने का उपहासास्पद नियम स्वीकार करना पड़ता है; सो आज के शास्त्रार्थों को सत्यासत्य का निर्णायक मानना कोरी विडम्बना है ऐसी स्थिति में धर्माधर्म का निर्णय कैसे हो यह विकट समस्या है।

हम पीछे कह आये हैं कि परम कारुणीक भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य को उसके कल्याण के निमित्त सर्वाङ्गपूर्ण स्वावलम्बी बनाया है। पूर्व जन्म के पापों के कारण विकलांग हुए कुछ अपवादभूत मनुष्यों को छोड़कर अन्य सब के सब मनुष्य अपनी ही आंखों देखते हैं; अपनी ही जिह्वा से चखते हैं; अपनी ही नाक से सूंघते और अपने ही कानों सुनते हैं। अर्थात्—तत्तद् वस्तुओं के याथातथ्य को समझने के लिये वे अन्य किसी के दास नहीं। यदि कोई धूर्त, दूध का रंग हरा या काला बतलाये—और कोयल तथा कौव्वों को श्वेत बतलाये तो मैं अपनी आंखों से स्वयं उन्हें इसके विपरीत देखता हुआ उस वंचक की सौ युक्तियों तथा सहस्रों शपथों पर कभी विश्वास नहीं कर सकता फिर चाहे वह कितना ही प्रतिष्ठित धर्माचार्य, मुल्ला और लाट पादरी क्यों न हो! जब कि मैं स्वयं अपनी जिह्वा से चखकर नमक और मिश्री की परीक्षा कर सकता हूं तब कोई भी धूर्त मुझे मिश्री के स्थान

में नमक की कांकर देकर पथभ्रष्ट नहीं कर सकता । अर्थात्—ए ओर मेरी अपनी ज्ञानसाधन निर्विकार इन्द्रियें—और दूसरीओ समस्त संसार के वंचकों की युक्ति, प्रत्युक्ति, मन्तक, दलील तथ वाग्जाल! सो जिस प्रकार तत्तद् पदार्थों को जानने में प्रभु ने मनुष्य को स्वावलम्बी बनाया है ठीक इसीप्रकार धर्म्माधर्म के निर्ण में भी उसे किसी अन्य का दास नहीं बनाया किन्तु आ-चाण्डाल आ-ब्रह्मर्षि, और आ-काला अक्षर भैंस बराबर—आ-वेद-निष्णात सभी को समान रूप से अपना कल्याण मार्ग स्वयं परिष्क कर सकने योग्य बनाया है ।

हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि प्रकृति के नियन्त्रण से ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु सुतरां मर्यादित है और ब्रह्माण्ड व्याप्त उन् प्राकृतिक नियमों का नाम धर्म है; सो जैसे जिन नियमों से ब्रह्माण्ड का नियमन होता है ठीक उसी प्रकार और उन्हीं नियमों मानव पिण्ड का भी नियमन होना चाहिये, इसी समता का ना 'अण्डपिण्ड' सिद्धान्त है । वेद का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि -

यद् अण्डे तत्पिण्डे

अर्थात्—जो ब्रह्माण्ड में है सो ही पिण्ड में है । हम सा तीन हाथ के मानव पिण्ड को एक अरब योजन विस्तार वा ब्रह्माण्ड का सर्वांगपूर्ण संक्षिप्त संस्करण कह सकते हैं । जै विस्तृत भूगोल का समस्त संस्थान छोटे से चित्र=नकशे अङ्कित रहता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड की सब वस्तुओं सत्ता पिण्ड में विद्यमान है और पिण्ड की वस्तुओं का स्रोत ब्रह्माण्ड में विद्यमान है ।

ब्रह्माण्ड यदि पृथ्वी, अप, तेज वायु, आकाश, इन प

महाभूतों के पञ्चीकरण का विपरिणाम है तो पिण्ड भी इन्हीं के संघात का परिणाम है। ब्रह्माण्ड में सूर्य है तो पिण्ड में सूर्य का प्रतिनिधि आत्मतत्त्व विद्यमान है, ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा है तो पिण्ड में उसका प्रतीक मन: है। अण्ड में मंगल नामक रक्त रंग का ग्रह विद्यमान है तो पिण्ड में विभिन्न रंगों के खाए हुए भोजन के रस से यकृत् और प्लीहा (जिगर और तिल्ली) यन्त्र द्वारा रंजित, पित्त के रूप में परिणत होने वाला रक्त=रुधिर=खून विद्यमान है। अण्ड में बुध, बृहस्पति शुक्र और शनि नामक ग्रहों की सत्ता है तो पिण्ड में इन सबके प्रतिनिधि क्रमशः—वाणी, ज्ञान, वीर्य (काम चेष्टा) और दुःखानुभूति विद्यमान हैं। पर्वत स्थानीय अस्थि, वृक्ष लता गुल्मादि के प्रतीक केश रोम, नदी नदों की भांति नस, नाड़ी और धमनियों का जाल—गर्ज है कि अण्ड की समस्त वस्तुएं पिण्ड में याथातथ्येन विद्यमान हैं।

हमारी उपर्युक्त स्थापना को सीधे शब्दों में यूं कहा जा सकता है—'ब्रह्माण्ड' विराट् का शरीर है और 'पिण्ड'—उसी के अंशभूत जीव का शरीर है। हमारी पिण्ड से घनिष्ठता है इसलिये यदि हम थोड़ा सा परिश्रम करके पिण्ड के संगठन और उसके स्वाभाविक कार्य कलाप का अन्तर्मुख होकर अध्ययन करें तो ब्रह्माण्डवर्ती तत्तद् शक्तियों तथा उनकी विलक्षण सामर्थ्य का बहुत कुछ भेद जान सकते हैं। इसलिये ब्रह्माण्ड को समझने के लिये पिण्ड का मनन करना चाहिये, और पिण्ड की इतिकर्त्तव्यता जानने के लिये ब्रह्माण्ड के संस्थान पर ध्यान देना चाहिये।

'जो अण्ड में है सो पिण्ड में' यह हमारी कोरी कल्पना नहीं है। वेदादि शास्त्रों में इसके प्रतिपादक अगणित प्रमाण भरे पड़े हैं। यथा—

यावान्वा अयं आकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आका
उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेण समाहिते, उभौ अग्निश्
वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्
हास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्। (छान्दोग्य ८ । १ । ३

अर्थ—यह जितना आकाश है उतना ही अन्दर यह हृदयाका है। इस पिण्ड में द्यौ और पृथ्वी अन्दर समाहित हैं । अग् वायु सूर्य चन्द्रमा बिजली नक्षत्र—गर्ज है कि जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ इस पिण्ड में समाया है। यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा का ३१ वां समस्त अध्याय—'सहस्रशीर्षा,— लेकर—'सर्वलोक म ईषाण'—पर्यन्त चन्द्रादि समग्र ग्रहोपग्र का, तथा पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतों का विराट् के तत्तद् अङ्ग के रूप में वर्णन करता है। सो जैसे कोई सार्वजनिक धार्मि स्थान अनेक विभिन्न दानियों द्वारा दी गई—भूमि, ईंट, चून सीमेंट, पत्थर, लोहा, लक्कड़, आदि सामग्री से बनाया जाता और अन्यान्य दानी उसमें बिजली का प्रकाश, पानी का न घड़ी, पंखे, बिछात, फरनीचर, आदि वस्तुएं प्रदान करके उ आवश्यक संभार सम्पन्न बना देते हैं, ठीक इसीप्रकार हमारा य मानव पिण्ड भी गर्भाधान संस्कार के समय माता पिता द्वारा गई प्रार्थना रूप अपील पर दानी होने के कारण ही 'देवत कही जाने वाली ब्रह्माण्डे व्याप्त विभिन्न शक्तियों की उदार से दी गई विभिन्न सामग्री से ही संघटित हुआ है। किस देव ने कौन वस्तु प्रदान की है इस का विवरण विगत अंश से यथाकिञ्चित् समझ में आ सकता है। एतदर्थं कुछ अन्य प्रमाणों यहां उल्लेख करना अनावश्यक न समझा जायगा, तद्यथा-

(क) यस्य पृथिवी शरीरम्। यस्य......आपः......अग्निः ...
वायुः... ..आकाशः···शरीरम् । (शत १ । ६।७ । ३)

(ख) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋक्)

(ग) कालात्मा दिनकृन्मनश्च हिमगुः सत्वं कुजो ज्ञो गिरा।
जीवो ज्ञानमथोसितश्च मदनो दुःखं दिनेशात्मजः॥
(सूर्य सिद्धान्त)

(घ) अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। (अथर्व)

अर्थात्—(क) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश जिस विराट् का शरीर है। (ख) सूर्य जंगम और स्थिर समस्त पदार्थों का आत्मा है। (ग) सूर्य आत्मा है, चन्द्र मनः है, भौम सत्त्व=बल किंवा रक्त है, बुध वाणि है, बृहस्पति ज्ञान है, शुक्र=वीर्य काम सञ्चार है, शनि दुःखानुभूति है। (घ) आधार चक्र से लेकर सहस्रार चक्र पर्यन्त (गुदा से मस्तिष्क तक) आठ चक्र और (दो आंख, दो कान, दो नासाछिद्र, मुख, लिंग, और गुदा) इन नव द्वारों—छेदों वाला यह मानव देह काल द्वारा युद्ध में न जीती जा सकने योग्य देवताओं की नगरी है।

अस्तु, यह मानव पिण्ड देवताओं की दान दी हुई सामग्री से बना एक पंचायती मकान है। पंचायती धर्मशाला की संरक्षा के निमित्त जैसे पंचायत किसी प्रबन्धक—मैनेजर को नियुक्त करती है, ठीक इसी प्रकार हमारा यह जीव इस देह रूप देव-नगरी का देवताओं की ओर से नियुक्त देखभाल संरक्षा करने वाला प्रबन्धक मात्र है, सर्वाधिकार सम्पन्न स्वामी=वाहिद मालिक नहीं।

पंचायती धर्मशाला का मैनेजर यदि प्रबन्धकसमिति द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करता हुआ ठीक ठीक देखभाल संरक्षा करता रहे तो वह निश्चित वेतन के अतिरिक्त उचित पुरस्कार का भी पात्र हो सकता है, परन्तु यदि वह मूर्खतावश स्वयं इस पंचायती मकान का मालिक बनकर इस पर अनुचित अधिकार करना चाहे और वास्तविक दाता=प्रबन्धक=ट्रस्टियों को धता बताए तो वे सब मिलकर सरकार के सहयोग से इसे कान पकड़कर तत्काल निकाल डालेंगे। ठीक इसी प्रकार जब जीव—'कर्ताहमिति मन्यते' के अनुसार अपने आपको ही सब कुछ समझने की मूर्खता का शिकार हो जाता है, तब देवसत्ता के रोष से वह भी इस पिण्ड से निकाल दिया जाता है।

पाठकों को इस अण्डपिण्डवाद का खूब मनन करना चाहिये क्योंकि आगे चलकर इस ग्रन्थ में बहुत सी शङ्काओं का निराकरण इसी के आधार पर किया जायगा।

पाप और पुण्यवाद—

(पुण्येन पापमपनुदति)

प्रायः सभी सम्प्रदायों में पाप और पुण्य की भावना का सन्निवेश है। चाहे पाप और पुण्य की परिभाषा और उनकी इतिकर्तव्यता में आकाश तथा पाताल का अन्तर पाया जाता है परन्तु—अमुक कार्य हेय है, क्योंकि यह पाप है और अमुक कार्य करणीय है, क्योंकि यह पुण्य है—इस प्रकार की विधि निषेधात्मक परम्परा सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाई जाती है। संस्कृत साहित्य में ही जब पाप और पुण्य शब्द के अनेक पर्याय पाये जाते हैं तब अन्यान्य देशों और अन्यान्य भाषाओं में इन

नामान्तर होना स्वाभाविक ही है। पाप और पुण्य शब्द के पीछे जो भावना एक हिन्दू के हृदय में बंधी है ठीक वही भावना अनार्य म्लेच्छ के हृदय में 'गुनाह' और 'सबाब' शब्द के साथ सम्बद्ध है।

आज के बहुत से कथित साम्यवादी (कम्युनिष्ट) और कथित समाजवादी (सोशलिस्ट) तथा उनके मानस पुत्र भारतीय कांग्रेसी, कहने को चाहे अपने अपने शासनों को धर्म निरपेक्ष राज्य (सैक्यूलर स्टेट) घोषित करने का साहस करें परन्तु वस्तुतः जो विधान बनते हैं और उनमें अमुक २ कार्यों की जो हेयोपादेयता स्थिर की जाती है वह धर्म्माधर्म और पाप पुण्य की प्राकृतिक भावनाका ही धुंधला किन्तु सुस्पष्ट चित्र है। जिसे आज की परिभाषा में कानून और व्यवस्था कहा जाता है, उसका ही प्राचीन नाम धर्म और शास्त्र है। कानून और व्यवस्था को अल्पज्ञ जीवों की कल्पना कोटि से बाहिर निकालकर सर्वथा और सर्वदा सुनिश्चित मानव हित की दृढ़ चट्टान पर सुस्थिर करने को ही—उसे धर्म और शास्त्र के सांचे में ढाला जाता है। जो हो सो हो! नास्तिक से नास्तिक पुरुष भी लोक व्यवस्था के निमित्त पाप और पुण्य को मानने के लिये वाध्य हैं फिर भले ही वह पाप को अपराध—अभियोग—जुर्म नाम से याद करें और पुण्य को राजभक्ति-नागरिकता-वफादारी-लायलटी नामों से पुकारें।

यद्यपि पाप और पुण्य की सीधी परिभाषा यह कही जा सकती है कि वेद निषिद्ध हेयकर्म पाप और वेद विहित उपादेय कर्म पुण्य! परन्तु एतावता आज के मानव वर्ग को संतोष नहीं होता और तत्तत् सम्प्रदायवादी वेद के स्थान में अपने २ मान्य ग्रन्थ—कुरान हदीस अंजील, तौरेत आदि के विधान को पाप पुण्य की

कसौटी नियत करने का दुराग्रह करते हैं ऐसी स्थिति में पाप पुण्य की कोई प्राकृतिक कसौटी नियत करना अनिवार्य हो गया है।

कल्पना कीजिए—एक गाड़ी चलती है वह बराबर आगे बढ़ना चाहती है, परन्तु जब कभी वह गारे कीचड़ में धंसने लगे तो जो व्यक्ति उसे आगे को ढकेलकर सहायता पहुंचाता है, गाड़ीवान् की दृष्टि में वह वड़ा उपकारी है वह उसे धन्यवाद देता है। इसके विपरीत यदि कोई रोडे पत्थर लक्कड़ डालकर गाड़ी की प्रगति को रोकने की चेष्टा करे तो वह व्यक्ति गाड़ीवान् की दृष्टि में खटकता है वह उसे कोशता है और शक्ति भर दण्ड देना चाहता है। ठीक इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के नियन्त्रण में प्रगति शील है। प्रकृति का अविच्छिन्न प्रवाह उसे बराबर आगे वढ़ा रहा है। जब तक वह वस्तु उन्नति की चरम सीमा पर न पहुंच जाए तब तक यह प्रवाह निरन्तर जारी रहता है।

मान लीजिए एक बकरी है, वह नित्य आधा सेर दूध देती है, उसने अपने पहिले ही प्रसव में दो बच्चे जने हैं अब यदि घास फूस पानी आदि जीवनोपयोगी सामग्री मिलती रहे तो वह अपने जीवन में सहस्रों सेर दूध देकर और अनेक बच्चे जनकर संसार को समृद्धि में चार चांद लगा सकती है। जो पुरुष इसके जीवन प्रवाह को प्रचलित रखने के लिये अनुकूल चेष्टायें करता है वह प्रकृति की इस लुढ़कती हुई गाड़ी को आगे बढ़ाने में उचित सहायता करता है, प्रकृति की गाड़ी का अधिष्ठाता—गाड़ीवान् भगवान्, पुरुष की इस चेष्टा पर अवश्य प्रसन्नता अनुभव करेगा, परन्तु यदि कोई व्यक्ति इसके विपरीत उस बकरी का गला काटकर उसके मांस से अपनी या अपने परिवार की चन्द घन्टे के

लिये क्षुधा शांत कर लेता है, अथवा क्षणिक जिह्वालौल्य पूरा कर लेता है तो उसने निःसन्देह इस बढ़ते हुए प्रकृति प्रवाह में रोड़े का काम किया है, अब वह बकरी सहस्रों सेर दूध और कई बच्चे जन सकने की स्थिति में नहीं रही। प्रकृति की इस गाड़ी को रोकने का उत्तरदायित्व एकमात्र इस हत्यारे पर है। इसके इस कुकृत्य पर गाड़ीवान् भगवान् अवश्य रुष्ट होगा। वह अप्रतिहत-शक्ति एवं कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथा-कर्तुं-समर्थ है अतः इस कुकृत्य का इस व्यक्ति को दण्ड अवश्य देगा।

उपरोक्त समस्त दृष्टान्त का सार यह है कि प्रकृति के बढ़ते हुए प्रवाह के अनुकूल समस्त क्रियाएं—हलचल 'पुण्य' हैं और प्रकृति प्रवाह में प्रतिरोध—रुकावट डालने वाली सम्पूर्ण चेष्टायें 'पाप' हैं। भूखे को अन्न देना और प्यासे को पानी पिलाना इसी लिये पुण्य है कि ये चेष्टायें, अन्न और जल के बिना मृत्यु का ग्रास बन सकने वाले प्राणी के जीवन प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के अन्यतम साधन हैं। इसीप्रकार किसी की हत्या इसीलिये पाप है कि इस कृत्य से अमुक जीव का जीवन प्रवाह अकाण्ड में ही परिसमाप्त हो जाता है। पाप पुण्य में विश्वास रखने वाला कोई भी मनुष्य इससे अच्छी सर्ववादीसम्मत परिभाषा नहीं बना सकता। इस परिभाषा में जहां सभी सम्प्रदायों के मान्य ग्रन्थों का मथितार्थ आ जाता है वहां धर्मयुद्ध में प्राणीवध, नर्मविवाहादि में अनृतभाषण—और ऋतुकाल में दारोपगम आदि २ सब अपवाद भी भलीभांति आ सकते हैं।

प्रकृति प्रवाह के अनुकूल हलचल का सुपरिणाम और प्रकृति प्रवाह के प्रतिकूल आचरण करने का कुफल संसार में भी प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। चलती रेलगाड़ी पर इञ्जन की

ओर मुख करके स्वयं भी साथं २ चलते हुए ऊपर चढ़ना और इसी भांति उतरना रेलवे गार्ड के बांये हाथ का काम है, परन्तु इञ्जन को पीठ देकर प्रवाह के प्रतिकूल चढ़ने उतरने की चेष्टा करना मृत्यु को निमन्त्रण देना है। सैंकड़ों देहाती इस भूल से जख्मी होते देखे जाते हैं। आयल इञ्जनों के संचालक—मिस्तरी इञ्जन के घूमते हुए चक्कर पर उसके प्रवाह का अनुगमन करते हुए नित्य पट्टे चढ़ाते ही हैं परंतु तद् विपरीत जरा सा भी संस्पर्श हो जाने पर अंग भङ्ग हो जाने का खतरा खरीद बैठते हैं।

कौन कृत्य प्रकृति प्रवाह की अविच्छिन्न धारा की प्रगति में सहायक है ? और कौन कृत्य उसमें विघातक है ? इस प्रश्न का अन्तिम समाधान यद्यपि वेद शास्त्र ही हैं क्योंकि परिमित मानव बुद्धि इस इन्द्रियातीत समस्या का 'इदमित्थं' हल नहीं ढूंढ सकतो, तथापि कथित बुद्धिवादी अर्धनास्तिक भी अपनी पाप पुण्य विषयिणी जिज्ञासा का यथा कथञ्चित् समाधान कर सकें, एतदर्थ यहां 'पाप पुण्यवाद' पर प्रकाश डाला गया है।

भावनावाद—

(भावे हि विद्यते देवः)

श्रद्धा और विश्वास की निरन्तर उपासना का सुपरिणाम 'भावना' है। प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न भावनाओं का ही मूर्तिमान् पुतला है। श्रीमद्भगवद्गीता में सुस्पष्ट लिखा है कि —

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात्—यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वैसा ही होता है।

इस नग्न सत्य का अपलाप नहीं किया जा सकता कि दृढ़भावना

के कारण बहुत सी असम्भव बातें प्रत्यक्ष सम्भव देखी जातीं हैं शिव शंकर तो भगवान् ही ठहरे परंतु उनके भक्त प्रह्लाद मीरा जैसे अनेक व्यक्ति भी सहर्ष कालकूट को घूंट गए तथापि उनका बाल बांका नहीं हुआ। भगवती सीता का अग्नि परीक्षा में सफल होना पुरानी कहानी कही जा सकती है, प्रह्लाद के विचित्र चरित्र में भी उसका धधकती होली की गोद में जीवित रह जाना—पुरातन आख्यान कहकर टाला जा सकता है परंतु केवल चन्द शताब्दी पूर्व—पतिव्रता के शाप प्रभाव से भयभीत हुए अग्नि की ज्वाला में कल्लोल करते हुए स्तनन्धय बालक को देखकर—राजा भोज की 'हुताशनश्चन्दनपंकशीतलः'—वाली ऐतिहासिक उक्ति की तो अभी तक स्याही भी नहीं सूख पाई है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्यारम्भ काल तक भी अग्नि परीक्षा के अनेक उदाहरण कर्नल टाड आदि विदेशी इतिहासकारों ने अपने अपने ग्रंथों में लिखे हैं। कहना न होगा ऐसी सब अघटित घटनायें तादृश भावनाओं का ही सुपरिणाम कही जा सकती हैं।

उस दिन हमारे ही हरियाणा प्रान्त के एक छोटे से ग्राम में एक किसान के यहां दही पूर्ण भांड—बिलौनी में विषधर काला सर्प घुस बैठा और किसान पत्नी ने अनजान में ब्रह्ममुहूर्त में ही उसे मथानी से मथ डाला। कुछ बटोही उस विषपूर्ण छाछ को भर पेट पीकर यथास्थान चले गए। तीन दिन तक उनका बाल भी बांका न हुआ। दिन चढ़े प्रकाश में बिलौनी में सर्प का अस्थिपञ्जर देख कर उसे उठा फेंका परंतु छाछ पी जाने वाले यात्रियों के जीवन सम्बन्ध में बहुत चिन्ता हुई, तीन दिन के बाद जब पुनः वे ही बटोही अचानक छाछ पीने आ पहुँचे तो

किसान पत्नी ने उस दिन की सर्प मन्थन वाली सबकी सब घटना उनको कह सुनाई और उनके स्वस्थ रहने पर प्रसन्नता प्रकट की, परंतु फल विपरीत निकला, जिन्हें तीन दिन तक उस अज्ञात विष-पान से कुछ भी हानि न पहुंची थी अब वे सुनकर सहम गये। एक तो तत्काल वहीं ढेर हो गया, शेष भी बहुत चिकित्सा के बाद महीनों में ठीक हो पाए।

हमारे पड़ोस के एक चरवाहे की बन में सिंह से मुठभेड़ हो गई। सीधे साधे उस युवक चरवाहे को यह ज्ञान नहीं था कि यह सिंह है, अतः उसने केवल अपने पशु हांकने वाले डण्डे से ही बड़ा परिश्रम करके सिंह को मार डाला, रात को घर आया, किसी जानवर से मुठभेड़ हो जाने की घटना का अन्य साथियों के सामने वर्णन किया। वे सब, जानवर का हुलिया सुनकर तो उसे 'सिंह' समझते थे परंतु एक व्यक्ति के डंडे मात्र से मारे जाने की बात पर विश्वास नहीं होता था। आखिर अगले दिन जब सब मिलकर इस घटना का अनुसन्धान करने बन में गए तो सचमुच मरे हुए शेर को देखकर चकित हुए और एक स्वर से बोल उठे—'ओहो ! बड़ा भारी शेर था भई !' बस !यह सुनते ही मारने वाला युवक अतीत खतरे की भय भावना से तत्काल मूर्छित हो गया। कई दिन की चिकित्सा के बाद स्वस्थ हुआ।

उस दिन होली फाग के दिन वह बूढ़ा दादा मर हो जाता—यदि उसका नाती रंग से भरे हुए अपने लोटे के लुढ़कने की शिकायत करता हुआ घर में कोहराम न मचाता। कहा जाता है कि होली के दिन रंग से खेलते हुए बालक ने सांयकाल हो जाने के कारण अपना लाल रंग से भरा लोटा आंगन में रख दिया। बूढ़े दादा प्रातः उठे उसी लोटे को उठा टट्टी चले गए। हाथ धोने पर

टट्टी में बिखरा लाल रंग देखकर उसे खूनी बवासीर के प्रकोप से निकला अपना खून मानकर मूर्छित हो गए । वैद्य डाक्टर चिकित्सा करने लगे परंतु असली रोग किसी को विदित नहीं हुआ। अन्त में जब नाती जगा और उसने अपने रंग भरे लोटे को खाली पाया तो वह कोहराम मचाने लगा । जब दादा के कान में यह भनक पड़ी तो वह उठ बैठा और सब मामला समझकर अपनी भ्रमपूर्ण भावना पर पश्चात्ताप करने लगा ।

भावना की चमत्कार पूर्ण घटनाओं के सहस्रों प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिये जा सकते हैं । आजकल का 'मैस्मरेजम' दृढ़ भावना सम्पादन का ही आधुनिक संस्करण है, पाश्चात्य जगत् 'विल पावर' की सत्ता से इन्कार नहीं कर सकता । ऐसी स्थिति में ऋषि मुनि और योगियों की प्रसव भूमि भारतवर्ष में यदि भावनामय जीवन का अधिक उल्लेख मिले तो इसे असम्भव कहकर उपेक्षित करना हृदय-शून्य मूसलचन्दों का ही काम कहा जा सकता है । भावना के विना सामने खड़े भी भगवान् नहीं सूझ सकते । वस्तुतः भाव ही भगवान् है, धनुष तोड़ने के ससय रंग-भूमि में खड़े एक ही राम भगवान्, और कंस विध्वंस के लिये अखाड़े में खड़े एक ही श्रीकृष्ण, दर्शकों को अपनी २ भावना के वैचित्र्य के कारण ही विभिन्न प्रकार के दीख पड़ते थे—तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस भावनामय संसार का चित्र चित्रण करते हुए अपनी रामायण में सुस्पष्ट लिखा है, कि—

जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।।

इसलिये कहना न होगा कि भावना के चमत्कार, कौतुकपूर्ण होते हुए भी संसार में अपनी विशेष सत्ता रखते हैं ।

शुचि और अशुचिवाद—

(शौचे यत्नः सदा कार्यः)

अमुक वस्तु स्वच्छ साफ और सुथरी है तथा अमुक वस्तु मलिन और गन्दी है—यह लोक व्यवहार तत्तत् वस्तुओं के केवल बाह्य स्थूल स्वरूप पर निर्भर है परंतु शुचिता और अशुचिता का सिद्धान्त केवल बाह्य स्थूलता से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु वह तत्तद् वस्तुओं के अदृष्ट सूक्ष्म तत्त्वों पर अवलम्बित है—आज के युग में इस पथ्य तथ्य को समझने की बहुत आवश्यकता है ।

एक वस्तु स्वच्छ-साफ-सुथरी हो सकती है परंतु वह शुचि शुद्ध=पवित्र भी हो यह आवश्यक नहीं । गधा कुत्ता और कौव्वा कितना ही नहलाया धुलाया साफ सुथरा क्यों न हो परंतु वह गोवर कीच में सनी गाय भैंस और घोड़ी के मुकाबले में अपवित्र ही माना जायगा । विलायत में बनी हाड़ चाम की चमकीली चीजें अपने चाकचिक्य से कितना ही चमत्कृत करने वाली क्यों न हों परंतु हैं सव वे सर्वथा अशुद्ध ।

भारतीय संस्कृति में 'स्वच्छता' को बहुत आवश्यक समझा गया है परंतु उसे ही सब कुछ मानकर 'शुचिता' की उपेक्षा नहीं की गई है । प्रत्येक वस्तु 'स्वच्छ' और 'शुद्ध' होनी चाहिये—यही भारतीय संस्कृति का आदेश रहा है ।

पाश्चात्य संस्कृति में 'शुचिता' को कोई स्थान नहीं बल्कि स्वच्छता के अतिरिक्त शुचिता नाम के किसी पदार्थ का भी अस्तित्व है यह भी उन्हें विदित नहीं ! यही कारण है कि वे साफ धुले कपड़े पहिने खानसामा द्वारा सजाई प्लेटों को चट कर जाने में विलम्ब नहीं करते, फिर चाहे खानसामा के हाथ=शरीर, विट् भोजी शूकर

और सिणक, थूक, खकार, खाने वाले कुक्कुट और मत्स्य के अशुचि मांस से ही क्यों न बने हों, और प्लेटों में भी चाहे इन्हीं मल-भक्षक जीवों का मांस क्यों न परसा हो !!

आज भारत में भी पाश्चात्यों की देन इस मानसिक दासता का बोल बाला है। साफसुथरे धुले कपड़े मात्र पहिन कर कोई भी ऐरा गैरा देवस्थानों की मर्यादा बिगाडने का परमिट पा सकता है, उपहार-गृहों, भोजन-शालाओं और प्याऊ के स्थानों पर धड़ल्ले से सर्वसाधारण को अपनी अशुचिता का प्रसाद (?) बांट सकता है।

यद्यपि कानून के डण्डे के बल पर फैलाई हुई इस मूर्खता पूर्ण धांधली का प्रत्यक्ष फल—(राजयक्ष्मा, तपेदिक, दन्तरोग-पायोरिया नेत्र रोग आदि) संक्रामक रोगों के बाहुल्य के रूप में दिनों दिन यत्र तत्र सर्वत्र बढ़ता हुआ देखा जा सकता है परंतु—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्'—का क्या उपाय बन सकता है।

हां, तो स्वच्छता और पवित्रता दो विभिन्न तत्त्व हैं। भारतीय ऋषियों ने वेद शास्त्र की दूरबीन लगाकर इन तत्त्वों को हस्तामलक की भांति अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कार किया है। यद्यपि आज के बहुत से भौतिक विज्ञान वेत्ताओं ने भी ऐसे बहुत से तत्त्वों का स्वयं निरोक्षण परीक्षण अनुसन्धान करके भारतीय ऋषियों की खोज की सत्यता को प्रमाणित किया है तथापि अभी दिल्ली दूर है; कल की अबोध बालिका पश्चिमी सायन्स, युग युगों और कल्प कल्पान्तरों की वैदिक खोज के अटल सिद्धान्तों को जानने में सहस्राब्दियों में नहीं तो शताब्दियों में अवश्य कृतकार्य हो सकेगी।

अब हम यहां कुछ ऐसे द [illegible] उदाहरण देना चाहते हैं—

कि जिन पदार्थों को भारतीय ऋषियों ने भी शुचि-पवित्र माना है और आज के वैज्ञानिक भी इस मान्यता का समर्थन करते हैं।

गंगा जल पवित्र है- यह बात प्रत्येक हिन्दू सदा से मानता आ रहा है। पीने से हीं नहीं बल्कि स्नान दर्शन ध्यान और नाम स्मरण करने मात्र से भी वह पाप नाशक है—यह वेदादि शास्त्रों का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

काशी में एक बार विशूचिका=हैजे का बड़ा प्रकोप हुआ वहां के एक पाश्चात्य डाक्टर को—हैजे से मरे शवों को गंगा में फैंका देखकर और सहस्रों पुरुषों को वही गंगा जल पीने पर भी स्वस्थ देख कर बढ़ा आश्चर्य हुआ। अन्त में जब उसने उन शवों का परीक्षण किया तो मालूम हुआ कि हैजे के कीटाणुओं से परिपूर्ण लाश, गंगा जल में डालने पर उतरोत्तर विशुद्ध होती जा रही है। अर्थात्=गंगाजल के संसर्ग से हैजे के कीटाणु बड़ी तेजी से विनष्ट हो रहे हैं उसी शव को जब अन्य जल में डाला गया तो विशूचिका के कोटाणु बढ़ने लगे और अन्त में वह सब जल ही कीटमय हो गया।

गो दुग्ध भी हिन्दू-शास्त्रों में पवित्र माना गया है, अनेक रोग केवल गोदुग्ध के सेवन मात्र से विनष्ट हो जाते हैं। गाय का दूध जहां संग्रहणी शोथ आदि अनेक असाध्य रोगों की अचूक औषधि है वहां न केवल कृशता की ही अपितु स्थूलता और मेदोवृद्धि की भी अव्यर्थ महौषधि है। पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक परीक्षणों के बाद इस तत्त्व को खूब समझा है, इसलिये अब वे गोदुग्ध के स्थान में अन्य किसी पशु के दुग्ध का सेवन नहीं करते। खासकर भैंस के दुग्ध को तो अपने किसी रोगी को पीने के लिए नहीं बतलाते।

पीपल वृक्ष भी हिन्दू ग्रन्थों में पवित्र माना है यही कारण है कि एक आस्तिक हिन्दू पोपल की रक्षा के लिये अपना शिर कटाने को सहर्ष उद्यत हो जाता है । अब पाश्चात्य वनस्पति-विज्ञान-वेत्ताओं ने बड़े अनुसंधान के बाद यह तथ्य प्रकट किया है कि पीपल ही एक मात्र ऐसा वृक्ष है जो अहर्निश प्रभूत मात्रा में जोवनोपयोगी आक्सीजन का विसर्जन करता है । सहस्रों द्रव्य राशि खर्च करने पर भी एक 'धर्मार्थ औषधालय' मानव समाज का जितना उपकार नहीं कर पाता उससे कहीं अधिक उपकार एक अश्वत्थ (पोपल) वृक्ष अपने संसर्ग मात्रसे कर देता है।

औषधालय तो नियमानुसार दवाई खाने वाले रोगियों के ही उद्भूत रोगों को विनष्ट कर सकता है, परन्तु पीपल के पेड़ से संस्पृष्ट वायु का प्रवाह तो दूर २ तक संसर्ग में आने वाले लोगों को चुपके २, बीमारी से आक्रान्त हो न होने देने की क्षमता प्रदान करता है, इसलिए दूसरे लोग जहां चोर को मारते हैं तो हम ऐसी वनस्पति के पूजन सेवन की शिक्षा देकर चोर का मां को ही मार डालते हैं ।

इसी तरह तुलसी-दल, शङ्ख-ध्वनि, सूर्य-साष्टाङ्ग, (सनबाथ) आदि वैदिक-विज्ञान प्रसूत हिन्दू मान्यताएं पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अनुसन्धानानन्तर लाभप्रद समझकर परिगृहीत की हैं और करते जा रहे हैं ।

प्रसङ्गोपात्त अब कुछ ऐसी मान्यताओं का भी यहां उल्लेख करना अनावश्यक न होगा कि जो वैदिक संस्कृति में तो शुचिता और अशुचिता के कारण हेय किंवा उपादेय स्वीकार की गई हैं परन्तु पाश्चात्य जगत् अभी पूरी तरह उनका तत्त्व नहीं समझ सका है और अभी तक अन्धेरे में ही चान्दमारी कर रहा है ।

सर्व साधारण मृत जीवों की अस्थि अशुचि हैं, यदि उनसे भी छू जाए तो सचैल स्नान किया जाता है परन्तु शङ्ख—जो एक समुद्र कीट का अस्थिमय कलेवर है—देव मन्दिरों में मु फूंका जाता है, हाथीदांत सीप और कौड़ी का अनेक वस्तुओ उपयोग होता है; मृगशृङ्ग, यज्ञों में यजमान द्वारा अपने श की कण्डु (खुजली) खुजलाने के कार्य में प्रयुक्त होने के अति श्वास कास आदि अनेक रोगों में भस्म बनाकर खाने के काम भी आता है। यह सब वस्तुएं अस्थि होते हुए भी शुचि हैं।

सर्व साधारण मृत जीवों का चमड़ा अशुचि है; किसी देव पितृ-कार्य में वह स्पर्शानर्ह है परन्तु सिंह व्याघ्र और का चर्म यज्ञ पूजन अभिषेक आदि धार्मिक कृत्यों में उपादेय गैण्डे के चर्म का पात्र तो पितृ तर्पण में प्रशस्ततम है। अत सब जात्या, चर्म विशेष होते हुए भी शुचि हैं।

सर्व साधारण जीवों के केश और नख देह से पृथक् होते अशुचि हैं—अस्पृश्य हैं, परन्तु चमरी के पुच्छ से निर्मित चं ऊन से बने हुए शाल, कम्बल और कालीन केश निर्मित होते भी शुचि हैं। देव पूजा आदि धार्मिक अनुष्ठान में ग्राह्य हैं।

गोमाता शुचि है, परन्तु उसका मुख अपवित्र है। यदि क का बर्तन गाय के मुख से छूजाय तो वह अशुचि हो जायगा घोड़ी के मुख से स्पर्श करके इक्कीस दिन तक मिट्टी में दबा शुचि माना जायगा। पीपल शुचि है परन्तु उसके पत्तों से पत्तल पर परसा हुआ भोजन अशुचि है जो उसे खायेगा चान्द्रायण व्रत करने से शुचि हो सकेगा।

ताम्र-पात्र में रखा हुआ जल गंगोदक के समान शुचि

परन्तु उस पात्र को मुख से उच्छिष्ट करके खाया पीया जाय तो वह अशुचि है, चान्द्रायण व्रत से ही भोक्ता शुचि हो सकेगा।

पत्थर चीनी मिट्टी और कांच के बने बर्तन देखने में साफ सुथरे अवश्य होते हैं परन्तु एक बार उच्छिष्ट हो जाने पर प्रयोग में आने योग्य नहीं रहते। मिट्टी के शिकोरे और कुल्हड़ों की भांति वह भी फेंकने योग्य ही हो जाते हैं। पाश्चात्य देशों में पायोरिया आदि दन्त रोगों की अधिकता इन्हीं अशुचि पात्रों के प्रयोग से बढ़ रही है। केवल चुल्लुभर जलमें झूठ मूठ उक्त बर्तनों को धोने का अभिनय करना, होटलों और चाय स्टालों पर तो एक ही बालटी में सौ बार प्लेटों और प्यालों को स्नान कराने मात्र से साफ मान लेना जनता के स्वास्थ्य को विनाश करने का खुला प्रयास है; परन्तु–अंधेर नगरी चौपट राजा ! कौन रोकथाम करे।

यह शुचिता और अशुचितावाद निरा ढकोंसला ही हो सो बात नहीं, आज भले ही दकियानूस दयानन्दी इस वैदिक विज्ञान को पोपलोला कहकर उपहास करते हों परन्तु ज्यों २ वर्तमान भौतिक विज्ञान भी इस दिशा में अनुसन्धान करता है त्यों २ वह इसका सर्वात्मना समर्थन करता है।

सखरा निखरा, चौंका चुल्हा और छूआछूत की सब समस्या उक्त वैदिक शुचि और अशुचिवाद पर निर्भर हैं। हम यथास्थान इन सब पर सप्रमाण प्रकाश डालेंगे। यहां तो केवल इतना समझ लेना आवश्यक है कि केवल बाह्य चाकचिक्य मात्र से ही किसी पदार्थ को साफ सुथरा समझकर ग्राह्य मान लेना खतरे से खाली नहीं किन्तु बाह्य स्वच्छता के साथ २ उसकी शास्त्रीय शुचिता और अशुचिता का भी विज्ञानपूर्ण विचार सामने रखते हुए ही उसकी हेयोपादेयता का निर्णय करना चाहिये।

भारतीय शुचिता का मूल है तत्तत् पदार्थों में व्याप्त विद्युत् शक्ति, जो अदृष्ट होती हुई भी वातावरण के निर्माण में विशेष स्थान रखती है। जल से असंपृष्ट भुना हुआ चना बहुत दिन तक तथैव बना रहता है, पेड़ा बर्फी और कलाकन्द आदि उससे कुछ कम समय तक निर्विकार रह सकते हैं, घृतपक्व मिठाई आदि उससे कम, स्नेह=अन्यान्न तेलों में तला उससे कम, रोटी उससे कम और भात सबसे कम समय तक निर्विकार रह सकता है यह प्रत्यक्ष है। अर्थात् षड्-भाव विकार की अविच्छिन्न धारा उपर्युक्त पदार्थों पर समान प्रभाव नहीं डाल सकती किन्तु एक पदार्थ दूसरे की अपेक्षा शुचि या अशुचि माना जाता है। भात और भुने हुए चने के सखरे और निखरेपन की व्यवस्था का यही तारतम्य है। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थों की शुचिता और अशुचिता के रहस्य का भी अनुमान किया जा सकता है। पाठकों को इस प्रघट्ट का खूब मनन करना चाहिये।

लोक परलोकवाद--

(आब्रह्मभुवनाल्लोकाः)

कूपमण्डूक की भांति यह मानकर बैठे रहना कि हमारी इस भूमि के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं—भयङ्कर मूर्खता है। वेदादि शास्त्रों में तो स्वर्ग नर्क आदि अनेक लोकों का न केवल वर्णन मात्र ही मिलता है अपितु उनका संस्थान, पृथ्वी से दूरी, वहां के निवासी जीवों का शारीरिक सङ्घटन एवं विशिष्ट रहन सहन और शक्ति के अतिरिक्त मानव समाज से उनका संपर्क आदि आदि विचित्र रहस्यों का भी सर्वांगपूर्ण वर्णन आता ही है, परन्तु साम्प्रतिक वैज्ञानिकों ने भी मङ्गल आदि ग्रहों और कई नक्षत्रों के

विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की है, वहां के निवासी प्राणियों के विषय में बहुत से तथ्य आए दिन समाचार पत्रों में छपते रहते हैं। कहना न होगा कि हमारी पृथ्वी की भांति अन्यान्य अनेक लोक इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं। तत्तत् लोकों में विलक्षण शरीरधारी निवास करते हैं। हमारी पृथ्वी पर हमारे पार्थिव शरीर हैं इसलिये हम पृथ्वी पर ही जीवित रहते हैं; अग्नि में जल जाते हैं, जल में डूब जाते हैं, अन्धड़ में घबड़ा जाते हैं और निरवलम्ब आकाश में ठहर नहीं सकते। इसी प्रकार अन्य लोकों में रहने वाले प्राणियों का विलक्षण वर्णन और मनुष्यातिशायिनी शक्तियों का उल्लेख दीख पड़े तो वह बुद्धिमान् पुरुषों के लिये सन्देह का कारण नहीं हो सकता। आर्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द जी ने भी 'सत्यार्थ प्रकाश' अष्टम समुल्लास पृष्ठ २४२ में सूर्य चन्द्र तारों में विलक्षण शरीरधारी मनुष्यादि का आवास स्वीकार किया है। महर्षि कणाद तो सुस्पष्ट ही 'आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि' कहते हुए लोकान्तर में जलीय, अग्निमय और वायुभूत शरीरधारी प्राणियों की सत्ता स्वीकार करते हैं।

देश वैचित्र्यवाद–

(सर्वतीर्थानि पुण्यानि)

काश्मीर के ही परिमित क्षेत्र में केसर क्यों उत्पन्न होती है? हरियाणे—खासकर नागौर—के ही गाय बैल क्यों उत्तम होते हैं? सिंध-अरब के घोड़े क्यों सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं? मीठे जल से भरे नदी नद, समुद्र में गिरते ही खारे क्यों हो जाते हैं? खारा समुद्र जल, सूर्य किरणों से आकृष्ट होने पर पुनः मीठा बनकर क्यों बरसता है? जापान आदि पूर्व प्रदेशों के मनुष्य पीले रङ्ग के,

अफरीका के हबशी काले रंग के, युरोप आदि पाश्चात्य देशों के श्वेत वर्ण के और अमेरिका के लाल वर्ण के क्यों होते हैं? भारतीय मनुष्य उक्त (पीला काला श्वेत और लाल) चारों रंगों के संमिश्रण से बने पक्के रंग के क्यों होते हैं? हिमालय में बर्फ, मलयागिरि में चन्दन, जांजीबार में लौंग इसीप्रकार तत्तत् स्थानों में ही तत्तद् पदार्थ क्यों उत्पन्न होते हैं? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है कि सब देशों की भूमि, वहां का जलवायु और वहां का वातावरण समान नहीं होता किन्तु एक दूसरे की अपेक्षा अनेक प्रकार के वैचित्र्य से परिपूर्ण होता है। वस्तुतः सत्व रजः तम इन तीन गुणों के वैषम्य का परिणाम ही संसार है। ज्यों ज्यों यह वैषम्य परिसमाप्त होते होते समता आ जायगी त्यों ही प्रलय हो जायगा, सो प्राकृतिक गुणों का वैषम्य सृष्टि है और साम्यावस्था प्रलय है।

वेद में देश वैचित्र्यवाद—

अथर्ववेद में ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ स्थान के अमुक अमुक प्रदेशों को पवित्र और अमुक अमुक स्थानों को सुस्पष्ट अपवित्र कहते हैं, यथा—

(क) ये पृथिव्यां पुण्यलोकास्तानेव ते नावरुन्द्धे।
(ख) ये अन्तरिक्षे पुण्यलोकाः। ये दिवि पुण्यलोकाः।
(ग) ये पुण्यानां पुण्यलोका य एवापरिमिताः पुण्यलोकाः।
(अथर्व १५। १३। २—१०)

अर्थात्—(क) जो पृथ्वी में पवित्र लोक=प्रदेश हैं (अतिथि सेवा से) वे प्राप्त होते हैं। (ख) अन्तरिक्ष में जो पवित्र लोक हैं—

यू लोक में जो पवित्र लोक हैं। (ग) जो पुण्य से पुण्यलोक है और अपरिमित पुण्यलोक हैं।

पृथ्वी के अमुक अमुक प्रदेश स्वभावतः ही पवित्र माने जाते हैं जिन्हें तीर्थ कहते हैं, जैसे जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारकाधीश और बदरीनारायण आदि चारों धाम, अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका द्वारिका—यह सातों पुरी और कुरुक्षेत्र पुष्कर आदि अनेक स्थान।

कुछ प्रदेश स्वभावतः कीकट=अमेध्य होते हैं जैसे कर्मनाशा नदी, भारत के अङ्ग बङ्ग कलिंग सौराष्ट्र और मगध नामक प्रान्त तथा अन्यान्य म्लेच्छ देश।

जैसे मानव शरीर में भी नाभि से ऊपर का भाग उत्तरोत्तर मेध्य है और नाभि से अधोभाग उत्तरोत्तर अमेध्य है—यह मन्वादि धर्मशास्त्रों में कहा गया है, ठीक इसीप्रकार अमुक अमुक भूभाग के मेध्य और अमेध्य होने की व्यवस्था है। महाभारत में वर्णन आता है कि—

यथा देशाः शरीरस्य केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः।
तथा पृथिव्या देशाश्च केचित्पुण्यतमाः स्मृताः॥
प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥
(महाभारत शान्तिपर्व)

र्थात्— जैसे मानव शरीर के अमुक अंग पवित्र होते हैं इसी प्रकार पृथ्वी के भी अमुक अमुक प्रदेश पवित्र होते हैं। (उनके पवित्र होने में तीन हेतु हैं) प्रथम—भूमि का अद्भुत प्रभाव,

दूसरा—वहां के जल का विशेष तेजः, और तीसरा—मुनिजनों का वहां रहना, इन्हीं तीन कारणों से तीर्थों की पुण्यता है।

सूर्यग्रहणमें कुरुक्षेत्र, चन्द्रग्रहण में काशी, कार्तिकी पौर्णिमा पर पुष्कर, कपाल मोचन और गढ़मुक्तेश्वर से लेकर गंगासागर पर्यन्त अनेक गंगा घाट—क्यों सेवनीय हैं ? यह तो यथा स्थान निरूपण किया जायगा, परन्तु इस प्रघट्ट को पढ़कर तो पाठकों को केवल यह संस्कार दृढ़ कर लेना चाहिये कि पृथ्वी के सभी देश समान नहीं होते किन्तु अमुक २ प्रदेशों में कई प्रकार का वैचित्र्य भी होता है।

काल वैचित्र्यवाद—

(भूतानि कालः पचतीति सत्यम्)

देश वैचित्र्य की भांति काल में भी विचित्रता पाई जाती है। जैसे प्रातःकाल नास्तिक से नास्तिक पुरुष का हृदय भी प्रायः अपेक्षाकृत-सत्त्व गुण सम्पन्न रहता है। मध्याह्न में रजोगुण=काम काज में तत्परता और रात्रि में तमोगुण=आलस्य निद्रा तन्द्रा का आधिक्य प्रत्यक्ष देखा जाता हैं, ठीक इसीप्रकार सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के तादृश होने का सुतरां अनुमान किया जा सकता है।

अमुक काल में अमुक स्नान, दान, जप और अनुष्ठान करना चाहिये और अमुक मुहूर्त में ही अमुक कार्य होना चाहिए यह सब शास्त्र व्यवस्थाएं काल-वैचित्र्य पर ही अवलम्बित हैं जिसका परिज्ञान ग्रह नक्षत्र और तारा मण्डल की अनुकूल परिस्थिति के वैज्ञानिक आधार पर स्थिर किया गया है। अथर्ववेद के १९ वें काण्ड का ५३वां पूरा का पूरा सूक्त 'काल सूक्त' है जिसमें काल की

लोकोत्तर महिमा का वर्णन करते हुए यहां तक कहा गया है कि काल प्रजापति ब्रह्मा का पिता है, यथा—

कालो हि सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ।

अर्थात्—निश्चित ही काल समस्त चराचर का नियन्ता है प्रजापति ब्रह्मा का भी पिता है ।

प्रत्यक्ष में भी किसान अमुक काल में ही अमुक अन्न बोना आवश्यक समझता है । यदि ऋतु का विचार न करके गेंहू, धान, ईख और मकई आदि अन्न बो दिये जाएँ तो वे कभी फलाधायक नहीं होसकते । मृगशिर नक्षत्र जब पूर्व में उदित होने लग जाए तो फिर किसान धान का बीज डालना व्यर्थ समझते हैं, इस विषय में देहाती कृषिशास्त्र की कहावत बहुत प्रसिद्ध है–

हिरणी कढ्ढे कन्ना मूरख बोवे धन्ना ।

प्रातःकाल यदि किसी चुटीले स्थान पर आक का दूध लगा दिया जाए तो यह तुरन्त ही समस्त शरीर में व्याप्त हो जाएगा— यह प्रत्यक्ष देखा जाता है परन्तु यदि मध्याह्नोत्तर इसका प्रयोग किया जाए तो विष नहीं चढ़ता अपितु उस चुटीले स्थान की पीड़ा को लाभ पहुँचता है ।

अमा पौर्णिमा और अष्टमी को समुद्र में ज्वार और भाटे का प्रभाव, शिशिर में पतझड़, वसन्त में लहलही लतिकाओं में नव किसलयों का प्रादुर्भाव, दिन में कमलिनी और रात में कुमुदिनी का विकास, सूरजमुखी और रात की रानी का क्रमशः दिन और रात में महकना–ये सब प्राकृतिक चमत्कार 'काल वैचित्र्य' के ही कौतुकपूर्ण निदर्शन हैं । भारतीय ऋषियों ने कालवैचित्र्य के केवल स्थूल प्रभावों का ही नहीं, बल्कि अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा मनः बुद्धि आत्मा पर पड़ने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभावों का भी मनन किया था ।

आज के सभ्य कहे जाने वाले पाश्चात्य जंटिलमैन और उन का अन्धानुकरण करने वाले अपटुडेट भारतीय, प्रातः मल मूत्र त्याग से पूर्व ही लार से सने मुख से बिस्तर पर बैठे २ चाय उड़ाते हैं। यवन म्लेच्छ आदि भोजन के बाद दोपहर में दातौन करते हैं तथा सभी पाश्चात्य सभ्यतानुयायी महा रात्रि में शयन से पूर्व स्नान करना आवश्यक समझते हैं। उनकी यह सब चेष्टाएं कालवैचित्र्यजन्य लाभों के न जानने का ही परिणाम हैं, जिससे वे चित्रकुष्ट, पायोरिया और अनिद्र रोगों के प्रायः शिकार हो जाते हैं।

इसलिये भारतीयसंस्कृति के पुजारियों का परम कर्तव्य है कि वे 'काल वैचित्र्यवाद' को ध्यान में रखते हुए शास्त्र प्रतिपादित ठीक समय पर ही तत्तद् कर्मों का अनुष्ठान किया करें।

वस्तु वैचित्र्यवाद—

देशकाल की भांति तत्तद् वस्तुओं में भी बहुत से वैचित्र्य पाए जाते हैं। वस्तु वैचित्र्य के स्थूल प्रभाव को प्रायः सभी देशों में यथा कथञ्चिद् स्वीकार किया गया है। भारतका आयुर्वेद शास्त्र, यूनानियों की हिकमत और श्वेत देशों की एलोपैथिक तथा होम्योपैथिक चिकित्सा पद्धतियें 'वस्तु वैचित्र्यवाद' पर ही अवलम्बित हैं; परन्तु जहां भारत को छोड़कर अन्यान्य देशों के वैज्ञानिकों ने केवल शरीर पर पड़ने वाले तत्तद् वस्तुओं के प्रभावों की सीमा तक ही 'वस्तु वैचित्र्यवाद' से लाभ उठाया है; मनः बुद्धि और आत्मा पर किस वस्तु का क्या प्रभाव पड़ता है—यह बात वे अभी तक नहीं जान पाए हैं, वहां भारतीय ऋषियों ने न केवल 'वस्तु वैचित्र्यवाद' का मनन मात्र ही किया था अपितु अपने

जीवन में भी तत्तद् वस्तुओं का उपयोग करके अनेक प्रकार का लाभ उठाने का भी प्रयत्न किया था।

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासियों का पांवों में लकड़ी की खूंटीदार खड़ाऊं पहिनना, धार्मिक अनुष्ठानों में कुशासन का प्रयोग और अनामिका अंगुली में कुशा की पवित्री धारण करना, गले में तुलसी रुद्राक्ष आदि की मालाएं पहिनना, एवं मस्तक में मृत्तिका चन्दन, कुंकुम, हरिद्रा, किंवा भस्म धारण करना तथा सधवा का ललाट में बीचों-बीच सिन्दूर, तथा अलङ्कार धारण करना केवल जंगलीपन के चिह्न नहीं है, अपितु 'वस्तु वैचित्र्यवाद' की वैज्ञानिक भित्ति पर स्थिर, अनेक लाभों से परिपूर्ण तथ्य हैं जिनकी विशद व्याख्या यथा-स्थान की जायेगी। यहां तो केवल इतना मनन कर लेना परमावश्यक है कि तत्तद् वस्तुओं के दर्शन और सेवन से न केवल तत्तद् शारीरिक रोग मात्र की निवृत्ति और प्रवृत्ति नहीं होती अपितु मनः बुद्धि और आत्मा के पतन और उत्थान में भी इनका बहुत कुछ दखल हैं।

भांग, चरस, अफीम और मद्यपान से केवल नशा मात्र ही नहीं होता किन्तु शनैः २ बुद्धि का भी दीवाला निकल जाता है। शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।

(शार्ङ्गधर—४—२१)

अर्थात्—जितनी नशीली चीजें हैं वे सब बुद्धि का लोप करने वाली हैं।

तम्बाकू खाने पीने और सूंघने से केवल शिर ही नहीं चकराता अपितु हृदय भी क्षीण होता है। आज के बढ़ते हुए हृद्गति निरोध (हार्टफेल) रोग का मूल यही दुर्व्यसन है।

इसलिये आस्तिकों को उचित है कि वे 'वस्तु वैचित्र्यवाद' पर अवलम्बित धर्मशास्त्रों के विधान का सर्वात्मना पालन करते हुए कल्याणभाजन बनें।

जाति वैचित्र्यवाद—

(अति विचित्र भगवंत गति, को जग जानन जोग)

इस प्रघट्ट में 'जाति' शब्द की परिभाषा 'समानप्रसवात्मिका जातिः' अभीष्ट नहीं अपितु किसी एक ही जाति विशेष में दीख पड़ने वाली परम्परागत वे विशेषताएं हैं जिनको आजकल 'नस्ल' के नाम से याद किया जाता है। पाश्चात्य जगत् आज पशु पक्षी और वृक्षों की नस्लों को सुरक्षित रखना और उनकी अभिवृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करना तो अपना कर्तव्य समझता है परन्तु मनुष्य की भी कोई खास नस्ल होती है और उसकी रक्षा करना भी आवश्यक है,—दुर्भाग्यवश्य यह तथ्य अभी तक इन लोगों की खोपड़ी में नहीं बैठ पाया है।

यह सभी जानते हैं कि कहने में 'आम' एक साधारण वृक्ष है, परन्तु उसमें कलमी, लंगड़ा, सफेदा, बम्बई, मलगोबा, तोतापरी और सिन्दूरी आदि अनेक जातियें पाई जाती हैं, जिनका रंग रूप और स्वाद एक दूसरे से सर्वथा विचित्र होता है; इसी प्रकार प्रयाग में अमरूद की, नागपुर में संतरे की, और बम्बई में केले की जो नस्लें विद्यमान हैं वे अपने वैचित्र्य के कारण अन्यत्र उपलब्ध नहीं होतीं। पशुओं में खास कर बैलों और घोड़ों की कई विशेष नस्लें पाई जाती हैं। अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में हरियाणे के गोवंश की नस्ल की सुरक्षा के लिए एक बड़ी गोशाला स्थापित की थी जो अभी भी सुरक्षित है। अंग्रेजों की ओर से युद्धमें दिया जाने वाला सब से बड़ा पदक='विक्टोरिया क्रास'

विगत युद्ध में भारत के एक बैलको भी प्राप्त हुआ था—यह सभी समाचारपत्र-पाठकों को विदित होगा। यह बैल इसी नस्ल का कहा जाता है।

आज कुत्तों की नस्ल को सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। 'बुलडाग' और 'पपीडाग' जनने वाली कुतियाको अन्य जाति के कुत्तों के संसर्ग से बचाने के लिये खास प्रबन्ध किये जाते हैं। रबड़ के जांघिये तक पहिनाये जाते हैं परन्तु यह कितने आश्चर्य और शोक का स्थान है कि आज मानव नस्ल की सुरक्षा की न केवल उपेक्षा की जा रही है अपितु जातिगत विशेषताओं की रक्षा के दुर्ग—जन्मना वर्ण व्यवस्था, गोत्र प्रवर विचार, जातियों उप जातियों में विवाह सम्बन्ध तथा भोजन सम्बन्ध आदि २ वैज्ञानिक विधानों की धज्जियां उड़ाई जा रही हैं।

भारत ही एक मात्र ऐसा देश है और हिन्दू जाति ही एक मात्र ऐसी जाति है कि जिसने स्व-वर्ण में ही 'यौन सम्बन्ध' को अभी तक यथातथा तत्परता पूर्वक सुरक्षित रक्खा है। सात सौ वर्षों के मुस्लिम शासन काल में केवल 'यौन सम्बन्ध' को लेकर राजपूतों ने अनेकों युद्ध लड़े, अगणित बलिदान दिये, सहस्रों राजपूत रमणियें जौहर व्रत धारण कर सहर्ष चिता पर चढ़ गईं, कालकूट को घूंट गईं परन्तु अकबर महान् की साम दाम भेद पूर्ण और औरङ्गजेब की दण्ड पूर्ण सारी नीति व्यर्थ सिद्ध हुई, इस के लिए यदि अपने ही घर के राजा मानसिंह जैसे वीरों का भी सामाजिक बहिष्कार करना पड़ा तो वह भी हृदय पर पत्थर रख कर किया परन्तु आर्यललनाओं की विशुद्ध कोख को, गोमांसभक्षक अनार्यों के संसर्ग से दूषित नहीं होने दिया, फल स्वरूप हिन्दूपति राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी महाराज, श्री

गुरु गोविन्दसिंह और वीर बन्दा वैरागी जैसों की नस्ल सुरक्षि रह सकी।

आज भी पाकिस्तान के जन्मकालीन हत्याकाण्ड के सम अनेकों देवियें अपने सतीत्व की रक्षा के लिये हंसते २ चिता पर चढ़ गईं, पूरे गांव के गांव सती हो गए। इस कष्ट पू कथाओं ने जहां हमारे हृदयों को भस्म कर डाला वहां इन ब दानों के प्रकाश में एक आशा की किरण भी सुस्पष्ट झल पड़ी। आस्तिक जगत् को पुनः यह निश्चित समझने का अवस मिला कि हिन्दू जाति की 'नस्ल' अभी सुरक्षित है। सीता सावि और पद्मिनी का परम्परागत रक्त आज भी हिन्दू नारियों में ठ मार रहा है, जब तक हमारी यह नस्ल सुरक्षित हैं, तब हिन्दू जाति का बाल भी बांका नहीं हो सकता—इस प्रकार उदात्त विचार एक बार फिर हमारे हृदय में उद्बुद्ध हुए।

यदि यह नस्ल समाप्त हो गई तो फिर यहां भी जर्मनी प्रसिद्ध नाजी नेता फील्ड मार्शल कहे जाने वाले गोयरिंग विधवा पत्नी की भांति वीरगतिप्राप्त पति की लाश पर फि स्टार के रूप में थिरक कर, पति के जानी दुश्मन अंग्रेज, रिकन और रसियन सैनिकों से "वंस मोर हियर २" की चाहने वाली नटियें देखने में आयेंगी। मानवता का दीवाला निकल जायगा। आज भी हम सभ्य कहे जाने वाली स अहिन्दू जातियों को खुला चैलेञ्ज कर सकते हैं—वे अ जाति में उत्पन्न हुए किसी व्यक्ति का नाम बताएं जो राम आदर्श शासक, भरत लक्ष्मण सा आदर्श भ्राता, सीता उ सी धर्मपत्नी, शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र और कर्ण सा दानी,

अर्जुन सा आदर्शवीर और बृहस्पति शुक्र विदुर कामन्दक एवं चाणक्य सा राजनीतिज्ञ हुआ हो।

ईसा जगत् केवल ईसा पर अभिमान कर सकता है परन्तु यह भी पूरे तीस वर्ष तक भारतीय वैष्णवों के सम्पर्क में रहकर और उनकी शिष्यता स्वीकार करके ही 'क्राइस्ट' बंगला टोन में 'क्रूस्टा' और वस्तुतः कृष्ण बन पाया था यह रहस्य पाली भाषा में उपलब्ध एक प्राचीन जीवन चरित्र से सिद्ध हो चुका है। कल तक प्रत्येक पादरी ईसा का तीस वर्ष तक अज्ञातवास तो मानते थे परन्तु वे तीस वर्ष कहां बीते थे यह रहस्य किसी को विदित नहीं था ! अतः ईसा भी कलमी आम की भांति भारती की विशुद्ध नस्ल की मानसिक पेवंद का ही परिणाम है।

मुस्लिम संसार भी हजरत मोहम्मद पर तभी तक अभिमान कर सकता है जब तक कि उसे यह विदित न हो कि वह भारत के शैव मतानुयायी सन्यासियों की शिक्षा दीक्षा में रहकर ही 'उम्मी'=ओमी अर्थात् ओंकारोपासक बन पाया था। मक्के में प्रतिष्ठापित 'संगे असबद' नाम का काला शिवलिंग और पञ्च-कोण तारे वाला अर्धचन्द्र=त्रिपुण्ड अभी तक मुस्लिम जगत् का आदरणीय चिह्न बना हुआ है।

कहना न होगा कि भारतीय ऋषियों ने जाति गत विशेष गुणों के संरक्षण और उनके संवर्द्धन के निमित वैदिक विज्ञान के आधार पर जो व्यवस्थाएं सुस्थिर की थीं यह उनका ही प्रत्यक्ष फल था कि अर्बों वर्ष पुरानी हिन्दू जाति अभी तक संसार में अपनी सत्ता को रख सकी है। अन्यथा इससे पीछे उत्पन्न हुई सिथियन, हून, बैबोलियन, शक, और ग्रीक आदि अनेक जातियां केवल इतिहास के पृष्ठों में ही ढूंढी जा सकती हैं। अब संसार में उनका अस्तित्व भी शेष नहीं रह सका है।

दो विभिन्न असमान जातियों के सांकर्य का परिणाम विनाश ही होता है। घोड़े और गधे के सांकर्य से उत्पन्न खच्चर आगे वंश नहीं बढ़ा सकता। कलमी आम के गुट्ठल से कभी आगे आम पैदा नहीं हो सकता। यथास्थान इन सब बातों पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। यहां तो केवल यह तथ्य मस्तिष्क में बैठा लेना चाहिये कि 'जातिगत वैचित्र्य' का भी संसार को समृद्धि में विशिष्ट स्थान है। जो जाति इस तथ्य को हठात् मिटाना चाहेगी उसका अस्तित्व भी सहस्राब्दियों से अधिक संसार में सुस्थिर नहीं रह सकेगा।

इस प्रकार हम इस अध्याय में समस्त 'क्यों ?' समूह का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक उत्तर दे सकने में काम आने वाले मूल भूत सिद्धांतों का दिग्दर्शन कराते हुए पाठकों से साग्रह अनुरोध करेंगे कि वे इस अध्याय का एक २ अक्षर भली प्रकार मनन करके सभी वादों को हृदयङ्गम करलें क्योंकि 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' के अनुसार न शास्त्र निर्दिष्ट विधि निषेधों की कोई इयत्ता है और नांही तद् विषयक जिज्ञासाओं की ही कोई गणना है। इसलिये एक २ करके यदि जीवन भर में भी हम उन समस्त जिज्ञासाओं का ममाधान करने चलें तो पार पाना कठिन है। जो पाठक हमारे इस अध्याय पर विशेष ध्यान देंगे वे न केवल इस ग्रन्थ में लिखी मात्र 'क्यों ?' को जानने में कृतकार्य हो सकेंगे, अपितु अनुक्त क्योंओं का भी उपर्युक्त वादों के अनुसार समाधान करने में समर्थ हो सकेंगे।

शास्त्र सागर है अमित अपार, विविधशंका-तरंग आगार।
मिले सिद्धांत पोत से पार, यही अध्याय प्रथम का सार।।

प्रथम अध्याय समाप्त

अहोरात्र-चर्याऽध्यायः

(दूसरा अध्याय)

* * *

वर्णानां सान्तरालानां, या हि दैनन्दिनी क्रिया।
शास्त्रोक्ता हेतुबहुला, सुतरां सात्र कथ्यते ॥

* * *

प्रस्तुत अध्याय में हम प्रातः जागरण से लेकर शयन पर्यन्त तक की शास्त्र निर्दिष्ट समस्त क्रियाओं की वैज्ञानिकता पर विचार करेंगे और बतलायेंगे कि भारतीय ऋषियों ने जीवन के प्रत्येक क्षण को अमूल्य समझते हुए मानव जगत् के सन्मुख जो दैनिक कार्यक्रम रक्खा है उसके पालन से पुरुष न केवल शतायु होकर सुखपूर्वक जीवन यात्रा निर्वाह कर सकता है, बल्कि इससे भी अधिक 'सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्' का पात्र भी बन सकता है।

नियमित दिनचर्या क्यों ?

हमारी दिनचर्या नियमित है। प्रातः जागरण से लेकर शयन क की समस्त क्रियाओं के लिए शास्त्रकारों ने अपने दीर्घकालीन नुभव से ऐसे नियमों का निर्माण किया है जिनका अनुसरण रके मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकता है।

अन्यान्य मत मतान्तरों का केवल विचारों से ही सम्बन्ध है, चार से नहीं। इसीलिये वे अपने सदस्यों के स्वेच्छाचार पर

कोई नियन्त्रण नहीं रखते परन्तु विचार का थोड़ा-सा भी स्वातन्त्र्य उनके यहाँ अक्षम्य अपराध समझा जाता है। जैसे ए मुसलमान—स्त्री हत्या, बाल हत्या, सामूहिक हत्या, सुरापा खुदा के नूर का सफाया आदि कुकृत्य करता हुआ भी पक्का मोमिन कहला सकता है, बशर्ते कि वह पैगम्बर औ कुरान पर यकीन रखता हो। उदाहरण के लिए नादिर, चंगे मुहम्मद बिन कासिम, औरङ्गजेब और अकबर आदि का ना लिया जा सकता है। इतिहास साक्षी है कि इनमें से अकबर छोड़कर बाकी पूर्वोक्त सभी लोग कितने अत्याचारी शासक हैं। अकबर का दाढ़ी मुंडा चित्र इस्लाम के अपमान का जी जागता प्रमाण है। यवन शासन में 'सुराही' और 'पैमाना' हुक्के की तरह बादशाहत का एक अनिवार्य अंग समझा जा था, तभी तो मुगलिया खानदान के अधिकांश बादशाहों तत्कालीन चित्रों में ये तीन वस्तुएँ प्रायः साथ २ अंकित र हैं। यह सब कुछ होते हुए भी मुस्लिम सम्प्रदाय में उक्त स लोग इस्लाम की नाक समझे जाते हैं, परन्तु परम विद्वान्, उ निषदों को अर्बी फारसी में अनूदित कराने वाला दाराशिको सदाचारी मुराद और वेदान्तनिष्ठ शमस्त अवरेज आदि सज्ज स्वतन्त्र विचारों के कारण कत्ल करा दिये गये और इस्ला इतिहासकारों की दृष्टि में वे आज तक 'काफिर' समझे जाते है

यही बात न्यूनाधिक अन्यान्य सभी पन्थों में पाई जाती परन्तु सनातन धर्म में इसके सर्वथा विपरीत, विचारों पर प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं है। एकेश्वरवादी समाधिनि योगी से लेकर—'भूतानि यान्ति भूतेज्या'—के अनुसार भूतपूजा विश्वास रखने वाला व्यक्ति तक—सभी अपने अपने स्वत

विचार रखते हुए भी निर्विशेष सनातन धर्मी माने जाते हैं। परन्तु हम 'आचार स्वतन्त्र्य' अर्थात्—स्वेच्छाचार के लिए अपने सदस्य को कभी आज्ञा नहीं देते क्योंकि हमारा धर्म केवल विचारों से ही सम्बद्ध नहीं है किन्तु हमारा छोटा-बड़ा सभी प्रकार का आचार सर्वथा और सर्वदा धर्म से सुसंबद्ध है। सीधे शब्दों में बल्कि यूं कह सकते हैं कि **'आचारः प्रथमो धर्मः'** अर्थात्—आचार ही मुख्य धर्म है। सो सनातन धर्म ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कि केवल मृत्यु के बाद ही उपयोग में आता हो परन्तु सनातन धर्म तो वह तत्त्व है जिसका कि हमारे खान-पान रहन-सहन जीवन और मरण—गर्ज है कि प्रत्येक आचरण से साक्षात् सम्बन्ध है।

कुछ लोग हम पर आक्षेप करते हुए कहा करते हैं कि—'इन ोगों ने धर्म को ऐसा कच्चे सूंत का धागा बना रक्खा है कि जसके जरा-जरा सी बात पर टूट जाने का खतरा रहता है।' न आक्षेपकर्ताओं की दृष्टि में मानों धर्म ऐसी फौलादी चट्टान है क उस पर चाहे कुछ भी अनाप-शनाप दुराचार अनाचार अत्याार और व्यभिचार किया जाय परन्तु वह तथैव दृढ़ बनी रहती । शायद यह आक्षेप करते हुए वे भूल जाते हैं कि जङ्कशन टेशन पर रेलवे लाइन जब एक दूसरे से पृथक् होती हैं तो ांटा बदलने के स्थान पर पहिले पहल केवल सुई की नोक के राबर ही अन्तर पड़ता है परन्तु अन्त में एक दूसरी से इतनी थक् हो जाती हैं, कि एक कलकत्ता पहुँचती है तो दूसरी पेशार। गाजियाबाद रेलवे स्टेशन पर एक ही लाइन पर पूर्वाभिख खड़ी फ्रांटियर मेल और कलकत्ता मेल को देखकर यह ष्टान्त खूब समझा जा सकता है। सो सनातन धर्म जहां तक ाचार से सम्बन्ध है वह निःसन्देह कच्चे सूत के धागे से भी

अत्यधिक नाजुक और शिरीष के पुष्प की पंखड़ियों के समान अ
कोमलतम है। इसलिये अनाचार की वायु मात्र के स्पर्श से
उसको ठेस पहुंचती है। उसके सर्वथा बिखर जाने का पूरा-पू
खतरा है। बाली ने भगवान् राम को 'मारेउ मोहिं व्याध
नांई' कहते हुए केवल मुख से ही 'व्याध' कहा था, परिणामस
रूप पुनर्जन्म में स्वयं 'जरा' नामक व्याध ही बनना पड़ा थ
इसलिये यह निश्चित हुआ कि सनातन धर्म की प्रत्येक क्रि
का धर्म से सम्बन्ध है, अर्थात्—हमारे यहां खाना-पीना सो
जागना, रोना धोना जीना और मरना आदि सभी बातों
इतिकर्तव्यता की विधि विद्यमान है। यदि अमुक काम
विधि के अनुसार किया जाय तो वह 'धर्म' कहा जाता है औ
विधिविहीन मनमाने ढंग से किया जाय, तो उसे ही पाप क
जाता है।

यथा विधि करने से क्या लाभ ?

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अमुक पुरुष विष खाने से
गया और कदाचित् उपचार करने पर, न भी मरा तब भी शा
दृष्टि से वह पापी है और अदालत में भी आत्महत्या करने
उद्योग के अपराध में उसे उचित दण्ड दिया जाता है। कदा
उस विषकाण्ड में यह सिद्ध हो जाय कि विष अमुक ने खिला
था और अमुक से खरीदा गया था तब वे सब व्यक्ति भी 'आ
हत्या' में सहायक होने के कारण दण्ड भागी होंगे। इस प्र
लोक और शास्त्र दोनों में ही विष का खाना और खिल
अक्षम्य अपराध माना जाता है, परन्तु सभी चिकित्सक
प्रति अपने रोगियों को नानाविध विष खिलाते हैं और
बराबर खाते हैं तथापि वे गिरफ्तार नहीं किये जाते, किन्तु
विपरीत वैद्यों को वेतन शुल्क और अनेकविध पुरस

मिलते हैं, और रोगी भी स्वास्थ्य प्राप्त करके दीर्घजीवी बनते हैं। कहना न होगा कि इस उदाहरण में प्रथम विष-काण्ड से सम्बद्ध सब व्यक्ति अपराधी क्यों समझे गये ? और द्वितीय विष-काण्ड के सब व्यक्ति पुरस्कारार्ह क्यों माने गए ? इन दोनों प्रश्नों का सही उत्तर यही हो सकता है कि प्रथम काण्ड में एक व्यक्ति मरने के लिये मनमाने ढंग से विष भक्षण करता था और अन्य सब संबद्ध व्यक्ति उसकी मृत्यु में सहायक बने थे अतः वे अपराधी थे, दण्ड के योग्य थे। परन्तु द्वितीय काण्ड में रोगी मनुष्य, जीवन-वृद्धि के लिए—विषशोधन की शिक्षा में निष्णात वैद्य की व्यवस्था के अनुसार यथाविधि विष खाता है, अतः वह विष मृत्यु का कारण न बनकर **'विषस्य विषमौषधम्'** के अनुसार शरीरस्थ अनेक विषों को दूर करने के लिये 'अमृत' का कार्य करता है अतः उसे पुरस्कारार्ह समझना स्वाभाविक है।

ठीक, इसीप्रकार संसार के सब विषयोपभोग हालाहल विष तुल्य हैं। जो व्यक्ति मनमाने ढंग से इनका सेवन करता है वह अनेक बार मरता है, परन्तु यदि उन्हीं विषय रूप विष-समूह को शास्त्र निष्णात गुरु रूप वैद्य की धर्म व्यवस्था के अनुसार यथाविधि सेवन किया जायगा तो (पुनर्जन्म का सिलसिला ही समाप्त हो जाने के कारण बार-बार) मरना न पड़ेगा। इसलिये मनुष्य को अपने समस्त कार्य शास्त्रविधि के अनुसार करने चाहियें।

क्या विधि-विधान व्यर्थ ढकोंसला है ?

रोटी के खाने से पेट भरता है यही रोटी खाने का उद्देश्य है, फिर उसमें—'यूं खाओ, यूं न खाओ' का अड़ङ्गा लगाना व्यर्थ है। क्या तथाकथित विधि के अनुसार खाने से डबल पेट

भर जाता है ? इसीप्रकार अन्यान्य बातों में भी विधि-विधा का पचड़ा लगाना क्या कोरी पोपलीला नहीं है ?

ऐसी आशङ्का करने वाले व्यक्ति शायद यह भूल जाते कि मनुष्यों और पशु-पक्षियों में आहार निद्रा भय मैथुन खान पीना सोना सन्तान उत्पन्न करना–आदि चेष्टाएँ तो समान हैं; दोनों ही पेट भरते हैं, दोनों ही सोते हैं और दोनों ही सन्ता उत्पन्न करते हैं, परन्तु इस प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया ज सकता कि पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च, मनुष्य की अपेक्षा जल्द मर जाते हैं। बैल और भैंसा, मनुष्य की अपेक्षा कई गुना अधि खाता है, उसका शरीर भी मनुष्य की अपेक्षा बहुत ही सुसंगठि एवं दृढ़ होता है। तदनुसार बल भी अपेक्षाकृत बहुत अधि होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह आयुष्य में मनुष् से बहुत कम जीता है। प्रकृति का यह नियम है कि जो पि जितने काल में सर्वांगपूर्ण उन्नत होगा वह उससे चार पाँ गुणा अधिक काल तक जी सकेगा।

जैसे मनुष्य शरीर बीस वर्ष की आयु में सर्वांगपूर्ण उन्न हो जाता है, अर्थात् आयुर्वेद के—'बाल्यं वृद्धिर्द्युतिः प्रज्ञा त्व दृष्टिः शुक्रविक्रमौ' के अनुसार क्रमशः प्रथम दश वर्ष तक बाल पन रहता है इससे आगे नहीं रहता। अगले दश वर्षों तक वृ —अंगों का बढ़ना चालू रहता है इससे आगे नहीं। इसी प्रका अगली दशाब्दियों में कान्ति बुद्धि त्वचा दृष्टि वीर्य और परा समझ लेने चाहियें। यही मानव शरीर के विकास का कच्चा चि है। सो, बीस वर्ष में युवा होने वाला मनुष्य साधारणतया वर्ष तक जी सकता है। इसीप्रकार कुत्ता दूसरे वर्ष में युवा जाता है और अन्यून आठ वर्ष जीता है। बैल और घोड़ा प्रा तीन वर्ष के बाद पूर्णाङ्ग हो जाता है तदनुसार उसकी पूर्ण

भी बारह चौदह वर्ष होती है। ऊँट ६ वर्ष का युवा होता है तो वह पच्चीस तीस वर्ष जी सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हाथी घोड़ा ऊंट सभी तिर्यञ्च जीव, मनुष्य की अपेक्षा अन्य सब बातों में उन्नत होते हुए भी आयु के उपभोग में इससे पिछड़ जाते हैं। इसका क्या कारण है ?

यदि विचारपूर्वक इस समस्या का मनन किया जाय तो एक मात्र यही समाधान समझ में आ सकता है कि उक्त जीव खाते-पीते सोते और सन्तान अवश्य उत्पन्न करते हैं परन्तु वे पशु होने के कारण उक्त सब कृत्यों की विधि नहीं जानते। मनमाने ढंग से स्वेच्छावश जब जो चाहा खाया, जब जहां चाहा मल-मूत्र का त्याग किया। जब जैसे चाहा सोते रहे और जब जहाँ चाहा सन्तान उत्पन्न करने को प्रवृत्त हो गए। हम नित्य प्रत्यक्ष देखते हैं कि बैल भैंसा जब जिस तालाब में जल पीता है तब उसी तालाब में साथ ही साथ मूत्र का त्याग करता है, उसे यह ज्ञान नहीं कि इस तरह यह मूत्र लौटकर मेरे ही पेट में आ जायगा। वे कितनी बार खाते हैं और कितनी बार गोबर करते हैं इसका कुछ नियम नहीं। दिन भर ही दोनों कृत्य चलते रहते हैं। सन्तान उत्पन्न करते समय मां बहन जो भी सामने आ गई तत्काल वहीं व्यवाय में प्रवृत्त हो गए। बस, यह कामाचार और कामभक्षता की प्रवृत्ति ही तिर्यञ्चों की सद्यः मृत्यु का कारण है।

लोक में यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि यदि दश साल की गारन्टी वाली घड़ी खरीदकर कोई अनजान व्यक्ति उसमें उल्टी चाबी भरने लगे तो वह तत्काल ही बेकार हो जाएगी ! 'गारंटी' का अर्थ तो यही हो सकता है कि यदि उस वस्तु को विधिवत् बर्ता जाय तो वह नियत काल तक काम दे सकती है। अपने हाथों हथोड़ों से तोड़ते समय गारन्टी-पत्र उसकी रक्षा नहीं कर

सकता। ठीक इसी प्रकार मानव-पिण्ड की जीवन गारन्टी- 'शतं जीवेम" के अनुसार साधारणतया अन्यून सौ वर्ष है, परन् यह तभी सम्भव है जबकि मनुष्य की जीवनचर्य्या शास्त्रवि पर अधिष्ठित हो। इसलिये शास्त्रविधि को ढकोंसला और पोप लीला बताकर कामाचार कामभक्ष प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देन मानों, मानव समाज को 'साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः' बन के लिये प्रोत्साहित करना है।

प्रातः जागरण

हमारी दैनिक चर्या का आरम्भ प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में जागरण से होता है। शास्त्रों की आज्ञा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत।

अर्थात्—प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठना चाहिये। ब्रह्म मुहू की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है—

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने॥

अर्थात्—रात्रि के अन्तिम प्रहर का जो तीसरा भाग उसको ब्रह्म मुहूर्त कहते हैं। निद्रा त्याग के लिए यही सम शास्त्र विहित है।

प्रातः जागरण का यह नियम हमारी दैनिक चर्या का अत्यं महत्वपूर्ण नियम है। समस्त दैनिक क्रियाओं की सफलता य असफलता बहुत कुछ इसी पर निर्भर है, क्योंकि प्रत्येक प्रभा हमारे नये जीवन का प्रारम्भ काल है। उसमें नवजीवन निर्माण का स्फूर्तिप्रद सन्देश निहित है। यदि हम उस समय प्रमा और आलस्य में सोते रहकर उस सन्देश को न सुन पाये तो ह

जीवन में पिछड़े ही समझो। जो जीवन के आरम्भ में ही अपने साथियों से पीछे रह गया हो भविष्य में उस के आगे बढ़ने की क्या आशा ? वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञात होगा कि हमारा प्रत्येक दैनिक जीवन हमारे पचास सौ वर्ष के बृहत्तर जीवन का ही नहीं, किन्तु अबों खबों वर्षों के सृष्टि जीवन का संक्षिप्त संस्करण है। विशाल सृष्टि और प्रलय की एक हल्की सी झांकी हम अपने दैनिक जीवन में प्रतिदिन अच्छी तरह देख सकते हैं। जिस प्रकार प्रलय काल में समस्त सृष्टि, कर्म-विरत एवं चेतना-शून्य होकर निश्चेष्ट भाव से, तमोमयी कालरात्रि की गोद में समा जाती है और समय आने पर प्रकृति की प्रेरणा से उद्‌बुद्ध होने लगती है, उसी भांति दैनिक जीवन में भी दिन भर के परिश्रम से थके मांदे प्राणी चेतना शून्य हो कर रात्रि की गोद में विश्राम लेते हैं और प्रातः होने पर प्रकृति की प्रेरणा से पुनः प्रबुद्ध हो जाते हैं। यह कितनी बड़ी विडम्बना है, कि इस प्रेरणा को, उच्छृङ्खल मानव सुन कर भी नहीं सुन पाता; जब कि प्रकृति के नियन्त्रण में रहने वाले चराचर के समस्त जीव उसके समान्य से इंगित पर अपने आप जाग जाते हैं।

कभी सूक्ष्म दृष्टि से इस समय का अध्ययन कीजिए फिर आप देखेंगे, कि उस समय का प्राकृतिक वातावरण कितना मधुर और निराला होता है। प्रातः काल होते ही कमल खिल उठते हैं भ्रमरावली गुञ्जार करने लग जाती है, पक्षी अपने कलरव से उपवनों और उद्यानों को मुखरित कर देते हैं, शीतल मन्द समीर अपने आवरण में मकरन्द की मादक गन्ध लिये डोलने लग जाता है; सचमुच ही समस्त सृष्टि एक नवीन जीवन की अनुभूति से खिल उठती है। और तो और, विट्‌भक्षी कुक्कुट सा अधम जीव भी प्रातः होने के साथ ही तार-स्वर में बांग देकर अपने जग जाने का प्रमाण देना प्रारम्भ कर देता है। और तब,—मानव—

अपने को सर्वश्रेष्ठ समझनेवाला आज का मानव !—प्रकृति को धता बता, प्रातः जागरण के वैदिक उपदेश को चन्द व्यक्तियों के लिये ही आचरणीय उपदेश समझ, सूर्य चढ़े तक बिस्तर पर करवटें लेता नहीं अघाता। उसका प्रातःकाल तो तब होता है जब ८ बजे रेडियो के मधुर स्वरों से—

जागा सब संसार उठो अब भोर भई !

की सुरीली आवाज, उसको प्रातःकाल हो जाने की सूचना देने लगती है।

प्रातः जागरण क्यों ?

यद्यपि उपरोक्त प्रश्न का वास्तविक उत्तर तो इसका आचरण करने पर ही मिल सकता है, क्योंकि किसी भी शंका का समाधान उसके उत्तर में प्रतिपादित तथ्यों की अनुभूति से ही सम्भव है, तथापि इतना जान लेना चाहिये कि यह समय शारीरिक-स्वास्थ्य, बुद्धि, आत्मा, मन आदि सभी की दृष्टि से निद्रा छोड़कर जग जाने के लिए परम उपयुक्त है। इस समय प्रकृति मुक्तहस्त से स्वास्थ्य, बुद्धि, मेधा प्रसन्नता और सौन्दर्य की अपार राशि लुटाती है; इस समय बहने वाली वायु के एक एक कण में संजीवनी शक्ति का अपूर्व संमिश्रण रहता है। यह वायु रात्रि में चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी पर बरसाये हुये अमृत विन्दुओं को अपने साथ लेकर बहती है। इसीलिये शास्त्रों में इसे वीरवायु के नाम से स्मरण किया है। जो व्यक्ति इस समय निद्रा त्याग कर तथा चैतन्य होकर इस वायु का सेवन करते हैं उनका स्वास्थ्य सौंदर्य और आयुष्य वृद्धि को प्राप्त होता है। मन प्रफुल्लित हो जाता है एवं आत्मा में नई चेतनता का अनुभव होता है। आयुर्वेद कहता है—

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विदन्ति ।
ब्राह्मे मुहूर्ते संजाग्रच्छ्रियं वा पंकजं यथा ॥ (भै० सार-९३)

अर्थात्—ब्रह्म मुहूर्त में उठने से पुरुष को सौन्दर्य, लक्ष्मी, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु आदि की प्राप्ति होती है। उसका शरीर कमल के सदृश सुन्दर हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण रात्री के पश्चात् प्रातः जब भगवान् सूर्य उदय होने वाले होते हैं तो उनका चैतन्यमय तेज आकाश मार्ग द्वारा विस्तृत होने लगता है। यदि मनुष्य सजग होकर स्नानादि से निवृत्त हो, उपस्थान एवं जप द्वारा उन प्राणाधिदेव भगवान् सूर्य की किरणों से अपने प्राणों में अतुल तेज का आह्वान करे, तो वह पुरुष दीर्घजीवी हो जाता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त वायु का विभाग साधारणतया निम्नक्रम से किया जाता है।

आक्सीजन	(प्राणप्रदवायु)	२१ प्रतिशत
कारवन डाईओक्साइड	(दूषित वायु)	६ प्रतिशत
नाईट्रोजन	(नद्रजन)	७३ प्रतिशत
		१००

विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण दिन वायु का यही प्रवहण क्रम रहता है किन्तु प्रातः और सायं जब सन्धि काल होता है इस क्रम में कुछ परिवर्तन हो जाता है। सायंकाल जगत्प्राणप्रेरक भगवान् सूर्य के अस्त हो जाने से आक्सीजन (प्राणप्रद वायु) अपने स्वाभाविक स्तर से मन्द पड़ जाती है और मनुष्यों की प्राणशक्ति भी क्षीण हो जाती है उन्हें विश्राम की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। इसी प्रकार प्रातःकाल के सूर्योदय के साथ ही उस वायु के स्तर में वृद्धि होना स्वाभाविक है। इसलिये यदि इस समय निद्रामुक्त हो कर मनुष्य उस वायु का सेवन करे

तो उस का स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जाएगा—यह बतलाने की विशेष आवश्यकता ही नहीं है। वास्तव में दीर्घजीवन का एक ही मूल मन्त्र है—जल्दी सोओ जल्दी उठो। Early to go bed early to rise, make a man healthy wealthy and wise अर्थात्—जल्दी सोना और जल्दी उठना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान् और बुद्धिमान् बना देता है" की अंग्रेजी कहावत सर्वांश में सत्य ही है।

प्रातः जागरण और महानता का पारस्परिक योग है। सभी महान् व्यक्ति प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में हो उठते हैं, और इस समय नियम-पूर्वक प्रतिदिन उठने वाले प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, शारीरिक और बौद्धिक उन्नति से विलक्षण हो जाता है इस में किंचित् भी सन्देह नहीं। विश्ववंद्य महात्मा गांधी प्रतिदिन इसी ब्रह्म मुहूर्त में उठ कर अपनी दैनिक चर्या में लग जाया करते थे। आगत पत्रों के उत्तर, समाचार पत्रों के लिए लेख तथा सन्देशादि वे इसी समय तैय्यार करते थे। लिखने पढ़ने के लिये तो वास्तव में इससे उपयुक्त समय हो ही नहीं सकता। एकांत और सर्वथा शान्त वायुमण्डल में जब कि मस्तिस्क बिलकुल उर्वर होता है, ज्ञानतन्तु रात्री विश्राम के बाद नव-शक्ति-युत होते हैं—मनुष्य को बौद्धिक कार्य करने में विशेष श्रम नहीं करना पड़ता।

इसलिये हमें प्रकृति के इस अमूल्य वरदान से लाभ उठाना चाहिये और ऐसा अभ्यास डाल लेना चाहिये कि बिना किसी की सहायता के प्रतिदिन उठ जावें। इस के लिये एक छोटा सा उपाय कार्य में लाया जा सकता है। रात्री में सोते समय यदि व्यक्ति अपनी आत्मा से प्रातः अमुक समय पर उठाने का संकल्प व्यक्त करदे तो निश्चय ही उसी समय पर नींद खुल जायगी

और यदि उस समय हमने आलस्य का आश्रय नहीं लिया तो फिर कुछ दिनों में बिना किसी की सहायता के स्वयं उठने लगेंगे।

प्रातः स्मरण—

(ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थं चानुचिन्तयेत्—मनु)

धर्मशास्त्रों ने निद्रा त्याग के उपरान्त मनुष्य-मात्र का प्रथम कर्तव्य उस कोटि २ ब्रह्माण्ड-नायक, सच्चिदानन्द-स्वरूप प्यारे प्रभु का स्मरण करना बतलाया है—जिस की असीम कृपा से अत्यंत दुर्लभ मानव देह प्राप्त हुई है, जो समस्त सृष्टि के कण-कण में ओतप्रोत है, सत्य है, शिव है, सुन्दर है। जिसकी कृपा-कोर से मनुष्य सब प्रकार के भयों से मुक्त होकर—'अहं ब्रह्मास्मि' के उच्च लक्ष्य पर पहुँच कर तन्मय हो जाता है। दैनिक जीवन के प्रारम्भ में उस के स्मरण से हमारे हृदय में आत्मविश्वास और दृढ़ता की भावना ही उत्पन्न नहीं होगी अपितु सम्पूर्ण दिन मंगलमय वातावरण में व्यतीत होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने २ विश्वास और भावना के अनुसार भगवत्स्मरण करने की पूरी स्वतन्त्रता है। जो व्यक्ति विशेष कुछ नहीं जानते वे यदि श्रद्धापूर्वक राम नाम (महामन्त्र का ही स्मरण करें तो भी कल्याण भाजन हो सकते हैं।

उक्त विषय का विस्तार तो आह्निक सूत्रावली आदि दिन-चर्या विधायक ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। हम यहाँ विशेष वक्तव्य योग्य एक पद्य ही उद्धृत करते हैं यथा:—

प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्तिशान्त्यै,
नारायणं गरुडवाहनमब्जनाभम्।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं,
चक्रायुधं तरुणवारिज-पत्र-नेत्रम् ॥

प्रातःस्मरणीय शिष्टाञ्जलि और उसका महत्व-

भगवत्स्मरण सम्बन्धी कतिपय पद्यों के अतिरिक्त हिन्दुओं के दैनिक पाठ में शिष्टाञ्जलि नामक कुछ पद्यों का सन्निवेश और होता है जिसको कि प्रतिदिन प्रातःकाल नियमपूर्वक पढ़ा जाता है। इस अञ्जलि का अपना विशेष महत्व है। धार्मिक और राष्ट्रीय दोनों ही दृष्टि से इसका पठन प्रत्येक भारतीय के लिये अत्युपयोगी है। इस की सहायता से हम अपने इस पवित्र देश में उत्पन्न हुए, उन महापुरुषों की उज्ज्वल स्मृति को अक्षुण्ण रखते हैं जिन्होंने अपने शुभ कार्यों, अनथक प्रयत्नों और अनुपम बलिदानों द्वारा हमारे इस राष्ट्र को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाया; जिन महापुरुषों के चरित्र मानव-मात्र के लिये आदर्श रहे हैं और जिन पर आज भी हम गर्व कर सकते हैं। इस अञ्जलि में हमें अपने देश की उन पुण्य सरिताओं एवं स्थानों की आभारपूर्ण स्मृति मिलती है—जो धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व पूर्ण हैं। यह स्थान प्राचीन समय में भारतीय राजनीति, सांस्कृतिक-विकास एवं धार्मिक परम्पराओं के केन्द्र रहे हैं, हमारा पूर्व का सम्पूर्ण इतिहास इन से सम्बद्ध है। पवित्र-सलिला गंगा यमुना आदि सरिताएं—जहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती हैं, वहाँ भारत वसुधा को लाखों वर्षों से आज तक—'सुजला सुफला शस्य-श्यामला' और समृद्ध बनाने में उन का कितना उपयोग हो रहा है यह किसी भी भारतीय से छिपा नहीं है।

भौगोलिक एवं ऐतिहासिक प्रेरणा भी इस अञ्जलि की अपनी विशेषता है। आज इतिहास एवं भूगोल, स्कूली विषय बन गए हैं पुस्तकों के शब्द-जाल में जकड़ कर इन रोचक विषयों

को ऐसा दुरूह बना दिया है कि वे बच्चों के लिये हौव्वा बन गये हैं। इतिहास के पन्नों को रटते २ बेचारों का दिमाग खाली हो जाता है, इस पर तुर्रा यह है, कि आज के नव शिक्षित युवक से आप उस के पूर्वजों, ऋषि महर्षियों, पराक्रमी राजाओं और भारतीय इतिहास के अन्य प्रमुख पात्रों के विषय में कुछ पूछिये तो वह इन के ज्ञान से सर्वथा शून्य ही होगा। उसे इंगलैण्ड के इतिहास के हैनरी सेविन्थ, ऐलिजावैथ आदि, भारतीय इतिहास के अकबर, जहांगीर वगैरह का तो ज्ञान होगा किन्तु आदि-सम्राट् मनु, न्याय-परायण शिवि, भारत की नींव डालने वाले भरत आदि के नाम से वह सर्वथा अपरिचित होगा।

प्राचीन समय में इतिहास भूगोल घरेलू विषय होते थे। प्रातःकालीन इन वन्दनाओं से ले कर समय २ पर होने वाली कथा वार्ता प्रवचन आदि द्वारा अपढ़ से अपढ़ व्यक्ति को भी दुरूह ऐतिहासिक घटनाएँ चुटकियों में याद हो जाती थीं। इस 'अञ्जलि' में भारतीय इतिहास के जिन उज्ज्वल नर रत्नों और जिन ऐतिहासिक स्थानों नदियों आदि का वर्णन है—प्रतिदिन इन श्लोकों के पाठ करने वाले व्यक्ति का, इन के विषय में विशेष ज्ञान के लिये उत्कंठित होना स्वाभाविक है। प्रतिदिन **'पुण्यश्लोको नलो राजा'** बोलने वाले व्यक्ति के हृदय में क्या यह भाव उत्पन्न न होगा कि आखिर यह नल राजा है कौन ? इसी जिज्ञासा पूर्ति के रूप में इतिहास का जन्म होता है। घर में रहने वाले बूढ़े बाबा, दादी, बालक को राजा नल और दमयन्ती की कथा सुना कर उसे बिस्तर पर पड़े २ इतिहास का पाठ पढ़ाते हैं। **'पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः'** के प्रश्न पर उसे महाभारत के इतिहास का पाठ पढ़ाया जाता है। **'अयोध्या मथुरा माया'** पाठी बालक के 'दादा ! अयोध्या कहां है ?' जैसे भोले प्रश्न के

उत्तर में दादा उसे अयोध्याका भौगोलिक परिचय देते हैं। इस प्रकार क्रान्तदर्शी महर्षियों ने खेल २ में ही बालकों के हृदय में भौगोलिक और ऐतिहासिक जिज्ञासा, उत्कण्ठा और रुचि उत्पन्न करने का यह कितना सुन्दर क्रम स्थिर किया था—इसे हम आज भूल गये हैं। इस प्रकार से हम अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखने में कितने सहायक होते हैं इस का भी विचार हम कभी नहीं करते।

इधर कुछ दिनों से राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक संघ के संचालकों ने इस की महत्ता को अनुभव किया है और अपने कार्यक्रम में इस को स्थान देकर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया—यह हर्ष का विषय है। यद्यपि इस में भाग लेने वाले स्वयं-सेवकों में संस्कृतानभिज्ञों की संख्या ही अधिक है और ऐसी दशा में इस अञ्जलि का अर्थ भी उन की समझ में न आएगा किन्तु यह निश्चित है कि निरन्तर किसी एक ही शब्द के उच्चारण से उस का अर्थबोध होने लगता है। इस लिये इस से सभी स्वयं सेवकों को महान् लाभ ही होगा इस में कोई सन्देह नहीं।

यह है इस 'शिष्टाञ्जलि' के नित्यपाठ की 'क्यों' का संक्षिप्त समाधान। आशा है इतने से ही एतद्विषयक जिज्ञासा की शान्ति हो सकेगी और हम नियम पूर्वक प्रातःकाल इसका पठन अवश्य करेंगे।

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥
अहिल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक,-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्,
पुण्यानिमान् परमभागवतान्नमामि ॥
धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन,
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन ।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन,
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः ॥
अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥
मनुं स्मराम्यादिगुरुं प्रजानाम्,
भागीरथं धीरमुदग्रयत्नम् ।
भूपं हरिश्चन्द्रमभंगवाचम्,
श्रीरामचन्द्रं रघुवंशसूर्यम् ॥

स्थानाभाव से हम यहां कतिपय पद्यों का ही समावेश कर सके हैं। आह्निकसूत्रावली आदि ग्रन्थों में इसे पूर्ण रूप से देखा जा सकता है।

कर दर्शन—

भगवत्स्मरणानन्तर शास्त्रीय विधान, कर दर्शन का है।

कराग्रे वसते लक्ष्मी करमध्ये सरस्वती ।
करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम् ॥

अर्थात्—हाथ के अग्रभाग में लक्ष्मी का निवास है, हाथ के मध्य भाग में सरस्वती रहती है और हाथ के मूलभाग में गोवि भगवान् रहते हैं इसलिए प्रातःकाल कर का दर्शन करना चाहिए।

उपर्युक्त श्लोक बोलते हुए अपने हाथों को देखना चाहिए यह शास्त्रीय विधान बड़ा ही अर्थपूर्ण है। इससे मनुष्य के हृद में आत्म-निर्भरता और स्वावलम्ब की भावना का उदय हो है। वह जीवन के प्रत्येक कार्य में दूसरों की तरफ न देखक अन्य लोगों के भरोसे न रहकर–अपने हाथों की तरफ ही देख का अभ्यासी बन जाता है। संसार में मनुष्य, जो कुछ भी भल या बुरा कार्य करता है, हाथ से ही करता है। यह हाथ ही-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की कुंजी है। मूल श्लोक में बतला गया है कि मानव जीवन की सफलता के लिए संसार में ती वस्तुओं की आवश्यकता है, धन, ज्ञान, ईश्वर। इनमें से ए के बिना भी जीवन अधूरा है। यह तीनों लक्ष्यभूत वस्तु हमारे हाथ, जो कि कर्म का प्रतीक है, में निवास करती अर्थात् अपने हाथों द्वारा शुभाशुभ कार्य करके हम इन वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए करतल अवलोकन करते श्लोक पठित भावना को आत्मसात् करना चाहिए और अनु करना चाहिये कि मैं अपने जीवन में सफल व्यक्ति हूँगा, किसी के सहारे न रहकर अपने हाथों के ऊपर निर्भर रहूँ इनसे परिश्रम करके मैं दरिद्रता व मूर्खता को परास्त करूं और अन्त में गोविन्द को प्राप्त कर जीवन्मुक्त हूँगा।

भारत माता की वन्दना—

मातृ-भूमि वन्दना भी प्रातःकालीन कृत्यों में से आवश् कृत्य है। कर दर्शन के अनन्तर शास्त्रकारों ने मातृ-वन्दना

विधान किया है। निम्नलिखित प्रार्थना के साथ पृथ्वी को स्पर्श करते हुए यह वन्दना की जाती है।

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

अर्थात्—हे समुद्ररूपी वस्त्रों वाली, पर्वत-रूपी स्तनों से विभूषित, विष्णु-पत्नि ! मैं तुझे प्रणाम करता हूँ, मेरे पादस्पर्श को क्षमा करना।

भारतमाता के आधुनिक पुजारियों से दो-दो बातें

उपर्युक्त श्लोक में कितने सरल और संक्षिप्त शब्दों में रूपक द्वारा मातृ-भूमि का चित्र प्रस्तुत किया गया है—यह सहज ही जाना जा सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि देश-प्रेम तथा मातृ-भूमि-प्रेम आदि भावनायें पश्चिम की देन हैं और विदेशी सम्पर्क से ही भारत में इनका प्रचार एवं प्रसार हुआ है। उनका कहना है कि काँग्रेस द्वारा, पराधीनता के विरुद्ध उठाए गए जन-आन्दोलन से पूर्व, मातृभूमि या भारत माता की कोई कल्पना भारतीयों के सामने थी ही नहीं; यह बात सत्य से कोसों दूर तो है ही, किन्तु विदेशी प्रभुओं द्वारा प्रसारित उस शरारत पूर्ण घृणित प्रचार का भी अच्छा खासा नमूना है जो वे लोग भारतीय संस्कृति को बदनाम करने के लिए समय २ पर किया करते थे। वन्देमातरम् का राग आलापने वाले आधुनिक देशभक्त तो खास-खास समारोहों पर भारत माता की वन्दना करके फूले नहीं समाते, किन्तु देश में करोड़ों की संख्या में बसने वाले और प्रतिदिन प्रातःकाल नियमपूर्वक भारत माता की वन्दना

करने वाले भारत माँ के सच्चे भक्तों की मूक साधना को कित व्यक्ति जान पाते हैं ? सहस्रों वर्ष पूर्व प्र[illegible]त, सनातनधर्मियों के धार्मिक नित्य कृत्यों में भारतमाता वन्दना का यह विधान उन लोगों के लिए एक खुली चुनौती है जो मातृभूमि प्रेम क आधुनिक युग की देन बतलाते हैं।

राष्ट्रीय चेतना का मूल मंत्र—

इस पद्य में मातृभूमि के उन सब गुणों का—जो कि ए माता में होने चाहियें—वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गय है। ३२ अक्षर के छोटे से अनुष्टुब् वृत्त में इतनी सरलता से इत गम्भीर अर्थों का समावेश ही इस वन्दना की विशेषता है। प्रथ पाद में भारतमां को 'समुद्र वसने' कहा गया है। इसका तात जहां भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा—समुद्र से घिरी हुई-निर्द करना है, वहां भारत मां की लज्जा-शीलता को भी बतला है। सभी पुत्र अपनी माता को बहुमूल्य वस्त्राभरणों से अलंकृ देखकर प्रसन्नता अनुभव करते हैं ; यह भी हम सब की हार्दि कामना होती है कि जननी जैसे गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठि कोई भी स्त्री सभी आदर्श गुणों से युक्त होनी चाहिए। उ स्त्री सुलभ शालीनता अवश्य हो। वस्त्रों की चर्चा करते कवि ने इस वन्दना में लक्षणा द्वारा भारत मां की शालीन को भली प्रकार प्रकट कर दिया है। भारतवर्ष में दूर-दूर फैले हुए हरे-भरे वनों उपवनों को वस्त्र न कहकर 'समुद्र' ही भारत मां के वस्त्र से उपमित करना भी रहस्य से ख नहीं है। बहुत प्रचीन समय से ही समुद्र, विदेशी व्यापार कुञ्जी रहा है। आज भी जिन राष्ट्रों का समुद्र पर अ कार है वे थैलीशाह बने बैठे हैं। इस 'वन्दना' की र के समय, समुद्र, भारत के अधिकार में थे, समुद्रों

होने वाले व्यापार पर उसका पूर्ण अधिकार था, फलतः भारत मां इन समुद्रों का उपयोग उतने ही प्रेम, सावधानी और चाव से करती थी जितना कि आज भी स्त्रियें अपने बहुमूल्य वस्त्रों का करती हैं। इन वस्त्रों से उसकी लोकोत्तर शोभा होती थी जिसको देखकर विदेशी ईर्ष्या किया करते थे। हम अभागे भारतीयों ने मां के इन बहुमूल्य वस्त्रों का मूल्य न समझा जिसका परिणाम हमें भोगना पड़ा।

'समुद्र वसने' सम्बोधन से भारत माता को जहां सम्भ्रान्त महिला की भान्ति लज्जा गुण से युक्त प्रकट किया गया है वहाँ राष्ट्रीय दृष्टि कोण से, रत्नाकर महोदधि आदि–आज भी 'इण्डियन ओसन' या हिन्द महा सागर नाम से पुकारे जाने वाले–महा समुद्रों को भारत माता के सुतरां संरक्षणीय उपकरण प्रकट किया गया है। आज से अन्यून नौ लाख वर्ष पूर्व दिदेशी रावण ने सीता माता की साड़ी को छू डाला था जिसका बदला चुकाने के लिये मानव समाज की कौन कहे, भारत के अर्ध-सभ्य कहे जाने वाले रीछ, बानर और गीध जैसे पशु पक्षियों में तहलका मच गया था, शतयोजन समुद्र का पुल बांधकर सोने की लंका धूल में मिलादी गई थी, इसी प्रकार पांच सहस्र वर्ष पूर्व दुर्मार्गी दुःशासन ने द्रौपदी की साड़ी को छूने का दुःसाहस कर डाला था फलस्वरूप कुरुक्षेत्र के मैदान में छत्तीस लाख योधाओं के मंड कट गए थे।

काश! दो सौ वर्ष पूर्व, जब विदेशी लुटेरे भारत मां को समुद्र रूपी साड़ी को अपने स्टीमरों से रोंदते हुए इस देश में घुस आए थे, तब यदि उसके लाडले बेटे जान पाते कि–'उनकी माता की लाज खतरे में है! विदेशी उसे नग्न करना चाहता है!'— तो उन्हें इतने दिन पराधीनता न भोगनी पड़ती।

श्लोक का दूसरा चरण 'पर्वत-स्तनमण्डले' है । माता, चाहे कितनी भी लज्जाशीला तथा कुलीना हो, किन्तु यदि वह अप बालक का पोषण नहीं कर सकती; यदि उसके स्तनों में बाल के पोषण के लिए पर्याप्त दुग्ध न हो, तो पुत्र के लिये उस मात का होना न होना बराबर है ! वह पुत्र प्रथम तो जीवित ही नह रह सकता, कदाचित् रह भी जाय तो सदा निर्बल ही रहेगा। इस पाद में बतलाया गया है कि भारत माता जहां लज्जाशील है, वहां हिमालयादि पर्वत-रूपो उन सुन्दर स्तनों वाली है जि स्तनों से निकलने वाली गंगा यमुना गोदावरी आदि सहस्र क्षीर-धारायें देश के चवालीस करोड़ बालकों का पालन पोषण क रही हैं । इसके बालक, जीवन निर्वाह के लिये अन्य राष्ट्रों तरह किसी दूसरी धाय की खुराक पर निर्भर नहीं । सभी वस्तु में वे स्वाश्रित हैं । यद्यपि विदेशी शासकों की कृपा से पिछ कुछ वर्षों से भारत को विदेशों से अन्न मंगाकर अपनी आवश्कता को पूरा करना पड़ रहा है, किन्तु इसका कारण, ला वर्ग मील कृषि योग्य भूमि का बञ्जर पड़ा रहना है, जिसे दू करने के लिये देश की जनता सतत प्रयत्न शील है । आशा इस कमी के दूर होते ही अन्न के लिए भी हम पर-निर्भर रहेंगे ।

इसके अतिरिक्त उक्त विशेषण द्वारा यहां यह भी व्यक्त कि गया है कि यदि कभी संसार व्यापो महा-युद्ध के समय शत्रु दे द्वारा नाका वन्दी का नाजुक अवसर आ पड़े तो अन्यान्य दे की तुलना में भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो अपने देश सियों की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है । अमेरि में रूई, कनाडा और आस्ट्रेलिया में गेहूँ, मिश्र और बरमा मिट्टी का तेल आदि एक दो पदार्थ चाहे कितनी ही मात्रा में

न उत्पन्न होते हों, परन्तु अन्यान्य वस्तुओं के लिये उन्हें दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो सब ऋतुओं के अस्तित्व के कारण अपने देशवासियों को खाने को अन्न, पहिरने को वस्त्र और जीवनोपयोगी अन्यान्य सभी पदार्थ प्रभूत-मात्रा में प्रदान कर सकता है। आलंकारिक शब्दों में भारत माता के हिमालय, गौरी शिखर, कंचन जंघा, धवल गिरी, कैलाश आदि ऊंचे स्तन रूप पर्वतों से बहने वाली गंगा, यमुना, सिन्ध और ब्रह्मपुत्र जैसी समुद्र गामिनी पयस्विनी धारायें प्रिय पुत्रों के पोषण करने में सर्वथा समर्थ हैं।

श्लोक के तृतीय चरण में भारत मां को 'विष्णुपत्नि' शब्द से सम्बोधित किया गया है। भारत-माता का जो काल्पनिक चित्र आज हमारे सामने उपस्थित किया गया है यदि गहन दृष्टि से देखा जाय तो वह अधूरा है। आज हम, सभी राष्ट्रीय कार्यों के प्रारम्भ में—

वन्दे मातरम् ।
सुजलां सुफलां शस्यश्यामलाम् ॥

आदि गीत द्वारा भारत माता की वन्दना तो करते हैं, किन्तु इस बात को कभी स्मरण नहीं करते कि 'हमारा पिता कौन है?' आखिर जब हमारी माता है तो कोई पिता भी तो होना ही चाहिए। पश्चिम के नास्तिक देशों में चूंकि 'अनीश्वरवाद' की प्रधानता है इसलिए वे, शूकर कूकरादि पशुओं की भांति माता मात्र का ही परिचय रखते हैं। संसार में मनुष्य का सब व्यवहार पिता के नाम के साथ ही होता है। स्कूल, कचहरी, नौकरी, चाकरी, गर्ज है—कि जन्म कालीन उल्लेख से लेकर मृत्यु-कालीन खाते पर्यन्त सर्वत्र पिता का नाम ही अनिवार्य रूप से लिखा जाता है। केवल नाने के घर में मातामह की गोद में

बैठे बालक को देखकर किसी के यह पूछने पर कि यह बालक किसका है ?, नाना महाशय अपनी लड़की का नाम लेते हुए बालक का परिचय दिया करते हैं। तो क्या परमपिता ईश्वर से पराङ्मुख भारत माता के पुत्र होने का दम भरने वाले ये आधुनिक छोकरे भारतको अपना पितृगृह नहीं समझते हैं ? क्या वे अपने आपको नाना के घर का मेहमान मानते हैं ?

उस दिन विद्यालय में प्रविष्ट होने वाले सभी कुलीन छात्रों ने अपना प्रवेश-पत्र भरते हुए बड़े गर्व के साथ पितृ-नाम का उल्लेख किया, परन्तु जब मुन्नीजान के लड़के से पूछा गया तो वह लज्जानम्रमुख होकर पृथ्वी ताकने लगा। आखिर बाजार औरत का लड़का पिता का परिचय दे ही क्या सकता है ?

यही हाल मातृ-भूमि के उन लाडले पुजारियों का है, जो पिता को नजरन्दाज करते हुए मां के ही गुण गा २ कर दुनिया की नजरों में सपूत बनना चाहते हैं। पिता के विषय में अनजान होना बालक की मूर्खता का द्योतक तो है ही, किन्तु मां के चरित्र पर एक अपरिमार्जनीय लाञ्छन भी है। विदेशी छाया से तैयार हुई हमारी इस काल्पनिक मातृ-वन्दना में भी, न केवल भारत अपितु समस्त विश्व के पिता—ईश्वर—का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया है। इस लिये 'वन्दे मातरम्' का यह गान नितान्त अधूरा है।

इसके विपरीत उपर्युक्त पद्य में 'विष्णु-पत्नि!' कहकर जहां भारत माता को सौभाग्यवती बनाकर वन्दना की गई है, वहां आध्यात्मिक दृष्टि से हमारा, ईश्वर के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है—यह भी भली भांति दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त वन्दना पूर्वक भूमि स्पर्श करते हुए हम एक सत्पुत्र की भांति अपने हृदय में विद्यमान मातृ-प्रेम को प्रकट करके अपने कर्तव्य

का पालन भी करते हैं। इसलिये प्रत्येक भारतीय को, जो कि भारत भू को हृदय से मातृभूमि समझता है, अवश्य ही वन्दना करनी चाहिए।

शय्या परित्याग के बाद शौच स्नानादि नित्य कृत्य करने चाहियें। इस विषय में प्रसंगवश यह भी लिख देना उचित होगा कि प्रात:काल सर्वप्रथम जिन पदार्थों पर हमारी दृष्टि पड़े वे ऐसे न होने चाहियें कि उनको देखने से हमारे हृदय में ग्लानि क्रोध, विषाद आदि भावों का उदय हो।

धर्मशास्त्रकारों ने उपर्युक्त भाव को हृदय में रखकर प्रभात काल में दर्शनीय तथा अदर्शनीय पदार्थों का वर्गीकरण किया है जो कि सर्वथा मनोविज्ञान की भावनाओं पर अवलम्बित है। मनोविज्ञान बतलाता है कि मन की निश्चल एवं शान्त अवस्था में जो वस्तु उसके सम्पर्क में आयेगी उसका मन पर अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक संस्कार पड़ेगा और वह संस्कार चिरस्थायी रहेगा। प्रभात काल में जब हम अपनी खोई हुई शक्ति को पुन: प्राप्त करके उठते हैं, उस समय मन एवं मस्तिष्क दोनों, अपेक्षाकृत हल्के स्वस्थ एवं शान्त होते हैं। मन का कार्य है मनन करना —आभ्यन्तरिक विचार सृष्टि की रचना करना। प्रात:काल उठने के बाद जो वस्तु सबसे पहिले उसे दिखाई दी, उसने उसी के बारे में मनन प्रारम्भ किया। फलत: हमारा आभ्यन्तर वातावरण उस मनन से प्रभावित होगा और दिन भर उससे मुक्त न हो सकेंगे। यदि वह वस्तु भली हुई=कल्याण कारक हुई–तो विचारों की उत्तमता अनिवार्य है यदि वह अच्छी न हुई–हृदय पर उसका अच्छा प्रभाव न पड़ा–तो या तो तत्सम्बन्धी विचारों में मन संकुचित हो जायगा या उसकी प्रवृत्ति बुरे ही कार्यों में

होगा । इसलिए लोग कहा करते हैं कि—आज तो ऐसे का मुंह देखा कि रोटी भी नसीब न हुई । यह धारणा भ्रान्त नहीं, किन्तु वेदमूलक है और सर्वथा मनोविज्ञान पर आश्रित है ।

छान्दोग्य परिशिष्ट में इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

श्रोत्रियं सुभगां गाञ्च अग्निमग्निचितं तथा ।
प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भ्यः स विमुच्यते ॥

अर्थात्—जो पुरुष प्रातः उठकर वेदपाठी विद्वान् पुरुष, सौभाग्यवती स्त्री, गौ, अग्नि तथा याज्ञिक का दर्शन करता है वह आपत्तियों से विमुक्त हो जाता है । इसके विपरीत—

पापिष्ठं दुर्भगां मद्यं नग्नमुत्कृत्तनासिकम् ।
प्रातरुत्थाय यः पश्येत्तत्कलेरुपलक्षणम् ॥

अर्थात्—प्रातःकाल उठकर इन वस्तुओं का दर्शन साक्षात्कलियुग का दर्शन है—पापी पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, शराब, नंगा और नकटा पुरुष ।

इन दोनों श्लोकों का सामञ्जस्य करने पर पाठक स्वयं जान सकेंगे कि यह धारणा विज्ञान संमत है या नहीं । हमें अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

मल विसर्जन

कहा जा सकता है कि विना इस पुस्तक को पढ़े भी मनुष्य प्रतिदिन मलत्याग करते ही हैं, और—मनुष्यों की बात छोड़ दीजिए, पशु-पक्षी भी बिना किसी रुकावट के इस प्राकृतिक आवश्यकता को पूरा कर लेते हैं फिर ऐसे घिनौने विषय पर व्यर्थ ही पृष्ठ काले करके समय का दुरुपयोग क्यों ? किन्तु वास्तव में ऐसा विचार करना भूल है । दैनिक-चर्या का जो सर्वाङ्गीण विधा

शास्त्रकारों ने बतलाया है उसके ज्ञान के बिना की जाने वाली समस्त क्रियाएँ अधूरी रहती हैं और लाभप्रद सिद्ध होने की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध होती हैं। इस विषय की ओर समुचित ध्यान न देने के कारण ही तीन चौथाई मनुष्य नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्यथाओं से पीड़ित रहते हैं। इसलिये यह आवश्यक है, कि ऐसे घिनौने किन्तु अनिवार्य और आवश्यक विषय पर भी चन्द पंक्तियें अवश्य लिखी जायँ।

प्रत्येक मनुष्य को दिन में दो बार शौच अवश्य जाना चाहिए। प्रातः भगवत्स्मरण के अनन्तर, शय्या से उठते ही शौच जाना चाहिए और सायंकाल करीब ४ या ५ बजे। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से हवादार खुले मैदानों में शौच जाना, जन-स्वास्थ्य के लिए अधिक लाभकारी है, क्योंकि इससे मल के विषाक्त कीटाणु शरीर में प्रविष्ट होकर हानि नहीं पहुँचा सकते और खुली वायु में श्वास लेने से शौच भी सुखपूर्वक होता है। इसके विपरीत शहरों में लोग प्रायः पाखानों में शौच जाते हैं जो कि तङ्ग और सीलदार कोठरियों में बने हुए होते हैं। घर के सभी पुरुष उसी गन्दे पाखाने में शौच जाने को बाध्य होते हैं, वहां हवा के साथ कीटाणु उड़ते रहते हैं जो श्वास के रास्ते भीतर जाकर मनुष्य के स्वास्थ्य को नष्ट कर डालते हैं। एक ही पाखाने में जाने वाले मनुष्यों की प्रकृति प्रायः भिन्न-भिन्न होती है, उनमें बहुत से रोगी हो सकते हैं। उनके रोग के कीटाणु दूसरे व्यक्तियों में संक्रामक रोगों को फैला देते हैं। इस दुरवस्था में आज सुधार की बड़ी आवश्यकता है। सफाई की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए तभी देश के गिरते हुए स्वास्थ्य को सुधारा जा सकता है। सबसे प्रथम प्रयत्न तो

यह होना चाहिए कि जो लोग शहर से बाहर शौचार्थ जा सकते हैं वे अवश्य बाहर ही जाया करें। शेष लोगों के लिए भी जो प्रबन्ध हो वह उत्तम होना चाहिए।

आप चाहे खुले मैदानों में शौच जायँ या पाखानों में, किन्तु इस विषय के स्वास्थ्यसम्मत कुछ शास्त्रीय नियमों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। आयुर्वेद में लिखा है—

शौचे च सुखमासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
शिरः प्रावृत्य कर्णौ च मुक्तकच्छशिखोऽपि वा ॥

अर्थात्—मनुष्य को चाहिए कि मल त्याग के समय शिर तथा कानों पर वस्त्र लपेटकर, शिखा तथा वस्त्रग्रन्थी खोलकर पूर्व अथवा उत्तर दिशाभिमुख होकर सुखपूर्वक समभूमि में बैठे। इस श्लोक में तीन बातों की ओर विशेष वल दिया गया है। (१) शिर तथा कान वस्त्र से ढके हों, वस्त्रग्रन्थी तथा शिखा खुली हो। (२) पूर्व या उत्तर की ओर मुख हो। (३) सुखपूर्वक स्थिति। उपरोक्त तीन बातों का एक ही उद्देश्य है और वह है सुगमतापूर्वक मल-विसर्जन। शिर तथा कानों पर वस्त्र लपेट लेने से रक्त का दबाव ऊर्ध्वाभिमुख न रहकर अधोमुखी बन जाता है। शिर तथा कर्ण स्थानीय उन स्नायुवों में–जिनका सीधा सम्बन्ध मलाशय के साथ है–इस प्रकार की क्रिया द्वारा उष्णता और उत्तेजना उत्पन्न होती है जिसका प्रभाव यह होता है कि मल बिलकुल साफ हो जाता है और कोष्ठबद्धता नहीं होती। आजकल के शास्त्रपराङ्मुख अपटुडेट जन्टिलमैन तथा अन्य शिक्षाशून्य मजदूर आदि, मलाशय में उष्णता तथा उत्तेजना पहुँचाने की गरज से घन्टों पाखानों में बैठे सिगरेट और बीड़ी के दम लगाया करते हैं, ऊपर से मुख का व्यापार तथा नीचे से गुदा का व्यापार चलाते २ भी बेचारों को कोष्ठबद्धता से पिंड

नहीं छूट पाता । इधर कभी आप को लार्ड मैकाले के मानसपूत काले साहबों के यहाँ जाने का अवसर मिल जाये तो आप देखेंगे वे भी·········

> "प्रातरुत्थाय मञ्चस्थो लालाक्लिन्नमुखः पुमान् ।
> 'टीं' 'काफीं' 'बिस्कुटं' 'केकं' सेवयेन्नित्यमेव हि ॥"

—टुडेस्मृति के इस आदेशानुसार गरम २ चाय पी कर मलाशय को हीट देते हुए शौच जाना पसन्द करते हैं । यह सब विचित्र लीला इस साधारण सी क्रिया को न जानने, तथा जान कर भी पुराने बनाम 'डर्टी' रिवाजों में परिगणित होने से त्याज्य समझने के कारण है ।

पूर्व या उत्तराभिमुख व्यवस्था का भी अभिप्राय स्पष्ट है । प्रातः काल और सायंकाल, प्रायः वायु का प्रवाह पूर्व या उत्तर से पश्चिम तथा दक्षिणाभिमुख रहता है, पूर्व एवं उत्तर की ओर मुख करके बैठने वाले व्यक्ति को मल के दूषित कीटाणुओं का श्वास के साथ शरीर में प्रविष्ट हो जाने का भय नहीं रहता और न इस से मल दुर्गन्धि का कष्ट ही सहन करना पड़ता है, क्योंकि सामने से आने वाला वायु दुर्गन्धी को पीछे से पीछे बहा ले जाता है । अनुकूल वायु के कारण श्वासक्रम भी सुगमता पूर्वक चलता है और मल विसर्जन में कोई कष्ट नहीं होता ।

सुख पूर्वक स्थिति, शौच क्रिया में सब से आवश्यक है । शहरों में अधिक व्यक्ति इसलिये बीमार होते हैं और डाक्टरों की शरण लेते हैं कि उन्हें जिन पाखानों में जाना पड़ता है वे सुविधाजनक नहीं होते । शील तथा सड़ांद के कारण मनुष्यों का वहाँ बैठते ही दम घुटने लग जाता है और शंका पूरी हुए बिना ही उठ

खड़े होते हैं; इसका परिणाम होता है—कब्जी (कोष्ठबद्धता) तथा पेट की अन्य बीमारियें। ऐसा करने से अवशिष्ट मल कड़ा होकर बड़ी अन्तड़ी के बाजुओं में चिपट जाता है। कुछ दिन यही क्रम जारी रहने पर मल निरन्तर चिपटता जाता है और मल द्वार छोटा पड़ जाता है जिससे मनुष्य को बवासीर, भगन्दर जैसे भयङ्कर रोगों का सामना करना पड़ता है। संसार में अधिकांश मृत्यु कब्ज के कारण ही होती हैं। लोग इसे मामूली बीमारी समझते हैं और देखने में यह है भी मामूली ही, परन्तु बड़े बड़े रोगों का मूल कारण होने के कारण, इसे सबसे भयङ्कर रोग कहा जा सकता है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर टर्नर ने अपने हस्पताल में मृत्यु को प्राप्त हुए २८४ मनुष्यों की मृत्यु का कारण बतलाते हुए लिखा है कि "उनमें से २८ मनुष्यों को छोड़कर बाकी सब कब्ज की बीमारी से मरे ! उनकी बड़ी अन्तड़ियां फाड़कर देखी गईं तो मालूम हुआ कि वे पत्थर की तरह कठिन हो गई हैं और उनमें सूखा काला मल भरा हुआ है।"

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति को ऐसा कोई कारण उपस्थित न होने देना चाहिये जिससे कि उसे कोष्ठबद्धता जैसे भयङ्कर रोग का शिकार बनना पड़े। 'शौचे च सुखमासीनः' भी अनुभवी महर्षियों द्वारा इसी रोग के विरुद्ध बतलाया गया एक उपाय है जिस पर पूरा ध्यान न दे सकने के कारण लोग कष्ट भोगते हैं।

बोले क्यों नहीं—

शौच लघुशंका आदि के समय मौन, एक सनातनी प्रथा मात्र नहीं किन्तु धर्मशास्त्रानुमोदित एवं विज्ञान समर्थित शिष्टाचार है

प्रायः अशिक्षित, या उच्चशिक्षित होते हुए भी भारतीय संस्कारों से शून्य व्यक्तियों में इस शिष्टाचार की भी अवहेलना देखी जाती है। लघुशङ्का करते-करते बातें करना, शौच बैठे-बैठे अखबार पढ़ना तो नई पीढ़ी के बड़े लोगों के फैशन की चीज है लेकिन दूसरे अशिक्षित व्यक्ति भी बैठे २ खांसना, थूकना आदि क्रियाएँ करते रहते हैं। यह सब आदतें जहाँ शिष्टजन विगर्हित हैं वहां स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा प्रभाव डालती हैं।

यह स्वाभाविक बात है कि जब हमारा शरीरस्थ वायु 'अपान' रूप धारण करके मलाशय तथा गुदा के शोधन कार्य में लगा हुआ होता है उस समय उसका 'प्राण, समान, उदान' आदि रूपों में किया जाने वाला व्यापार मन्द पड़ जाता है। हमारा कर्तव्य है कि उस समय शान्त बैठे रहकर उस वायु को अपना कार्य करने में सहायता दें। इसके विपरीत, उस समय यदि हम किसी अन्य व्यापार में लगेंगे तो परिणाम यह होगा कि वह शोधन कार्य तो मन्द पड़ जाएगा और वायु की शक्ति अन्य रूपों में विभक्त हो जाएगी। बोलने, खांसने, हांपने आदि से मल के दूषित कीटाणु तो अन्दर प्रविष्ट होंगे ही साथ ही मलाशय शोधन के प्राकृतिक काम में अड़चन भी पड़ जाएगी जो स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इसलिए धर्मशास्त्रकारों ने कहा है:—

उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने।
श्राद्धे भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत्॥

अर्थात्—मूत्र पुरीषोत्सर्ग काल में, मैथुन में, रक्तादि के प्रस्राव में, दातुन करते समय, श्राद्धकाल में और भोजन के समय मौनावलम्बन करना चाहिए। इस श्लोक में वर्जित सभी समयों

में मौन का जो महत्त्व है उसे तत्तत् स्थलों पर बतलाया जाएगा। यहां तो इतना ही समझ लेना चाहिए कि शौच और लघुशंकादि के समय अवश्य ही मौन रक्खा जाय।

पशुता की ओर

तिष्ठन् न मूत्रपुरीषे कुर्यात् (पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात्—खड़े २ मूत्र पुरीषोत्सर्ग न करे।

डर्विन साहब की पशु से मनुष्य बन जाने की विकासवाद की थ्यूरी में अगर कोई सचाई हो सकती है तो वह यही की आज भी मनुष्य अपनी आदतों और हरकतों में पशुओं के समान है। इतना ही नहीं, शिक्षा सभ्यता सम्पन्न आज के—बीसवीं सदी के—मानव को देखकर तो यह भ्रम होने लगता है कि कहीं अब वह विकासवाद अपनी पूर्णता की सीमा पर पहुँचकर पुनः प्रत्यावर्तन के चक्कर में तो नहीं पड़ गया है और दो हाथ, दो पांव मन मस्तिष्क बुद्धि वाला मानव, कहीं फिर सींग पूंछ वाला पशु बनने तो नहीं जा रहा है?

पशुओं को भी मात करने वाले आज के मानव के मर्यादाशून्य भक्ष्या-भक्ष्य के विषय में हम आगे के पृष्ठों में प्रकाश डालेंगे, यहां उसकी मलमूत्रोत्सर्ग की हास्यापद, पशु चेष्टाओं का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। आज स्कूलों में प्रविष्ट होते ही मानों विद्यार्थी को पहिला पाठ यह पढ़ाया जाता है कि वह गधे, घोड़े, बैल आदि पशुओं की भांति खड़े खड़े ही पेशाब किया करे, यही कारण है कि आज छोटे छोटे बच्चों में भी इस बुरी आदत का सूत्रपात हो गया है और अपने शिक्षित (?) माता पिताओं तथा आचार्यों के इस स्वभाव के अनुकरण में वे कभी पीछे नहीं रहते

ऐसा करते हुए भले ही उनके वस्त्र तथा पावों पर छीटें पड़ें परन्तु इसके विपरीत करके वे अपनी स्कूली शिक्षा का अपमान नहीं कर सकते ! यह बुरी आदत, शास्त्रीय नियमों की प्रत्यक्ष अवहेलना तो है ही, किन्तु सभ्यता के भी नितांत प्रतिकूल है। रास्ते बरास्ते की कोई चिन्ता न करते हुए 'या बेशर्मी तेरा आसरा' का सहारा लेकर ऐसे मार्गों पर—जहां से दो चार भले आदमी, सभ्रांत महिलाएँ गुजरती हों खड़े खड़े पेशाब करने लग जाना न सभ्यतानुकूल है और न मानवोचित ही।

एक दूसरा इससे भी बढ़ा चढ़ा सम्प्रदाय है, जो शौच जाकर पानी लेने की आवश्यकता ही महसूस नहीं करता। वह तो टुडे-स्मृति के—

द्वित्रिभिः कर्गलैः पश्चाद् गुदं संशोधयेद् बुधः ।
न करेण स्पृशेन्नीरं यदीच्छेच्छुभमात्मनः ॥

—शुद्धि विधानानुसार दो तीन कागज के टुकड़ों द्वारा गुदा को पोंछ डालना मात्र ही आवश्यक समझता है। जिस मल शोधन के लिए भारतीय चिकित्सा–शास्त्रियों ने गुदा को मिट्टी और पानी द्वारा साफ करने का विधान किया हो, उसको कागज के दो छोटे २ टुकड़े कितना साफ कर पाते होंगे यह तो वही जानें ! यह सब पशुता के लक्षण नहीं तो क्या है ? अभी तक तो सभ्यता तथा शिक्षा की डींग हांकने वाले यूरोपियनों को ही हम कहते थे कि आज के समुन्नत युग में भी वे बिलकुल जंगली हैं। पेशाब और टट्टी जाने का सलीका भी उन्हें नहीं आता। जानवरों की तरह खड़े २ पेशाब टट्टी किया करते हैं। हाथ धोने की तो उन्हें कतई तमीज ही नहीं, अन्न का उपयोग भी नहीं जानते, किसी तरह कच्चा-पक्का मांस खाकर अपना पेट पालते हैं आदि २

किन्तु आज यहां क्या हो रहा है। अच्छे खासे बने बना मनुष्य फिर पशु बनते जा रहे हैं–यह कम शोक की बात न है। भगवान् ऐसे लोगों को सुबुद्धि दे कि वे यदि मनुष्य से उन्न करके देवता नहीं बन सकते तो कम से कम मनुष्य तो बने रहें

मार्ग में क्यों नहीं ?

मार्ग में शौच या लघुशङ्का करना केवल सभ्यता प्रतिकू ही नहीं धर्मशास्त्र विरुद्ध होने से पाप भी है। भगवान् मनु लिखा है—

> **न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।**
> **न फालकृष्टे, न जले, न चित्यां न च पर्वते ॥**
> **न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।**

अर्थात्—मनुष्य को—मार्ग में, राख के ढेर में, गोशाला मे हल से जोते हुए खेत में, पानी में, चिता में, पर्वत पर, पुरान मन्दिर और बांबी में लघुशङ्का शौचादि क्रिया न करनी चाहिए

यह नियम नागरिक स्वास्थ्य, स्थानों की पवित्रता तथा जन-सुरक्षा की दृष्टि से बनाया गया है। मार्ग में पेशाब करने स दुर्गन्धी के अतिरिक्त उसके कीटाणु तरह २ की बीमारियें फैला कर जनता के स्वास्थ्य को खराब कर देते हैं—यह प्रायः सभी को भली प्रकार विदित है। इसलिए आज भी सभी सभ्य सर-कारों के यहां ऐसा करना जुर्म समझा जाता है और जो व्यक्ति सड़कों पर तथा निषिद्ध स्थानों में पेशाब करते पाए जाते है उनका चालान होता है। गोशाला, जल, चिता आदि को पवित्रता की दृष्टि से निषिद्ध ठहराया गया है जबकि बांबी, पुराने मन्दिर,

या भवनादि को जन-सुरक्षा की दृष्टि से, क्योंकि ऐसे स्थानों पर सांप बिच्छु आदि विषैले जन्तुओं का होना सर्वथा सुसम्भव है जिससे मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ सकता है।

मिट्टी या साबुन ?

शौचानन्तर विशुद्ध मिट्टी द्वारा हाथ तथा पात्र को मांजकर शुद्ध करना चाहिए। स्मृतिकारों ने लिखा है—

द्वे लिङ्गे मृत्तिके देये गुदे पञ्च करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या विट्शौचे मृत्तिकाः स्मृताः॥

अर्थात्—शौच के अनन्तर, २ बार लिंग पर, ५ बार गुदा पर दस बार बांये हाथ में दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगानी चाहिए।

शारीरिक शुद्धि में मिट्टी का उपयोग, भारतीय ऋषियों की गौरव पूर्ण देन है जो सर्वसुलभ होते हुए भी अत्यन्त गुणकारी है। बिना कानी कौड़ी खर्च किये प्राप्त होने वाली इस साधारण सी वस्तु में इतने उपयोगी गुण हो सकते हैं इसका हम विचार भी नहीं कर सकते। क्षार की विद्यमानता के कारण मिट्टी सब प्रकार के मल को दूर करने में समर्थ तो है ही, किन्तु वानस्पतिक तत्त्वों के संमिश्रण से उसमें रोगों को दूर करने की जो अद्भुत क्षमता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी गुण के कारण उसे प्राकृतिक चिकित्सा में मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है और अनेक प्रकार के प्रयोगानुभव करके चिकित्सकों द्वारा 'मिट्टी' पर लिखी हुई बहुत सी पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं। विश्ववंद्य महात्मा गांधी तो इसकी खूबियों के इतने कायल थे कि वह प्रायः सभी

प्रकार के रोगों में मिट्टी की पट्टी तथा उसके लेप का प्रयोग कि
करते थे। ऐसी दशा में जब कि आभ्यन्तरिक शुद्धि के लिए मि
का सफल प्रयोग सिद्ध हो चुका है तब बाह्य शारीरिक शुद्धि
लिए उससे अधिक उपयुक्त अन्य कोई वस्तु हो सकती है—य
कहना नितांत कठिन है।

आज हम काम काज की जल्दी में, या शास्त्रीय वचनों प
अश्रद्धा के कारण स्मृतिकारों की उपर्युक्त व्यवस्था पर ध्या
नहीं देते। मिट्टी द्वारा लिंग गुदा शोधन की तो कौन कहे, हाथों
पर भी जैसे तैसे एक दो बार मिट्टी लगाई, दो चार कुल्ले कि
कि छूमन्तर में ही शुद्धि हो गई। देहात में रहने वाले अनप
भाइयों की तो बात छोड़ दीजिए, वे तो शारीरिक सफाई के
महत्त्व से नितांत अपरिचित ठहरे, शहर में रहने वाले उन प
लिखे बाबुओं का—जिन्होंने कि स्कूल में न जाने सफाई के बा
में कितनी पुस्तकें पढ़ २ कर फाड़ डाली हैं और न जाने कितने
'सफाई सप्ताह' मनाये हैं—भी यही हाल है।

सुजाक गर्मी बवासीर भगन्दर आदि भयङ्कर बीमारियों में
कराहना, डाक्टरों की जेब भरना और अन्त में अकाल में ही
कालग्रसित हो जाना तो लोग अच्छा समझते हैं किन्तु स्मृतिकारों
का यह लिंग गुदा हस्त आदि का शोधन विधान उनके लिये
शिरदर्द बन जाता है। यदि वे प्रति दिन दो चार मिनट के लिए
इस ओर ध्यान दे लिया करें तो शारीरिक यन्त्र के इन पुर्जों की
समुचित सफाई हो जाने से उपरोक्त बीमारियों का कोई ड
हो न रहे। हाथों की सफाई के प्रोग्राम में तो पांच-सात मिनट का
समय अवश्य दिया जाना चाहिए, क्योंकि सभी लोग इस बात
से अच्छी तरह परिचित हैं कि वही हाथ शौचालय की परिधि
से बाहर निकल कर कुछ देर बाद सभी खाद्य वस्तुओं को स्पर्श

करते हैं। दुर्भाग्य से यदि उनकी भलीभांति सफाई न हो तो वह मल, उस खाद्यसामग्री के साथ हमारे शरीर में जाकर, कितने ही रोगों की उत्पत्ति का कारण बन सकता है।

इस विषय में हमें प्रत्यक्षवाद का ही आश्रय नहीं लेना चाहिये क्योंकि प्रत्यक्ष में तो, यदि बिना मिट्टी के साधारण जल से हाथ धो लिए जाएँ, तो भी वे उतने ही साफ दिखाई देंगे जितने मिट्टी से साफ करने पर। मल के उन दूषित कीटाणुओं को, हम सूक्ष्म दर्शक यन्त्र (दुरबीन) की सहायता से ही भलीभांति देख सकते हैं, अन्यथा नहीं। तब उनके अस्तित्व के प्रमाणित होने की दशा में, क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं कि उनसे बचने के लिए हम भारतीय शारीरिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित नियमों का आदर के साथ पालन करें।

इधर कुछ दिनों से धार्मिक विधानों के विरुद्ध पश्चिम की ओर से जो क्रांति की प्रबल बाढ़ आई है, उसमें अन्य वस्तुओं के साथ बेचारी मिट्टी भी बह गई और उसके स्थान में बाबू लोगों के हाथों में साबुन नजर आने लगी है। अब तक तो उसका प्रयोग नहाने कपड़े धोने वगैरह के काम में होता था अब शौच के हाथ धोने में भी उसका प्रयोग होने लगा है। नव प्रयोग की इस दौड़ में सबसे आगे वे लोग हैं जो भारत भूमि से अनन्य प्रेम रखने का दावा करते हैं किन्तु जिन्हें यहां की प्रायः प्रत्येक वस्तु से—यहां तक की मिट्टी से भी–सख्त नफरत है। वे मिट्टी से हाथ धोना शान और सभ्यता के प्रतिकूल समझते हैं। इसे हम उन लोगों की भूल के सिवाय और क्या कह सकते हैं?

विशुद्धि करण के विषय में यदि साबुन और मिट्टी की तुलना की जाय तो आप देखेंगे कि सर्व सुलभ तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मलीय अंश का शोधन करने में समर्थ होने के कारण मिट्टी का जो महत्त्व

हो सकता है वह साबुन का नहीं । मिट्टी, क्षार और रूक्ष हो है, साबुन क्षार और स्निग्ध । विशुद्धि करण में सर्वदा विजाती पदार्थ का ही प्रयोग लाभप्रद होता है । पित्त की प्रधानता कारण मल के अन्दर एक प्रकार का लेस=चिकनाई का अं होता है । पानी द्वारा हाथ धो लेने पर भी उस चिकनाई सूक्ष्मांश हाथ में लगा ही रह जाता है । उस लेस को दूर कर के लिये मिट्टी जैसी क्षार और रूक्ष तत्त्व वाली वस्तु का ही प्रयोग होना चाहिए । साबुन में क्षार=मैल को उखाड़ने की सामर्थ्य—तो है किन्तु वह, तेल आदि चिकनी वस्तुओं के साथ मिला हुआ है । फलतः वह सजातीय होने के कारण हाथ में लगे हुए स्निग्ध मलांश को साफ करने में कैसे समर्थ हो सकता है आपने देखा होगा कि यदि कपड़े पर तेल का दाग पड़ जाता है तो वह साबुन से नहीं उतरता किन्तु छानस वगैरह से साफ किया जाता है । इसलिए मिट्टी से परहेज करने वाले साबुन से हाथ धोयें और शौक से धोयें, परन्तु वह इस भुलैय्या में न रहें कि आज के कथित उन्नत युग ने मिट्टी के मुकाबले में वस्तुशोधन के लिए कोई नवीन आविष्कार किया है !

कौन मिट्टी न ली जाय ?—

मिट्टी का प्रयोग करने वाले सज्जन भी इतना ध्यान अवश्य रक्खें कि वह मिट्टी कहां से ली जाय । सभी स्थानों की मिट्टी शोधनकारक हो, ऐसी बात नहीं है । अपवित्र और गन्दे स्थान की मिट्टी लाभ पहुँचाने की अपेक्षा हानिकारक होती है । भला जो मिट्टी सूखे हुए मल से ही बनी हो वह हाथों को क्या पवित्र करेगी ? इसलिये महर्षियों ने इसकी भी व्यवस्था की है, यथा-

अन्तर्जलाद् देवगृहाद्वाल्मीकान्मूषकगृहात् ।
कृतशौचस्थलाच्चैव न ग्राह्याः पञ्चमृत्तिकाः ।।

अर्थात्—जल के अन्दर से, मन्दिर में से, बांबी एवं चूहे के बिल में से और शौच लघुशङ्का आदि के अपवित्र स्थान से मिट्टी न लेनी चाहिये ।

यह सभी व्यवस्था साभिप्राय है । पानी में पत्थर कंकर कांटा आदि न जाने क्या २ पड़ा रहता है, विविध प्रकार के कीटादि भी होते हैं इसलिए वहां से मिट्टी निकालना खतरे से खाली नहीं । सभी दर्शनार्थी यदि मन्दिर में से ही मिट्टी खोद २ कर उससे पात्र स्वच्छ करके शिवजी पर जल चढ़ाने लग जांय तो समझ लोजिए वह शिवालय तो चन्द दिनों में खण्डहर ही बन जाएगा । पहिले मिट्टो जायगी, फिर ईंटें उखड़ेंगी और अन्त में………। बांबियों और बिलों में प्रायः सर्पादि भयङ्कर जन्तु रहा करते हैं सो वहां से मिट्टी लेना कभी बहुत मंहगा पड़ सकता है, मिट्टी लेते हुए यदि एक बार भी अंगुली में नाग देवता ने फूंक मारदी तो फिर आप भी मिट्टी ही बन जाएँगे । शौचस्थलादि के बारे में तो ऊपर पर्याप्त लिखा जा चुका है । आशा है इतने से इस सम्बन्ध को शङ्काओं का यथेष्ट समाधान हो सकेगा और हम शास्त्रनिर्दिष्ट विधि के पालन द्वारा स्वास्थ्य लाभ कर सकेंगे ।

मलमूत्र त्याग और शुद्धि के विशेष नियम—

मलमूत्र त्याग और शुद्धि के सम्बन्ध में शास्त्र में कुछ विशेष नियम भी लिखे हैं आस्तिक जनता उन अतीव उपयोगी नियमों का पालन करके अपने स्वास्थ्य को सुस्थिर रख सके एतदर्थ हम उन्हें भी यहां लिखते हैं, तद्यथा—

(क) न सोपानत्को मूत्रपुरीषे कुर्य्यात् (आचारादर्श)
(ख) न गच्छन्नापि च स्थितः (मनु)
(ग) नानन्तवासा कुर्य्यात् (शंखलिखित)
(घ) यथासुखमुखः कुर्य्यात् (मनु)
(ङ) यावत्साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते ।
प्रमाणं द्रव्यसंख्या वा न शिष्टैरुपदिश्यते ।(देवल)

अर्थात्—(क) जुर्राब, डोरे बन्धा फुल बूट, पहिनकर मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। (ख) चलते चलते और गुदा के सहारे बैठकर या खड़े २ (ग) बहुत से कपड़ों से लदे हुए मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिये। (घ) वायु की गति और स्थान की बनावट के कारण जिस दिशा की ओर मुख करके बैठने में सुविधा हो वैसे बैठकर मलमूत्र का त्याग करे (ङ) जब तक मन ठीक २ न माने तब तक जल मृत्तिका आदि के प्रयोग से शुद्धि करनी चाहिए। कितनी मिट्टी, कितना जल और कितनी बार ? यह नाप तोल शिष्ट सम्मत नहीं ।

उपर्युक्त नियमों के लाभ स्वयं व्यक्त हैं, जुर्राब और सभ्य समाज में निरन्तर पहिने जाने योग्य जूते पहिने मलमूत्र का त्याग करने से अवश्य ही मलमूत्र और जल की छींटों से उनके सन जाने का अनिवार्य अवसर है इसलिए प्रायः घिसे टूटे पुराने छीतर केवल टट्टी के लिए नियत रहते हैं। चलते फिरते और खड़े होकर किंवा गुदा के बल बैठकर मलमूत्र का त्याग भली प्रकार हो ही नहीं सकता। योरपीन ढंग की ऊँची उठी टट्टियों

(कमोड़) का प्रसार और खड़े २ पेशाब छोड़ने की आदत मिस्टर कुतुबुद्दीन के चेले चाटों को ही शोभा देती है। बहुत से कपड़ों से लदे २ टट्टी में तशरीफ ले जाना निस्सन्देह मकड़ी की भाँति अपने तने जाल में स्वयं उलझे रहने के बराबर है। खुले जंगलों में वायु की प्रगति के विचार से अमुक दिशा की ओर मुख करने का नियम पालनीय और उपादेय है परन्तु शहरों की टट्टियों में अगत्या सुविधानुसार 'यथा-सुख-मुख' बैठना ही स्वाभाविक है। खोवा, खीर और मैदे के बने पदार्थ खाने से कभी २ कोष्ठबद्धता के कारण अपच मल, गुदा और हाथ से ऐसा संश्लिष्ट होता है कि जिसे दूर करने के लिए अधिक बार जल मिट्टी का प्रयोग करने की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, सो शुद्ध हो जाने की कसौटी तुले नपे जल मिट्टी को उतनी बार लगाना नहीं—किन्तु (मनस्तोष) की अवधि ही नियत की जा सकती है।

क) वसाशुक्रमसृङ् मज्जा मूत्रविट्कर्णविण्णखाः ।
श्लेष्माश्रु दूषिकास्वेदा द्वादशैते मला नृणाम् ॥

ख) आददीत मृदोपश्च षटसु पूर्वेषु शुद्धये ।
उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्धयति (बौधायन)

अर्थात्—(क) (१) चर्बी, (२) वीर्य, (३) रुधिर, (४) मज्जा, ५) मूत्र, (६) विष्ठा,—(७) कान का मैल, (८) नाखून, (९) फ, (१०) आंसू (११) आंख की ढीढ और (१२) पसीना ये ारह मल मनुष्य के होते हैं। (ख) इनमें पहिले ६ मलों को साफ रने के लिए जल मिट्टी दोनों का प्रयोग आवश्यक है। अन्तिम : मल केवल जल के द्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं।

अरण्येऽनुदके रात्रौ चौरव्याघ्राकुले पथि ।
कृत्वा मूत्रपुरीषं च द्रव्यहस्तो न दुष्यति (बृहस्

अर्थात्—जंगल में, जल रहित मरुभूमि में, रात्रि के स चोर और बनेले हिंसक पशुओं के खतरे वाले मार्ग में, हाथ सामान सँभाले २ मलमूत्र का त्याग करने पर किंवा बिना हाथों उठाई हुई वस्तु अशुद्ध नहीं होती। ऐसे आपद्धर्म काल केवल सूखी मिट्टी मलने से ही, हाथ शुद्ध समझने चाहि और अपने स्थान पर पहुँचकर शुद्धि कर लेनी चाहिए।

दन्त धावन

औदुम्बरेण दन्तान् धावेत् । (पारस्कर गृह्यसूत्र)

अर्थात्—गूलर की दातुन से दांतों को स्वच्छ करना चाहि

दन्त धावन हमारी दैनिक चर्या का अंग है। प्रतिदिन प्रा काल शास्त्रोक्त वनस्पतियों में से किसी भी वनस्पति की ताजी दातुन से दांतों को स्वच्छ तथा निर्मल बनाना प्र स्वास्थ्याभिलाषी पुरुष का आवश्यक कर्तव्य है। सभी लोग बात को अच्छी तरह जानते हैं, कि दांतों का शरीर में वि महत्त्व है। जिस आहार से प्राणमात्र के शरीर की र तथा पोषण होता है उसको पीसकर आमाशय के योग्य ब दांतों का ही कार्य है। चूंकि मनुष्य के लिये, आहार आवश्यकता जीवन के अन्तिम क्षण तक है, इसलिए की आवश्यकता भी उस क्षण तक समझनी चाहिए। दृष्टि स यदि इन्हें जीवन का आधार कह दिया जाय कोई अत्युक्ति नहीं। शरीर रूपी दुर्ग के मुख्य द्वार यह सचेत प्रहरी यदि जरा भी असावधानी करें तो

जीवन किसी भी क्षण घोर संकट में पड़ सकता है। इन्हीं विश्वस्त प्रहरियों के भरोसे मनुष्य कच्ची पक्की, सूखी हरी, नर्म कठोर, खाद्य अखाद्य सभी प्रकार की वस्तुए खा बैठता है और यह उनको पीसकर जीवनोपयोगी बना डालते हैं।

दांतों के इस सब महत्त्व से परिचित होते हुए भी आज, जनसाधारण इनकी रक्षा और पोषण के लिए कितना प्रयत्न करते हैं इसका दिग्दर्शन—२० वर्ष की अवस्था में ही डैंटिस्टों की शरण लेकर नए दांत चढ़वाने वाले आधुनिक युवकों को देखकर भली-भाँति किया जा सकता है। पहिले जहाँ अस्सी-नब्बे वर्ष के बूढ़े दांतों से चने चबा लिया करते थे, वहाँ आज बीस-तीस वर्ष की अवस्था में ही दांतों में पायोरिया की बीमारियें लग जाती हैं। दांतों से खून आने लग जाता है और देखने में अच्छे-भले नवयुवक, दांतों की खराबी के कारण अन्य अनेक बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। बहुत थोड़े लोग इस बात को समझते हैं कि दांतों के खराब हो जाने का तात्पर्य है—मृत्यु की ओर एक कदम! क्योंकि दातों के गिर जाने के बाद फिर मनुष्य का आहार बिना चबाया या कम चबाया ही पेट में पहुँचता है, जिसे रसरूप में परिणत करने के लिये आमाशय को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि कुछ दिनों बाद उसकी शक्ति मन्द पड़ जाती है और मनुष्य रोगी बन जाता है।

दांतों को बलिष्ठ और अच्छी दशा में रखना कुछ कठिन नहीं है। शास्त्रीय आदेशानुसार यदि हम प्रतिदिन नियत समय र दन्तधावन करें तो १०० वर्ष तक भी दांतों के हिलने या गिरने का कोई सवाल ही पैदा न हो, लेकिन शर्त यही है कि ह दन्तधावन क्रिया की जाय शास्त्रीय पद्धति से ही। आज की

मनमानी विधि से नहीं, कि प्रातः बाहर टहलने निकले, वहीं
दातुन तोड़ी और करते २ घर का रास्ता पकड़ा । रास्ते में या
दोस्तों से गप्पें भी चल रही हैं, दातुन भी हो रही है और ट
लना भी ! एक पंथ तीन काज !! तीन काज के बजाय
चार काज कहदें तो ज्यादा अच्छा रहे, क्योंकि दातुन क
समय दांतों से उतरने वाला मल, पानी के कुल्ले के अभाव
बातों के स्वाद के साथ धीरे २ पेट में भी तो उतरता जाता
जो वहां जाकर पुनः फुन्सी फोड़े, खुजली दाद वगैरह के सु
सलोने रूप में बाहर आकर दर्शन देता है ; या पेट में
उत्पन्न करके भले चंगे स्वस्थ व्यक्ति को चारपाई का आ
लेने को विवश कर देता है ।

दुर्भाग्य से हमारे देशमें एक दल और है जो दांतोंकी स
का महत्त्व तो खूब समझता है किन्तु उसके मत से इस कार्य
लिये उपयुक्त समय प्रातःकाल नहीं, किन्तु भोजनानन्तर म
ह्नकाल है । भोजनोपरान्त दातुन करना शायद इस दृष्टि
महत्त्वपूर्ण है, कि उस समय जीभ की सफाई, हलकौवा आ
करने से सब खाया पीया वमन होकर दांतों के साथ २ पेट
भी सफाई हो जाती है ! या बार बार थूकने से अग्निमांद्य हो
इस असार संसार से जल्दी ही विदा हो जाने में सहायता मि
है ! इस प्रकार की सभी चेष्टायें लाभकारक तो कदापि
नहीं होतीं यह निर्विवाद है । इसलिये ऊपर कहा गया है
दन्तधावन क्रिया, तभी वास्तविक लाभकारी हो सकती है ज
इसका आचरण शास्त्रीय विधि से हो । 'वह कब की जाय
नहीं, कैसे की जाय ? दातुन किस वृक्ष की हो ?' इत्यादि
को जाने बिना हम यदि उसका प्रयोग भी करते हैं तो
लाभ के स्थान पर हानि की अधिक सम्भावना रखनी चाहि

अमुक काष्ठ से अमुक लाभ--

दातुन का प्रयोग केवल दांतों की सफाई के लिये ही होता हो ऐसी बात नहीं है। आयुर्वेद प्रणेता च'क एवं सुश्रुत आदि महर्षियों ने दांतों की सफाई के साथ २ दातुन का प्रयोग चिकित्सा पद्धति के तौर पर अनेक रोगों की निवृत्ति के लिये भी किया है। आज जब हम उन क्रान्तदर्शी महर्षियों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोगों की शत प्रतिशत सफलता देखते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उदाहरणतया पाठकों के दिग्दर्शनार्थ हम आयुर्वेदोक्त कुछ प्रयोगों का निदर्शन नीचे कराते हैं जिससे सभी सज्जन ययेष्ट लाभ उठा सकते हैं यथा—

(क) वदर्यां मधुरः स्वरः। (ख) उदुम्बरे च वाक्सिद्धिः।
(ग) अपमार्गे स्मृतिर्मेधा। (घ) निम्बश्च तिलके श्रेष्ठः।

अर्थात्—(क) यदि दांतों की सफाई के साथ गले में माधुर्य भी लाना हो तो बेर की दातुन करनी चाहिए। (ख) यदि जीभ लड़खड़ाती हो—हकलापन हो तो नियमपूर्वक गूलर को दातुन करने से वह रोग दूर होकर वाणी सिद्ध (ठीक) हो सकती है। (ग) स्मरण शक्ति की निर्वलता या बुद्धिमांद्य के लिए अपामार्ग की दातुन का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद है। (घ) मुख की दुर्गन्ध दूर करने के लिये—पायोरिया जैसे रोगों में नींब की दातुन श्रेष्ठ है।

दातुन किस वृक्ष की और कैसे?--

जड़ी बूटियों एवं वनस्पतियों के गुणावगुणों की खूब छानबीन तथा उनका प्रयोगात्मक अध्ययन करके ही प्राचीन शास्त्रकारों

ने दातुन के व्यवहार में आने योग्य वृक्षों का निर्धारण कि है। निम्नलिखित वनस्पतियें इसके लिये प्रशस्त समझी जा हैं, यथा—

करञ्जोदुम्बरौ चूतः कदम्बो लोध्रचम्पकौ ।
वदरीति द्रुमाश्चेते प्रशस्ता दन्तधावने ॥

अर्थात्—करञ्ज, गूलर, आम, कदम्ब, चम्पक और बेर वृक्ष दन्तधावन के लिये प्रशस्त हैं। इनके अतिरिक्त कीकर, नी आदि का प्रयोग सुलभ तथा लाभकारी भी है। खदिर (खैर) कि तो नाम ही कोषकारों ने 'खदिरो दन्तधावनः' कहकर दातुन लिये उसकी उपयुक्तता का समर्थन किया है।

इनमें से किसी भी वृक्ष की दातुन प्रतिदिन नियम पू प्रातः काल अवश्य करनी चाहिए। दन्तधावन के समय का पात्र समीप में होना चाहिये। यदि किसी नदी या ताल का किनारा हो तो सबसे अच्छा किन्तु जल स्वच्छ तथा नि हो। बीच २ में कुल्ला अवश्य करते रहना चाहिये जिससे दां से उतरने वाला मल साफ होता रहे और अन्त में ठण्डे जल मुख तथा नेत्रों को खूब धोना चाहिये। ऐसा करने से आँखों गर्मी शान्त हो जाती है, दृष्टि मन्द नहीं होती और न कोई रोग ही होता है। यदि साधारण जल की अपेक्षा आंवले भिल्ल से मिश्रित कषाय जल का उपयोग किया जाय तो और भी लाभकारी हो सकता है, जैसा कि 'चर्यामंजरी' में लाया गया है—

भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा ।
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थं शीतोदकेन वा ॥

दातुन बनाम टूथपेस्ट ?

विदेशी लोगों की देखा देखी आज भारत में भी टूथपेस्ट का अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। ऐसा ज्ञात होता है, मानों विदेशी प्रभु अन्य वपौतियों के साथ २ यह घृणित वस्तु भी काले साहबों को उत्तराधिकार में सौंप गये हैं और इसकी रक्षा तथा प्रचार उनका परम कर्त्तव्य है। विशुद्ध हरी ताजी बनस्पति को छोड़कर एक ऐसी वस्तु को—जिसके विषय में हम कुछ भी नहीं जानते कि उसका निर्माण किन-किन वस्तुओं से और कब हुआ है—बिना सोचे समझे मुंह में डाल लेना कहां की बुद्धिमत्ता है ? फिर वह बुरुश जिससे रोज दांत साफ किये जाते हैं, मैल को अपने अन्दर जज्ब करके इतना दूषित हो जाता है कि वह दांतों को ऊपर से साफ करता हुआ भी उनके अन्दर पायरिया के जर्म्स छोड़ देता है और थोड़े ही समय में दांतों की जड़ से सफाई हो जाती है। जहां, परिवार के सभी व्यक्ति उस एक बुरुश से ही दांतों की सफाई करते हों, वहाँ तो समझिये उन लोगों के विनाश में अधिक समय नहीं। भिन्न-भिन्न प्रकृति के पांच व्यक्ति—जिनमें कई शारीरिक व्याधि ग्रस्त भी हो सकते हैं, एक ही चीज को बारी २ से मुंह में डालने के बाद स्वास्थ्य की कामना करें तो इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या हो सकती है ?

टूथपेस्ट जैसी अपवित्र और मंहगी वस्तु का प्रयोग यूरोप मेरिका जैसे धनी देशों में ही शोभा दे सकता है और उन ही क्तियों के लिये लाभकारी भी हो सकता है जो हर सप्ताह के द बुरुश को बदल डालें। हमारे इस गरीब देश में ऐसी प्रथा पनपना, देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है। जहाँ ७५

प्रतिशत जनता दोनों जून भरपेट भोजन भी न प्राप्त कर स
हो वहां बिना मूल्य प्राप्त होने वाली वस्तु के स्थान में,—
ऐसी वस्तु के प्रचलन का प्रचार करना—जिसके लिये कि की
चुकानी पड़े, कहां तक न्याय्य हो सकता है ?

यह कहा जा सकता है कि आज के संकुल देश काल में दा
सब समय में सुलभ नहीं है और विशेषकर शहरों में रहने वा
जनता—जो कि करोड़ों की संख्या में है—यदि टूथपेस्ट या पा
का प्रयोग न करे तो काम नहीं चल सकता, परन्तु हमें यह भ
भांति समझ लेना चाहिये कि ऐसी दशा में हमारे सामने दो
मार्ग हैं—या तो हम स्वयं अपने हाथों से तैयार किये हुए म
पाउडर वगैरह का प्रयोग करें, या फिर नमक और तेल का प्र
किया जाय। चुटकी भर नमक में दो बूंद सरसों का तेल डा
उससे दांतों को साफ करना, सौ टूथपेस्ट या पाउडरों के मुक
में अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। यह योग दांतों की
खराबियों के लिये अनुभूत चिकित्सा के तौर पर सम्पूर्ण दे
प्रयोग किया जाता रहा है। टूथपेस्ट का प्रयोग करने वाले स
इसे अपनाकर व्यर्थ व्यय से बच सकते हैं। नमक और
दोनों ही हमारे खाद्य हैं यदि उनका कुछ अंश अन्दर चला
जाय तो कम से कम किसी हानि की सम्भावना तो नहीं
जबकि टूथपेस्ट में पड़ने वाली वस्तुओं के विषय में ऐसी
गारन्टी नहीं दी जा सकती। पवित्रता तथा अपवित्रता के
कोण से हमने इस प्रश्न को बिल्कुल स्पर्श नहीं किया है, क
हम समझते हैं कि जिसने किसी वस्तु को असली रूप में
बिना ही उसे मुंह में डाल लिया है उसका पवित्रता स
विचार तो पहिले ही समाप्त हो चुका है इसलिये हमने
दृष्टिकोण से ही इस प्रश्न को परखा है।

कब न करें ?—

दांतों का सम्बन्ध चूंकि समस्त शरीर के साथ है इसलिये बहुत सी शारीरिक व्याधियों की दशा में दातुन नहीं करनी चाहिये। ऐसा करने से वह शारीरिक व्याधि बढ़ जाती है और करने वाले को लाभ की बजाय हानि उठानी पड़ती है। आयुर्वेद में बतलाया गया है कि—

मुखस्य पाके शोथे च कर्णरोगे नवज्वरे।
शिरोरुजार्दिते श्रान्ते नेत्ररोगे मदात्यये।
तृषिते चार्दिते कण्ठे रोगे ताल्वोष्ठजे गदे॥
जिह्वामये दन्तरोगे श्वासकासावमीषु च।
पानात्यये तथा जीर्णे मूर्च्छायां दुर्बले तथा।
हिक्कारोगार्दिते जन्तौ नेष्यते दन्तधावनम्॥

अर्थ—मुख में छाले पड़े हुए हों या सूजन हो, कानों में पीड़ा हो, नया बुखार, शिर दर्द, नेत्र रोग, प्यास आदि के समय, गला, तालु ओष्ठ जिह्वा आदि की बीमारी में, दन्त रोग में, खांसी और अजीर्ण के समय, शारीरिक दुर्बलता में, मृगी में, और हिक्का रोग में मनुष्य को दातुन नहीं करनी चाहिये।

व्यायाम—

दिनचर्या में व्यायाम का वही महत्त्व है जो भोजन का। जैसे शरीर को जीवित रखने के लिये प्रतिदिन भोजन की आवश्यकता है इसी प्रकार उस खाये हुए भोजन को पचाने के लिये

व्यायाम भी अनिवार्य है। एक सनातनधर्मी के हृदय में स्ना संध्या भगवदुपासना के लिए जितनी श्रद्धा और प्रेम है उत ही व्यायाम के लिये भी होना चाहिये, क्योंकि—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

अर्थात्—शरीर ही धर्माचरण का मूल साधन है। य शरीर ही अस्वस्थ हुआ तो किसका स्नान और कैसी संध्या आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि—

व्यायामदृढगात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन ।
विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ॥१॥
भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतादयः ।
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ॥२॥
न चास्ति सदृशं तेन किंचित्स्थौल्यापकर्षणम् ।
स सदा गुणमाधत्ते बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥३॥
(भाव प्रकाश)

अर्थात्—व्यायाम द्वारा दृढ़ाङ्ग हुए मनुष्य पर रोगों सहसा आक्रमण नहीं होता। देश कालादि के विरुद्ध किंवा क पक्का खाया हुआ आहार शीघ्र पच जाता है। व्यायामशी पुरुष का देह में शैथिल्य आलस्य आदि दुर्गुण नहीं होते उसे बुढ़ापा जल्दी नहीं दबा सकता। मोटापे को दूर करने व्यायाम परमौषधि है, बलिष्ठ पुरुष स्निग्ध पदार्थ खाता यदि व्यायाम करे तो उसे सदैव लाभ ही लाभ होता है।

व्यायाम क्यों?—

व्यायाम, धर्मसाधनभूत इसी देह को स्वस्थ रखने की कु

नियम पूर्वक व्यायाम—अंगों के परिचालन-से सभी शारीरिक अंगों को समान बल की प्राप्ति होती है और वे सुन्दर सुडौल तथा सुदृढ़ बन जाते हैं। हृदय को स्फूर्ति प्राप्त होती है और उसमें एक ऐसा नवीन ओज भर जाता है, जिसके कारण मनुष्य कठिन से कठिन परिश्रम करने से भी नहीं हिचकिचाता। वह, प्रत्येक कार्य उत्साह पूर्वक प्रारम्भ करता है तथा उसे सफलता तक पहुँचाकर ही विश्राम लेता है। मानव का सबसे बड़ा शत्रु आलस्य, ऐसे व्यक्ति की ओर झांकता भी नहीं। यह सब हमारी कोरी कल्पना नहीं किन्तु आयुर्वेद प्रणेता महर्षि चरक के दीर्घ जीवन के अनुभवों का सार है। व्यायाम की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने उसके अमित लाभों का वर्णन किया है, यथा—

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता ।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं सृजा ॥
श्रमक्लंपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता ।
आरोग्यञ्चापि परमं व्यायामादुपजायते ॥

अर्थ—व्यायाम से मनुष्य के सम्पूर्ण अंगों की वृद्धि होकर शारीरिक सौन्दर्य उत्पन्न होता है। अंग, सुन्दर तथा सुडौल बन जाते है। पाचन शक्ति की वृद्धि होती है, आलस्य, पास नहीं आता। शरीर में स्फूर्ति तथा चैतन्यता का अनुभव होता है। भूख प्यास धूप गर्मी कठोर परिश्रम, थकान आदि को सहने का अभ्यास हो जाता है और सबसे मुख्य बात यह है कि शरीर में कोई रोग उत्पन्न नहीं होता, यह तो हुआ व्यायाम सम्बन्धी श्लोकों का शाब्दिक विवेचन। इसका वास्तविक अनुभव तो

आचरण पर ही निर्भर है, आये दिन बड़े २ पहलवानों को देखते ही हैं और यदि अपने ऊपर अनुभव करना चाहें तो म चरक के इन शब्दों की यथार्थता का अनुभव थोड़े दिन व्यायाम से हमें भी हो सकता है।

भारतीय व्यायामपद्धति—

हमारा यह पुण्य देश अपनी ज्ञानगरिमा के कारण सब देशों का सिरमौर और 'विश्वगुरु' कहलाता रहा है, बल एवं शक्ति में भी वह कभी किसी से पीछे नहीं रहा। शाली चक्रवर्ती सम्राटों के अतिरिक्त भारतीय इतिहा देदीप्यमान रत्न श्री रामभक्त हनुमान् अपनी शूर वीर विश्व इतिहास के एक ही व्यक्ति हैं, जिनके नाम पर भार सेना का सर्वश्रेष्ठ पदक 'महावीर चक्र' चल रहा है। प्रा इतिहास के ब्रह्मचारी भीष्म और महाबलशाली भीमार्जुन की गाथायें तो विश्वविश्रुत हैं ही, किन्तु इसी सदी के सुप्र भारतीय पहलवान 'राममूर्ति' के लोकोत्तर चमत्कार शारीरिक प्रदर्शन तो कल ही की वस्तु हैं जिन्हें देखकर शियों को भी दांतों तले अंगुली दबानी पड़ी थी। अस्तु,

प्राचीन भारत में, न बलशाली पुरुषों की कमी थी औ बल के साधन व्यायामों की। व्यायाम को लोग धार्मिक समझते थे। बड़ी पुण्यभावना से उस में भाग लेते थे। जनिक व्यायाम शालाएँ होती थी और समय समय पर प्रांतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मल्ल-प्रतियोगिता होती थी जिसमें विदेशों के पहलवान उपस्थित होकर अपने शारीरिक बल परिचय दिया करते थे। ऐसी ही एक मल्ल प्रतियोगिता के निम पर भगवान् कृष्ण ने मथुरा पहुंचकर कंस का वध किया था,

ऐसी ही एक मल्ल प्रतियोगिता में जरासंध की मृत्यु हुई थी। कुश्तियों के अलावा दण्ड बैठक, मुग्दर परिचालन, कबड्डी, दौड़, आसन और सूर्य प्रणामादि वे भारतीय व्यायाम विधि हैं जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ करके यावज्जीवन नीरोग रह सकता है।

हमारे देश में प्राचीन काल में जिन व्यायाम पद्धतियों का विकास हुआ उनमें योग का प्रमुख स्थान है। भारतीय वाङ्मय में योग एक ऐसी अद्भुत विद्या है जो-शरीर और आत्मा, सांसारिक सुख और कैवल्य आनन्द, इहलोक और परलोक— दोनों का समान समन्वय करके मानव को ब्रह्म में लीन कर देती है। योग की क्रियायें दुहरी मार करती हैं। एक ओर वे शरीर को स्वस्थ बलशालो और रोगविहीन बनाती हैं दूसरी ओर मनुष्य की आत्मा को उन्नत करके उसे ब्रह्म की सायुज्य मुक्ति का अधिकारी बना देती हैं। योग का स्थान व्यायाम पद्धति में भी है और ब्रह्मविद्या में भी। आज के इस गये गुजरे जमाने में जब कि योगविद्या बिलकुल लुप्तप्राय: है कभी २ हमें योगासनों और और यौगिक व्यायाम के चमत्कार देखने का अवसर मिल जाता है और उस समय हमारे आश्चर्य का पारावार नहीं रहता जब हम देखते हैं कि शरीर के वे असाध्य से असाध्य रोग जो हजारों रुपये खर्च करने पर भी दूर न होते थे एक साधारण से आसन के अभ्यास से कुछ ही समय में बिल्कुल निःशेष हो गये।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत में व्यायाम के लिए भिन्न भिन्न विधियें काम में आती थीं। विभिन्नता के बावजूद भी इनमें हमें एकरूपता भी देखने को मिलती है और वह है—सर्व सुलभता। क्या अमीर क्या गरीब, सभी लोग बिना किसी प्रकार

के खर्च के इन साधनों से यथेष्ठ लाभ उठा सकते थे । आज
व्यायाम के साधन–हाकी फुटबाल, क्रिकेट, टेनिस इत्
सभी व्यय साध्य हैं; प्रतिमास शुल्कादि देकर ही लोग इन
को चालू रख सकते हैं किन्तु भारतीय व्यायाम पद्धति में
प्रकार के किसी व्यय की आवश्यकता नहीं थी । केवल
हवा और खुला मैदान चाहिये, बस । इन विधियों में आ
और सूर्यप्रणाम आदि की विधि व्यायाम के लिये इतनी उप
है, कि यदि मनुष्य नियमपूर्वक इनका अभ्यास करे तो उ
केवल रोगों से छुटकारा मिल जाय, अपितु उसके शरीर में
उत्पन्न ही न हों ।

सूर्यप्रणाम

यह व्यायाम प्रातः सूर्य-वन्दनापूर्वक प्रारम्भ होता है
अष्टविध अभ्यास द्वारा पूर्ण किया जाता है । यों समझ ली
कि आठ प्रकार से भगवान् सूर्य को प्रणाम किया जाता है
प्रत्येक अभ्यास में, शिर कमर भुजा छाती फेफड़े पेट और
पांवों को समान रूप से इतना परिश्रम करना पड़ता है कि
से यह सब अङ्ग बराबर पुष्ट तथा बलशाली हो जाते हैं ।
घण्टा तक इस अभ्यास के करने से शरीर श्रान्त हो जाता
तब इसे छोड़ देना चाहिये और वायु में इधर-उधर टह
चाहिये । प्राचीन भारत के ऋषि आश्रमों में जहां कि आ
समान हाकी फुटबाल आदि का प्रचार नहीं था, व्यायाम
यही विधि वहां से निकलने वाले ब्रह्मचारियों को 'कपाट
परिणद्धकन्धरः' बनाती थी, इसकी सहायता से वे समय
पर लव और कुश की भांति चक्रवर्ती से भी युद्ध ठानने में
न हटते थे । जिगर तिल्ली संग्रहणी आदि की सम्पूर्ण बीमा

के लिये कविराज जी का बहुमूल्य दवाओं का बक्सा एक तरफ और सूर्यप्रणाम सा सरल किन्तु निःशुल्क प्रयोग दूसरी तरफ। यह अब आपकी इच्छा पर निर्भर है कि आप किसे अपनाते हैं।

आज की दयनीय दशा

स्वास्थ्य की दृष्टि से आज हमारा देश बहुत पिछड़ा हुआ है। उस भारत में जहां कि——**'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**—का घन गम्भीर वेदघोष देशवासियों को शारीरिक तथा आत्मिक बल सम्पादन की प्रेरणा देता था; जिस देश में पुरुष, पूर्णायु प्राप्त करने से पहिले मृत्यु को नहीं प्राप्त होते थे और देश में मृत्यु, अज्ञात एवं अनिवार्य दैवीशक्ति न होकर ईश्वरीय नियम के अधीन उचित समय पर होने वाली घटनामात्र थी ! आज, धन्वन्तरि चरक और सुश्रुत के उस देश में ५० प्रतिशत नौनिहाल बालक जन्मते ही १० दिन के अन्दर अकाल में ही काल के गाल में समा जाते हैं। ५ वर्ष की अवस्था तक मरने वालों की संख्या ६० प्रतिशत है और शेष जो रहते हैं वह इतने निर्बल होते हैं कि उन्हें सदा डाक्टरों की शरण लेनी पड़ती है।

इस अभागे देश में प्रतिवर्ष १० लाख व्यक्ति क्षय के ग्रास बन जाते हैं और जीवित पुरुषों में भी ९० प्रतिशत स्त्री पुरुष, धातु सम्बन्धी रोगों में फंसे रहते हैं। **'जीवेम शरदः शतम्'** की प्रार्थना करने वाले भारतीय की औसतन आयु, आज केवल २३ वर्ष की है। आज, उसे जवानी के प्रारम्भ में ही बुढ़ापा आ घेरता है; उसे ज्ञात भी नहीं होता कि कब यौवन आया और चला गया। २०, २५ वर्ष की अवस्था में, जब वह होश संभालता है तो अपने को, जर्जर शरीर, गाल अन्दर को धंसे हुए,

आंखों पर चश्मा चढ़ाये, शिर के श्वेत बालों से सुशोभि थोड़े से ही परिश्रम से हांफ जाने वाले 'वृद्ध' के रूप में पाता है।

हमारी स्वास्थ्य सम्बन्धी इस दुर्दशा में अन्य बहुत से कार तो हैं ही, किन्तु व्यायाम का अभाव भी एक कारण है। क्या कम दुख का विषय है कि हमें दुनिया के अन्य सब का को करने का तो अवकाश है, किन्तु व्यायाम के लिये आध घ का समय नहीं दे सकते। आज प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह बू हो या जवान—के सम्मुख यह प्रश्न है कि दिनानुदिन ह्रास प्राप्त होती हुई अपनी मानव पीढ़ी को क्या इसी प्रकार विना की ओर बढ़ने दिया जाय ? यदि भारतीय जनता दूसरा मा अपनाना चाहती है तो उसे पीछे लौटना होगा। उसे एक बा फिर चरक की पाठशाला में बैठकर पढ़ना होगा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

अर्थात्—आरोग्य—अच्छा स्वास्थ्य ही धर्म अर्थ काम मो इन चारों का मूल है।

हमें हर्ष है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के शुभ प्रयत्नों भारतीय जनता में पुनर्जागरण की भावना उत्पन्न हो रही है उसके सदस्य दैनिक चर्या के नियमानुसार प्रातः ब्रह्म मुहूर्त उठकर मातृ वन्दना पूर्वक सामूहिक व्यायाम में भाग लेते और भारतीय व्यायाम पद्धति से व्यायाम करते हैं यह शुभ चि है। लोगों को चाहिये यदि वे घर पर नियम पूर्वक व्यायाम न कर सकते तो ऐसी संस्था में भाग लेकर ही अपनी स्वास्थ सम्पत्ति की रक्षा करें।

तैल मर्दन—

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा ।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्व-दार्ढ्यकृत् ।
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ।

(वाग्भट-सूत्र स्थान अध्याय २)

अर्थात्—प्रतिदिन तेल मालिश करनी चाहिये इससे बुढ़ापा थकावट और वातजन्य रोगों का नाश होता है। दृष्टि बढ़ती है शरीर पुष्ट होता है। आयु बढ़ती है नींद खूब आती है, त्वचा सुन्दर और दृढ़ हो जाती है। शिर कान और पावों की तली में विशेषतया मालिश करनी चाहिये।

यदि आप अणुवीक्षण यन्त्र (खुर्दबीन) की सहायता से अपने शरीर को देखें तो आपको यह जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि प्रकृति ने इसे जालीदार वस्त्र की तरह इतना झीना बुना है कि आप इसमें कठिनता से सुई की नोक के बराबर भी इतना स्थान नहीं प्राप्त कर सकते जहाँ छिद्र न हो। हमारे शरीर में असंख्य छिद्र हैं जिन्हें रोम कहा जाता है। यह एक प्रकार की छोटी-छोटी नालियाँ हैं जो प्रतिक्षण शरीर की दूषित वायु और मल को प्रस्वेद तथा गैस के रूप में बाहर फेंककर और विशुद्ध वायु को अन्दर पहुँचाकर शरीर को जीवित रखने में सहायक सिद्ध होती हैं।

शारीरिक विज्ञान में बतलाया गया है कि हमारे रक्त में (१) लाल (२) श्वेत और (३) सूक्ष्म, तीन प्रकार के रक्त कण या जीवित रक्त कीट होते हैं जिनके ऊपर हमारा जीवन निर्भर है। इन्हें जीवित रहने के लिये विशुद्ध जल वायु और उपयुक्त

भोजन सामग्री की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि हमें प्रकृति इस आवश्यकता की पूर्ति इन रोमों द्वारा करती है नाक द्वारा हम इतना वायु अन्दर नहीं फेंक सकते जितना इन रक्त कीटों को जीवित रखने के लिये अपेक्षित है। यह का इन रोमों द्वारा होता है। यदि किसी मनुष्य के शरीर तारकोल या राल आदि अन्य किसी ऐसी वस्तु का लेपकर दि जाय जिससे यह रोम बन्द हो जायें तो आप देखेंगे वह व्य थोड़ी देर में छटपटाने लग जाएगा और यदि वह लेप न उता जाय तो उसका मर जाना भी असम्भव नहीं होगा।

अभ्यङ्ग अथवा तैल मर्दन त्वचा के इन्हीं रोमों को स्व एवं कार्यक्षम करने का ऐसा प्राकृतिक साधन है जिस आविष्कार हजारों वर्ष पूर्व शारीरिक विज्ञान प्रणेता भार महर्षियों ने किया और जन-स्वास्थ्य को दृष्टि में रखते हुए दैनिक-चर्या का एक अङ्ग माना। स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य के लि तो अभ्यङ्ग का प्रयोग है ही किन्तु रोग चिकित्सा के तौर भी तैल मालिश के सफल प्रयोग हुए हैं और आज भी भा के अपठित देहातों में, गुम चोट, विविध प्रकार के दर्दों, त्वचा रोगों और सूजन आदि पर इसका अचूक प्रयोग किया जा है। यूरोप के लिये अवश्य यह एक नई चीज है, आज से लग १०० वर्ष पूर्व हैनृकलिङ्ग (स्वीडन) तथा डा० मेजर (हाले आदि चिकित्सकों के अनुसन्धान से ही वहाँ के निवासियों इसकी महत्ता का पता चला और वे इस का प्रयोग करते ल अस्तु,

तैल मर्दन क्यों ?—

आयुर्वेद की दृष्टि से तैल की उपयोगिता घृत से कुछ

नहीं है जो शक्तिशाली पौष्टिक तत्त्व घृत में पाए जाते हैं अन्यून वे ही सब तेल में भी यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। यही नहीं किन्तु महर्षि चरक ने तो—**'घृतादष्टगुणं तैलं मर्दने न तु भक्षणे'**–लिख कर तैल में घृत से आठ गुणा ज्यादा शक्ति को स्वीकार किया है। अन्तर केवल यही है कि घृत, जहां खाया जाने के उपरान्त गुणकारी होता है वहां, तेल, मालिश करने से। आज के इस कंगाल युग में जबकि विशुद्ध घृत, दुग्धादि का सर्वथा अभाव है, चिकनाई (फैट्स) की इस कमी को यदि तेल मदन द्वारा दूर किया जाय तो लोगों का स्वास्थ्य पर्याप्त उन्नत दशा को प्राप्त कर सकता है और खुजली दाद फोड़े फुन्सी एक्जीमा आदि त्वचा सम्बन्धी बीमारियें—जो कि खुश्की और गर्मी के कारण उत्पन्न होती हैं—सर्वथा शान्त हो सकती हैं। तैलमर्दन का वास्तविक रहस्य तो त्वचा को कोमल, नसों को स्फूर्तियुक्त और रक्त को गतिशील बनाने में है। त्वचा के रोम जितने स्वच्छ होंगे वे उतनी ही तत्परता से वायु के आदान-प्रदान के कार्य को करने में समर्थ हो सकेंगे। यों तो सर्वदा ही वायु में प्राणशक्ति अन्तर्निहित है किन्तु प्रातःकाल की वायु में—सूर्योदय कालीन प्राणशक्ति और चन्द्रमा द्वारा बरसाया हुआ अमृत का अंश भी संमिश्रित होता है, इसलिए यदि उस समय नियमपूर्वक तेल मर्दन किया जाय तो शरीर के आरोग्य युक्त होने के अतिरिक्त मनुष्य का दीर्घजीवी होना भी स्वतः सिद्ध है, इसलिए महर्षि चरक ने लिखा है—

स्पर्शने चाधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् ।
त्वचञ्च परमोऽभ्यंगः तस्मात्तं शीलयेन्नरः ।।

अर्थात्—चूंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए वायुकी प्रमुख

आवश्यकता है, वायु का ग्रहण त्वचा के ऊपर निर्भर है औ त्वचा का दारोमदार मालिश पर है इसलिए प्रतिदिन तेल म अवश्य करना चाहिए ।

मालिश के लिए अन्य तेलों की अपेक्षा विशुद्ध सरसों क तेल सबसे अधिक लाभप्रद है । प्रत्येक अंग पर तेल लगाकर उ खूब मलना चाहिए । यदि शिर में प्रतिदिन अच्छी तरह ते मर्दन किया जाय तो सिरदर्द, बालों का गिरना, मस्तिष्क क निर्बलता आदि सभी व्याधियें अपने आप शान्त हो जाती हैं मालिश करते समय दूसरे तीसरे दिन कानों में भी तेल की बूं टपका लेनी चाहिए । ऐसा करने से—

न कर्णरोगा वातोत्था न वात्या हनुसंग्रहाः ।
नौच्चैःश्रुतिर्न वाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् ।

अर्थात्—कानों में वातज रोग नहीं होते, फोड़े फुन्सी औ जबड़ा संघातका भय नहीं रहता । ऊँचा सुनने और बहरेपन व्याधि नहीं होती । कानों के नीचे के हिस्से पर अंगूठे से धी धीरे मालिश करनी चाहिए, क्योंकि स्नायुवों का सन्धि स्था होने के कारण इसके मर्दन का प्रभाव सारे वात संस्थान ऊपर पड़ता है । पैरों के तलुओं के नीचे धीरे २ मालिश, पांव को बीमारियों के साथ २ नेत्र रोगों की भी अद्वितीय महौष है । ऐसा करने वालों की दृष्टि कभी कमजोर नहीं होती ।

रवि मंगल आदि वारों को क्यों नहीं ?—

पर,यह स्मरण रखिए कि आप तेल मर्दन का वास्तविक ला तभी उठा सकते हैं जब इसका आचरण धर्मशास्त्रानुसार कर बिना समझे बूझे यदि आप अन्धाधुन्ध तेल रगड़ने बैठ जांय, त उसका परिणाम खुजली आदि रोगों से भी भयंकर रोगों में फंस

हो सकता है। उदाहरण के तौर पर यूं समझिये। धर्मशास्त्रकारों ने—

तैलाभ्यङ्गे रवौ तापः सौमे शोभा कुजे मृतिः।

अर्थात्—रविवार को तेल मर्दन से ताप (गर्मी संबंधी रोग) सोम को शारीरिक सौन्दर्य, मंगल को मृत्यु, बुध को धनप्राप्ति, गुरु को हानि, शुक्र को दुःख और शनि को सुख होता है।
—इस श्लोक में रवि मंगल आदि वारों को तेलमर्दन का निषेध किया है। इस निषेध की वैज्ञानिकता को न समझते हुए जन साधारण या तो इसे व्यर्थ का ढोंग बतलाने लग जाते हैं या इस की नितान्त उपेक्षा करते हैं। लेकिन किसी बात को न मानने या जान बूझकर उसकी उपेक्षा करने से उस वस्तु के गुणावगुण और प्रभाव तो नष्ट नहीं हो सकता। धतूरा विष होता है, उस के खा लेने पर व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। एक बालक ने उसे बिना जाने खा लिया और दूसरे अल्हड़ युवक ने जानते हुए भी अविश्वास के कारण खा लिया। क्या इन दशाओं में धतूरे की मारण शक्ति कुण्ठित हो जाएगी ? कदापि नहीं उसका प्रभाव अवश्य होगा। यही नियम धार्मिक विधानों के विषय में लागू है। यदि किसी नियम की यथार्थता को न समझ, हम उस का पालन करना छोड़ दें तो इससे उसका प्रभाव तो हुवे बिना न रहेगा।

संसार में 'रविवार' को सब जगह सूर्य-सम्बन्धित वार ही कहा जाता है। उसको किसी व्यक्ति विशेष के नाम से न पुकार पृथ्वी से करोड़ों वर्गमील की दूरी पर विद्यमान अग्नि गोले—सूर्य के नाम पर ही पुकारा जाता है। हिन्दुस्तान तो ग्रहपूजक देश है, यहां की बात छोड़िये, सुदूर यूरोपीय प्रदेशों में भी इसे Sunday अर्थात् सूर्य का दिन कहा जाता है। यही बात सोम

मंगलादि सभी वारों के विषय में भी है। प्रश्न होता है, कि क्या वास्तव में इन आकाशग्रहों का अमुक अमुक दिन पर को प्रभाव है ? क्यों—संसार के समस्त देश इस विषय में एक म है। कहना न होगा कि अवश्य ही सभी देशों के प्राचीन अनु सन्धायकों ने इस प्रभाव को अनुभव किया है तभी सब एक परिणाम पर पहुँचे हैं। इन दिनों का अमुक २ ग्रह के सा कैसे सम्बन्ध हुवा और क्यों ये उनके नाम से पुकारे जाने लगे यह इस प्रकरण से बाहर की बात है। अन्यत्र प्रसंगानुसार इ का विवेचन किया गया है। यहां तो केवल इतना समझ लेन पर्याप्त होगा कि अमुक-अमुक ग्रहों का अमुक अमुक दिनों साथ सम्बन्ध है। इस विषय में पूर्व और पश्चिम दोनों दे के विचारक एक मत हैं और वास्तव में अमुक २ ग्रह का उस दिन पर निश्चय ही प्रभाव पड़ता है।

इस सामान्य सी बात को समझ लेने पर यह समझने आपको कोई कठिनता नहीं होगी, कि अमुक अमुक दिन तेल मालिश क्यों नहीं करनी चाहिए। रविवार को ही लीजिए यह दिन उस ग्रह से सम्बद्ध है, जो संसार भर की तेज : श का एकमात्र केन्द्र है, गर्मी का भण्डार है, आग की एक ऐ दहकती हुई भट्टी है, जिसकी गर्मी करोड़ों वर्गमील की दूरी प रहने वाले हम लोगों को भी असह्य आंच पहुंचाये बिना न छोड़ती। वास्तव में यह गर्मी या उष्णता ही जीवन है। शरी में जब तक पित्त (गर्मी) विद्यमान है वह उस समय तक जीवि है, ठण्डा हुआ कि मरा। पित्त (गर्मी) का इतना महत्त्व हो हुए भी उसका परिणाम निश्चित है। वह जब तक शरीर निश्चित मात्रा में रहेगा शरीर निरोग होगा। अपनी मात्रा बढ़ा, कि अनेक गर्मी सम्बन्धी रोग तुरन्त उत्पन्न हो जाते है

रविवार को सम्पूर्ण दिन का वातावरण अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक गर्म होगा ही, जिसके प्रभाव से हमारे शरीर में भी पित्त अन्य दिनों की अपेक्षा बढ़ा हुआ होगा। इधर आपने तेल की बोतल उठाई और लगे शरीर पर रगड़ा लगाने। रविवार की गर्मी, तत्प्रभाव जन्य पित्त की गर्मी, और आपके मर्दन से उत्पन्न हुई गर्मी। आखिर इतनी गर्मी समाएगी कहां ? शरीर में विद्यमान पित्त में उबाल आ जाएगा और परिणाम होगा—"रवौ तापः"।

इसी प्रकार मंगल ग्रह को ही लीजिए। यह पृथ्वी का पुत्र (हमारी भूमि का ही एक टुकड़ा है) लाल रंग का अत्युष्ण ग्रह है और इसका प्रभाव हमारे रक्त पर पड़ता है। मंगल के दिन रक्त में दबाव तो पहिले से ही विद्यमान है तब मालिश के द्वारा उस दबाव में और वृद्धि होगी जो कि अपस्मार मृगी खुजली फोड़े फुन्सी आदि अनेक रोगों के रूप में प्रगट होकर शीघ्र मृत्यु का कारण बन सकती है। यह बात शुक्र–जो कि मनुष्य शरीरान्तवर्ती शुक्र (वीर्य) का स्वामी है–के विषय में समझनी चाहिए। शुक्र को तेल मर्दन से वीर्य में उष्णता की अभिवृद्धि होने के कारण उसका दूषित होना और मनुष्य को अनेक कष्टों में डाल देना स्वाभाविक है। चूंकि बृहस्पति का सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है इसलिये वह दिन बौद्धिक कार्यों के लिये जितना उपयुक्त हो सकता है उतना शारीरिक कार्यों के लिए नहीं।

इन सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्यों के भुला देने से ही हम लोग अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं। डाक्टर और वैद्य रोगों का निदान अन्य बातों में ढूंढते हैं, उनको क्या पता कि रोगी ने यह बीमारी प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करके प्राप्त की है।

महर्षियों ने तैल मर्दन के इस निषेधात्मक वचन के परिहा के लिये भी एक व्यवस्था की है जो उनकी सूक्ष्मदर्शिनी बु का ज्वलन्त उदाहरण तो है ही, किन्तु वनस्पति के ज्ञान प आश्रित होने के कारण अमोघ भी है।

रवौ पुष्पं गुरौ दूर्वा, भौमवारे च मृत्तिका।
गोमयं शुक्रवारे च तैलाभ्यंगे न दोषभाक्॥

अर्थात्--यदि रविवार को पुष्प, गुरुवार को दूर्वा, मंग को मिट्टी और शुक्र को जरा सा गोमय डाल लिया जाय त तेलमर्दन में कोई दोष नहीं।

उपर्युक्त श्लोक में वर्णित सभी वस्तुएँ उन २ दोषों क उपशमक हैं। सभी जानते हैं, कि गुलाब आदि के फूल ठ होते हैं, उन्हें ठण्डाई आदि में डालकर पिया भी जाता है, उ तेल में डालकर मालिश करने से तेल के सुगन्धित होने के अ रिक्त इसकी उष्णता शांत हो जाती है और गर्मी बढ़ाने वा न होकर पित्त को शांत करने वाला बन जाता है। हरी दू स्मृतिशक्ति के लिए अत्युपयोगी, नेत्रों को ज्योति प्रदान कर है। प्रातः काल उस पर घूमने से मस्तिष्क निर्मल हो जाता है तेल में संयुक्त होने से उसके गुण तेल में आ जाते हैं और वे शरीर में ज्ञानशक्ति की अभिवृद्ध करती है। विवाहादि के अ सर पर इसीलिए उसको तेल में डुबा २ कर वर का उससे अ षेक किया जाता है।

मंगल भूमिपुत्र है। हमारा रक्त भी पार्थिव वस्तुओं से ह बनता है। जरा सी मिट्टी मिला देने से तेल की उग्र उष्ण श हो जाती है निष्प्रभ, और वह रक्त के लिए हानिकारक न रहता।

गोमय और गोमूत्र जैसी वीर्यशोधक ओषधी कोई नहीं शोधन की जो प्रबल शक्ति इन दोनों वस्तुओं में है, वह अन्य

हीं मिल सकती। तेल के साथ गोमय को मिलाकर मलने से सका वीर्य पर पड़ने वाला दुष्प्रभाव दूर हो जाता है। वह निकारक होने की बजाय त्वचा सम्बन्धी रोगों के लिए औषध न जाता है।

तेल मर्दन के सम्बन्ध में यहां इतना और अधिक समझना चाहिए, कि अमुक वार को तेल मर्दन न करने की, और ावश्यक दशा में उसमें अमुक वस्तु के संमिश्रण की जो बात मने लिखी है, वह वस्तुतः सबकी सब व्यवस्था तिल निःसृत स्नेह सम्बन्ध में ही लागू होती है, क्योंकि संस्कृत व्याकरणानुसार लों से निकाली हुई चिकनाई का नाम ही 'तैल' है। आजकल रसों, गिरी, मूँगफली आदि सभी वस्तुओं से निकलने वाली चकनाई को 'तेल' कह देने की जो परिपाटी पड़ गई है वह स्तुतः हिन्दी उर्दू आदि भाषाओं के अधूरेपन का ही परिणाम । संस्कृत साहित्य में सरसों से निकलने वाले स्नेह=चिकनाई ो 'सार्षप' कहते हैं; इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुओं के नाम के नुसार ही उनसे तद्धित प्रत्यय लगाने पर तादृश नाम सिद्ध ते हैं; इसीलिए शास्त्र में सुस्पष्ट रूप से सदैव लगा सकने योग्य ल का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पवासितम्।
अन्यद्रव्ययुतं तैलं न दुष्यति कदाचन॥

अर्थात्—सरसों का तेल, सुगन्धयुत तेल, फूलों से वासित ल और अन्य द्रव्य जिसमें मिलाया गया हो ऐसे सब तेल सब न लगाये जा सकते हैं।

आशा है, इस विवेचन से हमारे पाठकों को इन शास्त्रीय लोकों की यथार्थता समझने में कुछ २ सहायता अवश्य मिलेगी।

स्नान—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् (अ

अर्थात्—प्रतिदिन प्रातः स्नान करके शुचि होकर स वन्दन तथा देवर्षि तर्पणादि नित्य कर्म करे।

हिन्दु जाति के सभी धार्मिक तथा सामाजिक कृत 'स्नान' एक अनिवार्य और आवश्यक कृत्य है। संध्या वन्द साधारण दैनिक कृत्यों से लेकर बड़े से बड़े अश्वमेध यज्ञ प सभी कर्मों का प्रारम्भ स्नान से ही होता है। यही क्यों, हिन्दू के जीवन का प्रारम्भ भी स्नान ही से होता है और वसान भी स्नान में ही। बालक, जन्म लेकर ज्योंही जीवन के लिए आकुल वाणी में पुकारना आरम्भ करता है—चिर से विमुक्त हो ज्योंही वह मुक्तवायु में प्रथम उच्छ्वास करता है, तभी कुशल धात्री सर्व प्रथम उसके शरीर को स करके स्नान कराती है। इसी प्रकार जीवन के पर्यवसान में कि उसकी आत्मा शरीर को छोड़कर अनन्त में लीन हो है, तब भी हिन्दू के शरीर को चितारोहण से पूर्व एक बार स्नान कराया जाता है और अन्त में जब सब कुछ 'भस्मा शरीरम्' बन जाता है उस समय उस भस्म में से चुनी हुई को वह अस्थियें भी पतित पावनी जाह्नवी में अनन्त स्ना लिए विसर्जित की जाती हैं। इससे अधिक स्नान का महत्व देश और किस जाति में देखने को मिल सकता है? हिन्दु हरिद्वार काशी प्रयाग कुरुक्षेत्र उज्जैन पुष्कर आदि सभी स्थानों की महिमा स्नान पर ही निर्भर है। इन स्थानों पर किसी विशेष प्रोपेगण्डे के तत्तत् समय में स्नान में लिए

ड़ने वाले जन-समुद्र को देखकर हिन्दुओं की स्नानप्रियता का अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है।

वेदादि शास्त्रों में स्नान गरिमा के सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं।

गंगे ! त्वद्दर्शनान्मुक्तिर्न जाने स्नानजं फलम् ।

—आदि अनेक शास्त्रीय वचनों में स्नान का अवर्णनीय महत्त्व प्रतिपादित किया है। उसके आगे मुक्ति जैसा पदार्थ भी अत्यंत तुच्छ माना गया है। यह स्नान (अभिषेक) ही है जो कलके एक सामान्य जन को दूसरे दिन सार्वभौम सम्राट् के महान् पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

स्नान क्रिया का तात्पर्य शारीरिक शुद्धि से है। 'ष्णा शौचे' धातु से निष्पन्न होने वाले इस शब्द का अर्थ ही शुचिता सम्पादन है। हम पीछे बतला आये हैं कि हमारी त्वचा में असंख्य छोटे २ रन्ध्र होते हैं। इन्हीं छिद्रों से भीतर का मल स्वेद के रूप बाहर निकला करता है। वायु के लगने से पसीने का द्रव भाग वाष्प बनकर उड़ जाता है, किन्तु अद्रव मैल इन रन्ध्रों में जम जाता है। यदि इस मल को रोज साफ न किया जाय तो कुछ दिनों बाद मैल की मोटी तह इकट्ठी होकर इन रन्ध्रों को बिलकुल बन्द कर देगी जिससे अन्दर का मल और दूषित वायु बाहर न आकर अन्दर ही अन्दर सड़ जाएगी। शरीर से दुर्गन्धी आने लगेगी, अनेक प्रकार के रोग पैदा होंगे और जीवन दूभर जायेगा। इसलिए प्रतिदिन स्नान करके त्वचा को बिल्कुल स्वच्छ कर लेना चाहिए। इस मल की सफाई ही स्नान का प्रथम उद्देश्य है।

स्नान का दूसरा उद्देश्य शरीर में अपेक्षित जलीय अंश की ति और प्राण शक्ति का संतर्पण है। आप जानते ही हैं, कि मारे इस शरीरका निर्माण पृथ्वी अप तेजः आदि पञ्च महा-

भूतों से हुआ है और उन्हीं के द्वारा यह जीवित भी है। ह शरीर में प्रत्येक भूतांश क्षण २ में क्षीण होता रहता है, जि पूर्ति हम प्रकृति मण्डल में विस्तृत पञ्च महाभूतों से भोजन, वायु आदि को ग्रहण करके करते रहते हैं। जब हमारे शरी विद्यमान जल, शारीरिक ऊष्मा से सूख जाता है, तो शरी बेचैनी अनुभव होने लगती है। आमाशय और उसके समीप प्रदेश में उत्पन्न होने वाले ताप को तो जल पीकर शांत लिया जाता है, किन्तु शरीर के रोम २ से फूट पड़ने व जलाभावजन्य ऊष्मा को शान्त करने के लिए तो स्ना अतिरिक्त चारा ही कुछ नहीं। गर्मी के दिनों में पाठकों ने भली प्रकार अनुभव किया होगा, जबकि मनुष्य ग्रीष्म से होकर जल की शरण में शांति अनुभव करते हैं।

जल के कण २ में प्राणशक्ति निहित है। श्रुति में—

आपो वै प्राणाः

—कहकर उसे प्राणशक्ति का नैसर्गिक स्रोत स्वीकार है। स्नान से हमारे प्राणों की तृप्ति होती है। शरीर में तथा चैतन्यता का उदय हो जाता है। आलस्य पास नहीं और मन प्रफुल्लित हो जाता है।

पश्चिमी देशों में तो जल के महत्त्व का पता लोगों को इतने दिन बाद लगा है और वे उसकी आरोग्यता विधा शक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये हैं, किन्तु तपोपूत मह ने लाखों वर्ष पूर्व जल की इस अमित शक्ति का अनुभव कर उसे देवत्व के पद पर अभिषिक्त किया था। प्रत्येक कार्य के आ में जल स्नान, जल आचमन और जल पूजन की प्रणाली प्र करके उन्होंने इसे धार्मिक परम्परा का अविच्छिन्न अंग ह

दिया जिससे सर्व साधारण में स्नान आदि के प्रति पर्याप्त रुचि उत्पन्न हो।

स्नान विधि—

नदी सरोवर या किसी बहते हुए पानी में स्नान करना सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसलिये सनातन धर्म में गंगा यमुना गोदावरी आदि नदियों का महत्त्व पूर्ण स्थान है। स्नान के लिये यह आवश्यक है, कि शरीर का प्रत्येक भाग अच्छी तरह आर्द्र हो जाए। नदी तालाब में यह सर्वथा सुसम्भव है। वहां शरीर के मल और दूषित वायु से गन्दा हुआ जल अति शीघ्र बह जाता है और उसकी जगह लाखों गैलन ताजा जल फिर उपस्थित हो जाता है। इसलिये जहाँ तक सम्भव हो बहते हुए पानी में स्नान करना चाहिये।

शहरों में जहां नदी तालाब आदि का प्रबन्ध नहीं है, या श्रम-साध्य है, वहां नलगंगा या कूए की ही शरण लेनी पड़ती है। ऐसे स्थान पर अधिकांश व्यक्ति जल्दी में दो चार लोटे डालकर हस्ती-स्नान करके इस आवश्यक कृत्य को निबटा देते हैं। ऐसे स्नान से वस्तुतः कोई लाभ नहीं। धर्म की दृष्टि से प्रतिदिन स्नान करने वाले हमारे आस्तिक समाज को यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि स्नान स्वतः कोई धर्म नहीं है, किन्तु धर्मसाधनभूत इस देह को धर्माचरणक्षम रखने के कारण ही वह धार्मिक कृत्य है। यदि आप स्नान का वास्तविक तात्पर्य समझे बिना दो चार लोटे डालकर अपना कर्तव्य तो पूरा कर लेते हैं, किन्तु फिर भी आपका शरीर रोगी ही रहता है, तो इसके कारण दयालु ईश्वर को दोष देने की आवश्यकता नहीं। मन में कभी यह विचार न कीजिये, कि उसने आपके जैसे नित्य-स्नायी भक्त को उसकी भक्ति का कितना अच्छा (?) पुरस्कार

दिया है। ऐसा विचार आपकी भ्रान्ति है। कमी तो आ कर्तव्य में है। आपने यह समझा ही नहीं कि स्नान का ता क्या है और वह कैसे किया जाता है ?

स्नान चाहे कूए पर किया जाय या नल पर, इसी वि करना चाहिये। स्नान के समय शरीर पर साधारण वस्त्र चाहिये, एक लङ्गोट और अङ्गोछा काफी है। उसे लपेट जाइये। पास में एक लोटा और पानी से भरी बाल्टी रख लीजि लोटे में जल लेकर सर्वप्रथम शिर को भिगोइये, इसके अनन् हाथ और पाँव धोने चाहियें। प्रथम शिर का भिगोना इस आवश्यक है, कि शिर में जल पड़ने पर वहाँ बढ़ी हुई गर्मी प के रास्ते निकलकर शान्त हो जाती है। यदि ऐसा न करके प पाँव भिगोये जांय तो पाँवों की गर्मी शिर में समा जाती जिससे कुछ दिनों में मस्तिष्क में विकार उत्पन्न होकर पागल शुरू हो जाता है। अस्तु,

शिर, हाथ, पाँव धोने के उपरान्त पानी डाल २ कर श को अच्छी तरह भिगो डालिये और उसे खद्दर के अंगोछे खुरदरे तोलिये से मलना शुरू कीजिए। लगभग दश पन्द्रह मि शरीर को इसी प्रकार मलना चाहिये जिससे रन्ध्रों में घुसा हु मल फूल कर बिलकुल साफ हो जाय। इसके बाद ५ मिनट त शरीर पर बराबर पानी डालते रहिये। यह पानी इन रोमों रास्ते अन्दर जाकर अपेक्षित जलीय अंश की पूर्ति कर दे अन्त में शरीर को तौलिये से पोंछ डालिये और वस्त्र प लीजिये। यह आपका स्नान हो गया।

यह स्नान का निरा लौकिकस्वरूप है। इसके आध्यात्मि रूप में कुछ भावनाओं का सन्निवेश और होता है। शास्त्र

धि के अनुसार हमें स्नान से पूर्व जल की अधिष्ठात्री शक्ति रुण' की अभ्यर्थना करनी चाहिये। इस उपासना का रहस्य म विगत अध्याय के 'देवतावाद' में प्रतिपादित कर आये हैं। ान समय पठनीय सभी धर्मशास्त्रोक्त मन्त्रों में जल की दिव्य क्ति का वर्णन करके लोगों को उससे पूरा २ लाभ उठाने की क्षा का ही प्राधान्य है। स्नान करते हुए आस्तिक पुरुषों के ख से—

गंगे ! च यमुने ! चैव गोदावरि ! सरस्वति !
नर्मदे ! सिन्धु ! कावेरि !, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

यह श्लोक प्रायः सभी ने सुना होगा। गंगा गोदावरी से जारों वर्ग मील दूर साधारण तालाब में स्नान करते हुए भी क सनातनधर्मी प्रतिदिन स्नान के समय, शरीर से नहीं तो म से कम मन से ही अपने भावना साम्राज्य में कैसे गंगा दावरी का पवित्र सान्निध्य प्राप्त कर लेता है और इनके प्रति पनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाता है—यह बात इस श्लोक को देखकर ली प्रकार जानी जा सकती है। स्नान के समय सर्वदा किसी ोत्र का पाठ करना चाहिये। स्तोत्र चाहे किसी भी देवी देवता हो यह आपकी श्रद्धा पर निर्भर है। स्तोत्र पाठ इसलिये वश्यक है कि जल का स्पर्श पाते ही वाणी अपने आप प्रस्फुत हो उठती है। और उस समय फिर जो भी कुछ जबान पर जाय मनुष्य वही बोलने लगता है।

हमने देहात में अपनी भोली भाली अपठित माताओं को खा है। वे श्रद्धा परिपूत हृदय से जब स्नान करने लगती तो और कुछ नहीं तो—'बिल्ली के बच्चे बचाए, द्रौपदी की लाज खी'—यह दोनों वाक्य ही उनके लिये स्तोत्र रूप बन जाते हैं।

यहां तक तो गनीमत है कि इन देवियों के पास कम से श्रद्धा परिपूत हृदय तो है। ये देहाती देवियें मेरे उन पड़ोसी व से तो हजार दर्जे अच्छी हैं जो प्रतिदिन प्रातःकाल स्ना समय जल का स्पर्श पाते ही तार स्वर से—

'या इलाही मिट न जाए दर्दे गम'

—फिल्मी धुन की ही निरन्तर रट लगाते चले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवन्नामात्मक संस्कृत या हिन्दी के कुछ स्तोत्र रूप में कण्ठस्थ अवश्य कर लेने चाहियें और स्ना समय उन्हें बोलते रहना चाहिए इससे शारीरिक शुद्धि के मन और वाणी की भी शुद्धि हो जाएगी।

बिना स्नान, खायें क्यों नहीं ?—

यद्यपि आज का सभ्य शिक्षित समुदाय तो, स्ना कौन कहे, शौच जाने से पूर्व ही विस्तर पर पड़े २ चाय के भोग लगाकर प्राकृतिक नियमों की प्रत्यक्ष अवहेलना कर है और विविध रोगों के रूप में उसका दुष्परिणाम भी भोग है, किन्तु हमारे यहां किसी समय अनुल्लंघनीय नियम था, बिना स्नान किये कुछ न खाया जाय। इस नियम के धा पहलू को एक तरफ रख इसके शारीरिक विज्ञान सम्मत पर ही इन पंक्तियों में कुछ लिखेंगे।

हम पीछे बतला चुके हैं कि स्नान द्वारा शरीर के प्रत्येक को नया रस और नया जीवन प्राप्त होता है। शरीर में पि २४ घण्टे में इकट्ठा हुआ सभी प्रकार का मल, स्नान और पूर्ववर्ती क्रियाओं द्वारा साफ हो जाता है और उसमें सभी वि को ग्रहण करने की एक नई योग्यता आजाती है। यह प्रभाव

अंगों के साथ मनुष्य के पाचक यंत्रों पर भी पड़ता है, जिससे उनमें भी अन्न ग्रहण की नई इच्छा जागृत होती है, इसी का नाम भूख है। यह इच्छा स्नान करने से जितने तीव्र रूप में जागृत होती है उतनी और किसी तरह नहीं। अतएव स्नान करके जब स्वाभाविक क्षुधा अच्छीतरह जागृत हो जाय तभी भोजन करना चाहिए। स्नान से पूर्व खाने में न वह अभिरुचि न आनन्द। मनुष्य खा अवश्य लेता है और अग्नि उसे पचाती भी है, किन्तु ऐसे भोजन से बना हुआ प्रभावहीन रस शरीर के लिए पूर्ण लाभकारी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त स्नान से पूर्व, जब हम कोई वस्तु खा लेते हैं, तो जाठराग्नि उसे पचाने के कार्य में लग जाती है। उसके बाद यदि आप स्नान करने लग जायें तो शरीर के शीतल हो जाने के कारण उदर में नानाविध रोग उत्पन्न होंगे और शरीर को कष्ट भोगना पड़ेगा। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने यह व्यवस्था की है, कि बिना स्नान कुछ खाया न जाय।

कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर स्नान से पूर्व भी खा लेना हानिकारक नहीं और न दोषावह ही, ऐसी वस्तुओं की गणना करते हुए स्मृतिकारों ने लिखा है—

इक्षुरापः पयोमूलं फलं ताम्बूलमौषधम्।
भुक्त्वा पीत्वापि कर्तव्या स्नानदानादिकाः क्रियाः॥

अर्थात्—गन्ने का रस, पानी, दूध, फल, मूल, पान और दवाई इन चीजों को खा पीकर भी स्नान दानादि क्रिया की जा सकती है। इस श्लोक में प्रतिपादित सभी वस्तुएँ अल्पकाल में ही पचने योग्य और जल प्राचुर्य से परिपूर्ण होने के कारण ही स्नान से पूर्व ग्रहण की जाने पर भी स्नान विघातक नहीं होतीं।

आसन-विज्ञान

प्रत्येक धार्मिक कार्य के अनुष्ठान में कर्ता के लिए अमुक २ आसन पर बैठना भी, शास्त्र में आवश्यक माना गया है यथा-

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) कृष्णाजिनमखण्डम् । (दयानन्दीय सं० विधि पृष्ठ १९)

(ख) आसीनासो अरुणीनामुपस्थे । (अथर्व १८ । ३ । ४३)

(ग) शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ६ । ११)

(घ) कास्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्तकम्बलम् ।
कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्षश्रीर्व्याघ्रचर्म्मणि ।
कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्रकार्य्या विचारणा ॥

(ङ) धरण्यां दुःखसम्भूतिर्दौर्भाग्यं दारुजासने ।
वंशासने दरिद्रः स्यात् पाषाणे व्याधिपीडनम् ॥
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
जपध्यानतपोहानिं वस्त्रासनं करोति हि ॥
(ब्रह्माण्ड-पुराणे तन्त्रसारे च)

(च) भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते ।
(अमृतनादोपनिषद् १८)

अर्थात्-(क) अखण्डित काला मृगचर्म्म [बिछाना चाहिए।]

(ख) ऊर्णा निर्म्मित आसन पर बैठे हुए (ग) पवित्र स्थान में स्थिर आसन जमाना चाहिये, जो न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, और रेशमी, मृगचर्म्म और कुशासन उत्तरोत्तर विछाये जाएं। (घ) काम्यकर्म्म में कम्बल का आसन—वह भी लाल हो तो श्रेष्ठ है। काले मृगचर्म पर ज्ञान सिद्धि प्राप्त होती है। व्याघ्रचर्म पर मोक्ष श्री प्राप्त होती है। कुशासन पर सब मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त होती है इसमें कुछ भी सन्देह की आवश्यकता नहीं। (ङ) खाली भूमि पर निरासन बैठने से दुःख, लकड़ी के आसन पर दौर्भाग्य, बांस के आसन पर दरिद्रता, पत्थर पर बैठने से रोग, घास-फूँस के आसन से अपयशः, पत्तों के आसन से चित्त में भ्रम और कपड़े के आसन से जाप ध्यान तथा तप की हानि होती है। (च) भूमि में दर्भ का आसन बिछाकर धर्म्मानुष्ठान करना सब दोष रहित है।

अन्यत्र ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, कि जिनमें आसन के बिना अमुक धार्मिक अनुष्ठान करना सर्वथा निषिद्ध किया गया है। मुसलमानों की नमाजी चटाई और ईसाइयों की प्रार्थना कुर्सी तो सभी जानते हैं, अन्यान्य पन्थवालों में भी कुछ न कुछ बिछाने की परिपाटी पाई जाती है।

वैज्ञानिक विवेचन

आसन, केवल कपड़े मैले होने से बचाने मात्र के लिये ही बिछाया जाता है—अहिन्दु लोगों में यह धारण भले ही बद्धमूल हो, परन्तु हिन्दु लोग तो इस कृत्य को भी धार्मिक अनुष्ठान का अनिवार्य अङ्ग समझते हैं; क्योंकि शास्त्र में—'अमुक तरह का आसन होना चाहिए और अमुक तरह का नहीं–ऐसी व्यवस्था

देखने में आती है, तथा आसन के न होने पर कर्मविघात भी उल्लेख मिलता है, सो यह विधान सुस्पष्ट आसन की धार्मिकता को सिद्ध करता है। अस्तु,

धार्मिक कृत्यों में आसन क्यों बिछाया जाता है। इसलि कि पृथ्वी अपने गुरुत्वाकर्षण के अनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों को अपनी ओर खींचती है, इसी कारण से ऊपर से गिरी प्रत्ये वस्तु धम्मसे पृथ्वी पर आ पड़ती है। कहा जाता है पाश्चात वैज्ञानिक न्यूटन ने ईसा की चौदहवीं शताब्दी में, एक सेव वृ से टूटकर नीचे गिरता देखा तो उसे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण क ज्ञान हुआ, परन्तु भारतीय ऋषि तो अरबों वर्षों से इससे परिचि थे—यह बात हमारी आसन व्यवस्था से भली भांति सिद्ध होत है। हां, तो पृथ्वी में रहने वाला आकर्षण भजन पूजा पाठ आदि धार्मिक अनुष्ठान करते हुए मनुष्य को प्रभावित न कर सके एतदर्थ पृथ्वी और अनुष्ठाता दोनों के मध्य में ऐसे पदार्थों क होना आवश्यक है, जो कि पार्थिव विद्युत् के संक्रमण को मान पिण्ड की विद्युत् के साथ संयुक्त न होने दे।

बड़े २ नगरों में जहां बिजली का प्रबन्ध होता है वहां सभ ने कई बार यह देखा या सुना होगा, कि अमुक व्यक्ति बिजली का तार छूने से मर गया। निःसन्देह यदि कोई व्यक्ति बिजली के खुले तार को पकड़ ले तो वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है परन्तु बिजली को फिट करने वाले व्यक्ति रात दिन उन तारों को छूते हैं तब भी उनका बाल बांका नहीं होता। क्या आ जानते हैं इसका कारण क्या है? कारण यह है, कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं, एक वे जिनमें विद्युत् प्रवाह प्रवे कर जाता है। जैसे—लोहा, पीतल आदि धातुएँ और ज मनुष्य पशु पक्षी आदि जीव। दूसरे ऐसे हैं जिन पर विद्युत क

कुछ भी प्रभाव नहीं होता, जैसे लकड़ी चीनी, मिट्टी, रबड़ आदि २ वस्तुएँ। जिन पदार्थों में विद्युत् प्रवाह संक्रान्त नहीं होता उन पहली श्रेणी के पदार्थों को वैदिक विज्ञान में अशुचि, और दूसरी श्रेणी के पदार्थों को 'शुचि' कहते हैं। पाश्चात्य भाषा में उन्हें कैन्डैक्टर=संक्रामक और नान कन्डैक्टर=असंक्रामक कहा जाता है।

सो, यदि लड़की आदि 'शुचि' पदार्थों पर खड़े होकर कोई बिजली के तार को छूए तो उसको कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि पृथ्वी आदि 'अशुचि' वस्तुओं पर खड़ा कोई मनुष्य बिजली से छू जाए तो बिजली का करन्ट मानवपिण्ड में प्रविष्ट होकर पृथ्वी पिण्ड में प्रवाहित होने लगेगा। इस तरह 'पावरहाऊस' और पृथ्वी के बीच में मानव पिण्ड माध्यम की दशा में आजाएगा, जिससे मानव पिण्ड का रक्त प्रवाह बिजली के करन्ट से प्रभावित होकर आवश्यकता से अधिक उद्वेलित हो जाएगा। जहां एक सौ छः डिगरी से अधिक मानव पिण्ड का तापमान हुआ कि वह मरा। परन्तु लकड़ी पर खड़े होकर तार छूने की दशा में विद्युत्प्रवाह मानव पिण्ड में प्रवेश करके लकड़ी के असंक्रामक होने के कारण पृथ्वी पिण्ड में नहीं जा पाता— किन्तु वापिस लौट जाता है, इसलिए मानवपिण्ड पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी वैज्ञानिक हेतु से भारतीय ऋषियों ने पूजा-पाठ के समय गोबर का चौंका, काठ का पटड़ा, कुशा का आसन, मृगचर्म, और अमुक २ अनुष्ठान में सिंह व्याघ्र के चर्म, ऊर्णानिर्मित आसन आदि जितने भी आसन बताए हैं, वे सब ही आज की भाषा में संक्रमणशून्य=नान कन्डैक्टर कहे जा सकते हैं। इस प्रकार पार्थिव विद्युत्प्रवाह अनुष्ठाता पुरुष के पांवों के मार्ग से उसके

पिण्ड पर कुछ भी प्रभाव न डाल सके, यही आसनों क वैज्ञानिक महत्व है।

बिजली के तारों को मिट्टी के बने आधार बोटों पर बांधना, या लकड़ी की फट्टियों के सम्पुटों में बन्द रखना, किंवा रब के खोल में लपेटना इसी आशय से अनिवार्य है, कि ये पदा नानकन्डैक्टर होने के कारण विद्युत् करन्ट को लोहे के स्तम्भों में, मकान की दीवारों में प्रविष्ट नहीं होने देते।

मृग, व्याघ्र सिंह चर्म ग्राह्य क्यों ?

(शास्त्रीय स्वरूप और विज्ञान)

मृगचर्म के आसन की पवित्रता का वर्णन वेद संहिता भा में आता है। वेद में लिखा है कि—

कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः। (यजुर्वेद)

अर्थात्—काला मृग चर्म सब पुण्यों का जनक है। 'वस्तु वैचित्र्यवाद' के अनुसार स्वभावतः ही मृगचर्म शुचि पदार्थों में अन्यतम है। हम 'शुचि अशुचिवाद' में भी इसको चर्चा कर आये हैं। मृगचर्म में ऐसी विद्युत् पाई जाती है कि जिसके सम्पर्क से बैठने वाले की कामेन्द्रिय शान्त रहती है। इस लिये सत्त्व गुण का उपार्जन करने वाले ब्रह्मचारी योगी यति और महात्मा लोग इस पर बैठते हैं। साथ ही यह प्रत्यक्ष देखने में आता है, कि अधिक बैठने वाले सेठ साहूकार और मुनीम, अर्श, भगन्दर कोष्ठ बद्धता, कोशवृद्धि आदि अनेक रोगों में से किसी न किसी के शिकार अवश्य हो जाते हैं, आयुर्वेद शास्त्र में मृगचर्म पर बैठने से अर्श (बवासीर) और भगन्दर का शान्त हो जाना लिखा है। यदि

साधक पहिले से ही इस आसन पर नित्य बैठना आरम्भ कर देगा तो अर्श आदि रोग उत्पन्न ही न होंगे। यह भी उक्त आसनका एक लाभ है।

मृगचर्म जहां सात्विक विद्युत् से परिपूर्ण है—व्याघ्र और सिंहचर्म वहाँ राजस विद्युत् से परिपूर्ण है। उस पर बैठने से ओज: बल पराक्रम वढ़ता है, इसीलिए भारतीय राजा लोग अभिषेक के समय से लेकर सदैव सिंहचर्म निर्मित आसन='सिंहासन' पर आसीन रहते थे। प्रत्यक्ष भी देखने में आता है कि खूब 'टं टं' बोलते हुए मृदङ्ग तबले ढोल या नगारे पर सिंह, व्याघ्र चर्म को छुआ दिया जाय तो वे पसीज कर ढम-ढम बोलने लग जाएँगे, अर्थात्—जैसे जीवनकाल में वीर सिंह की दहाड़ से उक्त भीरू जीवों का हृदय विदीर्ण हो जाता था, मरने पर भी चर्मों ने अपने २ स्वभाव का परित्याग नहीं किया। व्याघ्र और सिंह के आसन के निकट मच्छर, डांस विषैले-कोड़े, बिच्छू सर्प आदि जीव भी नहीं आ सकते, यह हमने स्वयं अनुभव किया है। इसलिए उक्त आसनों पर बैठकर समाधि लगाने में किसी विषैले जीव के निकट आने की आशंका नहीं रहती।

मृत्यु हो जाने पर भी स्वभाव न बदलने की बड़ी विचित्र विचित्र घटनाएँ लोक में देखने को मिलती हैं। कई मछली-भोजी सज्जनों ने हमें बतलाया कि मछली के मांस में एक कांटा रहता है, जो बहुत पकाने पर भी कैड़ा ही रहता है, अत: उसका गले में चुभ जाने का भी खतरा रहता है। उसके ठीक परिपाक के लिए मत्स्यभोजी उस हंडिया में एक बगुले की अस्थि डाल देते हैं, जिससे कांटे वाटे सब मिनटों में पसीज जाते हैं, इसका तात्पर्य यह हुआ, कि अस्थि सहित मछली को खा जाने वाले बगुले की मृत अस्थि में भी यह क्षमता बनी रहती है, कि

वह मछली के कांटे को पका डाले । उल्लू की आंख का अञ्जन रात में भी दीखने की शक्ति का उत्पादक है, रातौन्धा के रो में इसका उपयोग होता है । कच्छप की चर्बी में 'अकरकरा' मिलाकर लेप करने से अग्नि, बाधा नहीं पहुँचाती, बहुत से पाखण्डी पावों के नीचे लगा आग पर चलते हैं और अपनी सिद्धि की डींग हांका करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचना के अनुसार यह निश्चित हुआ, कि मृ व्याघ्र और सिंहचर्म के आसन जहां साधकों को ब्रह्मचर्य की संरक्षा में सहायक सिद्ध होते हैं, यहाँ अनेक शारीरिक रोगों से बचाने की भी सुनिश्चित गारन्टी करते हैं ।

कपड़ा कुर्सी पत्थर की शिला, वर्जित क्यों ?-

धार्मिक अनुष्ठानों के समय कपड़ा, कुर्सी और पत्थर की शिला का आसन की भांति उपयोग करना निषिद्ध है । कुर्सी ऊंची और यथेष्ट चौड़ी न होने के कारण जहां सिद्धासन सुखासन और पद्मासन आदि बैठने के धार्मिक ढङ्गों के अनुकूल नहीं वहां हवन आदि कृत्य के समय तो केवल वायुशुद्धि के निमित्त सामग्री झोंकने के काम को छोड़कर देव पूजन आदि किसी काम में आ ही नहीं सकती, क्योंकि ऐसा करने से देव शक्ति का अपमान भी होता है । वस्त्र का आसन बनाने वाले की दरिद्रता भरी पञ्चायत में प्रकट हो जाती है । जिसके यहां कुशा का चार पैसे का आसन भी न हो, किन्तु जिस कपड़े को ओढ़ता पहिनता हो उसी धोती अंगोछे कमीज को नीचे बिछाना स्व अपनी दरिद्रता का ढोल पीटना है, इसलिए कपड़े के आसन से दारिद्र्यफल का शास्त्रीय उल्लेख सुस्पष्ट ही है । शिलाखण्ड पर बैठने से रोग होजाना लिखा है, सो प्रत्यक्ष ही है, पत्थर गर्म

में बहुत गरम हो जाता है और सर्दी में बहुत ठिठुर जाता है। पत्थर का कड़ापन तो मूढ़ भी जानते हैं। सो यदि पूजा-पाठ में घण्टों कोई ऐसे आसन पर निरन्तर बैठेगा, तो निश्चित ही वह गुदा सम्बन्धी किसी रोग का शिकार बन जाएगा, साथ ही कपड़ा और पत्थर, पार्थिव विद्युत् से मानव पिण्ड को पृथक् करने की क्षमता भी नहीं रखते क्योंकि ये दोनों ही वस्तु (शुचि) = नान-कन्डैक्टर पदार्थ नहीं हैं अतः इनसे आसन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती।

—०—

अमुक दिशा को ही मुख क्यों ?

प्रातः संध्या पूर्वाभिमुख होकर और सायं सन्ध्या पश्चिमाभिमुख होकर करनी चाहिये, तथा देवकर्म्म पूर्व दिशा को, ऋषिकर्म्म उत्तर दिशा को और पितृकर्म्म दक्षिण दिशा को मुख करके करना चाहिए—ऐसी शास्त्रोंमें विधि पाई जाती है यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) प्राची दिगग्निरधिपतिः, दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः, उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः। (अथर्व ३। २७। १-४)

(ख) देवानामेषा दिग् या प्राची पितृणामेषा दिग् या दक्षिणा।

(ग) प्राचीं······दम्पती संश्रयेथाम्। दक्षिणां यमः पितृभिः। प्रतीचीं···श्रयेथां सुकृतः··· । दिशामुदीचीं··कृणवन्नो अग्रम्। (अथर्व १२। ३। ७-१०)

(घ) उत्तराभिमुखो भूत्वा···योगाभ्यासं स्थितश्चरन्।

(त्रिशिखी ब्राह्मणोपनिषद् १८-१

अर्थात्—(क) पूर्व दिशा का अधिपति अग्नि है, दक्षिण इन्द्र, पश्चिम का वरुण और उत्तर का सोम है। (ख) पूर्व दि देवताओं की और दक्षिण दिशा पितरों की है। (ग) [विव हादि कृत्यों में] जाया और पति पूर्व दिशा का आश्रय लें। और पितरों के कर्म में दक्षिण दिशा। [सायंकालीन सन् आदि] सुकृत उपार्जन में पश्चिम दिशा। और उच्चतम आद स्वाध्यायादि ऋषि कर्म्म में उत्तर दिशा प्रशस्त है (घ) उत् दिशा को मुख करके योगाभ्यास करे।

वैज्ञानिक विवेचन

अमुक दिशा की ओर मुख करके धार्मिक अनुष्ठान कर की व्यवस्था केवल सनातन धर्मी हिन्दुओं में ही नहीं है, अपि इसका कुछ न कुछ आभास आर्यसमाज और अन्यान्य अहि पन्थों में भी प्रायः पाया जाता है। आर्यसमाज की 'संस्कार विधि में प्रायः प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में पूर्वाभिमुख बैठने उल्लेख विद्यमान है। यथा—

(क) [जातकर्म्म संस्कार के समय] बालक का पित पूर्वाभिमुख बैठे। (संस्कार विधि पृष्ठ ५७)

(ख) [वेदारम्भ संस्कार के दिन] कार्यकर्ता पूर्वाभिमु बैठे। (सं० वि० पृ० ८७)

(ग) [समावर्तन में] पूर्वाभिमुख आचार्य बैठे। (सं० वि० पृ० ११२)

(घ) [विवाह संस्कार में] कन्या वर, पूर्वाभिमुख बैठें।

(सं०.वि० पृ० १३०)

मुसलमान काबा की ओर मुख करके ही अपनी मजहबी रसूमात अदा करना अनिवार्य समझते हैं, उनकी कबरें और मस्जिदें भी ठीक एक ही दिशा में बनाई जाती हैं, चांद भी वह केवल शुक्ला दूज का ही पूज्य समझते हैं, क्योंकि वह पश्चिम दिशा में उदित होता है। पूर्व में उदित हुआ पूर्ण चन्द्रमा भी उन्हें मान्य नहीं, यहाँ भी कट्टरता की पराकाष्ठा प्रकट करते हैं। ईसाइयों के गिरजाघरों का भी पूर्व दिशा में ही द्वार रहता है। जैन बौद्ध और पारसी भी प्रायः ऐसा ही मानते हैं।

यद्यपि अहिन्दू पन्थ अपनी मान्यता का कोई वैज्ञानिक हेतु बतलाने में असमर्थ हैं, क्योंकि उनके यहाँ तो केवल परम्परा=रूढ़ि ही इसका प्रधान हेतु कहा जा सकता है, परन्तु हमारे ऋषियों का मुसलमानों की भाँति किसी एक ही दिशा का निरर्थक आग्रह नहीं है, बल्कि उन्होंने तो वैदिक विज्ञान के अनुसार जो कार्य जिस दिशा में मुख करने से अनुकूल जान पड़ा उस कार्य में उसी दिशा का विधान किया, यथा—

प्रातःकालीन संध्या-वन्दन आदि कृत्यों में और संस्कार आदि धार्मिक अनुष्ठानों में पूर्व को मुख करने को इसलिये विधि है, कि ब्रह्ममुहूर्त से लेकर मध्याह्न तक सूर्य का आकर्षण सामने रहने से मानव पिण्ड के ज्ञान-तन्तु अधिक से अधिक स्फूर्ति-सम्पन्न रहेंगे जिससे दैवी गुणों के विकास के कारण हमारे ये धार्मिक अनुष्ठान प्रभावशाली सिद्ध होंगे।

पठन पाठन स्वाध्याय आदि ऋषिकर्म्मों में उत्तर दिशा को मुख करने का प्रधान हेतु यह है, कि आध्यात्मिक जगत् का एक

मात्र विश्वविद्यालय 'हिमालय' धर्म्म प्रधान भारतवर्ष से उ दिशा में विराजमान है। मानसरोवर और जमनोत्तरी से आ का भाग तथा गौरी शिखर आदि हिमालय की ऊँची चोटि इस अनेक साधन सम्पन्न विज्ञान युग में भी मानव स्पर्श अभी तक सर्वथा अस्पृष्ट बनी हुई हैं और बनी रहेंगी। क कालीदास के शब्दों में यह पवित्र पर्वत केवल पत्थरों का बेडौ ऊँचा टीला मात्र नहीं है, अपितु दैवी गुणों की प्रसव भूमि हो के कारण स्वयं भी 'देवात्मा' कहा जाता है। इसलिये ता आर्ष कर्म्मों के समय उसके सम्मुख रहने से मनोविज्ञान सिद्धा के अनुसार अनुष्ठाता के सामने भी ऋषियों के उच्चतम आद उपस्थित रहते हैं। अथ च चतुर्दश विद्याधिपति भगवान् म श्वर भी उत्तर में ही कैलाश पर्वत पर विराजते हैं। **'विद कामस्तु गिरिशं'** इस श्रुति के अनुसार शंकर की आराधना पूर्व विद्या ग्रहण करने के लिये विद्याधीश्वर महेश्वर के सान्नि में उत्तराभिमुख बैठकर ही तो सफल स्वाध्याय हो सकता है **'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः'**—के अनुसार समस्त विद्याओं अधिष्ठात्री भगवती जगदम्बिका का निवास भी उत्तर में ही है अतः पठन पाठन स्वाध्याय के लिये उत्तर दिशाभिमुख हो सर्वथा सुसंगत है।

पितृकर्म्म में दक्षिण दिशा में मुख करने का अभिप्राय: स्पष्ट है। वेदादि शास्त्रों में दक्षिण दिशा में चन्द्रमा से ऊपर कक्षा में पितृलोक की अवस्थिति मानी है, तदनुसार पितृ का अनुष्ठान दक्षिण में मुख करके करना स्वाभाविक ही है इसके अतिरिक्त पूर्व में मुख करने से सूर्य का प्रबल आकर्ष आहूत पितरों की आत्माओं के आगमन में अवरोधकार हो सकता है, इससे पितृकर्म्म में पूर्व में मुख करना प्रति

पड़ता है। उत्तर दिशा में मुख करने से—दक्षिण दिशा की ओर से पधारने वाले पितरों की ओर पीठ फेरकर बैठना वैसा ही अपमान जनक है, जैसा कि किसी समागत प्रतिष्ठित सम्बन्धी को आते देखकर पीठ फेर लेना माना जा सकता है। साथ ही 'ग्रहचक्र' और 'शिशुमार चक्र' की प्रगति पूर्व और पश्चिम दिशा के बीचों बीच रहती है, इसका भी, आहूत पितरों की सूक्ष्म आत्माओं पर प्रभाव पड़ता है। इसी हेतु से श्राद्ध के लिए कुतप='अपराह्ण' काल—श्रेष्ठ माना है, क्योंकि उस समय सूर्य रश्मियें अर्वाचीन हो जाती हैं। श्राद्ध में संन्यासी आदि ज्ञान-प्रधान चतुर्थाश्रमियों का भो इसी आशय से निषेध है, क्योंकि उनके पिण्डों में आहूत पितरों की आत्माएँ प्रविष्ट होती हुई संकोच करती हैं। इन सब कारणों से पितृकर्म्म के लिये दक्षिण दिशा को मुख करने की विधि है।

स्वामी दयानन्द जी ने अपनी 'संस्कार विधि' के समावर्तन संस्कार में समावृत ब्रह्मचारी द्वारा दक्षिण दिशा में मुख करके **'ओं पितरः शुन्धध्वम्'** यह मन्त्र बोलकर जल की भरी अञ्जलि भूमि पर छोड़नी लिखी है—इस इतिकर्तव्यता की कथित जीवित पितरों के श्राद्ध से कुछ भी संगति नहीं बैठ सकती, अतः यह विधि निःसन्देह मृत पितरों के तर्पण के उद्देश्य से ही यहाँ अङ्कित हुई है, सो यहाँ भी दक्षिण दिशा का विधान सुस्पष्ट है।

सायं सन्ध्या के समय सूर्य, पश्चिम दिशा में अस्त होने को होता है, अतः उस समय पश्चिम को मुख करना भी उन सब लाभों का हेतु होता है जो लाभ प्रातःकालीन सन्ध्या के समय पूर्व को मुख करने से प्राप्त होते थे। इस प्रकार हमारे यहाँ अमुक दिशा को मुख करने का विधान निर्हेतुक नहीं किंतु अनेक अटल कारणों से भरपूर है।

तिलक धारण क्यों ?

शास्त्रों में तिलक धारण भी एक आवश्यक धार्मिक कृ
माना गया है यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा धार्य्यं, भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम्।
उभयं चन्दनेनैव, ह्यभ्यङ्गोत्सवरात्रिषु ॥

(ख) शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्न मृतत्वमेति,
विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

(कठोपनिषत् २ । ६ । १६)

(ग) स्नानं दानं तपो होमो देवतापितृकर्म्म च ।
तत्सर्वं निष्फलं याति ललाटे तिलकं विना ॥
ब्राह्मणस्तिलकं कृत्वा कुर्य्यात्संध्याञ्च तर्पणम् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मा २६

अर्थात्—(क) ऊर्ध्वपुण्ड तिलक मृत्तिका से धारण कर
चाहिये, भस्म का त्रिपुण्ड्र और चन्दन का दोनों प्रकार
तिलक, अभ्यंग और उत्सव रात्री में धारण करना चाहिये। (
हृदय की एक सौ एक नाड़ी हैं उनमें से सुषुम्णा नाम की ना
मस्तक प्रदेश के सामने से निकलती है, उसके द्वारा ऊँचे
प्रस्थान करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है, शेष सबका प्राणोत्
के समय चारों ओर से उपयोग होता है। (ग) स्नान, दान, त

होम, देव और पितृकर्म्म सब निष्फल होता है यदि मस्तक में तिलक धारण न किया हो। ब्राह्मण को चाहिए कि वह तिलक धारण करके पश्चात् सन्ध्या तर्पण आदि कृत्य करे।

वैज्ञानिक-विवेचन

यद्यपि चन्दन, गोपी चन्दन, सिन्दूर, कुंकुम और भस्म आदि द्रव्यों का भी तिलक लगाया जाता है परन्तु मुख्य तिलक तीर्थों की पवित्र मृत्तिका को स्वच्छ करके जो तैयार किया जाता है–वह सात्विक और अनेक वैज्ञानिक लाभों से परिपूर्ण है, इसीलिए उपर्युक्त शास्त्र प्रमाण में भी उसे ही सर्व प्राथम्य दिया गया है। शुद्ध मृत्तिका में सर्वविध संक्रामक कीटाणुओं के विनाश की अद्भुत शक्ति सभी भौतिक विज्ञानवादी स्वीकार करते हैं, तत्तत् पदार्थों की पूतिगन्ध नामक सड़ांद को दूर करने का एक मात्र साधन='गन्ध गुण' केवल पृथ्वी में ही विद्यमान है।

साबुन, इतर, फिनैल आदि पदार्थ-अपनी उग्रगन्ध के कारण तत्तत् वस्तुओं में क्षणिक स्वच्छता का आभास चाहे प्रकट कर दें, परन्तु वास्तव में यदि सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र की सहायता से उन पदार्थों का निरीक्षण किया जाए तो वे मलिन-कीटाणुओं से तथैव क्लिन्न रहते हैं। इसलिए अब तो बहुत से पाश्चात्य विचारक भी यह घोषित करने लगे हैं, कि 'कांच और चीनी का प्याला यदि एक बार भी ओठों से 'टच' हो तो मनुष्य के थूक से सहस्रों कीटाणु उस पर जम जाते हैं' पानी से धोने पर या साबुन का प्रयोग करने पर भी वे नहीं मरते, मिट्टी और राख ही उनका समूल नाश करने के लिये सबसे सस्ता और सुलभ पदार्थ है। सो मृत्तिका के अधिक गुण वर्णन न करके हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं, कि लेपन द्रव्यों में यह सर्वोत्तम द्रव्य

है, फिर यदि वह तीर्थस्थानों की हो तब तो कहना ही क्या ? 'देश वैचित्र्यवाद' के अनुसार तत्तत् तीर्थों की मृत्तिका का सम्मिलित पिण्ड मानों अनेकविध शुचितामय परमाणुओं का पुञ्जीभूत संघात है। उसे विशाल भाल में धारण करने का अर्थ है—मानो हम अपने मस्तिष्क को पुनीत रखने के लिये एक सुदृढ़ प्राचीर तैयार कर रहे हैं। उपनिषद् के पूर्वोक्त प्रमाण में लिखा है कि सुषुम्णा नाड़ी हृदय से सीधी मस्तक के सामने ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक मानो ऊर्ध्वगति का संकेत चिह्न है।

यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि हमारे मन में जो संकल्प उठता है, वह सर्वप्रथम मस्तिष्क की धमनियों में ही प्रकम्पन करता है। मस्तिष्क के प्रकम्पन के अनन्तर ही वह तत्तत् इन्द्रियों को कार्यानुकूल होने को सज्जित करता है। सो हमारा मस्तिष्क जितना विकाररहित होगा, उतना ही हम प्रत्येक बात की वास्तविकता का शुद्ध परिशीलन कर पायेंगे। हमारे ज्ञान-तन्तुओं का विचारक केन्द्र भृकुटी और ललाट का मध्यभाग है। यह प्रायः सभी ने कई बार अनुभव किया होगा, कि जब कभी आवश्यकता से अधिक विचार करने का अवसर पड़ता है तो इसी केन्द्र में वेदना अनुभव होने लगती है। अतः हमारे महर्षियों ने ज्ञान तन्तुओं के केन्द्र-स्थान में ही तिलक धारण करने का विधान किया है। तिलक की महिमा के अविश्वासी लोग भी जब मस्तिष्क वेदना से पीड़ित होते हैं तब वे भी चन्दन उशीर आदि शीतल द्रव्यों का कलल मत्थे पर पोतने के लिये विवश होते हैं। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि यों तो शुक्र नामक धातु समस्त शरीर में ही परिव्याप्त है परन्तु उसका उरोज और मस्तक के स्थान से विशेष सम्बन्ध

है। इसीलिये युवापन को प्राप्त होने वाले बालकों के स्तनों में ग्रन्थी और मुखमण्डल पर विस्फोटक फुनसियें नवयौवन की प्रथम निशानी समझी जाती हैं। सो वीर्यसंरक्षा के निमित्त भी भाल-प्रदेशमें शुचितम मृत्तिकाको धारण करना परमावश्यक है।

जयहिन्द

सौभाग्यवश आज 'वन्दे मातरम्' और 'जयहिन्द' का पवित्र घोष आबाल वृद्ध भारतीय की जिह्वा पर विद्यमान है; परन्तु अभी तक भारत के कुछ सपूतों को यह ज्ञान नहीं है, कि जिस भारत या हिन्द की हम वन्दना और जय मना रहे हैं, वह भारत माता एक निर्विशेष मृण्मय पिण्ड ही तो है। फिर यदि हम नित्य उस माता की पवित्र रज अपने भाल पर धारण करके उसके गौरव के सामने नतमस्तक हों तो हमारा यह कृत्य मातृ-पूजा का ही तो एक सफल प्रदर्शन होगा! खेद का विषय है कि आज के स्कूल और कालिजों के विद्यार्थी एक ओर तो 'वन्दे मातरम्' और 'जयहिन्द' का घोष करतें हैं और दूसरी ओर उसी भारत माता की रज को सम्मान देने वाले व्यक्तियों को देखते ही 'ओल्डफैशन' कहकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। हमें प्रसन्नता है कि मद्रास प्रान्त के सज्जन बड़े-से-बड़े पदों पर अधिष्ठित होते हुये भी बड़े गौरव के साथ तिलक धारण करके केन्द्रीय धारा सभा के अधिवेशनों में जाते हैं, इससे उनका गौरव बढ़ता ही है। क्या हम आशा करें कि अन्य प्रान्त के सज्जन भी मद्रास के इन संस्कृति संरक्षकों का अनुकरण करके भारत के गौरव को चार चांद लगायेंगे।

मृत्तिका के बाद दूसरा स्थान यज्ञ भस्म का है, कुछ लोग जैसी-तैसी भस्म ही पोत लेते हैं—यह ठीक नहीं, क्योंकि स्मृति-ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जो कि सर्वसाधारण

भस्म को निन्द्य सिद्ध करते हैं। अतः यज्ञ भस्म ही लगानी चाहिए

चन्दन के गुण तो हकीम साहिब से ही पूछ लीजिए ! स
दर्द में वे आपको सन्दल के लेप करने का ही परामर्श देंगे। य
ठीक है, कि सन्दल का घिसना भी सरदर्द ही है परन्तु 'विष
विषमौषधम्'—सरदर्दी को दूर करने के लिए डबल सरदर्द
और खरीद लीजिए, सरदर्द शर्तिया दूर हो जायगा।

कुंकुम, हल्दी का ही चूर्ण होता है—जो नींबू के रस
भावित करने से लाल हो जाता है। हल्दी, संयोजक और त्वा
शोधन के लिए सर्वोत्तम पदार्थ है। आयुर्वेद में इसके अनेक गु
लिखे हैं। दाल-साग में इसे इसलिये नहीं डाला जाता, कि
अमुक भक्ष्य भोज्य पीले रङ्ग का बन जाए, क्योंकि दूध, रबड़ी
खीर, घेवर, बर्फी, पेड़ा आदि अनेक भक्ष्य भोज्य श्वेत रङ्ग
ही उपयोग में आते हैं। सब्जी आदि में हल्दी का उपयोग उस
संयोजक गुण के कारण ही होता है। अतएव तिलक में कुंकु
के उपयोग से त्वचा शुद्धि और मस्तिष्क स्नायुवों का संयोज
नैसर्गिक कहा जा सकता है।

मांग में सिंदूर क्यों ?

संधवा स्त्रियों को कुंकुम के अतिरिक्त खासकर सीम
(मांग) में सिन्दूर लगाना चाहिए। विवाह-संस्कार के समय ही
वर वधू के मस्तक में सिन्दूर लगाता है—यह शास्त्रीय प्रथ
प्रायः सब देशों में प्रचलित है।

श्री हनुमान् जी सिन्दूरी चोले में क्यों ?

अद्भुत रामायण में एक कथा प्रसिद्ध है, कि—श्री हनुमा
जी ने जगज्जननी श्री जानकी के सीमन्त में सिन्दूर लगा देखक
आश्चर्यपूर्वक पूछा—'माता ! आपने यह लाल द्रव्य मस्तक

क्यों लगाया है ?' श्री जानकी जी ने ब्रह्मचारी हनुमान् की इस सीधीसाधी बात पर प्रसन्न होकर कहा–'पुत्र ! इसके लगाने से मेरे स्वामी की दीर्घायु होती है।' श्रीहनुमान् जी ने यह सुना तो बहुत प्रसन्न हुये, और विचारा, कि जब अंगुली भर सिन्दूर लगाने से आयुष्य वृद्धि होती है तो फिर क्यों न सारे शरीर पर इसे पोतकर अपने स्वामी को अजर अमर ही बनादूं। वैसा ही किया। सब शरीर पर सिन्दूर पोतकर सभा में पहुँचे, तो भगवान् उन्हें देखकर इतने हंसे जितने कि शायद कभी न हंसे होंगे।

श्रीहनुमान् जी को माता जानकी के वचनों में इससे और भी अधिक विश्वास हुआ। कहा जाता है कि उस दिन से हनुमान् जी की इस उदात्त स्वामी-भक्ति के स्मरण में उनके शरीर पर सिन्दूर का चोला चढ़ाया जाने लगा। इस कथानक से यह सहज में ही समझ में आ जाता है कि त्रेतायुग में भी स्त्रियों के सीमन्त में सिन्दूर लगाने का शास्त्रीय विधान प्रचलित था। इसका क्या हेतु है ? प्रसङ्गवश यहाँ यह रहस्य प्रकट करना अनावश्यक न होगा।

(१) मांग में जिस स्थान पर सिन्दूर लगाया जाता है वह स्थान ब्रह्मरन्ध्र और अधिप नामक मर्म के ठीक ऊपर का भाग है! स्त्री के शरीर में यह भाग चूंकि पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल होता है अतः उसकी संरक्षा के लिये शास्त्रकारों ने सिन्दूर का विधान किया है। सिन्दूर में पारा जैसी अलभ्य धातु बहुत मात्रा में होती है। वह स्त्री शरीरस्थ वैद्युतिक उत्तेजना को ही कन्ट्रोल में नहीं रखता, बल्कि मर्मस्थान को बाह्य दुष्प्रभाव से बचाता भी है।

(२) सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यदि स्त्रियों के सीमन्त में अथवा भृकुटी केन्द्र में 'नागिन' रेखा पड़ी हो तो वे दुर्भगा रहती

हैं। कई बाल विधवाओं के सीमन्त स्थल में बालों की भंवरी=(आवर्त) प्रत्यक्ष देखी जाती है। सो इस दोष की निवृत्ति लिये सिन्दूर द्वारा उसे आच्छादन करना बताया गया है।

(१) काम-काज और बच्चों की संभाल में नित्य शिर न सकने वाली स्त्रियों के बालों में प्रायः जूं लीख आदि जीव पड़ जाया करते हैं, इनके हटाने की अमोघ औषधि भी पारद सो सीमन्त में सिन्दूर रहते उक्त जीवों का कुछ भी खतरा न रहता।

(४) स्त्रियों के भाल प्रदेश में सिन्दूर की विन्दु जहां सौभा का प्रधान लक्षण समझा जाता है वहां इससे सौन्दर्य भी जाता है। स्वामी दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में अपनी आदत से विवश होकर तिलक का भरपेट खण्डन किया है और जितनी लचर दलीलें हो सकती थीं वे सबकी सब वहां दे डालीं, परन्तु नगरकीर्तन के समय युक्तप्रान्त के समाजी पुरुष और सदैव सब प्राँतों की आर्य समाजिन स्त्रियें आज भी अपने भा को सनातनधर्म्म की इस छाप से उन्मुक्त न कर सकीं। पिछले कुछ दिनों से तो गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास और बंगाल आदि देशों की स्त्रियों के मस्तक में निरन्तर भालबिन्दु सजा देखकर पंजाब, पश्चिमी युक्त प्राँत और देहली तथा मारवाड़ प्राँत की स्त्रियों ने भी मस्तक में नित्य बिंदी लगाना अनिवार्य बना लिया है। सिनेमा की नटियें तक भी सौन्दर्य के इस चिह्न के अपनाने में अपनी लालसा का संवरण न कर सकीं।

तिलक की सार्वभौम विजय

जेल जाते समय तो बड़े २ कांग्रेसी लीडरों को—फिर चाहे मौलाना आजाद या स्वामी श्रद्धानंद ही क्यों न हों—बड़ी सज-धज के साथ तिलक से विभूषित किया गया। महात्मा गांधी का

एक लाल बिन्दी से विभूषित चित्र बाजार में सर्वत्र बिकता है। महामना मालवीय जी का तो शून्य मस्तक चित्र ढूंढना सर्वथा असम्भव ही है। क्या हम अपने राष्ट्र के कर्णधारों से पूछ सकते हैं कि यदि जेल के लिए प्रस्थान करते समय तिलक धारण गौरव की वस्तु है, तो फिर उसे यदि नित्य धारण किया जाय तो उसमें क्या आपत्ति है ? समाचार पत्रों वाले भी तिलक लगाने की जेलकालीन घटनाओं को तो मोटे २ शीर्षक देकर छापते थे, परन्तु अब माधवाचार्य को सतलिक देखकर 'चेमे गोइयें' करने लगते हैं, इस 'दुरंगी' का क्या कारण है ?

तिलक केवल भिखमंगे कहे जाने वाले ब्राह्मणों का ही चिह्न नहीं है अपितु भारत में तब तक कोई महाराजा ही नहीं बन पाता था, जब तक कि कोई तिलकधारी पुरोहित राज्याभिषक्त सम्राट् को तिलक न चढ़ादे। हिन्दू शास्त्रों में तो इस तिलक प्रथा को इतना महत्व दिया गया है, कि राज्याभिषेक समारोह का नाम ही 'राज्य तिलक' पड़ गया।

यवनकालीन विप्लव के समय जितने बलिदान शिखा सूत्र और तिलक की रक्षा के लिए हुए हैं, इतने अन्य किसी उद्देश्य के लिए नहीं। श्रीगुरु गोविन्द सिंह के पिता का अमर बलिदान तिलक यज्ञोपवीत की रक्षा के लिए ही हुआ था यह बात गुरु गोविन्दसिंह जी ने अपने 'विचित्र नाटक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में स्वयं लिखी है। यथा—

तिलक जयू ं राखा प्रभु ताका, कीन्हा बड़ा कलू में साका।

कहा जाता है कि अत्याचारी यवन लोग हिन्दुओं के जनेऊ को दांतों से काट डालते थे और मस्तक पर लगा तिलक चाट लेते थे, इसकी रोक थाम के निमित्त करारा जवाब देने के लिए

पंजाव में गुरु रामराय के समय में 'सुथरा' नामक सम्प्रदाय प्रादुर्भाव हुआ। ये लोग सूवर की तांत का जनेऊ पहि और विष्टा का तिलक लगाकर यवनों के सामने उन्हें चिढ़ाने लिए खूब घूमते थे। वे सूवर को अपने मजहब के अनु 'हराम' और 'बद' समझकर निकट नहीं आते थे इस प्र यवनों के अत्याचार को रोका गया।

शिखा बन्धन क्यों ?

समस्त धार्मिक अनुष्ठानों के आरम्भ में ग्रंथी लगाना सर्वथा आवश्यक माना गया है यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) यशसे श्रियै शिखा। (यजुः)
(ख) सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
(ग) गायत्रीमन्त्रेण शिखां बद्ध्वा।

अर्थात्—(क) यशः और लक्ष्मी=शोभा के निमित्त शि धारण करे। (ख) सदैव [द्विज] यज्ञोपवीत धारण करे, [अन्य हिन्दू] शिखा बाँधी रक्खें। (ग) [यथाधिकार] गा मन्त्र से शिखा बांधकर धार्मिक कृत्य करें।

वैज्ञानिक-विवेचन

शिखा के सम्बन्ध में इस ग्रंथ में अन्यत्र विस्तारपूर्वक लि गया है। यहां तो केवल इतना ही प्रसंग है कि संध्यावन्दन नुष्ठान आदि प्रत्येक धार्मिक कृत्य में आरम्भ में सर्वप्रथम शि

में ग्रन्थी लगानेकी अनिवार्य विधि है, यह क्यों ?—इसलिये कि-

आसन माला विवेचन के अनुसार पाँवों हाथों की भाँति, वातावरण से प्रभावित होने वाला मानव पिण्ड का पाँचवाँ अग मस्तक है। देखने में तो यह गोल मटोल है परन्तु आँख, नाक, कान आदि छेदों की भांति शिर में भी एक गुप्त द्वार है—जिसे 'दशम द्वार' भी कहते हैं। यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय (१ । ६ । १) में वर्णन आता है कि—

(क) अन्तरेण तालुके य एषः स्तन इव अवलम्बते स इन्द्रयोनिः । अत्र असौ केशान्तो विवर्तते, व्यपोह्यशीर्षकपाले ।

(ख) आन्तरो मस्तकस्योर्ध्वं शिरासन्धिसमागमः ।
रोमावर्तोऽधिपो नाम मर्मः सद्यो हरत्यसून् ॥

(अष्टाङ्गहृदय शरीरस्थान)

अर्थात्—(क) तालू के अन्दर जो स्तन सा लटकता दीख पड़ता है इसका नाम इन्द्रयोनि है, इसके ठीक समान सूत्र में कपाल स्थान पर जो रोम राशि है वह मर्म रक्षक है। (ख) मस्तक के ऊँचे अभ्यन्तर स्थान में जहाँ शरीर को समस्त शिराओं का समागम होता है उस स्थान के रोमों के आवर्त का नाम 'अधिप' है, जो बहुत मर्मस्थल है, जिसके उपद्रुत होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

सो उक्त गुप्त छिद्र==दशम द्वार की संरक्षा के लिये वैदिक विज्ञान के अनुसार यहाँ शिखा रखी जाती है, धर्म्मानुष्ठान के समय इस मार्ग से वातावरण, उपार्जित आध्यात्मिक शक्ति का विनाश न कर सके—एतदर्थ द्वारबन्द करने की भांति शिखा को

गांठ लगानी आवश्यक है। विद्युत् शास्त्र का यह अटल सि
है कि नोकीले पदार्थ विद्युत् शक्ति का भेदन कर देते हैं।
वह झटिति प्रविष्ट हो जाती है, वर्तुलाकार घेरेदार किंवा अ
पदार्थों पर वह सहसा संक्रान्त नहीं होती। सो शिखा में
लगाना, समाधि के समय अंगुष्ठ और तर्जनी के मेल से
बनाना, किंवा मुट्ठी बांधना ये सब क्रियायें पूर्वोक्त विद्युत् सि
पर आधारित हैं।

ऊँचे २ हिन्दू मन्दिरों के शिखरों पर नोकीली लोहश
लगाना भी आकाश से गिरने वाली बिजली के वेध को
के अभिप्राय से ही है। भारतीय ऋषियों ने मन्दिरों के शि
पर चक्र, त्रिशूल और कलश की आकृतियें बनाकर वर्तु
सिद्धान्त से बहुत लाभ उठाया है। इसलिये हमारा कोई प्र
मन्दिर बिजली के पात से भूमिसात् हुआ हो ऐसा इतिह
कोई प्रमाण नहीं मिलता। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ताओं ने
ऊँचे मीनारों पर विद्युत् पात की आशङ्का समझी तो उ
हमारे मन्दिरों की भाँति लोहशलाका लगाकर उसका
पिण्ड से सम्बन्ध जोड़ दिया। यह बात किसी भी ऊँची इ
पर लगी सींख और ऊपर से पृथ्वी तक लगी पत्ती से जा
सकती है। अस्तु,

शिखा बन्धन का हेतु—गुप्तद्वार, दशमद्वार, इ
अधिप और मस्तुलिंग आदि अनेक नामों से पुकारे जाने
उस स्थान की रक्षा करना है जो कि मानव पिण्ड में सब
मर्म स्थान माना जाता है। हमारे इस शिखाबन्धन का
प्रत्यक्ष फल है कि भारतीय ऋषियों के लिखे हुये 'दर्शन
आज भी उनके सही मस्तिष्क होने की साक्षी देते हैं।

कुशा धारण क्यों ?

सन्ध्या में बांये हाथ में दर्भ मुष्टि रखने का, अन्यान्य धार्मिक अनुष्ठानों में अंगुलियों में कुशनिर्मित पवित्री पहिनने का तथा जप में माला फेरने का और समाधि के समय तर्जनी और अंगुष्ठ की कुण्डलाकृति किंवा मुष्टिकाकृति बनाने का शास्त्र में उल्लेख मिलता है, माला आदि विषयों पर तो यथास्थान विचार किया जाएगा यहाँ कुशा के विषय में विचार किया जाता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) दर्भो य उग्र औषधिस्तं ते बध्नामि आयुषे।

(ख) नास्य केशान् प्रवपन्ति नोरसि ताडमाघ्नते
यस्मा अछिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म्म यच्छति ॥

(ग) दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेन ।

(घ) दर्भः परिपातु विश्वतः । (अथर्व १६।३२।१-१०)

(ङ) द्वौ दर्भौ दक्षिणे हस्ते वामे त्रीन् आसने सकृत्।
उपवीते शिखायाञ्च पादमूले सकृत् सकृत् ॥
(देवी भागवत ११।२०)

(च) अग्निस्सूर्य्यश्चन्द्रमा भूमिरापो, द्यौरन्तरिक्षं
प्रदिशो दिशश्च । आर्तवा ऋतुभिः संविदाना
अनेन मा त्रिवृताः पारयन्तु ॥ (अथर्व ५।२८।२)

अर्थात्—(क) कुशा=दर्भ तत्काल फल देने वाली महौषधि है।

उसे आयुवृद्धि के निमित्त धारण करना चाहिए। (ख) मनुष्य अछिन्नपर्ण दर्भ पहिनकर कल्याणान्वित होता है उस बाल नहीं झड़ते और नांही छाती में आघात पहुँचता है। (कुशा दैवी गुणों से उत्पन्न हुई है और यह दैवी वातावरण रोक-थाम की साधन है। (घ) दर्भ चारों ओर फैले वातावर =ऐटमास्फीयर=से सुरक्षित रखता है। (ङ) दायें हाथ अनामिका में दो कुशाओं से निर्म्मित पवित्री पहिननी चाहि और बांयें हाथ में तीन कुशा से बनी। एक कुशा यज्ञोपवीत में एक शिखा में और दोनों पांवों के नीचे एक रक्खे। (च) अ सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, दिशा, विदिशा ऋ और उनसे होने होने वाले गर्मी-सर्दी आदि प्रभाव रूप वातावरण से [पांव हाथ मस्तक] तीनों स्थानों की रक्षा उपायों द्वारा मुझे पार कीजिए।

वैज्ञानिक-विवेचन

कुशा की पवित्री हाथों में इसलिए पहिनी जाती हैं, कि पार्थिव विद्युत्-प्रवाह पांवों के मार्ग से मानव पिण्ड की सञ्चि आध्यात्मिक शक्ति को खेंचकर विनष्ट कर देता है और उसकी रो थाम के लिये पांवों के नीचे आसन बिछाना अनिवार्य है, इसीप्रकार अंतरिक्ष व्याप्त विद्युत्प्रवाह–जिसे आज की वैज्ञानि भाषा में 'ईथर' कहते हैं—भी मानव पिण्ड को चारों ओर निरन्तर घेरे रहता है। हमारे शरीर के पांच स्थानों द्वारा वह हमें प्रभावित कर सकता है–दोनों पांव, दोनों हाथ और मस्तक। क्योंकि हमारे शरीर के यही पांच अङ्ग अन्तिम भाग सो, प्रत्येक धार्मिक कृत्य में सिद्ध, पद्म, सुख जिसभी आसन बैठने का विधान है, उसमें दोनों पांव घुटने के नीचे दब जाते

ांव फैलाकर या टांग पर टांग रखकर बैठना हमारे यहां अनु-चत समझा जाता है; गुरु सन्निधि में और शिष्ट समाज में कोई ी सभ्य हिन्दू उपर्युक्त रीति से नहीं बैठेगा। जिस प्रकार ासन के प्रभाव से और पांव की अंगुलियां छुपाकर पांवों के ार्ग से हम अवाञ्छित बाह्य वातावरण से अपनी रक्षा कर ते हैं, ठीक इसी प्रकार हाथों के मार्ग से भी वह वातावरण में प्रभावित न कर पाए—अर्थात्—धर्मानुष्ठान द्वारा सञ्चित मारा आध्यात्मिक बल अपक्षीण न हो एतदर्थ कुश=घास र्मित पवित्रियें हाथों में धारण की जाती हैं।

हम पीछे कह आये हैं, कि दर्भ भी 'शुचि'=नान कन्डैक्टर दार्थ है, वह भी विद्युत्प्रवाह के संक्रमण में बाधक है। पूर्वोक्त द प्रमाणों में कुश धारण के तीन प्रधान लाभ आए हैं। १) कुश धारण से शिर के बाल नहीं गिरते (२) छाती में ाघात नहीं होता और (३) वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ता। ससे सहज ही में यह अनुमान किया जा सकता है, कि जप, जा, पाठ और अनुष्ठान के समय यदि हाथों द्वारा शरीर में विष्ट होने वाले 'ईथर' से आत्म-रक्षा न की जाय, तो इसका स्तिष्क और हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दिल और माग को विकृति निश्चित ही मृत्यु का मुख्य कारण है। इसी ए कुश धारण का मुख्यफल आयुष्य वृद्धि वेद ने बतलाया है।

वातावरण नई खोज में—

यहां यह समझ लेना भी आवश्यक होगा, कि आज के युग वातावरण का अस्तित्व और उसका अनिवार्य प्रभाव सभी ज्ञानिक स्वीकार करते हैं। थियासोफीकल सोसाइटी का यह धान सिद्धान्त है, कि—हर समय अनेक बुरी और भली

मृतात्माएँ मनुष्य को चारों ओर से घेरे रहती हैं, जब हम आत्माओं से प्रभावित होते हैं तो अच्छी २ बातें सोचते जब बुरी आत्माओं से आक्रान्त हो जाते हैं तब बुरे-बुरे करने लगते हैं।

पिछले दिनों अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने अपने वर्षों के अनुभव के बाद यह तथ्य प्रकट किया है, कि यदि प्रार्थना-स्थान या भले विचार जहां किए गए हों ऐसे वातावरण का चित्र लिया जाय तो वहां गाय, हाथी, कमल, सूर्य, चांद आदि शोभन वस्तुओं के चित्र अङ्कित और यदि शराब-खाने, वध्यशाला, द्यूत भवन और चोर की बैठकों का चित्र लिया जाय तो वहां कुत्ता, गधा, सूअर, शूलो, छुरे और कव्वे तथा गीधों से मिलती-जुलती शक्लें ये महोदय अपने इस विषय में इतने सिद्धहस्त हैं, कि वे भी खाली हाल का चित्र लेकर अपने यन्त्र की सहायता बता सकते हैं, कि इस हाल में अभी बुरी या भली कैसी बैठी थी और वह कैसी चर्चा कर रही थी।

संसार में सभी मतमतान्तरवादी अपने-अपने पन्थ के त्माओं के दर्शन करने जाया करते हैं, इसका यही होता है, कि एक आध्यात्मिक-शक्ति-सम्पन्न महात्मा के स्थान का वातावरण भी इतना पवित्र हो जाता है, कि पहुँचने पर कोई भी संसार सन्तप्त मनुष्य शान्ति अनुभव लगता है। भारतीय ऋषियों के आश्रमों का वर्णन यह बात सभी कवियों ने प्रकट की है कि वहां रहने वाले वैरी जीव—सिंह मृग, नकुल सर्प, आदि भी वैर त्याग

हैं। योग दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधाने सर्व-वैरत्यागः।

अर्थात्—जो अहिंसा का सच्चा उपासक होता है उसके निकट सम्पर्क में रहने वाले सभी प्राणी वैर का परित्याग कर देते हैं।

इतिहास में ऐसे बहुत दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं, कि अमुक पुरुष अमुक महात्मा को कामवश अपना शत्रु मानकर मारने चला, परन्तु वहाँ जाने पर वातावरण के प्रभाव से अपने ऐसे कुविचार पर बहुत पश्चात्ताप किया और महात्मा का सेवक बन गया। वाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है, कि वशिष्ठ को मारने के पक्के इरादे से वशिष्ठाश्रम में पहुँचे विश्वामित्र, सेवक बनकर लौटे।

इतने पर भी मूर्ख लोग यदि वातावरण,—जिसे यवनादिक 'कुर्रेहवाई' और आंगल भाषा वाले 'एटमास्फीयर' कहते हैं—को न समझ सकें, तो उन्हें यह तो समझ लेना ही चाहिये, कि आखिर रेडियो पर ये दूर २ देशों के संवाद और गाने बिना किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कैसे सुने जाते हैं?—सात समुद्र पार इंगलैंड, जर्मन और अमेरिका में भाषण-ब्राडकास्ट करता हुआ व्यक्ति तत्काल ज्यों का त्यों बोलता कैसे सुना जाता है? शायद इस प्रत्यक्ष दैनन्दिनो घटना के अस्तित्व में तो किसी बज्रमूर्ख को भी, आज के युग में सन्देह न हो, फिर ऐसा क्यों होता है—इसका प्रधान कारण यह समझ लेना चाहिये कि आँखों से न दीखने वाला एक 'ईथर' नाम का सूक्ष्म तत्त्व है, जो संसार में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है।

जैसे जलपूर्ण तालाब के उस किनारे से हिलाया हुआ पानी

तरंगित होता २ परले किनारे तक जाता है, ठीक इसी ईथर के किसी भी स्थल में किया हुआ शब्द समस्त कि व्याप्त हो जाता है। जहाँ जहां उसे पकड़ने वाले रेडियो विद्युत् यन्त्र होंगे वहां वहां ही वह प्रतिध्वनित हो उठेगा। 'ईथर' नामक पदार्थ कोई आधुनिक विज्ञान की नई खोज भारतीय ऋषियों ने तो—वायु और आकाश तत्त्व के संमिश्रण को आज 'ईथर' कहा जाता है उसके उत्पाद 'अहं तत्व' और उसके भी उत्पादक 'महत्तत्त्व' की भी पर को केवल जाना ही नहीं बल्कि उससे ब्रह्म तक पहुँचने का भी परिष्कृत कर दिया था।

बात बहुत बढ़ गई अतः हम पुनः मुख्य बात पर आते वातावरण के प्रभाव से बचने के लिए हाथ में कुश पवित्रियें धारण की जाती हैं।

धर्मानुष्ठान में ही बाधक क्यों ?—

कदाचित् यहाँ यह आशंका की जाए कि जिस वाताव बचने के लिए इतनी रस्साकशी की जा रही है वह पूजा समय ही हम से द्वन्द्वयुद्ध करने के लिये क्यों प्रस्तुत रहता अन्य समय में क्यों नहीं? कहना न होगा कि भजन पूजा धर्मानुष्ठान का तात्पर्य है—कि उस समय हम एक आध्या शक्ति का सञ्चय करने चले हैं, परन्तु जैसे विद्युत् उत यन्त्र (डैनुमा) के संघर्ष से इधर बिजली उत्पन्न हो और पृथ्वी आदि किसी संक्रमण शील पदार्थ के सम्पर्क से सा साथ नष्ट होती रहे तो दिनभर यन्त्र चलने पर भी साय एक भी बत्ती न जल पाएगी; ठीक इसीतरह यदि हम आदि उपासना के अनिवार्य अंगों की उपेक्षा करके आयु भी माला घिसा करें तो—कबीर जी के शब्दों में—

माला फेरत जग मुँवा फिरा न मन का फेर।
कर का मनका छोड़ कर मन का मनका फेर ॥

—अन्धेरे में डले ढोते व्यर्थ समय की हत्या के अपराधी बनेंगे। अन्य समय भी चौबीसों घण्टे वातावरण से हमारा संघर्ष बदस्तूर चालू रहता है और उसके ही प्रभावभूत—भूख, प्यास, निद्रा आदि शस्त्रों को हम, अन्न जल और शयन की ढाल से विफल करते रहते हैं—यह तो हुआ स्थूल शारीरिक प्रभाव; मनः बुद्धि अन्तःकरण पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को विफल बनाने के साधन हैं जप पूजा पाठ धर्मानुष्ठान! यदि वे साधन ही हम भली प्रकार न जुटा सके तो फिर हमारा त्राण कैसे होगा? इसलिये हाथों के मार्ग से मानव पिण्ड पर पड़ने वाले प्रभाव को रोकने के लिए कुश धारण का उपयोग है।

—०—

संध्या

द्विजाति मात्र को प्रतिदिन संध्या करनी चाहिए। स्त्री शूद्र आदि अन्यान्य सभी मनुष्यों को भी अपने २ अधिकार के अनुसार भगवदुपासना करनी चाहिए। वेदादि शास्त्रों में संध्या को नित्य कर्म माना है इसलिए उसके न करने पर प्रत्यवाय होना स्वाभाविक है। शास्त्र कहता है—

(क) अहरह सन्ध्यामुपासीत (वेद)

(ख) नोपतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्म्मणः ॥
(मनुः २। १०६)

(ग) उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसंध्या त्रिधा स्मृता॥
(घ) उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसंध्या त्रिधा स्मृता॥

अर्थात्—(क) प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिये। (ख जो द्विज प्रातः और सायं सन्ध्योपासन नहीं करता वह शूद्र क भांति समस्त द्विज कर्मों से बहिष्कार करने योग्य है। (ग) प्रातः काल की सन्ध्या तारागण के अस्त होने से पूर्व की जाए त उत्तम है, सूर्य निकलते समय मध्यम और सूर्य के चढ़ जाने प कनिष्ठ मानी जाती है। (घ) सायं सन्ध्या सूर्य रहते २ की जा तो उत्तम सूर्य डूबने पर मध्यम और तारे निकल आने प कनिष्ठ समझनी चाहिये।

सन्ध्या से श्वास क्रिया का नियमन

सन्ध्या हमारी अहोरात्रचर्या का मुख्य अंग है। **'विप्रो वृ स्तस्य मूलञ्च सन्ध्या'** कहते हुये शास्त्रकारों ने उसे द्विजाति क लिए 'जीवन का मूल' स्वीकार किया है। उसमें लौकिक औ पारमार्थिक श्रेय की ऐसी प्रक्रियाओं का सम्मिश्रण है कि य उसे स्वास्थ्य, शक्ति, मेधा और दीर्घ जीवन की कुञ्जी कह तो अनुपयुक्त न होगा। इससे भी अधिक सन्ध्या का प्रमुख उद्दे हमारी उस श्वास प्रक्रिया का नियमन है जो हमारे जीवन क वास्तविक मूल है।

शास्त्र में जैसे भोजनादि की विधि लिखी है, वैसे ही श्वा लेने का भी विधान अंकित है। भगवान् ने सर्वाङ्गपूर्ण मानवपि

में न तो अनावश्यक कोई अंग अधिक लगाया है और नांही न्यून होने दिया है। जिस प्रकार घड़ी की प्रत्येक कील परमावश्यक है, इसी प्रकार मानव-पिण्ड का एक-एक रोम भी परमावश्यक है। यही कारण है कि एक रोम के भी समूल नष्ट हो जाने पर बालतोड़ जैसी भयंकर व्याधि उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में विचारणीय होगा कि मनुष्य की नाक में दो छेद क्यों है ? अर्थात्—नासिका के मध्य में दीवार सी खड़ी करके उसे दो भागों में क्यों बांटा गया है ? क्या एक ही छेद रहने की हालत में श्वास वायु का गमनागमन सम्भव नहीं था ? कहना न होगा कि इसमें कुछ रहस्य अवश्य है।

प्राकृतिक रीति से मनुष्य को एक अहोरात्र में २१६०० श्वास लेने चाहियें, और वे भी गरमी और सरदी की ऋतु के अनुसार दाएँ वा बाएँ अमुक छेद से अमुक-अमुक व्यवस्था के अनुसार। शास्त्र में लिखा है कि—

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यात्मकं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(योग चूड़ामणि उपनिषद् ३४।९३)

अर्थात्—एक अहोरात्र में जीव इक्कीस हजार छः सौ बार 'सोऽहम्' मन्त्र का जाप करता है।

स्वरशास्त्र में नाक के दायें छेद का नाम सूर्य और बायें छेद का नाम 'चन्द्रमा' कहा गया है। ये दोनों छेद 'यथा नाम तथा-गुणः' के अनुसार क्रमशः गर्मी और ठण्डक पहुँचाने के साधन हैं। आज के मानव समाज को यह मालूम भी नहीं कि कब किस नासाछिद्र से श्वास लेना चाहिए। परन्तु हमारे पूर्वज दिन-रात

में तीन बार श्वास प्रश्वास क्रिया को ठीक किया कर श्वास प्रश्वास प्रक्रिया की साधना का ही धार्मिक नाम 'स है। यद्यपि सन्ध्या में आचमन सूर्योपस्थान भगवत्स्मरण आदि अन्यान्य भी कई लाभप्रद अनुष्ठान किये जाते हैं सन्ध्या का मुख्य तत्त्व प्राणायाम है। अन्यान्य सब विधियें एक मुख्य तत्त्व की पोषक विधियें हैं।

सन्ध्या से आयुष्य वृद्धि

शास्त्रों में यह बात डिण्डिम घोष के साथ व्यक्त की गई

'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' (मनु

अर्थात्—दीर्घकाल तक सन्ध्या=प्राणायाम के अनुष्ठा ऋषि लोगों ने दीर्घ आयु को प्राप्त किया।

हम पीछे कह चुके हैं, कि एक स्वस्थ मनुष्य को अहो में इक्कीस हजार छः सौ श्वास आने चाहिएँ। यदि कोई अधिक श्वास लेता है तो समझो उसी आधिक्य के अनुपा वह अपनी आयुः को क्षीण कर रहा है। किन २ चेष्टाओं श्वासों की मात्रा अधिक होती है? अनुभवी योगियों ने इ भी एक मापदण्ड निश्चित किया है।

स्थितस्य द्वादशश्वासाश्चलतोऽष्टादशः स्मृताः।
चतुर्विंशति सुप्तस्य, त्रिंशद् ग्राम्य-रतस्य च॥

अर्थात्—**बैठे बारह, चलत अठारह, सोते जाएँ चौबीस।**
मद्य मांस मैथुन सेवन में, श्वास निकलते तीस॥

यहां सभी सज्जनों को यह जिज्ञासा हो सकती है, कि भी मनुष्य सर्वथा और सर्वदा बैठा ही रहे यह बात कभी भ

नहीं—अन्य रोजगार धन्धे के लिये न सही, कम से कम शरीर यात्रा के लिए आवश्यक–शौच स्नानादि के निमित्त तो दौड़धूप करनी ही होगी; ऐसी दशा में आयुः क्षीण हो जाने के भय से पाषाण प्रतिमा की भांति निरे निठल्ले पड़े रहने से तो कार्यं करते मर जाना कहीं अच्छा है। कहना न होगा कि शास्त्रों ने इस समस्या पर भी पूरा २ विचार किया है। अवश्य ही मनुष्य को शरीर यात्रा के लिए आवश्यक दौड़-धूप करनी चाहिये और नियमानुसार सोना तथा विधिवत् सन्तान भी उत्पन्न करनी चाहिए। निश्चित ही यह सब काम करते हुये श्वासों की मात्रा अधिक होगी परंतु सर्वसाधारण के लिए यह सब अनिवार्य है। ऐसी दशा में श्वासों के आधिक्य के कारण होने वाली आयुष्य की उस क्षति को पूरा करने का अमोघ उपाय महर्षियों ने सन्ध्या=प्राणायाम ढूंढ निकाला था। शरीर यात्रा के निमित्त की जाने वाली अनिवार्य दौड़-धूप जन्य आयुः-क्षीणता की पूर्ति मनुष्य सन्ध्या द्वारा कर सकता है। अर्थात्—अनिवार्य लोक-यात्रा में जितने अधिक श्वास प्रश्वास चलेंगे उतने ही त्रिकाल सन्ध्या में प्राणों का नियमन करने के कारण पूरे हो जायेंगे—इस तरह साधारण जीवन बिताने वाले व्यक्ति का भी का आयुः-स्तर सौ वर्ष से कम न हो सकेगा। जो व्यक्ति अष्टाङ्गयोग=समाधि का अभ्यास करेंगे वे तो अपने परिश्रम के अनुसार सहस्रायुः किंवा यथेच्छ चिरञ्जीवी, स्वछन्दमृत्यु अथ च अजर अमर तक हो सकेंगे। जैसा कि हमने अपने अन्य ग्रंथ 'पुराण दिग्दर्शन' के आयुनिर्णय प्रकरण में सिद्ध किया है। इसलिये सन्ध्योपासन दीर्घायुष्य प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

सन्ध्या से पारलौकिक लाभ

पूर्वोक्त विवेचना के अनुसार सन्ध्या से जहाँ अनेक रोगों की

निवृत्ति, पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति और दीर्घायु का लाभ हो
है, वहां विधिवत् प्राण त्याग कर सकने की योग्यता प्राप्त
जाने के कारण पुण्य लोकों की प्राप्ति अथ च मोक्ष पद त
की भी प्राप्ति हो सकती है।

शास्त्रों का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है, कि मानव पिण्ड
जो प्रत्यक्ष नौ छिद्र हैं उनमें उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों ऊपर-ऊपर
छिद्र से मृत्यु के समय प्राण जायेंगे त्यों-त्यों उत्तम लोक
प्राप्ति होगी। शास्त्रवेत्ता पुरुष मुमूर्षु व्यक्ति के अन्तिम प्रया
को देखकर एक हद तक यह जान सकता है, कि यह प्रा
दुर्गति को प्राप्त होगा या सुगति को ? यदि मृत्यु के सम
मुमूर्षु का महामल गिर गया है–जिसकी दुर्गन्ध से सब स्था
ही भर गया है—तो समझ लेना चाहिए कि प्राण गुदा के मा
से निकले हैं अतः यह अधोगति को प्राप्त होगा। इसी प्रका
मूत्र निकलने से मूत्रेन्द्रिय द्वारा महा प्रयाण का अनुमान कि
जा सकता है, इसे दूसरी कोटि की अपमृत्यु कह सकते हैं। इ
प्रकार मुख खुला रहने से तीसरी कोटि की, नाक से प्राण जा
पर चौथी कोटि की और नेत्र खुले रहने से पांचवी कोटि
आदि-आदि मृत्यु समझनी चाहिये।

शास्त्रों में कपाल-स्थानीय 'ब्रह्मरन्ध्र' नामक स्थान को दश
द्वार=गुप्त दर्वाजा बताया है, यदि इससे प्राण निकलें तो व
जीव '**न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते**' के अनुसार मोक्षपद
प्राप्त हो जाता है। इस तत्त्व को एक लौकिक दृष्टान्त द्वारा इ
प्रकार समझना चाहिये। जैसे कोई राजा सुदृढ़ दुर्ग बनवा
है; उसमें अनेक बड़े-बड़े द्वार होते हैं, परन्तु एक गुप्त द्वार=
सुरंग भी होती है। कभी कोई शत्रु आक्रमण करे, तो दुर्ग में बै
हुआ राजा शत्रु के प्रहारों को अनेक उपायों से विफल कर

हुआ आत्मरक्षा करता है, परन्तु कभी शत्रु का बल अधिक हो जाय और वह दुर्ग को घेरकर छिन्न भिन्न कर डाले और उसमें आग लगा दे, तो दुर्गस्थ राजा किले की रक्षा असम्भव समझकर उसके व्यामोह को छोड़कर सुरंग के गुप्त द्वार से निकल भागता है। यदि मूर्खतावश वह ऐसा न कर सकेगा तो फिर किले के विनाश के साथ उसे स्वयं भी शत्रु द्वारा पकड़ा जानेपर अनेक निगड़ यातनाओं का भाजन बनना होगा।

ठीक इसी प्रकार जीवात्मा रूप राजा, देह रूप सुदृढ़ दुर्ग में रहता है। मृत्यु रूप शत्रु अनादि काल से इसके पीछे पड़ा है। वह क्षुधा पिपासा रोग आदि अनेक महास्त्रों का प्रयोग करता हुआ इस शरीर रूप दुर्ग को विनष्ट करना चाहता है, परन्तु जीव रूप राजा,—अन्न, जल, औषधि रूप महास्त्रों के प्रयोग से शत्रु के आक्रमण को विफल करता हुआ आत्मरक्षा करता रहता है। अवसर पाकर जब कभी रोग आदि मृत्यु के दूत देह रूप किले को बेतरह घेरकर काबू कर लेते हैं और १०५ डिग्री ज्वर रूप अग्नि किले को भस्मसात् किये डालती है तब यदि जीव रूप राजा देह रूप किले के व्यामोह को छोड़कर दशमद्वार=सुरंगद्वार—कपाल मार्ग से भाग निकले—महाप्रयाण करे—तो फिर वह मृत्यु रूप शत्रु का कैदी न बनकर मुक्त हो जाएगा—जन्म मरण रूप अनेक जेल यातनाओं का भाजन नहीं बनेगा। दुर्भाग्यवश कदाचित् जीव रूप राजा दशम द्वार से आने जाने का अभ्यासी न हो अथवा समय पर चौंकड़ी चूक जाए तो फिर समझ लेना चाहिए, कि सुर दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी यह हतभाग्य जीव—पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' के वक्र चक्र में पड़ गया है।

अब पाठकों को स्वभावतः यह जिज्ञासा हो सकती है कि—

'दशम द्वार से प्राण जाएँ'—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए है क्या करना चाहिये ?—इस प्रश्न का विस्तृत समाधान त प्रसङ्गानुसार श्राद्ध विवेचन प्रघट्ट में किया जाएगा, परन्तु य उक्त उद्देश्य की पूर्ति के अन्यतम प्रमुख साधन प्राणायाम क कुछ परिचय करा देना निरवकाश न होगा। वस्तुतः सन्ध्या= प्राणायाम वह दैनिक अभ्यास है, जो कि महा प्रस्थान के समय प्राणों का निरोध करके उन्हें ऊर्ध्व गति बनाने में काम आता है। जैसे सैनिक लोग युद्ध न होने के दिनों में भी नित्य चंक्र मण=कवायद—परेड=चाँदमारी करते रहते हैं और अभ्यास बढ़ाने के लिये समय-समय पर कृत्रिम युद्ध भी करते हैं—तभी वे युद्ध के मोर्चे पर शत्रु से लोहा लेने में समर्थ होते हैं। यदि वे नित्य निरन्तर ऐसा अभ्यास न करें तो वास्तविक समय प कभी सफलता प्राप्त न कर सकेंगे। ठीक इसी प्रकार सन्ध्या= प्राणायाम को भी शास्त्रकारों ने न केवल नित्य कर्म्म कोटि मे परिगणित करके इसे अनिवार्य अनुष्ठेय कृत्य ही घोषित किया है, अपितु इसको एक दिन भी न करने से 'प्रत्यवाय' भी माना है। जैसे परेड में अनुपस्थित सिपाही दण्डनीय समझा जाता है इसी प्रकार मन्वादि स्मृतियों में सन्ध्या विहीन द्विज भी 'शूद्रवत् बहिष्कार्यः' कहा गया है।

सन्ध्या के मुख्य कर्म

यदि हम सन्ध्या के समस्त अनुष्ठेय कर्म्मों और उनकी 'क्यों ?' लिखने लगें तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन जाए, इसलिये केवल मुख्य-मुख्य अनुष्ठेय कर्म और उनके तादृश होने के कतिपय हेतु ही यहाँ प्रकट किये जाते हैं,—सन्ध्या के मुख्य कृत्यों का संग्रह श्लोक है कि—

संकल्प आसनविशोधनमम्बुपानं,
प्राणावरोधनमघक्षयताऽभिषेकः ।
सौत्रामणीसवनसावभृथार्घ्यदानं
सन्ध्याविधिर्निगदितो मुनिभिः पुराणैः ॥

अर्थात्—संकल्प, आसन शोधन, आचमन, प्राणायाम, नित्य कृत पापक्षयार्थ अपामुपस्पर्श, अवभृथ, अघमर्षण, सूर्यार्घ्य और सूर्योपस्थान ये-सब सन्ध्याकी विधियें पुरातन मुनियों ने कही हैं।

संकल्प क्यों ?–

प्रत्येक धर्मानुष्ठान के आरम्भ में संकल्प परमावश्यक है—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । मनुस्मृति (२।३) में लिखा है कि—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रता नियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥

अर्थात्—समस्त कामनाएँ संकल्प मूलक ही हैं। सब यज्ञ सङ्कल्प के अनन्तर ही सम्पन्न होते हैं, व्रत उपवास और सन्ध्या आदि समस्त धर्म्मानुष्ठान संकल्प जन्य हैं ।

हम सिद्धान्ताध्याय के 'भावनावाद' प्रघट्ट में यह सिद्ध कर चुके हैं, कि मानव जीवन पर भावनाओं का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है । सङ्कल्प भी अनुष्ठेय कर्म्म की साधना के प्रति साधक की भावना का ही मूर्त रूप है, जिसके अनुष्ठान से साधक अपने क्रियमाण कर्म्म के प्रति सर्वतोभावेन कटिबद्ध हो जाता है। आज के जड़वादी जगत् में भी सभी देशों की

राष्ट्रीय संसदों के पदाधिकारी पद ग्रहण करने से पूर्व किसी भी श्रद्धास्पद तत्त्वका नाम उच्चारण करते हुये 'श लेते हैं। कहना न होगा कि प्रकारान्तर से यह भी स प्रणाली की परम्परा का ही निर्वाह है।

हमारे यहाँ 'शपथ' उठाना बहुत जोखों भरा काम स जाता है। इसलिये उसे प्राणों पर आ बनने की दशा में यथा कथञ्चित् कोई अगत्या उठाने को विवश हो सकता है। साधारण तो बड़ी से बड़ी हानि उठाकर भी—झूठे की कहे—सच्चा नेम करने को भी उद्यत नहीं होता। और अमुक कारण वश एक बार शपथ उठाली तो फिर—'र रीति सदा चली आई। प्राण जाएँ पर वचन न जाहीं।'—के आद नुसार अवसर पड़ने पर स्वयं हँसते २ प्राणों पर खेल महाराजा दशरथ इसका सुप्रसिद्ध निदर्शन हैं परन्तु लोगों ने शपथ ग्रहण को भी एक रस्मी कार्य्यवाही मात्र स रक्खा है। देश धर्म्म और अपने मतदाताओं के प्रति वफा की शपथ उठाने वाले वे राष्ट्रीय संसदों के सदस्य जनमत अवहेलना कर जनविरोधी कानून की सृष्टि करने में बिल नहीं हिचकते।

इसलिये हमारे यहाँ मानव सुलभ निर्बलताओं को ध्या रखते हुए 'शपथ' जैसी अवश्य पालनीय प्रथा के लिए भी 'ऐरे गैरे' को अवसर नहीं दिया जाता। किन्तु शप बजाए प्रतिज्ञा को कार्य्यान्वित करने की निर्दुष्ट प्रणाली— प्रथा का ही विधान किया गया है। शपथ उठाना एक अप सूचक प्रथा है उसे वही व्यक्ति उठाता है, जिसकी कि ईमान में सर्व साधारण को सन्देह हो। और वह इस कठिनतम व्या द्वारा विश्वास दिलाना चाहता हो। परन्तु सङ्कल्प प्रथा प्रणाली के सर्वथा विपरीत वह अनुष्ठान है कि जिसमें

अमुक अनुष्ठेय कर्म्म के प्रति अपनी दृढ़निष्ठा और आत्म-विश्वास की भावना से ताजा दम होकर कर्तव्य पालन में संलग्न हो जाता है ।

सङ्कल्प की सबसे बड़ी विशेषता है–आर्य जाति के इतिहास की परम्परा की सुरक्षा । वैदिक काल से सङ्कल्प का इसी प्रकार प्रयोग हो रहा है और उसमें प्रतिदिन हमारे जीवन की एक कड़ी और जुड़ जाती है । आप जानते हैं हमारी जीवन शृंखला कितनी लम्बी बन चुकी है ? आप प्रतिदिन प्रत्येक कार्य के आरम्भ में सङ्कल्प को दोहराते अवश्य हैं, परन्तु आप में से बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं—जिन्होंने उसके अर्थ गाम्भीर्य पर ध्यान दिया है । जब जल हाथ में लेकर आप कहते हैं—

ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणोऽह्नि द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे अष्टादशोत्तरद्विसहस्रतमे वैक्रमाब्दे……आदि २ ।

इसका सीधा तात्पर्य हुआ कि आप अपनी उस चिरन्तन सत्ताका स्मरण करते हैं, जिसका कि प्रादुर्भाव इस धरातल पर आज से १ अरब ९७ करोड़ २९ हजार ६२ वर्ष पूर्व हुआ था । यह आर्य जाति की ही विशेषता है, कि वह इतने लम्बे समय से अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ जीवित है । इस विस्तृत धरातल पर इतने समय में सहस्रों जातियाँ उत्पन्न हुईं और विनष्ट हो गईं, आज भी जो जीवित हैं उनकी सत्ता दो तीन हजार वर्ष से अधिक की नहीं है । क्या ईसाई, क्या मुसलमान, पारसी, यहूदी, ग्रीक और रोमन, सभी का प्रारम्भ तो अधिक से अधिक ३ हजार वर्ष पूर्व हुआ है । किन्तु हमें गौरव है कि हमारे पूर्वजों ने आज से करोड़ों वर्ष पूर्व सांस्कृतिक जीवन की जिस परम्परा

को प्रारम्भ किया वह आज भी अक्षुण्ण है। सन्ध्या वन्द सभी धार्मिक कृत्यों के समय संकल्प को बोलकर हम परम्परा के इतिहास को दोहराते हैं।

इसके अतिरिक्त ,सृष्टि को बने हुए कितने वर्ष हुए'-यह आज, जब कि दुनिया के वैज्ञानिकों और विचारकों के उलझी हुई पहेली बना हुआ है और वे इसके बारे में तरह की अटकल लगाकर दिमागपच्ची कर रहे हैं, तब सन्ध्याव करने वाले एक साधारण हिन्दू के पास संकल्प के रूप में प्रश्न का नितान्त स्पष्ट और सच्चा रिकार्ड विद्यमान है- कम आश्चर्य की बात नहीं है।

संकल्प में जल ग्रहण क्यों ?

वेदादि शास्त्रों में जल उपस्पर्श पूर्वक ही संकल्प करने विधान इसलिये है क्योंकि जल में वरुण देव का आवास है उसके साक्ष्य में जो प्रतिज्ञा की जाएगी उसका निर्वाह न पर वरुणदेव प्रतिज्ञा पालन न करने वाले को को दण्ड दे वेद कहता है कि—

(क) अप्सु वै वरुणः। (तैत्तिरीय १।६।५।
(ख) अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति।
(तैत्तिरीय १।७।२।६)

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक दृष्टि से जैसे हमारा मन भुक्त अन्न परिणाम है इसी प्रकार—'आपोमयाः प्राणाः' इस वेद प्रमाण अनुसार प्राण शक्ति भी पीये हुए जल का ही अन्तिम परिणाम सो प्रत्येक कर्म्म के अनुष्ठान में प्राणशक्ति के प्राबल्य की अति

आवश्यकता है, इसीलिये कर्म्म से विरक्त हुवे अकर्म्मण्य भीरु मनुष्य को कहा जाता है, कि 'इसके प्राण सूख गये'। सो प्राण-शक्ति के जनक जल का उपस्पर्श करके साधक अपने आपको महाप्राण अनुभव करता हुआ अनुष्ठेय कर्म्म की साधना में सुतरां प्रवृत्त होता है। साथ ही सन्ध्या, तर्पण, यज्ञ, हवन, तप आदि सभी धर्म्मानुष्ठानों में जल की नितान्त आवश्यकता होती है। हमारे यहां मुसलमान ईसाई आदि आधुनिक मत वालों की भांति सूखी–जलशून्य उपासना नहीं होती। आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी कल्पित सन्ध्या में सङ्कल्प और विनियोग आदि वैदिक विधियों का तो परित्याग कर दिया था, परन्तु आचमन और अङ्ग प्रोक्षण में तो जल की अनिवार्यता लिखी थी, परंतु दयानन्दानुयायी समाजी तो नमाजियों की भांति जलशून्य सूखी सन्ध्या का सूखा शंख फूंकते हुए रही-सही वैदिक मर्यादा को भी तिलाञ्जलि देने लगे हैं। सो उपर्युक्त कारणावली का मनन करते हुए आस्तिक जनों को अपने समस्त धार्मिक अनुष्ठान जलोपस्पर्शपूर्वक सङ्कल्प से ही आरम्भ करने चाहियें, जिससे संकल्प के निमित्त प्रथम ही जल की विद्यमानता हो जाने पर आगे का समस्त क्रिया-कलाप सुचारु रूप से चलता रहे।

तीन आचमन क्यों?

प्रायः प्रत्येक धर्म्मानुष्ठान के आरम्भ में और खासकर सन्ध्योपासन में बीच-बीच में कई बार तीन आचमन करने का शास्त्रीय विधान है, यथा—

त्रिराचमेदपः पूर्वम् (मनुः—२६०)

अर्थात्—सर्व प्रथम तीन आचमन करने चाहियें । आ
करने से जहां कायिक मानसिक और वाचिक त्रिविध पापों
निवृत्ति रूप अदृष्ट फल प्राप्त होता है, वहाँ कण्ठशोषण दूर
से और कफ निवृत्ति हो जाने के कारण श्वास प्रश्वास क्रि
और मन्त्रादि के शुद्ध उच्चारण में भी अपेक्षित सौकर्य्य प्र
हो जाता है । प्राणायाम के अनन्तर अनुपद आचमन के वि
का लाभ तो प्राणायाम करने वाला कोई भी सज्जन स्व
तत्काल जान सकता है, क्योंकि प्राणनिरोध के कारण स्वभा
शरीर में ऊष्मा बढ़ जाती है, कभी-कभी तो ऋतु के तार
से तालू सूख जाने के कारण हिचकी तक आने लग जाती
इसलिये आमचन करते ही सब ठीक ठाक हो जाते हैं ।
रहे, शास्त्र रीति के अनुसार आचमन में चुल्लुओं जल नहीं
जाता, किन्तु उतने ही प्रमाण में जल ग्रहण करने की वि
जितना कि कण्ठ तालू को स्पर्श करता हुआ हृदय चक्र की
तक ही समाप्त हो जाए ।

—०—

प्राणायाम

हमने पीछे कहा है कि सन्ध्या का मुख्य तत्त्व प्राणायाम
प्राणायाम का तात्पर्य साधारणतया तो प्राणों का व्यायाम
किन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य है प्राणशक्ति पर विजय ।
कारों ने लिखा है—

प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ।
यया जयः स्यात्प्राणानां प्राणायामः स चोच्यते ॥

अर्थात्—स्थूल और सूक्ष्म भेदसे प्राण दो प्रकारका होता

और जिस क्रिया के द्वारा दोनों प्रकार के प्राणों पर विजय प्राप्त की जाय उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणों का व्यायाम प्राणायाम की प्रथम कक्षा कही जा सकती है और प्राण विजय अन्तिम। निरन्तर अभ्यास से प्राणशक्ति पर विजय प्राप्त कर मनुष्य ऐसी दशा में पहुँच जाता है, कि वह समस्त संसार में व्याप्त प्राणशक्ति को जैसे चाहे प्रभावित कर सके और उससे अपने मनोनुकूल कार्य करवा सके।

प्राणशक्ति समस्त संसार में व्याप्त है। कहीं वह स्थूल रूप में है और कहीं सूक्ष्म। मनुष्य पशु पक्षी आदि जीवों में प्राणशक्ति का श्वास प्रश्वास मय स्थूल रूप भली भाँति देखने को मिल ही जाता है, किन्तु वृक्ष लता गुल्म पाषाणादि जड़ वस्तुओं में भी सूक्ष्म प्राणशक्ति निहित है—इस विषय में आज के वैज्ञानिक युग में किसी को सन्देह करने की गुन्जाइश नहीं रही है। वृक्षादि जड़ वस्तुओं में ही क्यों, पृथ्वी का प्रत्येक परमाणु सूक्ष्म प्राणशक्ति से भरपूर है। यह जल में भी व्याप्त है, तेज वायु आकाश आदि में भी। समस्त संसार के प्राणी, भुवन मण्डल में बिखरे हुए प्राण शक्ति के भण्डार से ही स्वानुकूल शक्ति को ग्रहण कर बढ़ते और जीवित रहते हैं।

ऐसी दशा में प्राणायाम की अन्तिम कक्षा में पहुँचा हुआ साधक यदि अपनी भुवन प्राण विजयिनी शक्ति के प्रभाव से किसी जड़ वस्तु में विद्यमान अविकसित प्राणशक्ति को उद्वेलित कर उससे कोई कार्य ले, तो वह असम्भव नहीं कहा जा सकता। प्राणायाम-साधना-शून्य आज का जगत्, प्राणविजयी योगियों के इस प्रकार के यदा कदा दीख पड़ने वाले चमत्कारों पर विश्वास करे या न करे किन्तु यह निर्विवाद है—कि उनके लिये

इस प्रकार के कार्य साधारण हैं। परन्तु इस प्रकार के प्राण विजयी योगी हमारे इस अनुच्छेद का विषय नहीं हैं, इसलि विस्तार में न जाते हुए हम प्राणायाम के प्रथम अर्थ पर विचा करेंगे।

प्राणायाम क्यों ?

हाँ, तो प्राणायाम का अर्थ है—प्राणों का व्यायाम। भार तीय महर्षियों ने जहाँ शरीर को चिरकाल तक स्वस्थ एवं कार्य क्षम रखने के लिये व्यायाम पद्धति को दिनचर्या का अंग बना वहाँ मनुष्य के प्राण हृदय मन आदि आभ्यन्तरिक अवयवों दृढ़ एवं पुष्ट बनाने के लिये प्राणायाम का भी आविष्कार किया श्वास प्रश्वास साधना की यह ऐसी अद्भुत प्रणाली है, कि य मनुष्य निरन्तर इसका अभ्यास करे तो कुछ ही दिनों में उसे अनुभ होगा कि उसकी तो काया ही पलट गई। शरीर में प्रसुप्त सभ शक्तियें जाग उठेंगी और एक ऐसा ओज एवं तेज हिलोरें ले लगेगा, कि किसी प्रकार की चिन्ता कष्ट निराशा आदि उस समीप भी न आ सकेंगे।

प्राणायाम के अगणित आध्यात्मिक महालाभों का य विशेष उल्लेख न करके हम उसके शारीरिक व्यायाम और श्वा प्रश्वास साधनात्मक पहलू का उल्लेख क्यों कर रहे हैं, इस एक मात्र कारण यह है कि इन्द्रियातीत आध्यात्मिक लाभों आज के जड़-जगत् की आस्था नहीं है। वह तो सब ज तात्कालिक प्रत्यक्ष लाभ ढूंढता है। यदि वस्तुतः ऐसा कोई ला जंचे—तभी वे उसे कर्तव्य कोटि में परिगणित कर सकने धारणा रखते हैं। इसलिये हमने जान बूझकर प्राणायाम प्रधान उद्देश्य यहाँ व्यायाम तथा श्वास साधना ही प्रकट किया है

प्राणायाम का अभ्यास जितनी कम अवस्था से प्रारम्भ होगा वह उतना ही लाभप्रद होगा। प्राचीन भारत में दस बारह वर्ष के उपनीत बालक को सन्ध्या के साथ यह व्यायाम कराया जाता था। बाल्यावस्था में शरीर के समस्त अंगों में बर्द्धनोन्मुखी प्रवृत्ति रहती है और उन्हें जितना सुअवसर मिले वे विकसित हो सकते हैं। उस समय शारीरिक मांसपेशियों, ग्रन्थियों एवं सौत्रतन्तुओं में स्थितिस्थापक गुण भी पर्याप्त मात्रा में होता है इसलिये बालकों को इस व्यायाम से बहुत अधिक लाभ होता है। ज्यों-ज्यों अवस्था बीतती जाती है त्यों-त्यों हम इस प्रक्रिया के अमूल्य लाभों से वञ्चित होते जाते हैं।

आजकल प्रायः मनुष्य जब घरबार के धन्धे से बेकार हो जाते हैं और शरीर वृद्ध हो जाता है तब धर्मोन्मुख होते हैं। तब ही, एक धार्मिक विधान के नाते उनका प्राणायाम से परिचय होता है और वे उसका अभ्यास प्रारम्भ करते हैं। इस अवस्था में प्राणायाम से उन्हें जब कोई विशेष लाभ नजर नहीं आता तब केवल उसे छोड़ ही नहीं बैठते बल्कि उसे व्यर्थ का ढकोसला या दुःसाध्य हठयोग की क्रिया मान बैठते हैं।

बात वास्तव में ऐसी नहीं है। वृद्धावस्था में निरन्तर अभ्यास से प्राणायाम लाभ पहुँचाएगा, किन्तु एक सीमा तक। यह एक प्रकार से ऐसी ही चेष्टा है जैसे किसी वृद्ध मनुष्य को खूब घी दूध खिलाकर और दण्ड कसरत कराकर पहलवान बनाने की चेष्टा। जिस तरह उस समय सेवन किए हुए घृत दुग्धादि पदार्थ केवल उसकी गिरती हुई जीवनशक्ति को यथासंभव बचा सकने मात्र में ही काम आते हैं, इसी प्रकार उस समय किया हुआ प्राणायाम उसके परिपक्व शरीर और प्राणों के लिये सीमित लाभप्रद ही सिद्ध होता है। इसलिये बाल्यावस्था से ही संध्या वन्दनादि का

अभ्यास डालना चाहिए। पाठकों को कम-से-कम अपने
को ऐसे महत्त्वपूर्ण अभ्यास से वञ्चित न रखना चाहिए।

प्राणायाम के पांच रहस्य

(१) शारीरिक विकास—

यद्यपि प्रणायाम का सम्बन्ध मानव जीवन के विभिन्न उपादानों के साथ है। मानव शरीर के विकास से प्रारम्भ करके मनुष्य का अमर बना देने की समस्या के हल तक उसकी पहुँच है, तथापि प्राणायाम का फल–जिसे सब लोग स्वयं अनुभव कर सकते हैं—पूर्ण शारीरिक विकास है।

यह सर्वविदित बात है कि मानव जीवन के लिए तीन वस्तु सर्वाधिक अत्यावश्यक हैं—अन्न, जल और वायु। उन तीनों में भी उत्तरोत्तर एक-दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यक हैं। अन्न अहोरात्र में एक बार भी मिल जाए, तो मनुष्य जो सकता है और पानी की एक से अधिक बार आवश्यकता रहती है, परंतु इन दोनों की अपेक्षा वायु की तो प्रति श्वास अनिवार्य आवश्यकता रहती है। यों तो सम्पूर्ण शरीर की वृद्धि ही विशुद्ध वायु पर निर्भर है, यदि ओषजन (Oxygen) वायु फेफड़ों में जाकर मैले रक्त को शुद्ध न बनाये तो हमारा शरीर जीवित ही न रहे, तथापि फुफ्फुस, (फेफड़े) छाती, हृदय आदि प्रधान-प्रधान अवयवों का विस्तार एवं कार्यक्षम होना तो सर्वथा वायु पर आश्रित है। इसे समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम श्वासक्रिया और उससे संबंधित अंगों का कुछ परिचय प्राप्त करलें।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में श्वास मार्ग का प्रारम्भ नाक के छिद्रों से होता है। नाक में हवा की पेचदार नली है जिसमें से

क्यों ?—

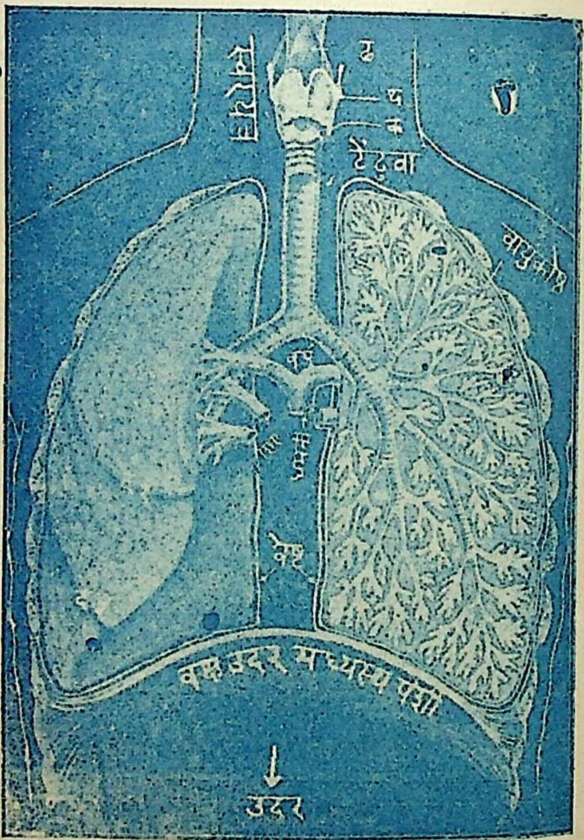
स्वरयन्त्र
ट
प
क
टेंटुवा
वायुकोष
क
वक्षउदर मध्यस्थ पेशी
उदर

= स्वर यन्त्रच्छद थ—चुल्ली क—मुद्रा वप्र - वायुप्रणाली

गुजरती हुई हवा रक्त की गर्मी से गरम होकर श्वास नली द्वारा फेफड़ों में प्रवेश करती है। वायु में मिले हुये धूल-कणों, अदृश्य अणुकीटों आदि को रोकने के लिये प्रकृति ने नाक में बालों की छलनी लगाई है जो अनावश्यक वस्तुओं को बाहर ही रोक देती है। चूंकि मुंह में न तो वायु छानने का कोई साधन ही प्रकृति ने लगाया है और न हवा को गरम करने का, इसलिए मुंह द्वारा कभी सांस न लेना चाहिए। यह सर्वथा हानिकारक है।

प्रस्तुत चित्र को ध्यान से देखने से आपको मालूम होगा कि हमारे गले में दो नलियाँ हैं—(१) श्वास नली, (२) अन्न नली। नीचे जाकर श्वास नली के दो भाग हो गये हैं, एक दाहिने फेफड़े में जाती है दूसरी बायें में। इन नलियों के फेफड़ों में पहुँचने पर उनसे और भी छोटी २ नलियां निकलती हैं; फिर इनसे भी छोटी और और भी छोटी, यहां तक कि फेफड़ों में इन श्वास-नलिकाओं की संख्या अन्यून साठ करोड़ हो जाती है। यह नलिएं वायु-मन्दिरों में प्रविष्ट होती हैं। आगे अर्ध गोलाकार वायुकोष्ठों का विस्तृत जाल फैला हुआ है, जो जीवन को गति देने के लिये ओषजन वायु के विस्तृत भण्डार को सुरक्षित रखने एवं शारीरिक-गैस-सम्पृक्त कार्बन द्विओषित को बाहर निकालने के काम आता है।

यही हमारे फेंफड़े हैं। फेफड़े इतने बड़े होते हैं कि यदि उनके सौत्र जाल को फैलाया जा सके—जैसा कि असम्भव है—तो उन्हें दो बीघा भूमि पर बिछाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वे इतने हलके होते हैं कि यदि फेफड़े के रोग से अनाक्रांत किसी व्यक्ति के फेफड़ां को पानीपर छोड़ा जाए तो वे तैरेंगे, डूबेंगे नहीं।

फेफड़ों का कार्य है—कूड़े कचरे एवं मैल को दूर करके शारीरिक यन्त्रों को कार्यक्षम रखना। यह कार्य वे वायु की सहायता

से करते हैं। अनेक प्रकार की रासायनिक क्रियाओं, सैलों के टूटने एवं शारीरिक यन्त्रों के काम में आने से शरीर में कूड़ा-करकट अनेक प्रकार की गैस आदि इकट्ठी होती रहती है। अभिसरण करता हुआ रक्त इनमें से बहुत से अंश को अपने साथ लेकर और दूषित होकर पहले हृदय के दाहिने कोष्ठक में आता है वहां से शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में। श्वास के साथ गई हुई ओषजन (Oxygen) उसमें से मैल के अंश को ग्रहण कर लेती है, और कर्बन द्विओषित बनी हुई वह वायु, वक्षोदर मध्यस्थ पेशी की स्थिति-स्थापक क्रिया द्वारा उच्छ्वास के रूप में बाहर फेंक दी जाती है। शुद्ध हुआ रक्त अभिसरण के लिये वापिस हृदय के वाम प्रकोष्ठ में चला जाता है।

इस प्रकार हमने देखा मानव शरीर में वायु महत्त्वपूर्ण कार्य करती है और वायु ग्रहण करने के लिये प्रकृति ने शरीर में अनेक अवयवों का निर्माण किया है। किन्तु यह कार्य ठीक-ठीक रूप से तभी सम्पन्न हो सकते हैं जबकि विशुद्ध वायु का ग्रहण पर्याप्त रूप में हो। साधारण श्वास में हम जितनी वायु ग्रहण करते हैं वह इतनी नहीं होती कि फेफड़े की प्रत्येक कोठरी में पहुँचे सके। परिणाम यह होता है कि फेफड़ों की हजारों कोठरियां काम में न आने के कारण विकसित होने से तो वंचित रह ही जाती हैं, साथ ही निरन्तर बेकार पड़ी रहने से इतनी कमजोर हो जाती हैं, कि रोग के क्षणिक आक्रमण को भी नहीं सह सकती।

कहना न होगा कि जिस श्वासयन्त्र से हमें दिन-रात काम लेना है, उसकी कभी सफाई भी तो आवश्यक है। संसार में ऐसी मशीन कितने दिन स्थिर रह सकेगी जिसको कि लगातार चौबीसों घन्टे बेतहाशा पेला जाए, परन्तु कभी झाड़-पोंछकर

साफ करने का नाम न लिया जाए। आज सन्ध्या न करने का हो यह प्रत्यक्ष कुफल है, कि संसार में श्वास नलिका और श्वास-प्रश्वास के मुख्य साधन फुफ्फुस (फेफड़ों) की बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

आज कलकारखानों के विषाक्त धूएं से परिपूर्ण एवं संकीर्ण वातावरण में रहने वाली जनता, विशुद्ध वायु और प्राणायाम के अभाव के कारण द्रुत गति से विनाश की ओर अग्रसर है। पहिले समय में 'यक्ष्मा' आदि असाध्य रोगों को 'राजरोग' के नाम से स्मरण किया जाता था इसीलिये इस नामुराद बीमारी का नाम ही राजयक्ष्मा पड़ गया था। प्राय: विषयासक्त और भोग-रत राजा लोग ही इसके शिकार होते थे, परन्तु अब तो किसान मजदूर और सड़क पर बैठे भिखमंगे तक भी तपेदिक T. B. के मरीज दीख पड़ते हैं, यह सब अनियमित श्वास लेने का ही दुष्परिणाम है। इसलिये आयुष्य वृद्धि की कामना रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित है, कि वह नित्य विधिवत् सन्ध्योपासना करते हुए प्राणायाम द्वारा अपनी श्वास नलिका और फुफ्फुसों (फेफड़ों) को सदैव बलशाली बनाने का प्रयत्न करे।

प्राणायाम में पूरक विधि द्वारा बहुत सी विशुद्ध वायु को फेफड़ों में फेंका जाता है। कुम्भक विधि में जब वायु को कुछ क्षण के लिये रोका जाता है तो वह फेफड़ों की सम्पूर्ण कोठरियों में प्रवेश करती है। उन्हें फैलाती है और वायु के साथ इन कोठरियों में रक्त भी जाता है। इससे फेफड़े बलवान्, वक्षस्थल चौड़ा, हृदय नवरक्तयुत तो बन ही जाता हैं, साथ ही रुका हुआ वायु, रक्त से अधिक-से-अधिक कर्वनद्विओषित (Carbandioxide) गैस और मलीय अंश को लेकर बाहर आता है। रेचक विधि

सें जब सब वायु बाहर आ जाता है तो फेफड़ों को विश्राम मिलता है और वे तरोताजा हो जाते हैं।

प्राणायाम द्वारा शारीरिक विकास को परखने के लिये एक सीधे-साधे परीक्षण का प्रयोग किया जा सकता है। यदि किसी बकरे के ताजे फेफड़ों—जिनमें श्वासनलिका जुड़ी हुई हो—में साइकिल के पम्प से हवा भरना प्रारम्भ करें तो आप देखेंगे कि वे धीरे-धीरे फूलने लगेंगे। हवा भरते जाइये यहाँ तक कि वे साधारण दशा से दुगने-तिगुने फूल जाएंगे। यह फुलावट कुछ समय तक रखी जा सकती है और हवा निकाल देने पर वे फिर पिचक जाते हैं। यह परीक्षण इस बात का प्रत्यक्ष निदर्शन है है कि यदि महर्षि निर्दिष्ट विधि से प्रतिदिन सन्ध्या प्राणायाम किया जाय और साधारण दशा में भी गहरा श्वास ग्रहण करने का अभ्यास डाला जाय तो शरीरका परिपूर्ण विकास निश्चित है।

(२) श्वास-साधना—

प्राणायाम का दूसरा उद्देश्य 'श्वास साधना' कहा जा सकता है। संसार में अभ्यास द्वारा सभी कुछ सम्भव हो सकता है, इसलिये निरंतर अभ्यास से वायु का चिरकाल तक फेफड़ों में ही रोक रखने को सामर्थ्य कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि आप सामने घड़ी रखकर प्राणायाम प्रारम्भ कोजिए और प्राणावरोध के सैकिन्डों को नोट कर लीजिए। प्रतिदिन ऐसा ही करते जाइये। एक मास बाद आप देखेंगे कि आपको अवरोध शक्ति में पहले दिन से बहुत काफी अन्तर पड़ गया है। यह अन्तर सैकिन्डों से प्रारम्भ होकर मिनटों और घण्टों तक पहुँच सकता है। यही नहीं, यदि साधक निरंतर इस अभ्यास को बढ़ाये तो दिनों महीनों और वर्षों के लिये

श्वासावरोध की शक्ति उत्पन्न हो जाना असम्भव न होगा। निःसन्देह यह स्थिति योगियों की होगी और उस समय समझना चाहिए कि साधक ने प्राणों पर विजय प्राप्त कर ली है।

(३) मानसिक विकास—

मानसिक विकास भी प्राणायाम का एक उद्देश्य है। यह एक ऐसी अद्भुत व्यायाम पद्धति है जो शरीर के साथ मन का भी पूर्ण व्यायाम कराती है। प्राणायाम की पूरक, कुम्भक, रेचक, तीनों अवस्थाओं में, इधर उधर भागते हुए चञ्चल मन को पकड़ पकड़ कर ध्यानकेन्द्र में लाया जाता है। उसे कहा जाता है कि वह त्रिविध दशाओं में क्रमशः नाभिकमल में चतुर्भुज श्याम स्वरूप विष्णु का, हृदय में कमलासन रक्तवर्ण ब्रह्मा का और ललाट में श्वेतवर्ण त्रिनेत्र रुद्र का ध्यान करे। यथा—

पूरके विष्णुसायुज्यं कुम्भके ब्रह्मणोन्तिकम्।
रेचकेन तृतीयन्तु प्राप्नुयादैश्वरं पदम्॥

(प्रयोगपारिजात)

मन चञ्चल है वह नहीं मानता। आता है और बीच में से ही भाग खड़ा होता है। साधक फिर उसे पकड़ता है और ध्यान केन्द्र की ओर लाता है। निरंतर अभ्यास होने पर धीरे-धीरे मन, ध्यानकेन्द्र पर ठहरने लग जाता है और अन्त में वह ऐसा साधक को मुट्ठी में आ जाता है, कि वह चाहे उसका कैसे ही प्रयोग करे। प्राणायाम के इस चमत्कार का भी अनुभव कुछ ही काल के अभ्यास से किया जा सकता है।

(४) क्या मनुष्य अमर हो सकता है?—

हमारे शरीर की रचना विभिन्न प्रकार के अणुओं द्वारा हुई है,

जिन्हें सैल्स (Cells) कहा जाता है । इन सैल्सों में बढ़ने तथ बढ़कर दो दो हो जाने की शक्ति होती है, इसी का नाम जीव है और सैल्स की पूर्ण अव्यवस्था एवं पूर्वोक्त शक्ति का नष्ट हे जाना ही मृत्यु है। ऐसी दशा में आज के वैज्ञानिक-जगत् के सन्मुख यह प्रश्न उपस्थित है, कि क्या मनुष्य के सारे सैल्सों क जीवित रखकर उसे अमर बनाया जा सकता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक इस समस्या पर गम्भोरतापूर्वक विचा और परीक्षण कर रहे हैं। एक फांसी लगे हुए अपराधी क दिल उसकी मृत्यु के ११ घण्टे बाद निकालकर उसे पुनर्जीवि किया जा चुका है। प्रो० केरल ने इस दशा में कुछ नव परीक्ष किये हैं और परीक्षण द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि य शरीर के किसी पृथक् सैल को उचित खुराक मिलती रहे तं वह अपना कार्य करता चला जायगा। कहते हैं कि उनकी मु के दिल का टुकड़ा ३० साल से जीवित है, उसे रासायनि द्रव्यों से ही खुराक प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार अन्य वैज्ञा- निक भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं परन्तु अभी तक ऐसा कोई हल नहीं निकाल सके हैं।

प्रो० केरल का कहना है कि अमरत्व न सही, किन्तु सैल्स के जीवन को लम्बा करना दो प्रकार से पूर्ण सम्भावित है। (१) सैल्स को समुचित खुराक मिलती रहे और उनसे निकल हुआ मल (Dirty matter)—जो कि जहरीला होने से सैल्सों को हानि पहुँचाने वाला है—उनके पास इकट्ठा न होने दिय जाय। (२) सैल्स के जीवित होते हुए भी उनके सब कार्यों को रोक दिया जाय जिससे उन्हें खुराक की आवश्यकता न रहे।

प्रो० केरल के यह दोनों उपाय और उनके विचार पाश्चात्यों के लिए चाहे कितने भी नवीन और खोजपूर्ण हों किन्तु प्रति

दिन सन्ध्या प्राणायाम परायण भारतीय के लिए इनका महत्व बिलकुल नहीं के बराबर है। इन विचारों में वही तथ्य प्रतिपादन किया गया है जिसे लाखों वर्ष पूर्व भारतीय महर्षियों ने न केवल संसार के समक्ष रक्खा, अपितु प्रत्यक्ष करके दिखाया। इसी प्राणायाम के ऊँचे अभ्यास से वे लोग अपने शरीर के सैल्स के ऐसे सब कार्यों को बन्द कर देते थे और घण्टों, दिनों, महीनों और वर्षों समाधि लगाकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते थे कि उनके सैल्स को किसी प्रकार की खुराक की आवश्यकता न होती थी।

प्रो० केरल का यह कथन बिलकुल ठीक है, कि मनुष्य-शरीर के कार्यों को शताब्दियों तक रोकने के बाद फिर चलाया जा सकता है। इस तरह जितने समय तक पुरुष निश्चेष्ट रहेगा उतने समय की गणना उसकी शारीरिक आयु के साथ न होगी; क्योंकि उसके लिए तो समझ लीजिए, जीवन क्या संसार की प्रत्येक वस्तु–यहाँ तक कि समय भी ठहर गया। २५ वर्ष का युवक यदि सौ वर्ष की समाधि में बैठे तो उठने के बाद उसके शारीरिक अंग प्रत्यंग २५ वर्ष के युवक के ही होंगे। उसने यदि संसार में १०० वर्ष जीना है तो समाधि से उठने के बाद वह ७५ वर्ष और जीयेगा। इस बात को आप साधारण से दृष्टान्त से अच्छी तरह समझ सकते हैं। घड़ियों के कारखाने में घड़ी के तैयार हो जाने के उपरान्त कारखाने वाले उसकी चलने की अवधि या गारन्टी का निर्धारण करते हैं। मान लीजिए एक घड़ी सन् ५० में बनी है और दश वर्ष की उसकी गारंटी की गई है। हम सन् ६१ में उसे खरीदते हैं, तो क्या हम समझ लें कि उस घड़ी की उम्र जो दश वर्ष की नियत की गई थी–समाप्त हो चुकी है और अब वह काम न देगी। ऐसा नहीं है, उसका जीवन तो सन् ६१ से आरम्भ हुआ समझिये। दो साल

चलाकर यदि बीच में आप उसे तीन वर्ष के लिए बन्द करदें तो फिर चलाने पर वह ८ वर्ष और काम देगी। यही बात समाधिस्थ शरीर पर भी लागू होती है।

सारांश यह है कि आज के वैज्ञानिकों के पास भी प्राणायाम ही एक ऐसा हल है जिससे वे मनुष्य को अमर बना देने की समस्या को सुलझाने में संलग्न हैं। यह भारतीयों का दुर्भाग्य ही है कि विदेशी वैज्ञानिक जिन विचारों तथा सिद्धांतों का पता बड़ी खोज के बाद लगाते हैं, वे उन्हें ऋषि परम्परा से विरासत में मिले हैं किन्तु वे उनसे लाभ नहीं उठा पाते।

(५) प्राणायाम की पूर्णता—

प्राणायाम के सम्बन्ध में इस अन्तिम अनुच्छेद को लिखे बिना न केवल विषय ही अधूरा रहेगा, बल्कि ऐसा करना उन जिज्ञासु पाठकों के प्रति अन्याय भी होगा जो इस ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर हों और इन अवश्य-ज्ञातव्य बातों के अभाव में उसके पूरे लाभ से वञ्चित रह जायं। अस्तु, यों तो शास्त्रकारों ने प्राणायाम के—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः॥

—सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली—यह आठ प्रकार बतलाए हैं जो अमुक अमुक दशा को प्राप्त हुये अधिकारियों के लिए लाभप्रद होते हैं, परन्तु इनमें सर्व प्रथम भेद 'सहित', अथवा—अनुलोम विलोम क्रम ही सर्व साधारण के लिए उपयुक्त होता है। सभी प्राणायाम तीन विधियों में सम्पन्न होते हैं-पूरक, कुम्भक, रेचक। पूरक का अर्थ है श्वास का आकर्षण, कुम्भक=श्वास वायु का धारण और रेचक

तात्पर्य है उस रुकी वायु का निःसरण। यह तीनों क्रियाएँ विधिवत् की जानी चाहिएँ।

प्राणायाम प्रारम्भ करने से पूर्व पांव की एडी को गुदा के समीप सीवन पर लगा लेना चाहिये। इससे गुदनलिका का आकुञ्चन होकर अपानवायु ऊर्ध्वगामी बन जायगा और प्राणों के शोधन में बड़ी सरलता पड़ेगी। अब पहिले चन्द्र स्वर अर्थात् नाक के बांये छिद्र से धीरे-धीरे वायु को ऊपर खेंचिये। साधारण अवस्था में वायु के खेंचने में १६ मात्रा=लगभग ८ सैकिंड का समय लगाना चाहिए। यथा—

इडयाकर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया। (देवी गीता)

अर्थात्—सोलह बार ॐकार या अन्य किसी स्वर का उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय में वायु को खेंचना चाहिये।

जब पूर्णरूप से वायु आकर्षित हो जाय तब उसका निरोध करना चाहिये। इसे कुम्भक विधि कहा जाता है। यह निरोध क्रिया करते हुए कण्ठ की नली को पीछे की ओर सिकुड़ाकर ठोडी को हृदय पर स्थापित कीजिए। इस क्रिया से फेफड़ों में निरुद्ध वायु में चञ्चलता न आ सकेगी और संगृहीत वायु से उत्पन्न प्राणशक्ति का अपव्यय न होगा। वायु का यह निरोध सामान्यतया ६४ मात्रा काल=अन्यून ३० सेकिण्ड तक होना चाहिए। यथा—

धारयेत्पूरितं योगी चतुषष्ट्या तु मात्रया।

अर्थात्—चौंसठ बार किसी वर्ण के उच्चारण समय तक वायु को धारण करना चाहिए।

उपरोक्त काल तक अथवा यथाशक्ति वायु का निरोध करने-

के अनन्तर रेचक प्रारम्भ होता है। इसमें सूर्य स्वर अर्थात् ना
के दायें छिद्र से वायु को धीरे-धीरे निकालिये। रेचक क्रिया
समय पेट तथा पेडू को पीठ की ओर आकर्षित कीजिए; इ
वायु पूरित फेफड़ों को नीचे आधार मिल जाता है। वायु
आघात से उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती और रे
क्रिया सुगमता से हो जाती है। रेचन क्रिया बिलकुल धीरे-धी
हो और उसमें पूरक की अपेक्षा दुगना=अन्यून १६ सेकि
समय तो लगना ही चाहिए। यथा—

——द्वा त्रिंशन्मात्रया शनैः ।
नाड्या पिंगलया चैवारेचयेद्योगवित्तमः ॥

प्राणायाम की पूरकादि तीनों विधियों के साथ उ
क्रियाओं का गहन सम्बन्ध है। इन पर यथेष्ट ध्यान न दे
प्राणायाम तो अपूर्ण रहेगा ही, किन्तु उससे हानि भी सम्
है। योगशास्त्रों में इन क्रियाओं को क्रमशः मूलबन्ध, जल
बन्ध और उड्डियान बन्ध के नाम से स्मरण किया गया है
प्रणायाम की पूर्णता के लिए इन्हें आवश्यक माना है।

सूर्योपस्थान क्यों ?

संध्या का उपसंहारात्मक अन्तिम अनुष्ठान सूर्योपस्थान है
साधक सूर्याभिमुख खड़े होकर सूर्य भगवान् को जल की ती
अंजलि प्रदान करता है और दोनों हाथ उत्तान रूप में फैला
सविता देव की स्तुति करता है। वेद में लिखा है कि—

अथ सन्ध्यायां यदपः प्रयुंक्ते ता विप्रुषो वज्री
भूत्वा असुरानपाघ्नन्ति (षड्विंश ४।

क्यों ?—

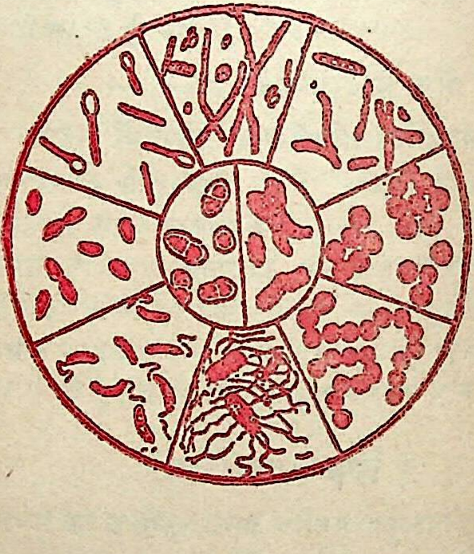

गरम जल में खूब उबालने पर भी, नष्ट न होने वाले हैजा चेचक निमोनिया तपेदिक फिरंग रोग आदि के घातक कीटाणु, जो प्रातःकालीन सूर्य की जल में प्रतिफलित हुई अल्ट्रावायलेट किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। पृष्ठ—२४३]

अर्थात्—सन्ध्या में जो जल का प्रयोग किया जाता है, वे जलकण वज्र बनकर असुरों का विनाश करते हैं।

इस बुद्धिवाद के युग में सूर्यकिरणों द्वारा असुर नामक किसी जाति विशेष के प्राणियों का, अथवा आध्यात्मिक रूप में बाह्य वातावरण में फैले हुये असुरों, तथा हृदय में आसुरीभाव-रूप असुरों का विनाश, आप चाहे माने या न मानें, किन्तु मानवजाति के लिए असुरों से भी अधिक अहितकारी प्रस्तुत चित्र में प्रदर्शित—टाइफाइड राजयक्ष्मा फिरंग निमोनिया के जीवाणुरूप असुरों के विनाश के लिये सूर्य किरणों की दिव्य सामर्थ्य तो बाध्य होकर माननी ही पड़ेगी। आप यह जानकर आश्चर्यचकित होंगे कि इनमें से कतिपय जीवाणुओं के लिए सूर्य-प्रकाश सी अमोघ और अव्यर्थ महौषधि कोई है ही नहीं। इसका निदर्शन डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा B.S.C., M.B.B.S. चीफ मैडिकल आफिसर काशी विद्यालय के शब्दों में सुनिये। डा० साहिब अपने 'संक्षिप्त शल्य विज्ञान' में लिखते हैं—

"सूर्यप्रकाश का जीवाणुओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। एन्थ्रेक्स के स्पोर जो कई वर्षों के शुष्कीकरण से नहीं मरते सूर्य प्रकाश से डेढ़ घण्टे में मर जाते हैं। आन्त्रिक ज्वर (टायफायड) के जीवाणु भी डेड़ घण्टे तक सूर्य प्रकाश में रहने से नष्ट हो जाते हैं, किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक जीवाणु पर किरणें पड़ें। राजयक्ष्मा के जीवाणु का भी यही हाल है। सूर्य-प्रकाश उसका सबसे बड़ा बैरी है। प्रयोगों से मालूम हुआ है कि सूर्य-प्रकाश के हरे बैंगनी और अल्ट्रावायलेट भाग में जीवाणुओं के नाश करने की विशेष शक्ति है"। अस्तु,

जो नास्तिक लोग कल तक इस विज्ञानपूर्ण वैदिक विधान को कोरी पोपलीला कहकर मखौल उड़ाया करते थे, स्वास्थ्य-

विज्ञान की नई खोज ने कान पकड़कर आज उन्हीं लोगों को नामान्तर और रूपान्तर में यही क्रिया करने के लिए बाध्य कर दिया है। पाश्चात्य जगत् और उसका अन्धानुकरण करने वाले भारतीय अब अनेक शारीरिक रोगों के लिए 'सन बाथ' (Sun Bath) अर्थात् खुले बदन सूर्य किरणों में स्नान करने लगे हैं। अमेरिका में तो गर्मी-सर्दी सहन करने के लिए सदैव दिगम्बर रहने वाला एक सम्प्रदाय-सा ही चल पड़ा है, जिसके अनुयायी सहस्रों प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने देश के कानून को तोड़ कर—नाना प्रकार का दण्ड भुगतते हुए भी अपनी टेक को नहीं छोड़ते।

अमुक रंग की बोतल में केवल फिलटर किया पानी भरकर सूर्य की खुली धूप में रख देना, फिर नियत समय के बाद उस जल को ही अमुक-अमुक रोग में रंग के तारतम्य के अनुसार बीमार को औषध रूप में पिलाना आजकल एक यह भी नई चिकित्सा-प्रणाली निकली है, विश्वास किया जाता है कि सूर्य किरणों से संस्पृष्ट यह जल बोतल के काँच के रंग की विशेषता के अनुसार अमुक-अमुक रोगों की दूर करने में अमोघ औषध सिद्ध होता है।

हम सिद्धान्ताध्याय' के प्रत्यक्ष परोक्षवाद प्रघट्ट में यह सिद्ध कर चुके हैं कि वैदिक विज्ञान के अनुसार समस्त रंगों का मूल स्रोत एकमात्र सूर्य की किरणें ही हैं,—सो यदि हम सूर्योपस्थान विधान के प्रकाश में वर्तमान समय के उपर्युक्त सूर्य किरण स्नान (Chrowopathy) और सौर जलाभिमर्षण का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें, तो यह विदित हो जाएगा कि आज का पाश्चात्य-जगत् अपने जिन उपर्युक्त आविष्कारों को अभूतपूर्व और बेजोड़ समझकर फूला नहीं समाता, वस्तुतः वे दोनों आविष्कार हमारे अनन्त सहस्राब्दियों से चले आने वाले

नित्य कर्म्म=सूर्योपस्थान की छाया मात्र हैं। इन दोनों में यदि कोई अन्तर है तो केवल यही है कि जहाँ सूर्योपस्थान असुस्यूत, अनेक शारीरिक रोगों के दूर करने का वज्र के समान अव्यर्थ साधन होते हुए अदृष्टफल—पुण्याधायक धार्मिक अनुष्ठान भी है वहाँ सूर्य-किरण-स्नान और सौरजलाभिमर्षण चिकित्सा-पद्धतियें अपूर्ण, एकदेशी एवं 'अन्धेरे में चांद मारी' के बराबर हैं।

सूर्यार्घ्य में साधक, जलपूरित अञ्जलि लेकर—सूर्याभिमुख खड़ा होकर जब जल को भूमि पर गिराता है तो नवोदित सूर्य की सीधी पड़ती हुई—किरणों से अनुविद्ध वह जलराशि, मस्तक से लेकर पाँव पर्यन्त साधक के शरीर के समान सूत्र में गिरती हुई, सूर्य किरणों से उपात्त रंगों के प्रभाव को ऊपर से नीचे तक समस्त शरीर में प्रवाहित कर देती है। इसलिये वेद शास्त्रानुसार प्रातः पूर्वाभिमुख, उगते हुए सूर्य के सामने और सायं पश्चिमाभिमुख छुपते हुए सूर्य के सामने खड़े होकर सूर्य्यार्घ्य देने का विधान है।

सूर्योपस्थान में सूर्यस्नानचिकित्सा विधि की तरह, तीनों समय सूर्य की ओर लम्बे हाथ फैलाकर साधक अंगुलियों के अग्र भाग में वैद्युत चुम्बक स्विचों की भांति प्रकृति देवी द्वारा निहित नखों की मार्फत सप्तविध रंगों से परिपूरित सौर प्रवाह को अपने शरीर में धारण करता है। इसीलिये शास्त्र में सन्ध्या का विधान है, आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी की निर्मूल आशङ्का के अनुसार आधी रात के समय सूर्य सामने न होने के कारण चौथी सन्ध्या की कल्पना व्यर्थ है।

कहना न होगा हमारे इस वैदिक अनुष्ठान में आधुनिक सूर्य किरण-स्नान और सौर-जलाभिमर्षण क्रियाओं के समस्त लाभ

तो आ जाते हैं परन्तु असमय में ललाटंतप सूर्य की धूप सेकने से और बोतलों में बन्द—कई दिन तक रक्खे हुये विकृत पानी के पीने से होने वाली अपने अप्रत्याशित हानियों का खतरा नहीं होता—यही सूर्योपस्थान के संक्षिप्त लाभों का दिग्दर्शन है।

वैदिक सन्ध्या बनाम आर्यसमाज!

यहां प्रसङ्ग वश पाठकों को यह बता देना भी अनुचित न होगा, कि सन् १८७५ से प्रादुर्भूत हुये, नये वैदिकधर्मी आर्यसमाजी महाशयों की भी एक छपी हुई सन्ध्या केवल एक पैसा कीमत में यत्र तत्र बिकती है। इस पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर न केवल 'सन्ध्या' अपितु 'वैदिक-सन्ध्या' छपा रहता है। बहुत से अपरिचित आस्तिक लोग, वेदों में अगध श्रद्धा रखने के कारण इस पर मोटे टाइप से छपा 'वैदिक' शब्द देखकर और सस्ती कीमत देखकर इसे ही असली सन्ध्या समझकर खरीद लेते हैं।

जब पहिले पहिल यह ट्रैक्ट हमारे हाथ में आया तो हमारे मन में नाना प्रकार के तर्क उठने लगे। सर्व प्रथम तो सन्ध्या के वैदिक विशेषण पर ही विचार चला।—क्या कोई 'अवैदिक' सन्ध्या भी विद्यमान है?—जिससे पृथक् करने के लिये यह 'वैदिक' विशेषण लगाना आवश्यक हुआ!—फिर जबकि 'ब्राह्मण' मात्र कहने से अमुक व्यक्ति का द्विजत्व सिद्ध हो सकता है तो किसी को 'द्विज ब्राह्मण' कहना व्यर्थ ही है। ऐसा प्रयत्न वहीं किया जाता है जहां कि किसी अद्विज को ठोक पीट कर बलात् द्विज घड़ा गया हो! तभी इस मिथ्या प्रयास पर परदा डालने के लिए ऐसी दुश्चेष्टा सहैतुकी कही जा सकती है! क्या इसीप्रकार इस संध्या में भी कोई गड़बड़ घुटाला तो नहीं है? जिसे 'वैदिक'

विशेषण की आड़ में छुपाने का प्रयत्न किया गया हो, इत्यादि इत्यादि अनेक तर्क-वितर्क उठने लगे।

अन्त में यही निर्णय हुआ कि जिस परम्परागत सन्ध्या के आधार पर आज तक हम सन्ध्योपासन करते रहे हैं वह तो करते ही रहे हैं, आज इस नई 'वैदिक सन्ध्या' के आधार पर तो सन्ध्योपासना करनी चाहिए। फिर तुलनात्मक दृष्टि से दोनों सन्ध्याओं में से किसके आधार पर की गई उपासना में अधिक मानसिक शान्ति प्राप्त होती है—यह अनुभव करना परमावश्यक है। कदाचित् इस नई सन्ध्या से लाभ हो तो फिर इसके अपनाने में क्या हानि ?

इस प्रकार पूरे श्रद्धालु बनकर एक दिन हमने 'वैदिक-संध्या' के आधार पर अक्षरशः उपासना करनी आरम्भ की। 'शन्नो देवी' मन्त्र पढ़कर आचमन कर डाला, अब 'इन्द्रियस्पर्शमन्त्राः' इस शीर्षक के नीचे लिखे मन्त्रों को पढ़-पढ़कर इन्द्रियों को छूने लगे। 'ओं वाक् वाक्, चक्षुः चक्षुः, प्राणः प्राणः' कहते हुए क्रमशः मुख, नेत्र और नासिका का स्पर्श किया, परन्तु जब 'ओं-नाभिः' कह कर नाभि को छूने का अवसर आया तो मनीराम ने तर्क का जोर दे मारा। सोचने लगा क्या 'नाभि' भी कोई इन्द्रिय है?—शास्त्र में घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र ये पांच ज्ञानेन्द्रियें और हाथ, पांव, गुदा, लिंग और जिह्वा ये पाँच कर्मेन्द्रियें प्रसिद्ध हैं, कहीं-कहीं इस गणना में मन को भी गिना जाता है, इस प्रकार दस या एकादश ही इन्द्रियें हैं, परन्तु 'नाभि' तो कोई इन्द्रिय नहीं है? सो या तो ऊपर लिखा 'इन्द्रियस्पर्शमन्त्राः' यह शीर्षक अशुद्ध छपा है अथवा कोई और रहस्य है !

जब हमने अपने एक साहित्य शास्त्री मित्र के सामने यह आशंका रक्खी तो वे काशी परीक्षा में रटी हुई 'काव्य प्रकाश' की तोता रटन्त की बौछाड़ करते हुए बोले कि—'जो है शो है यहाँ 'गंगायां घोषः' की भांति अभिधार्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ लेना चाहिए, जैसे गंगा-प्रवाह में घोष=आभीर पल्ली=गामड़े का बसना असम्भव है—तो मुख्य अर्थ का बाध हो जाने के कारण गंगा शब्द का लाक्षणिक अर्थ गंगातट माना जाता है, इसी प्रकार—जो है शो है—साक्षात्कार कर-करकरके यहाँ भी नाभि का इन्द्रियत्व बाधित हो जाने के कारण तन्निकटवर्ती लिंगेंद्रिय को स्पर्श करना ही लक्षणा में समझना चाहिए। जैसे अति-शीतत्व पावनत्व आदि गुण द्योतन करने के प्रयोजन से—'गंगातटे घोषः' न कहकर 'गंगायां घोषः' कहना सहैतुक है, वैसे ही अश्लील ग्राम्यत्व आदि दोषों को उपस्थिति के परिहार के लिए उक्त वैदिक सन्ध्या में भी सीधे-सीधे 'लिंगम्' ऐसा न कहकर 'नाभि' कहा गया है। साथ ही आर्यसमाज के मन्तव्यानुसार स्त्रियों को भी यही सन्ध्या ज्यों की त्यों करने का विधान है। ऐसी स्थिति में लिंग शब्द का प्रयोग स्त्रीपक्ष में फिट नहीं बैठ सकता था, जो है शो है इस विप्रतिपत्ति के परिहार के लिए भी स्त्री-पुरुष दोनों को अपने मूत्रेन्द्रिय स्पर्श का बोध हो सके और अश्लीलता के बिना एक ही शब्द से यह काम चल जाय इत्यादि अनेक हेतुओं से 'नाभि' शब्द लिखा गया है।'

यह विवेचना सुनकर अपने राम तो दंग रह गए, अन्त में 'वाक्-वाक्' आदि इस मन्त्र समूह को वेद में देखकर भाष्यों द्वारा इसका वास्तविक अर्थ जाननें की उत्कण्ठा हुई। उपलब्ध समस्त संहिताएँ, फिर ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् कई बार खोज डाले परन्तु उक्त मन्त्रों का कहीं अस्तित्व न मिला।

तब तो बड़ी निराशा हुई। रह-रहकर 'वैदिक सन्ध्या' के लेखक पर क्रोध आया, कि जिसने सनातनकाल से प्रचलित और वैदिक विज्ञान से परिपूर्ण अनादि सन्ध्या को छोड़कर अपनी कपोल-कल्पित तुकबन्दी पर वैदिक शब्द का लेबिल लगाकर लाखों श्रद्धालु हिन्दुओं को पथभ्रष्ट किया। मनुस्मृति के 'वाङ्मूला नियताः सर्वाः' के अनुसार संसार के सभी व्यवहार वाणी पर आश्रित हैं, सो जो व्यक्ति उसकी चोरी करता है अर्थात्—वेद के नाम पर विश्वास दिलाकर अवैदिक भावों का प्रसार करता है निःसन्देह वह मनुष्य—'**यश्च तां स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः**' के अनुसार सब कुछ चुराने वाला समझा जाना चाहिए। कहां सन्ध्या सदृश पुनीत अनुष्ठान और कहां उसके नाम पर मूत्रेन्द्रियों के हाथों से पलोटने का व्यवहार ? प्रभो ! ऐसे दुराग्रह एवं अनर्थों से हिन्दू जाति की रक्षा कीजिए !

माला आवश्यक क्यों ?

शास्त्र में लिखा है कि—

विना दर्भैश्च यत्कृत्यं यच्च दानं विनोदकम् ।
असङ्ख्यया तु यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥
(अङ्गिरा स्मृति)

अर्थात्—बिना कुशा के जो तत्तद् धर्मानुष्ठान, और बिना जल संस्पर्श के जो दान, तथा बिना माला से संख्याहीन जो जप, वे सब निष्फल होते हैं। नामधारी सिक्ख ऊनकी ग्रन्थिल माला, निहंग सिक्ख लोहे की माला तथा मुसलमान ईसाई भी 'तसबी' रखते हैं। यह क्यों ?—इसलिये कि (१) प्रथम तो माला के

फेरने से कितना जप हुआ इस बात का ठीक पता चल जाता है और अपने-अपने निश्चित नियम के अनुसार पुरुष अपने समय का नियन्त्रण कर सकता है। (३) दूसरे—माला भी प्रायः 'शुचि' संज्ञक वस्तुओं से ही बनाई जाती है। अतः कुशा की भांति इससे भी वही सब लाभ होंगे। (३) तीसरे-अंगुष्ठ और अंगुली के संघर्ष से एक विलक्षण विद्युत् उत्पन्न होगी; जो धमनी के तार द्वारा सीधो हृदय चक्र को प्रभावित करेगी, इधर-उधर डोलता हुआ मनः इससे निश्चल हो जाएगा।

मध्यमांगुली से ही क्यों ?

जाप में माला घुमाते समय तर्जनी अंगुली का उपयोग नहीं होता यह क्यों ?—इसलिए कि—

(क) हृदि तिष्ठद्दशांगुलम् (यजुर्वेद ३१) और

(ख) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गीता)

अर्थात्—भगवान् का मुख्य निवास स्थान प्राणी का हृदय प्रदेश है। इन प्रमाणों के अनुसार हृदय को प्रभावित करने के लिए ही जाप होता है सो मध्यांगुली की धमनी का ही हृत्प्रदेश से सीधा सम्बन्ध है अतः जाप में उसी का उपयोग होता है। यवनादि इस रहस्य को नहीं जानते वे तो केवल विद्यालय के प्रथम श्रेणी के बालकों की भांति केवल गोलियें गिनकर ही अभी एक-दो गिनना सीखने के अभ्यासी हैं।

तुलसी रुद्राक्ष आदि की क्यों ?

श्री वैष्णव तुलसी शङ्ख और कमलाक्ष की माला, शैव रुद्राक्ष

ौर भद्राक्ष की माला, गाणपत्य हरिद्रा की, अमुक मन्त्र के जाप में जीयापोता या विद्रुम=मूंगे की और मारण आदि भिचारिक कृत्यों में सर्पास्थि तक की मालाओं का विधान ास्त्र में विद्यमान है।

शास्त्रीय-स्वरूप

पद्माक्षैर्विहिता माला शत्रूणां नाशिनी मता।
कुशग्रन्थिमयी माला, सर्वपापप्रणाशिनी ॥१॥
पुत्रजीवफलैः क्लृप्ता कुरुते पुत्रसम्पदम्।
प्रवालैर्विहिता माला प्रयच्छेत्पुष्कलं धनम् ॥२॥
(तन्त्रसार)

अर्थात्—कमलाक्ष की माला शत्रु नाश करती है, कुश ग्रंथि बनी पाप दूर करती है। जीयपोते के फल की पुत्र और न्तान देती है। प्रवाल 'मूंगे' की माला धन देती है।

पूर्व कथनानुसार अंगुष्ठ मध्यांगुली के संघर्ष से जो विद्युत् त्पन्न होगी, वह सात्विक, राजस, तामस किस प्रकार की पेक्षित है इसी विचार तारतम्य से विभिन्न मालाओं की व्यवस्था है। यदि केवल भगवत् पुष्टि के लिए किंवा मुक्ति के लिये जाप हो रहा हो तो इसके लिए सात्विक विद्युत् उत्पादक तुलसी आदि की सात्विक द्रव्य निर्मित माला चाहिये। कदाचित् 'म्बकं यजामहे' आदि आयुष्यवर्द्धक रजोगुणात्मक मन्त्र जपने की आवश्यकता है तो रुद्राक्ष उपयुक्त होगा। पुत्र प्राप्ति के लिए सन्तान गोपाल आदि मन्त्रों के जाप में 'जीया पोता' (जीव त्र) की माला। इसी प्रकार विघ्ननिवृत्त्यर्थं हरिद्रा की और रण मंत्रों में तामसी हड्डी आदि क्रूर पदार्थ से बनी ठीक रहेगी।

यह अनेकविध व्यवस्था इसलिये भी है कि साधक, अन्तरिक्ष में व्याप्त विद्युत् को अमुक २ शक्तियों में से यथेष्ट किसी को भी उद्वेलित कर उनसे मनचाही सिद्धि प्राप्त कर सके।

आज के वैज्ञानिकों ने केवल भौतिक विद्युत् के ही अढ़ाई गुण अभी तक समझे हैं अर्थात्—बिजली से प्रकाश होता है, यन्त्र चलता है तथा किसी वस्तु को फैलाया जा सकता है–आदि, परंतु हमारे महर्षियों ने विद्युत् शक्ति के विभिन्न ४६ स्वरूपों का पता लगाया था, जिन्हें हिन्दू शास्त्रों में ४६ मरुत् के नाम से स्मरण किया गया है। यह प्रसंग विस्तारपूर्वक हमने 'पुराण दिग्दर्शन' में प्रकट किया है।

कहना न होगा कि हमारे यहाँ केवल मन्त्र संख्या जानने मात्र के लिये ही माला की व्यवस्था नहीं है। कदाचित् ऐसा होता तो फिर तत्तत् कार्यों में विभिन्न मालाओं का विधान न होता; मालाओं का अनेकविध्य ही इस बात का प्रबल प्रमाण है, कि यह व्यवस्था सुतरां दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पर आधारित है।

माला कण्ठी गले में क्यों ?

प्रसंग-वश यहां यह भी प्रकट कर देना अनावश्यक न होगा, कि गले में माला कण्ठी बांधने की भी शास्त्र में व्यवस्था मिलती है यह क्यों ? इसलिये कि—

(१) अधिक जाप करने वाले व्यक्ति को—खासकर जो उपांशु—चुपचाप ओष्ठ और जिह्वा को हिलाये बिना—जिसका कि शास्त्र में अधिक माहात्म्य वर्णित है—जाप करता हो उसकी कण्ठ धमनियों को अधिक परिश्रम करना पड़ता है, इसलिये भय है

कहीं वह साधक गलगण्ड, कण्ठमाला आदि रोगों से पीड़ित न हो जाय, इस खतरे से बचने के लिये तुलसी रुद्राक्ष आदि दिव्य वृक्षों से बनी कण्ठी माला धारण की जाती है, ये वृक्ष उक्त रोगों को दूर करने की अव्यर्थ औषधि हैं।

बच्चों को दाँत और दाढ़ उत्पन्न होने के समय बड़ा कष्ट होता है, एतदर्थ बहुत से गृहस्थ इस कष्ट से मुक्ति पाने के लिये विदेशी लुटेरों द्वारा तैयार किया कथित बिजली का फीता खरीद कर बच्चों के गले में बांधते हैं, यद्यपि इस फीते में केवल तांबे और जस्ते का एक दो तार काले कपड़े में सिला रहता है, परंतु मूर्खलोग इसी दो आने की वस्तु को रुपयों की खरीदकर देश का लाखों रुपया विदेशियों की भेंट चढ़ाते हैं। हमने स्वयं अनुभव करके देखा है कि यदि बच्चों के गले में तुलसी रुद्राक्ष की माला कण्ठी पहिनाई जाए तो दांतों के उद्गम के कष्ट के अतिरिक्त गलगण्ड कण्ठमाला आदि रोगों की भी निवृत्ति हो जाती है। उक्त बिजली का फीता कहे जाने वाली विदेशी वस्तु से तो हमारे अपने देश की कौडियों, छोटे शंखों, शिरस के बीजों से बनी कण्ठी सस्ती और अधिक लाभप्रद सिद्ध होती है, प्रायः देहातों में इसका प्रयोग भी होता है अब कुछ विलायती चाकचिक्य के भक्त उक्त देशी साधनों को छोड़कर विदेश की ओर ताकने में ही अपनी शिष्टता समझते हैं, परन्तु वस्तुतः कपर्दिका आदि वस्तुएं हैं बहुत लाभप्रद। यदि व्याघ्रनख, चांदी और सोने का भी उक्त कण्ठी में सन्निवेश हो तो फिर बहुत सी संक्रामक बीमारियों से भी बच्चा सुरक्षित रह सकता है।

(२) धार्मिक दृष्टि से यज्ञोपवीत की भांति कण्ठी माला भी हिन्दुत्व का अनिवार्य चिह्न है। विशपों और पादरियों के गले में

लकड़ी का क्रास और ईसा को दी गई फाँसी का फंदा=नैकटा
अवश्य रखते हैं। ईसाइयों के धार्मिक चिह्न नैकटाई को बाँधक
तो भारतीय भी अभी तक 'नाक–कटाई' का प्रदर्शन करते है
मौलाना साहिब के गले में तो पण्डित जी की भांति ही लम्
तसबी लटकती रहती है। वास्तव में इस पवित्र वस्तु को लटका
के लिये गले से अच्छा अन्य उपयुक्त स्थान भी तो नहीं है।

माला के एक सौ आठ दाने क्यों ?

कर-माला दांये हाथ की अंगुलियों के बारह पर्वों में
अनामिकाके मध्यम पर्व से आरम्भ करके दक्षिणावर्त रीति
घूमते हुए इसी पर्व पर समाप्त हो जाती है। इस गणना
मध्यमांगुली का मध्यम पर्व ही केवल छूटता है, शेष ग्यारह प
आ जाते हैं। माला के अभाव में इसका भी उपयोग होता है।
'नक्षत्र-माला'–सत्ताइस मणके और एक सुमेरू से बनती है। परं
सर्व कार्यों में नित्य कार्य में आने वाली माला एक सौ आठ दाने
की होती है, जिसके ऊपरी भाग में सुमेरू पृथक् रहता है। इस
एक सौ आठ ही दाने क्यों होते हैं ? न्यून वा अधिक क्यों नहीं
होते ? यह भी एक जिज्ञासा हो सकती है।

(१) एक सौ आठ दानों का प्रथम कारण यह है कि 'अण्ड
पिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड के प्रकृति के नियन्त्रण
निरन्तर चारों दिशाओं में घूमती हुई नक्षत्रमाला को देखकर
भारतीय ऋषियों ने भी नक्षत्रों की संख्या सत्ताइस को दिशाओं
की चार संख्या से गुणित करके एक सौ आठ संख्या मणकों
वाली अपनी माला का निर्माण किया है। अर्थात्—सत्ताइस
चौका पूरे एक सौ आठ ही तो होते हैं। अतः न्यून वा अधिक
का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) एक सौ आठ दाने का दूसरा कारण यह भी है, कि जिस नक्षत्र माला के आधार पर जाप माला की कल्पना की गई है उन सत्ताइस नक्षत्रों में प्रत्येक नक्षत्रों के चार चरण होते हैं जैसे 'चू चे चो ला' अश्विनी आदि,–जिसे सभी साक्षर जानते हैं। सो समस्त सत्ताइस नक्षत्रों के कुल मिलाकर १०८ ही चरण होते हैं, इस गणना के अनुसार जाप माला के १०८ दाने ठीक हैं। यहां यह भी अधिक जान लेना चाहिए कि 'नक्षत्र माला के आधार पर हमारी ये माला बनी है'—यह केवल हमारी कल्पना नहीं है अपितु हमारे इस विवेचन में एक अटल हेतु भी विद्यमान है। माला के दोनों किनारों को मिलाकर जहां एक किया जाता है उस स्थान के सर्वोच्च दाने को 'सुमेरू' कहते हैं, सो हमारे ब्रह्माण्ड की नक्षत्र माला के भी दोनों किनारे जहाँ सम्मिलित होते हैं, उस स्थान को 'सुमेरू पर्वत' के नाम से नाम से ही पुराणादि ग्रंथों में स्मरण किया गया है ; जैसे कोल्हू का एक किनारा एक कील पर स्थिर रहता है और दूसरा किनारा चारों ओर वर्तुलाकार घूमता है, ठीक इसी प्रकार नक्षत्र माला का भी एक किनारा ध्रुव की ओर सुमेरु नामक कील पर सुस्थिर है और दूसरा पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता है। ध्रुव और तत्सम्बद्ध धृताक्ष नाम के दोनों तारों और सप्तर्षि मण्डल के सात तारों के परिक्रमण से हमारी यह वात ठीक समझ में आ सकती है। इसलिए जप माला और नक्षत्र माला दोनों के ही संयोजन स्थान को 'सुमेरू' कहने के कारण कोई भी विचारक उक्त दोनों वस्तुओं की समता का सहज में ही अनुमान कर सकता है।

(३) माला के एक सौ आठ दाने का तीसरा कारण यह भी है कि अहोरात्र में मनुष्य के श्वासों की स्वाभाविक संख्या

इक्कीस हजार छः सौ' वेद शास्त्रों में निश्चित की है यथा—

षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यात्मकं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
(चूड़ामणि उपनिषद् ३२।३३)

इस विषय का सप्रमाण विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ में अन्यत्र देखा जा सकता है। अहोरात्र में यदि आधा समय शयन, भोजन अन्यान्य संसारिक कृत्यों का अर्थात्—लोक साधना-का माना जाए और आधा परमार्थ साधना का माना जाए, तो २१६०० श्वासों के आधे १०८०० (दश हजार आठ सौ) श्वास हरिभजन के लिए निश्चित समझने चाहियें, शास्त्र कहता है कि हमारे जीवन के ये श्वास व्यर्थ नहीं जाने चाहियें, भाषा कवियों ने भी इसी आशय से कहा है कि—

श्वास २ हरि नाम जप, वृथा श्वास मत खोय ।
न जाने इस श्वास का आना होय न होय ॥

सो यदि हम शास्त्र विधि के अनुसार प्रतिदिन एक माला भी जाप कर दें तो हमारे ये सब श्वास सार्थक हो सकते हैं, क्योंकि विधिवत् किया हुआ जाप—'उपांशु स्यात् शतगुणः' (मनु २।८६) के अनुसार सौ गुणा हो जाता है। अब इन सब शास्त्र व्यवस्थाओं का समन्वय कीजिए। कल्पना करो—एक व्यक्ति प्रतिदिन कम-से-कम एक माला 'उपांशुजप' करता है; एक सौ आठ दाने की माला घुमाने से १०८ बार मन्त्र या हरिनाम जपा। उपांशुजाप होने के कारण इसका फल सौ गुणा हुआ, फलतः १०८×१००=१०८०० होता है। अर्थात्—मनुष्य के आधे श्वासों के बराबर हो जाता है। इस तरह मनुष्य के दिनभर

के श्वासों को सार्थक बनाने के लिये कम से कम जितने जाप की आवश्यकता है, उसका ठीक हिसाब १०८ दानें की माला बनानें पर ही बैठ सकता है। इसलिए भी माला के एक सौ आठ दाने ही उपयुक्त हैं।

(४) चौथा कारण यह है कि—'शतपथ ब्राह्मण' के दशवें काण्ड में 'अथ सर्वाणि भूताणि' इत्यादि प्रघट्ट में लिखा है, कि एक संवत्सर के दश हजार आठ सौ मुहूर्त होते हैं और इतने ही वेदत्रयी के पंक्ति युग्म होते हैं। पुरुष की पूर्णायु सौ वर्ष मानी गई है यदि १०८०० मुहूर्तों को जीवन के वर्षों की संख्या १०० पर विभक्त किया जाए तो १०८ होते हैं। कम से कम इतना भी नित्य जाप करने से पंक्ति पाठ सम्पन्न हो जाएगा।

(५) बुद्धि के सामान्य धरातल से जरा गहराई में पैठकर झांकें, तो माला को १०८ संख्या, ब्रह्मात्मैक्य प्रेरणा के आध्यात्मिक तल को स्पर्श करती हुई दिखाई देगी। सृष्टि और प्रलय के गहनतम रहस्य से ओत-प्रोत माला की यह संख्या साधक को ब्रह्मसायुज्य का अधिकारी बनाती है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह अखिल विश्व ही ब्रह्म रूपी सूत्र में पिरोई हुई माला है; सच्चिदानन्दमय ब्रह्म ही सुमेरू स्वरूप है और उससे ही प्रारम्भ और उसी पर समाप्त हो जाने वाले ये १०८ मणके सर्ग एवं प्रलय के उपादान कारणों की प्रतिमूर्ति के अतिरिक्त कुछ हैं ही नहीं। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

अर्थात् -यह सम्पूर्ण संसार सूत्र में पिरोई हुई मणियों की तरह मुझ में अनुस्यूत है।

जरा विचार पूर्वक समझने का प्रयत्न कीजिए कि सर्ग एवं प्रलय के उपादान भूत वे कौन-कौन से मणके हैं, जो ब्रह्म में

ओतप्रोत हैं। भगवान् कृष्ण ने जगदुत्पत्ति का वर्णन करते हु
कहा हैं :—

भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ (गीता ७-

अर्थात्—भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, मह और अव्यक्त यह आठ प्रकार की परा प्रकृति है (जिससे यह स्थू संसार उत्पन्न होता है) इसके अतिरिक्त एक अपरा नामक प्रकृ है जो जीव रूप धारण करके संसार को धारण करती है जिसका वर्णन गीता में इससे आगे ही—**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृ विद्धि मे पराम्**—आदि द्वारा किया गया है।

अष्टधा प्रकृति में वर्णित सभी पदार्थ विभिन्न गुणों से यु हैं। गीता के विलोम क्रम को छोड़कर अनुलोमक्रम से विचा कीजिए। सृष्टि का मूल है ब्रह्म,—जो कि निर्गुण निर्विकार ए नित्य सत्य है; वह एकत्वयुक्त है। उससे उत्पन्न अव्यक्त में इ गुण के अतिरिक्त आवरण शक्ति का प्राधान्य है जिससे उसक स्वभाव दो प्रकार का हो जाता है। इससे आगे महत् है, जिस उपरोक्त दो गुणों के अतिरिक्त विक्षेप शक्ति का समावेश है, फलतः वह त्रिगुणात्मक हुआ। अहङ्कार ब्रह्म का चतु विकार है, जो मल के आधिक्य और पूर्ववर्ती पदार्थ के ती गुणों को भी धारण करने से ४ गुणों वाला हुआ। इ प्रका आगे के आकाशादि सभी पदार्थ अपने एक विशेष गुण के सा पूर्ववर्ती पदार्थों के गुणों से भी युक्त होते हैं, जैसा कि भगवा मनु ने कहा है—

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥

अर्थात्—क्रम से कहे हुये अव्यादिक्त पदार्थों के गुणों परवर्ती पदार्थ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार इनमें जो वि

जितने गुणों को धारण करता है, उतने गुणों वाला कहलाता है। इस रीति से अब अष्टधा प्रकृति वर्णित सब पदार्थों के गुणों का संकलन कीजिए । अव्यक्त–२, महत्–३, अहङ्कार–४, आकाश–५, वायु–६, तेज–७, जल–८, भूमि–९ और नवगुणात्मक जगत् को धारण करने वाली अपरा प्रकृति १०=५४। यह तो हुई सृष्टि प्रक्रिया और इसी क्रम से प्रलय समझनी चाहिये । फलतः सुमेरू रूप ब्रह्म से आरम्भ करके ५४ उपादानों द्वारा जिस सृष्टि का निर्माण हुआ था वह ५४ उपादानों द्वारा ही प्रलय को प्राप्त होकर, १०८ की संख्या पूरी कर सुमेरू पर ही समाप्त हो जाती है ।

कहा जा सकता है कि जपकर्ता का प्रलयोत्पत्ति के इन सब कारणों से क्या सम्बन्ध ? परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि जाप का उद्देश्य माया जनित मोह का उच्छेदन कर जीव को ब्रह्म स्वरूप बना देने में हैं। माला इस में और अधिक सहायक सिद्ध होती है; वह प्रलयोत्पत्ति वर्णन द्वारा कार्य कारण और जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कर जीवके ऊर्ध्वगामी बनने में सहायक सिद्ध होती है ।

कहना न होगा कि यदि केवल जाप संख्या मात्र जानना माला का उद्देश्य होता तो फिर निःसन्देह सौ दाने या इसी प्रकार किसी पूरी संख्या के दानों को माला ही उपयुक्त होती । चूंकि इसमें अनेक आध्यात्मिक और वैज्ञानिक हेतु विद्यमान हैं इसलिये माला के १०८ दाने ही होने चाहियें न्यूनाधिक नहीं ।

श्री १०८ क्यों ?

प्रधान धर्माचार्यों और जगद्गुरुओं को श्री १०८ लिखने की प्रचलित परिपाटी का हेतु भी स्पष्ट है। हमारे इस ब्रह्माण्ड में समस्त ग्रह पिण्डों से ऊपर नक्षत्र कक्षा कही जाती है। नक्षत्र से ऊपर अन्य कोई पिण्ड नहीं—सो हम जिस व्यक्ति को सर्वोच्चपद

प्रदान करना चाहें उसे नक्षत्र कक्षा से ही उपमित कर सकते हैं। यह पदवी प्रायः परिव्राजक अर्थात्—निरन्तर सर्वत्र घूम-घूम कर धर्म प्रचार करने वाले महात्माओं के साथ ही प्रयुक्त की जाती है। अतः यहां भी नक्षत्र संख्या और दिग् संख्या को गुणित करके २७×४=१०८ लिखा जाता है। आजकल जो श्री एक हजार एक सौ आठ और अनन्त श्री लिखने का प्रचार हो चला है यह जहां सौ से अधिक सहस्र और सहस्र से अधिक लक्ष इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते हुये 'अनवस्था' दोष से ग्रस्त होने के कारण अन्त में निरर्थक सिद्ध होता है वहाँ 'होली' से बड़ा 'होला' तो 'दीवाली' से बड़ा 'दीवाला' का भी प्रत्यक्ष निदर्शन है।

भोजन

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) अन्नं ब्रह्म इत्युपासीत।

(ख) उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुत्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥
पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
(मनुः २। ५३-५४)

(ग) अन्नं ब्रह्मारसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।

(घ) अन्नं विष्ठा, जलं मूत्रं यद् विष्णोरनिवेदितम्॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड २७।

(ङ) अस्नायी समलं भुङ्क्ते, अजपी पूयशोणितम् ।
सूर्य्यायार्घ्यमदत्वा च नरः किल्विषमश्नुते ।
(स्कन्दपुराण)

अर्थात्—(क) अन्न ब्रह्म है यह समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। (ख) दोनों हाथ दोनों पांव और मुख इन पांचों अंगों को) जल का उपस्पर्श करके नित्य सावधान होकर अन्न को खाना चाहिए, और भोजन के उपरान्त भली प्रकार आचमन करना चाहिए तथा जल के द्वारा मुखस्थ छहों छिद्रों का स्पर्श करना चाहिये। नित्य प्रथम भोजन का पूजन करना चाहिए और बिना निन्दा किये खाना चाहिये। भोजन को देख कर हर्षयुक्त होना चाहिए और प्रसन्नतापूर्वक उसका अभिनन्दन करना चाहिये। (ग) अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और और खाने वाले महेश्वर हैं। (घ) विष्णु भगवान् को भोग न लगा अन्न विष्टा के समान है और जल मूत्र के तुल्य है। (ङ) बिना स्नान किये भोजन खाना मल के तुल्य है। जप किये बिना भोजन खाना मल खाने के तुल्य है। जप किए बिना भोजन खाना राध, पीप, रुधिर खाने के समान है। और सूर्य को अर्घ दिये बिना भोजन करना पाप खाने के समान है।

वैज्ञानिक विवेचन

उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणों में प्रधानतया जिन-जिन नियमों का संकेत किया गया है इन सबकी विस्तृत व्याख्या करने पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ तैयार हो सकता है; इसलिए हम यहां केवल अत्यावश्यक बातों का ही उल्लेख करेंगे। भोजन का सर्वप्रधान यह नियम है कि उसे केवल क्षुत् निवृत्ति का साधन, पेट भरने

मात्र के लिए किया जाने वाला क्षुद्र कार्य नहीं समझना चाहिए। बल्कि खाद्य पदार्थ को साक्षात् ब्रह्म समझकर, भक्षण करना उसकी उपासना जैसा पवित्र कार्य मानना चाहिए। अब यदि भोक्ता भोजन खाने से पूर्व यह भावना सुदृढ़ बनाले कि मैं पेट भरने नहीं चला, किन्तु भगवदुपासना करने चला हूँ, तो अन्य सब नियम अपने आप ही पालन करने अनिवार्य हो जायेंगे; जैसे ईश्वर की उपासना में हाथ-पांव प्रक्षालन करके शुद्ध धौतेय वस्त्र पहिनकर आसन पर बैठते हैं और सावधान मन से मौन होकर यथाविधि सब कृत्य करते हैं, तथैव भोजन के समय भी वैसे ही सब काम करना चाहिये। ईश्वर उपासना में किसी अपवित्र वस्तु को निकट भी नहीं आने देते। इसी प्रकार भोजन में भी कोई अपवित्र वस्तु चौंके में नहीं घुसने देनी चाहिए।

यदि विचार किया जाये तो भोजन के इस प्रथम नियम से ही तत्सम्बन्धी अनेक शङ्काओं का अपने आप निराकरण हो जाता है। अब यदि कोई पूछे कि भोजन से पूर्व स्नान क्यों करे? जूता क्यों उतारे? वस्त्र क्यों उतारे? कुर्सी पर क्यों न बैठें? चौंका क्यों लगायें? आसन पर क्यों बैठें? मौन क्यों रक्खें? लसुन, प्याज, मद्य, मांस आदि का उपयोग क्यो न करें? होटलों में यवन चाण्डाल खानसामाओं का पकाया क्यों न खायें? और कांच और चीनी के बर्तनों में क्यों न खायें? तो इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जा सकता है, कि यदि केवल पेट भरने के लिए खाना खाना हो, तब तो तुम पशुओं की भांति स्वतन्त्र हो जब जैसे जो चाहो यथेच्छ खाओ; परन्तु यदि दीर्घजीवी बनने के लिए भोजन करना है तो ईश्वर की उपासना में उपयुक्त न होने वाले सब रंग ढंग सब वस्तुजात अवश्य छोड़ने होंगे।

सबको खिलाकर खाओ

भोजन का दूसरा प्रधान नियम है कि मनुष्य को पहिले समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों को खिलाकर पश्चात् स्वयं खाना चाहिए। यहां प्रश्न किया जाता सकता है कि 'यह कैसे सम्भव हो सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने परिमित भोजन से समस्त ब्रह्माण्ड के अगणित प्राणियों को परितृप्त कर सके'। शास्त्र में इस नियम के पालनार्थ एक बहुत ही सरल मार्ग का निर्देश किया है जिसका नाम है 'बलि वैश्वदेव'।

प्रत्येक गृहस्थ के यहां नित्य पाँच प्रकार से बहुत से जीवों की अनिवार्य हत्या होती है। चूल्हे में आग जलाते, अन्न को कूटते, पीसते, छानते पछोड़ते समय और जलघट रखते समय बहुत से जीव न चाहते हुए भी मर ही जाते हैं। इन पांच दैनन्दिनी हत्याओं को दूर करने के लिए प्रत्येक सद्गृहस्थ को नित्य पांच महायज्ञ करने की शास्त्र-विधि है। (१) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना और पढ़ाना 'ब्रह्मयज्ञ' है, (२) पितरों का तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है, (३) हवन करना 'देववज्ञ' है, (४) बलि वैश्व देव 'भूतयज्ञ' है और (५) अभ्यागत को भोजन खिलाना 'अतिथि यज्ञ' है।

तात्पर्य यह है कि यदि धनसम्पन्न पुरुष स्वयं पकाएँ और स्वयं ही खा जाएँ परन्तु भोजन मात्र पर धर्म्मप्रचार करने वाले संन्यासियों महात्माओं साधुओं और विद्वानों की सार खबर न लें, इससे निश्चित ही धर्म्मप्रचार को और वेदादि शास्त्रों के पठन-पाठन की सबकी सब परम्परा विनष्ट हो जाएगी, जिसका पाप उस धनिक को होगा। यदि धनी स्वयं भरपेट भोजन खाए

और उसी मोहल्ले में पड़ोस में रहने वाली एक सती साध्वी विधवा अपने बाल-बच्चों को भूखा देखकर आँसू बहाये-उसकी इस विवशता से लाभ उठाकर धूर्त गुन्डे उसे लावारिश प्रापर्टी समझकर धर्मभ्रष्ट करने के लिए सुअवसर समझें, तो ऐसी दशा में अनाथ विधवा के अत्युष्ण आंसुओं की सतत धारा से क्लिन्न वह धनिक के थाल में परसा भोजन खाने पर कभी पच न सकेगा ! हजम न हो सकेगा !! इसीलिए आज के अधिकांश धनिक प्रायः अजीर्ण--बदहजमी रोग के शिकार रहते हैं। कारण स्पष्ट है, कि जो धनिक देव, पितृ, अतिथि, पूज्य, विद्वान्, अनाथ और विधवाओं का भाग न निकालकर स्वयं अकेले ही सबका स्वत्व हड़पने का प्रयास करेंगे, तो प्राणीमात्र के हृदय में जाठराग्नि रूप से विराजमान भगवान् प्रथम तो भोजन को देखते ही अनिच्छा—अरुचि प्रकट करेंगे।

इतने पर भी यदि सेठ साहिब बलात् उदर दरी में भोजन डालने का प्रयत्न करेंगे, तो भगवान् केवल उतना भाग ही पचने देंगे जितना कि इसका वस्तुतः अपना है, अन्य व्यक्तियों के भाग जीर्ण न होने पाएँगे। बार बार जमाल घोटे को गोली खाकर या फ्रूट साल्ट पीकर जुलाब लेने के लिए ही विवश होना पड़ेगा। सो यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक भोजनकर्ता शूकर कूकर की भांति केवल अपना ही पेट भरने का प्रयत्न न करे, किन्तु यथाशक्ति वित्तशाठ्य को छोड़कर अन्यान्य सभी उपजीवियों को भी परितृप्त करने का सतत प्रयत्न करे।

वैश्वदेव—आदर्श-समाजवाद

आज कथित समाजवादी उदरम्भर पाश्चात्य देशों की झूठन समेटकर भारत में भी तादृश समाज रचना की रेतीली

दीवार खड़ी करने का विडम्बना पूर्ण प्रयास कर रहे हैं, परन्तु यदि वे सनातन धर्म को समाज रचना के एक साधारण नियम 'बलि वैश्वदेव' का ही मनन कर सकें और राजसत्ता के प्रभाव से जनता में तादृश आचरण का वातावरण उत्पन्न कर सकें, तो अपने आप ही खाद्य समस्या हल हो जाए, फिर घूसखोरी और चोर बाजारी के जननी जनक राशन व्यवस्था और कंट्रोल की आवश्यकता ही न पड़े। परन्तु दुर्भाग्यवश ! आज तो खाद्य समस्या को हल करने के लिए केवल कागज के कलेजे पर कलम चलाना मात्र पर्याप्त समझा जा रहा है।

अस्तु, 'बलि वैश्वदेव' में श्रोत्रिय विद्वान् से लेकर कीट पतंग पर्यन्त सभी उपजीवियों को परितृप्त करने के अनन्तर ही गृहाध्यक्ष दम्पति को भोजन करने की आज्ञा है। धर्मशास्त्रों की इस व्यवस्था के नियमों को पढ़ते हुए सुस्पष्ट यह भान होने लगता है कि हिन्दू धर्म में केवल मौज मजा उड़ाने के लिए हो किसी व्यक्ति को विवाह करने को आज्ञा नहीं दी जा सकती। जो, न केवल सब आश्रमों के ही पालन पोषण का भार उठाने को प्रतिज्ञाबद्ध हो किन्तु **'आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त'** समस्त विश्व को परितृप्त करने के लिये अपने ऊपर दायित्व ले सके, वही व्यक्ति समावर्तन संस्कार की दीक्षा पा सकने का अधिकारी समझा जा सकता है।

यद्यपि बौद्ध शासन काल से ही अन्यान्य वैदिक प्रथाओं की भांति उक्त प्रथा भी बहुत शिथिल पड़ने लगी थी, परन्तु तब भी आद्य शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि धर्माचार्यों के प्रबल परिश्रम से यथा कथञ्चित् सुरक्षित रह पाई थी। गत सहस्राब्दी से तो अहिन्दू शासन के कारण राजसत्ता के नियन्त्रण बिना प्रायः नाम शेष ही रह गई है।

बलिवैश्वदेव का संक्षिप्त संस्करण

बलिवैश्वदेव के जटिल विधान का सुगम संक्षिप्त संस्करण पञ्चग्रासी है, जो जैसे तैसे भी धर्म रक्षण किये जाने के सद् विचार से यथाशासन प्रचरित हुआ है। बलिवैश्वदेव में जहां मण्डल बनाकर अमुक-अमुक दिशा में अमुक-अमुक देवता के नाम से अमुक-अमुक संख्याक ग्रास रखे जाते थे, वहां 'पञ्चग्रासी' में केवल पांच ग्रास और वे भी एक ही साधारण स्थान में रखने से शास्त्र विधान का रक्षण हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के समय में ही बलिवैश्वदेव का स्थान पञ्चग्रासी ने ग्रहण कर लिया था। तभी तो रामचन्द्र जी की बारात की जोनार का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने—"पञ्च कवलि करि जेमन लागे'—लिखा है।

बलिवैश्वदेव में समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों को परितृप्त करने के लिये प्रत्याहार सिद्धान्त से काम लिया गया था। यह तो सभी जानते हैं कि कोई व्यक्ति अपने चार मुट्ठी भर भोजन में से अनन्त प्राणियों को साक्षात् खिलाकर परितृप्त नहीं कर सकता और नांही अनेक जीवों को, चिड़ियाघर को छोड़कर अन्यत्र कहीं इकठ्ठा किया जा सकता है। तथापि महर्षियों ने वैदिक दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से इस कठिनाई को सुगम बनाने के निमित्त प्रत्येक वर्ग के सर्वोत्तम और सर्वाधम जीवों को चुनकर विश्वपूजा का आदर्श उपस्थित किया था, जैसे मनुष्यों में सर्वोत्तम वेदपाठी ब्राह्मण हो सकता है और सर्वाधम श्वपाक चाण्डाल हो सकता है। पशुओं में सर्वोत्तम गौ और सर्वाधम कुत्ता, पक्षियों में गरुड़ और काक,—इस प्रकार उक्त सब जीवों को यथायोग्य ग्रास दिया जाता है। जैसे कोई भारत का सम्मान

करने के निमित्त यदि यहां के किसी एक प्रतिनिधि का भी सम्मान करे तो वह समस्त देश का सम्मान समझा जाता है, ठीक यह व्यवस्था वैश्वदेव विधि में प्रस्तुत है। पञ्चग्रासी में केवल पांच ग्रास निकालने का भी यही तात्पर्य है। वेद में यत्र तत्र 'पञ्चजन' शब्द का बहुत प्रयोग आता है। भाष्यकारों ने,—देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य और गन्धर्व, तथा चार वर्ण पांचवां निषाद, एवं उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज और मनसिज, इस प्रकार से विभिन्न अर्थ करके समस्त चराचर को पांच भागों में विभक्त किया है। लोक में भी समस्त मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था का नाम भी 'पंचायत' और 'पंचों में परमेश्वर' ये दोनों कहावतें प्रसिद्ध हैं।

दरिद्रनारायण संस्करण

त्रिकालज्ञ महर्षि आज के युग से सर्वथा सुपरिचित थे। यह तो केवल हमसे अल्पज्ञ प्राणी ही 'किं भविष्यति' के विषय में किंकर्तव्य विमूढ हैं। परन्तु अपनी 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा जिन्होंने हस्तामलक को भांति भूत भविष्यत् वर्तमान का अनुसन्धान किया हो, वे महात्मा तो काल की व्यावहारिक अनेकता में भी पारमार्थिक एकता के साक्षात् दर्शन करते हैं। जैसे बहुत बार अनुभव करने के कारण मध्याह्नकालीन सूर्य के प्रखर तेज की विद्यमानता में भो सांयकालीन घोर अन्धकार की अनिवार्यता को प्रत्यक्ष देखते हैं और ग्रीष्मकालीन उष्णता की विद्यमानता में भी शिशिरकालीन शीतता की अनिवार्यता को नहीं भूलते, ठीक इसी प्रकार त्रिकालदर्शी महर्षियों ने विभिन्न युगों के तारतम्य को जानकर पहिले से ही तत्कालीन युगधर्मों का प्रतिपादन किया है। सी आज के इस भयंकर युग में जब कि प्रत्येक प्राणी

को तुल तुलकर चन्द तोला अन्न मिलता हो पांच ग्रास की कौ कहे—एक ग्रास भी किसी दूसरे को देना मानो मृत्यु को निमंत्र देना जान पड़ता है—तब पञ्चग्रासी कौन कर सकेगा ? इसलि बलिवैश्वदेव के अतीव संक्षिप्त दरिद्रनारायण संस्करण आविष्कार हुआ है, जिसे हम भक्तों की भाषा में ठाकुर जी भोग लगाना कह सकते हैं।

सब जानते हैं, कि ठाकुर जी को भोग लगाने में कौड़ी पा का खर्च नहीं होता, घर में रूखा सूखा जो भी भोजन बना है उसे आधे सैकिण्ड में भगवदर्पण कर देना—आर्थिक दृष्टि कोई महंगा सौदा नहीं है। एक बार जब एक महाशय ने हम पूछा कि क्या ठाकुर जी खाते हैं ?—तो हमने उत्तर दिया, यह प्रश्न तो उल्टा मुझे आपसे पूछना चाहिये; क्योंकि वेद शा की आज्ञा है कि भोग लगाना चाहिये, परन्तु आप भोग लगाने सौ आनाकानी करते हैं। तब मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि ठाकुर जी खाते हैं' ? अर्थात् तुम जो सामने रक्खे भोजन को केव आधा मिनट आँख बन्द करके ईश्वर समर्पण करते हुवे घबड़ा हो क्या तुम्हें खतरा है, कि ठाकुर जी इसे खा जायेंगे ? सो यदि किसी नास्तिक को पूरा भरोसा है, कि ठाकुर जी नहीं खाते त तो भोग लगाने में उसे कुछ भी खतरा नहीं होना चाहिए। निश्चिन्त होकर आंख बन्द करके '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमे समर्पये**' कहते हुये, पंचविध हत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिये।

भोजन के समय पालनीय नियम

अनेक शास्त्रों का मथन करने पर जो भोजन करने के सम अवश्य पालनीय नियम मिलते हैं—हम पाठकों के ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये उन्हें यहां अंकित करते हैं—'आचारादर्श' ग्रं

में उक्त महर्षियों के नाम से ये प्रमाण उद्धृत हुए हैं यथा:—

(क) न वेष्ठितशिराश्चापि नासन्दीकृतभाजनः ।
नैकवस्त्रो दुष्टमध्ये सोपानत्कः सपादुकः ॥
न चर्म्मोपरि संस्थश्च चर्म्मवेष्टितपार्श्ववान् ।
ग्रासलेशं न चाश्नीयात् पीतशेषं पिबेन्न तु ॥
शाकं मूलं फलेक्ष्वादि दन्तच्छेदैर्न भक्षयेत् ।
सञ्चयेन्नान्नमन्नेन विक्षिप्तं पात्रसंस्थितम् ।
बहूनां भुञ्जतां मध्ये न चाश्नीयात्त्वरान्वितः ॥

(ख) न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत (मनु)

(ग) न नावि भुञ्जीत (आपस्तम्ब)

(घ) एकवस्त्रो न भुञ्जीत कपाटमपधाय च । (देवल)

(ङ) खट्वारूढो न भुञ्जीत (यम)

(च) यस्तु पाणितले भुङ्क्ते यश्तु फूत्कारसंयुतम् ।
प्रसृतांगुलिभिर्यश्च तस्य गोमांसवच्च तत् ॥
(ब्रह्म पुराण)

(छ) न भुञ्जीताऽघृतं नित्यं सर्पिराहुरघापहम् । देवल)

(ज) नोच्छिष्टो घृतमादद्यात् (विष्णु)

(झ) करे कार्पासके चैव पाषाणे ताम्रभाजने ।
बटार्काश्वत्थपत्रेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
पलाशपद्मनीचूतकदलीहेमराजते ।
मधुपत्रेषु भोक्तव्यं ग्रासमेकं तु गोफलम् ॥
(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—(क) शिर ढांपकर भोजन न करे। कुर्सी पर था रखकर न खाये। एकमात्र वस्त्र पहिने और दुष्ट लोगों सामने भोजन न करे। मृगादि के चर्म पर बैठकर भोजन करे। जूता, चप्पल, खड़ाऊं पहिनकर भोजन न करे! च पर बैठकर और चमड़े—(पतलून की पेटी, तस्मे, घड़ी को चं द्वारा आवेष्टित भोजन न करें। किसी पदार्थ को दांतों से कु कर पुनः न खाए। एक बार होठों से लगाकर पिए हुए पानी अवशिष्ट भाग को पुनः न पीए। शाक, मूल, फल, गन्ना आ दांतों से काटकर न खाए। थाली में बिखरा भात आदि भोज पूरी रोटी के साथ इकट्ठा न करे। पंक्ति भोजन में सब खाते रहने पर स्वयं झटपट खाने का प्रयत्न न करे। (ख) फू बर्तन में न खाए। (ग) नांव में भोजन न करे। [लम्बी यात्रा अनेक कमरों वाले—महाजलयान=स्टीमर इसका अपवाद है (घ) केवल एक वस्त्र पहिने और किवाड़=पड़दा विना ब किए विना भोजन न करे। (ङ) चारपाई=खाट पर बैठ भोजन न करे। (च) खुली हथेली पर रखकर जोर जोर सड़प्पे मारकर=फू फू करते हुए और अंगुलियें फैला भोजन न करे। (छ) बिना घृत भोजन न करे, क्योंकि घृ ही भोजन के अनेक पापों का विनाशक है। (ज) उच्छिष्ट= झूठे पदार्थ में घृत नहीं डालना चाहिए। (झ) हाथ प कपड़े पर, पत्थर और तांबे के बर्तन में, बट, अर्क अश्वत्थ= बड़, आक, पीपल के पत्तों से बने दौने और पत्तलों पर नहीं खाना चाहिए। पलाश=ढाक, पद्मिनी=कमल, आम और केले से बनी पत्तल पर, सोने और चांदी के बर्तनों में तथा महुए के पत्ते पर भोजन करना लाभप्रद है।

नियमों का स्पष्टीकरण

उपर्युक्त नियमों पर ध्यान देने से यह भली प्रकार समझ में आ सकता है कि त्रिकालदर्शी महर्षियों ने कितनी गहराई तक भोजन समस्या पर विचार किया है। शिर पर कपड़ा बांधकर भोजन करने से शरीरस्थ ऊष्मा जो कि भोजन के समय समस्त मानवपिंड में व्यापृत होने के कारण जागृत हो जाता है—बाहर नहीं निकल पाता इससे बुद्धि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। (सैनिक प्रवृत्ति वाले पुरुष जो कि स्वयं ननु नच न करके सेनापति की आज्ञानुसार ही अपना कर्तव्य पालन करते हैं वे इसके अपवाद कहे जा सकते हैं। सिख सम्प्रदाय भी इसी कोटि में परिगणित है। इसीलिए खालसा हर समय तैयार रहता है।)

कुर्सी आदि पर बैठकर भोजन इसलिए निषिद्ध है कि उन पर बैठकर भोजन करते हुये पांव नीचे लटकाने पड़ते हैं अर्थात्–आसन बांधकर नहीं बैठा जा सकता इससे नाभि से सम्बद्ध अधोभाग की सब धमनियें तनी रहने के कारण पाचनक्रिया पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, तभी तो पाश्चात्य लोगों को और उनके मानसपुत्र कुछ भारतीयों को भोजन के साथ सोडे आदि पाचकपेयों की आवश्यकता पड़ती है। प्राचीनकालीन उत्तरीय वस्त्र की भांति आज के सभ्य भी रुमाल अनिवार्य मानते हैं, अन्यथा भोजन के समय छींक आने पर किंवा श्वासनलिका में भोजन जलांश के सम्पर्क से खरखरी=अत्थू—हो जाने पर भारतीय तो शायद अगत्या धोती के छोर से यथाकथंचित् निर्वाह भी कर ले परन्तु मिस्टर अपटूडेट मिश्र को तो आड़े वक्त पर नाक पोंछने के लिये पतलून काम न दे सकेगी। अतः पर्णी=साफा=अंगोछा आवश्यक है।

दुनिया भर के मल, मूत्र, थूक सिणक में सने तलों वा बूट, चप्पल, खड़ाऊ पहिनकर भोजन करना मानो संसार के रोगों को अपने घर में निमन्त्रित करना है। चमड़ा वैसे दुर्गन्धपूर्ण परमाणुओं से बनी एक अपवित्र वस्तु है? फि उसका भोजन के समय सम्पर्क कहां की सभ्यता है? आज दुर्भाग्यवश हाथ में बन्धी रिस्टवाच की चैन कलाई पर बन्धे भोजन करने का, या परसने का प्रचार बहुत बढ़ रहा है उन्हें यह मालूम नहीं कि ये नर्म चमड़े—'गोसल्ला' से तैया किये जाते हैं। गोसल्ला का तात्पर्य है, कि सगर्भा गाय के के बच्चे को जन्म से पूर्व ही विष आदि के इन्जैक्शन से मा दिया जाता है। केवल गोसल्ला चर्म विदेशों को भेजने के लि भारत में लाखों गोवत्स प्रतिवर्ष मारे जाते हैं, इनका पाप चमड़े को व्यवहार में लाने वाले लोगों को ही लगता है, मण्डी में ऐसी वस्तुओं की खपत न हो तो फिर अत्याचा अपने आप ही खत्म हो जाएँ। अतः भोजन के समय चमड़े सर्वविध सम्पर्क सर्वथा वर्जनीय है।

एक ग्रास को दाँतों से कुतरकर उसे पुनः पुनः खाना वर्जि है, क्योंकि आज के नए परीक्षणों से यह सिद्ध हो गया है, एक बार मुंह से संपृष्ट वस्तु के साथ जो मुखान्तवर्ती पानी सयोग हो जाता है, यदि उसे तत्काल खुर्दबीन=स्वल्पवीक्ष यन्त्र से देखा जाय तो उसमें अगणित कीट संसक्त हुवे दी पड़ेंगे। पुनः उसी ग्रास के खाने पर या पीत शेष जल के पर वे विकृत अवस्था में उदर में जाकर कई प्रकार के संक्राम रोगों की उत्पत्ति के हेतु बन सकते हैं। दांतों के साथ मूली, आदि कैड़ी चीजों का काटना दांतों का स्थान च्युत क का कारण बन जाता है-यह बात सभी भुक्तभोगी जान सकते हैं

कढ़ी शाक आदि 'अम्लतायुक्त पदार्थों को रोटी किंवा पूड़ी कचौड़ी के टुकड़ों के साथ थाली में इधर से उधर घसीटना ठीक नहीं, क्योंकि पात्र में स्वभावतः लगे जंग को टुकड़ों से चिपकाकर पेट में डालने से कई बार तबियत मचलाने लगती है; यह एक प्रकार का विष ही होता है, जो अधिक मात्रा में पेट में जाने पर वमन=कै तक करा डालता है।

भोजन में तीन व्यक्ति कण्टक माने गए हैं। 'आदि-कण्टक'—जो देर में पहुँचे और प्रतीक्षा में अन्य लोगों को पीड़ित करे। 'मध्य-कण्टक'—जो पानी का पात्र लुढ़कादे, रायते का शिकोरा गिरा दे, बुरी तरह से सड़प्पे मारकर साथियों को ग्लान करदे इत्यादि। 'अन्त्य कण्टक'—जो स्वयं झटपट पूरा भोजन करके साथियों के मुंह की ओर ताकता हुआ दृष्टि-दोष लगाने को उद्यत हो, अथवा सबके तृप्त हो जाने पर भी पंक्ति भर में अकेला खाता ही रहे, जिसकी प्रतीक्षा में अन्य सब तंग होने लगे। सो यहां अन्त्य-कण्टक का उल्लेख किया गया है। फूटे बर्तन में भोजन करने से कई भद्र पुरुषों की अंगुली टूटे किनारे में उलझ कर घायल हो जाती हैं, कइयों का घृत चू जाता है। नाव में भोजन करने से अन्यान्य यात्रियों के अतिरिक्त गरीब मल्लाह भी तो मुंह की ओर हीन-दीन दृष्टि से बार-बार ताकता रहेगा, जिससे दृष्टिदोष की पूरी सम्भावना है। कटिवस्त्र के अतिरिक्त दूसरे वस्त्र की आवश्यकता का उल्लेख किया जा सकता है। दृष्टिदोष निवृत्त्यर्थ किवाड़ बन्द करना किंवा पड़दा लगाना आवश्यक है। चारपाई पर भोजन करना इसलिए वर्जित है कि प्रत्येक घर-गृहस्थ को यहां अवश्य ही समय-समय पर बाल-बच्चे उस पर मल-मूत्र का परित्याग कर देते हैं; उसे चाहे कितना भी प्रक्षालन क्यों न किया जाए, तथापि रस्सियों

की सन्धियों से मल का रह जाना अनिवार्य है। साथ ही भोज द्रव्य, खीर, कढ़ी, शाक, सब्जी आदि भी परसते हुए कि खाते हुए भी हाथ से छूटकर गिर जाने अनिवार्य हैं, रात में सो हुए पुन; वही पदार्थ अपने ही बिस्तर किंवा शरीर में न चि कोंगे इसकी गारन्टी कौन कर सकता है।

नंगी हथेली पर रखकर वस्तु खाने में निश्चित ही बां हाथ की हथेली को पात्र बनाया जाएगा और दायें से खा जाएगा, ऐसी स्थिति में मलद्वार को स्वच्छ बनाने में प्रयो होने वाले हाथ का मुंह से संयुक्त होना अनेक रोगों का कार बन सकता है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार नाभि से ऊ भाग में दायें हाथ का और नाभि से नीचे वाले भाग में बां हाथ का उपयोग होना चाहिए जिससे स्वास्थ्य सुरक्षित र ऊंचे स्वर में फू-फू करते हुए सड़प्पे मारकर खाने से साथि को बड़ी ग्लानि होती है. फिर स्वभाव पड़ जाने पर सर्वत्र वह व्यक्ति वैसा ही करता है, ससुराल में ऐसे व्यक्तियों उपहास होते हमने स्वयं अनुभव किया है। अंगुली फैला खाने से भी तरल वस्तु टपकती रहती है जिससे सब कु छींटम-छींट हो जाता है, अत: इसका निषेध है।

निश्चित ही घृत भोजन के अनेक दुर्गुणों को दूर कर दे है। वेद में 'आयुर्वै घृतम्' के अनुसार घी को साक्षात् आयु माना है। शुष्क अन्न अनुपात में भी अधिक खाना पड़ता इसलिये घृत भोजन का अनिवार्य अंग है। उच्छिष्ट वस्तु घृत जैसे रत्न का सम्पर्क करना किसी ब्राह्मण को बला कीचड़ में ढकेलने के बराबर है, शुद्ध में ही घृत मिला चाहिए। पत्थर उच्छिष्ट हो जाने पर धोने मात्र से शुद्ध नहीं सकता, क्योंकि वह भी एक पार्थिव द्रव्य ही है। ताम्रपात्र जल के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जल्दी विकृत हो जाते हैं।

आक पीपल के पत्ते का खाद्य पदार्थों से संपृक्त होना स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद है, क्योंकि ये सब दूध वाले वृक्ष हैं। ढाक कमल केला आदि स्वभावतः विशुद्ध हैं। इनके ऊपर प्रकृति ने ऐसी पालिश की है कि कोई पदार्थ इनसे विलिप्त नहीं हो सकता। सोना चांदी तैजस पदार्थ हैं; अतः इनका सम्पर्क अन्न को और भी विशुद्ध कर देता है। इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में आवश्यक बहुत से नियम प्रकट किये गये हैं जो धर्मशास्त्रों में देखे जा सकते हैं। विधिवत् भोजन करने का परिणाम आयुष्य वृद्धि है।

भोजन के नियम पालन से आयुष्य वृद्धि

यह बात कोई भी प्रतिपक्षी स्वीकार कर सकता है, कि आज भी भोजन की जो मर्यादा वैष्णवों में—उनमें भी खासकर श्री सम्प्रदाय में प्रचलित है, यह शास्त्रोक्त आदर्श के सर्वाधिक निकट है, क्योंकि पीछे हमने भोजन के जो प्रधान चार नियम प्रकट किये हैं, वे उक्त सम्प्रदाय में अभी तक अक्षुण्ण चले आते हैं। भोजन को भगवत्सेवा समझना, अभक्ष्य भक्षण से दूर रहना दृष्टिदोष से बचने का विशेष ध्यान रखना और भगवान् को अर्पण करके तत्प्रसादरूपेण ही उसे स्वीकार करना,—उक्त नियमों के पालन का प्रत्यक्ष फल श्री सम्प्रदाय के समुद्धारक यतिवर्य श्री रामानुजाचार्य महाराज के जीवन चरित्र में समुपलब्ध हो सकता है। आप ही एक मात्र ऐसे धर्माचार्य हुये हैं, जिन्होंने कि कांची से काश्मीर तक श्रीसम्प्रदाय की विजय वैजयन्ती फर्राते हुये और प्रस्थानत्रयी पर अखण्ड भाष्य रचकर जहां शारीरिक और मानसिक उभयविध परिश्रम सहन में क्षमता की पराकाष्ठा कर दिखाई, वहाँ इस कलिकाल में भी १२० वर्ष की पूर्णायु

भोगकर स्वेच्छा से वैकुण्ठ को प्रस्थान किया। उक्त प्रघट्ट के लेखन में किसी सम्प्रदाय विशेष की प्रशंसा करना मात्र हमें अभीष्ट नहीं, किन्तु अन्यान्य सभी लोग भोजन सम्बन्धी नियमों का आग्रह पूर्वक पालन करते हुए दीर्घायु बन सकें यही हमार अभिप्राय है।

कितनी बार चबाकर खाना चाहिए?

आज यह प्रश्न बड़ा ही जटिल बना हुआ है कि भोजन ग्रा को कितनी बार चबाकर खाना चाहिये? पाश्चात डाक्टरों की प्राय: सम्मति है और उनके अन्ध विश्वासी पाश्चात्‍ शिक्षा-दीक्षित भारतीय भी यह कहा करते हैं कि कम से क बत्तीस बार ग्रास को खूब चबाकर खाना चाहिये। परन्तु अन्धे में चांदमारी करने वाले इन महाशयों से यदि पूछा जाए, कि यदि खीर मोहन भोग किंवा मक्खन खाना हो तो वह चबा की तो वस्तु नहीं है, क्या उसे भी बत्तीस बार चबाना चाहिये या उसे बैरङ्ग कार्ड लिफाफे की भांति तत्काल लेटर बक्स डाल लेना चाहिये? अथवा और कुछ उछल कूद मचानी चाहिये इसलिये ३२ बार चबाने या खूब चबाने की वे लोग कोई ऐ कसौटी नहीं बतला सकते जिससे कि 'खूब' का पता चल स या ३२ का समन्वय बैठ सके। आज मानवसमाज वेदोक्त प्रा निक नियमों से कितनी दूर चला गया है—यह बात हमारी नी लिखी पंक्तियों से भली प्रकार समझ में आ सकेगी।

भगवान् ने मानवपिंड में मूत्रेन्द्रिय और जिह्वा में रसानु की सर्वाधिक योग्यता स्थिर की है, इसीलिये लोग प्राय: शिश्नोद परायण बने हुए हैं, परन्तु वस्तुत: भोजन और मैथुन के बाद ग्लानि अनुभव होती है—उसकी विद्यमानता में (यदि उक्त दो

इन्द्रियों में यह रसास्वादन की योग्यता न होती तो) कोई भी मनुष्य पुनः भक्षण और मैथुन में प्रवृत्त न होता और इस तरह संसार का प्रवाह ही परिसमाप्त हो जाता ! परन्तु भगवान् को संसार की सत्ता अभीष्ट है, इसलिए जिह्वालौल्य और शिश्नसुख स्पर्श के लालच से ही मनुष्य इस असुखोदर्क मंहगे सौदे को खरीदने में पुनः पुनः प्रवृत्त होता है। यहां कामशास्त्र का प्रसङ्ग नहीं है, अतः शिश्नरस की शास्त्रीय विवेचना–यदि ग्रंथ के कलेवर ने आज्ञा दी तो यथास्थान अन्यत्र की जाएगी। परन्तु भोजन प्रसङ्ग में जिह्वा की इतिकर्तव्यता का विश्लेषण करना परमावश्यक है। पाठक यह न भूले होंगे कि हम यहां इस प्रश्न का प्राकृतिक उत्तर देने चले हैं कि ‘भोजन ग्रास कितनी बार चबा-चबाकर खाना चाहिए ?

सनातनधर्म का सीधा उत्तर है कि प्रत्येक भक्ष्य भोज्य लेह्य और चोष्य पदार्थ को तब तक कण्ठ के नीचे नहीं उतरने देने चाहिए, जब तक कि उसमें रस विद्यमान रहे। पाठक यह अटपटा उत्तर सुनकर चौंके नहीं, किन्तु जरा धैर्यपूर्वक पूरी बात सुनें। शास्त्र में लिखा है कि—

जाठरो भगवान्नग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः।
सौक्ष्म्याद्रसानादानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥

(बृहन्निघण्टुरत्नाकर ५)

अर्थात्—जाठराग्नि रूप भगवान् साक्षात् ईश्वर है जो खाए हुए अन्न को पकाता है। वह रस को ग्रहण करता हुआ भी सूक्ष्म होने के कारण नहीं दीख पड़ता।

हमने भोजन विज्ञान के ‘शास्त्रीय स्वरूप’ में यह प्रकट किया है कि अन्न ब्रह्मा है, रस विष्णु है और भोक्ता महेश्वरदेव है,

इसका रहस्य यह है कि अन्न में सृजन-शक्ति है, उसके रस में रक्षातत्व निहित है तथा उसके परिपाक में मृत्युञ्जयत्व की विद्यमानता है। जो व्यक्ति शरीर का निर्माण, उसका संरक्ष और प्रतिगामी तत्त्वों का निराकरण चाहता है, उसे भोज खाते समय तीन बातों का विशेष ध्यान रखना होगा। प्रथ बात—कण्ठ से नीचे मीठा खट्टा चरपरा सभी रस समान हैं, अत प्रत्येक पदार्थ रस-रहित होकर ही पहुँचना चाहिए। क्योंकि नाभि-मण्डल में विराजमान श्रीब्रह्मा का यही भाग नियत है यदि आमाशय में रसों का सांकीर्य होगा तो मेदा ख़राब हो जाएगा। मल दुर्गन्धी से युक्त हो जाएगा। अतः ब्रह्मा का भा ही ब्रह्मा को मिलना चाहिए; तभी रस-रक्त आदि का सृज सुचारु रूप से हो सकेगा।

दूसरी बात -रस विष्णु है अर्थात् विष्णु का भाग है। विष्णु इधर अन्न में—'**रसो वै सः**' के अनुसार व्याप्त है, उधर जिह्वा में रसना रूप से विराजमान हैं। जिह्वाग्रवर्ती रसना ही ए मात्र समस्त रसों का आस्वादन करने वाली है, अतः भोजन का रस भाग रसना को ही प्राप्त होना चाहिए। इसलिए जब त मुख में डाला पेड़ा मीठा मालूम पड़े तब तक उसे मुख में ही पपोलते रहना चाहिए। इसी प्रकार जब तक नमकीन पदार्थ सलोना मालूम पड़े, तब तक उसे अन्दर न ढकेलना चाहिए। नए अभ्यासी को कुछ दिन तक ऐसा करने में अड़चन अवश्य मालूम पड़ेगी, क्योंकि सतत अभ्यास के कारण प्रत्येक पदार्थ जल्दी ही गले के नीचे बैठना चाहेगा, परन्तु इस कुप्रवृत्ति से '**शनैः शनैरुपरमेत्**' के अनुसार युद्ध करके यावत् रसास्वादन ग्रा को मुख में ही रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो प्रथ दिन ही विधिवत् भोक्ता को अनुभव होने लगेगा कि थोड़ी ही

देर में मुख में पड़े ग्रास का खट्टा-मीठा चरपरा स्वाद क्रमशः विलीन हो रहा है और अन्त में खीर मोहन भोग दहीबड़ा सभी वस्तु फीकी बन गई हैं। क्योंकि हमारी जिह्वा से निकलने वाला एक स्वाभाविक जल ज्यों-ज्यों भोजन ग्रास में मिलता जाएगा त्यों-त्यों भोजन का रस विलीन होने लगेगा। इस जिह्वा से निकले पानी को आजकल के वैज्ञानिक चूने का रस बतलाते हैं। जिह्वा निस्सृत उक्त जल के सम्पर्क से क्लिन्न, भोजन-ग्रास जहां आमाशय में पहुँचकर शीघ्र जीर्ण हो जाने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वहाँ रस-रक्त आदि का क्रमिक विकास भी सुगमता से हो जाता है। इसलिए विष्णु का सूक्ष्म भाग रस, रसना को ही मिलना चाहिए।

तीसरी बात—परिपाक की क्रिया की स्वाभाविकता के कारण जीवननाशक प्रतिगामी तत्त्वों का जो क्षय होगा, वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः इसका यहां निरूपण करना अनावश्यक है। यदि पूर्वोक्त दोनों बातों पर पूरा ध्यान दिया गया तो भोक्ता साक्षात् 'मृत्युञ्जय' देव अपने आपही बन जायेंगे। इसलिए भोजन कितना चबाकर खाना चाहिए, इसकी कसौटी भगवान् ने जिह्वा नियत की है। सो जो पदार्थ जब तक रसयुक्त रहे, तब तक उसे चबाना या पपोलना चाहिए, फिर यह चाहे कैड़ी कचौड़ी हो और चाहे नर्म खीर हो। इस लिए शास्त्र का स्पष्ट आदेश है कि—

अन्नग्रासो रदैः पिष्टो लालाक्लिन्नोऽन्ननाडिकाम् ।
श्वासरन्ध्रं नसोरन्ध्रं चातिक्रम्य मुखं विशेत् ॥

(बृहन्निघण्टु रत्नाकर १०)

अर्थात्—अन्नग्रास दांतों द्वारा भली प्रकार कुचला हुआ ही श्वास और नाक के छेद को छोड़कर मुख छिद्र में जाना चाहिए।

भोग लगाने से क्या लाभ ?

पूछा जा सकता है कि और तो सब बातें ठीक हो सक हैं, परन्तु भगवान् को भोग लगाने से क्या लाभ ?—यह सम में नहीं आता !

भोग लगाने से जो आध्यात्मिक लाभ होते हैं, उनका कु संकेत 'उपासना विज्ञान' प्रघट्ट में किया जाएगा, परन्तु म विज्ञान के अनुसार भोग लगाने से क्या लाभ होता है, यह य प्रकट करना अनावश्यक न होगा।

भोजन काण्ड का आधुनिक दृश्य

सभी सज्जनों ने यह अनुभव किया होगा, कि जब हम भोज करने के लिए बैठते हैं, तो थाली परसते-ही-परसते ज्यों २ त पदार्थों की अतीव रमणीय गन्ध चारों ओर फैलती है और पदार्थों के नेत्राभिराम स्वरूप को हम देखते हैं, तो मनीराम अ ही अन्दर बल्लियों उछलने लगता है। मन में एक उत्कण्ठा त्वरा-सी, अभिरुचि सी तरङ्गित होने लगती है। यदि भोज करने वाला ज्वरार्त नहीं है स्वस्थ है तो मन की यही उत्क तत्काल जिह्वा पर आकर नृत्य करने लगती है। रह रह जीभ में पानी भर आता है और ऐसी इच्छा होती है परसने वाले सज्जन कदाचित् सहस्रबाहु न सही, भगवती अ पूर्णा की भांति अष्टभुज या चतुर्भुज ही होते तो काली रो धौली दाल और उस पर '**तस्मै भस्मै स्वाहा**' सब काम एक बा ही निबंट जाता। कदाचित् पंक्ति भोजन हो तो दश बी भोक्ताओं में भोजनशाला के निकट सर्वप्रथम बैठे सज्जन सामने स्वभावतः प्रथम परसा जाएगा, फिर क्रमशः आगे-

नम्बर आएगा। बस! अब सामने बिल्कुल सामने—जीभ केवल डेढ़ फुट दूर रक्खे भोजन की घ्राणतर्पण गन्ध, उसका नीयतम रूप, भोक्ता को बेचैन करने लगता है। परसने वालों की तत्परतापूर्ण दौड़-धूप में भी दीर्घसूत्रता—सुस्ती का आभास होने लगता है। कभी-कभी तो मन-ही-मन ऐसे शिष्टाचार पर भी क्रोध आने लगता है, जो कि पूरी पंक्ति के पास भोजन न परसे जाने तक व्यर्थ ही सीने पर सांप लौटने के लिए बाध्य करता है।

जिनके सामने परसा जा चुका हो वे लोग अब टकटकी बांधे आतिथेय=यजमान=मेजवान के होठों की ओर उत्कण्ठित दृष्टि से ताकने लगते हैं, कि कब वह—'हां! महाराज!' कह कर मोदकों से मल्लयुद्ध करने की आज्ञा देते हैं। ऐसे समय में यदि निरा निठल्ला मूसलचन्द, निमन्त्रित सज्जनों की तालिका निकालकर सम्भाल करने की भूल कर बैठे और चिल्ला उठे कि 'सुनो सुनो! अभी पाधा जी तो आये ही नहीं।' बस फिर क्या था? सभी भोक्ताओं की प्रवृद्ध आशाओं पर तत्काल तुषारपात हो जाता है। तब कोई भोक्ता यजमान को जली-कटी सुनाने लगते हैं तो कोई अभी तक न पहुँचने वाले श्रीमान् जी पर झींखते हैं। कभी-कभी तो ऐसे समय में यह काण्ड इतना उग्ररूप धारण कर लेता है, कि या तो समुपस्थित भोक्ता इस असह्य वेदना के प्रतिकार लिये बगावत का झण्डा ऊंचा करके यजमान के परमिट की प्रतीक्षा बिना किये स्वयं ही—'लड्डू चैव जलेबियां प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्'—करने पर उतारू हो जाते हैं और यजमान को अगत्या 'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्' की शरण लेनी पड़ती है। या दुर्भाग्यवश कभी यजमान की उग्र मुख मुद्रा देखकर 'एज-ए-प्रोटैस्ट' वाक आउट करने की नौबत आ जाती है।

हां ! तो पाठक इस अन्तिम रंग में भंग काण्ड का ध्
छोड़कर परसी पत्तल के सुखद स्वप्न में तल्लीन हो जाएं
आतिथेय तार स्वर बोल उठा—श्रीमन्नारायण भगवान्
जय । भोक्ता तो पहिले से ही तैयार बैठे थे, जैसे कई बार दौ
भाग के खेल में व्यायाम शिक्षक के एक दो···कहते ही···ती
की प्रतीक्षा किए बिना, कई जल्दबाज विद्यार्थी 'तकार' उच्चा
रण से पूर्व ही दो डग भर चुका करते हैं, ठीक इसी प्रकार यह
भी यजमान द्वारा बड़े अन्दाज के साथ **'उपदेशार्थे वृत्ति कुर्या
विलम्बितम्'** के अनुसार दूरस्थ भोक्ताओं के लिए प्लुत करके
'श्रीमन्नारायण को ३' बोला, कि 'जय' से पहिले ही पहि
यजमान के कान में चपाचप की ध्वनि पहुँच चुकती है। इतनी देर से मुंह में भरा पानी घूंटकर बड़ी त्वरा के साथ आवश्यकता से अधिक बड़े-बड़े ग्रास, बिना ही पूरी तरह चबाए पत्तल से हाथ में, हाथ से मुंह में, और मुंह से पेट में, दबादब समाने लगते हैं । इस समय जीभ को रसास्वादन की आज्ञा नहीं होती, उसका तो केवल इतना ही काम रहता है कि कुली की भांति जो बंडल मुंह में पड़े उसे तत्काल स्टोर में ढकेल दे ! लगभग एक चौथाई पेट भरने तक यही क्रम चालू रहता है, यह सब काण्ड इतनी लाघवता से सम्पन्न होता है, कि तुलसीदास जी के शब्दों में—**'लेत उठावत खेंचत गाढ़े—लखा न केहि सब देखत ठाढ़े'**- के अनुसार केवल रिक्तप्रय: पत्तल को देखकर ही समझ में आ सकता है, कि गाड़ी कितना मार्ग लांघ चुकी है ।

सावधान !

सम्भव है पाठक हमारी इस द्रौपदी के चीर के समान

वायमान भोजन भूमिका को पढ़कर यह अनुभव करने लगें कि आखिर हम भुक्त भोगियों के सामने इस सर्वविदित न्दिनी घटना का औपन्यासिक भाषा में वर्णन करने का ा तात्पर्य ? परन्तु हम सावधान कर देना चाहते हैं, कि नव समाज को इस नित्य की भयंकर भूल से किस प्रकार रोत्तर जगत् के स्वास्थ्य और आयु का स्तर गिरता जा हा है—यह उपेक्षा का विषय नहीं है।

निःसन्देह उपर्युक्त रीति से खाए गए भोजन द्वारा जहाँ स्वास्थ्य का सत्यानाश होता है वहाँ अन्न का भी अपव्यय होता है। यह समस्या एक दृष्टांत द्वारा जल्दी समझ में आ सकती है। ल्पना करो किसी न्यायालय में अनेक नौकर काम देते हैं। ो सेवक हैं, जो नित्य प्रातःकाल कमरे को झाड़ते बुहारते हैं। र्मी में छिड़काव करते हैं और सर्दी में अंगीठी दागते हैं। एक खा कुली है, एक गुलदस्ते सजाने वाला माली है, एक आवाज गाने वाला चपड़ासी है, एक लेखक है—ये सब लोग यथायोग्य अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। यहाँ एक विचारपति न्यायाध्यक्ष है जिसे अमुक घटना को सुनकर और समझकर अन्तिम निर्णय पर केवल हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। न्यायालय का काम ठीक चल रहा है। अब कदाचित् सब नौकर हड़ताल पर हों, न्यायपति को ही झाड़ू बुहारी से लेकर हस्ताक्षर पर्यन्त सब काम अपने हाथ से करना पड़े तो वह कितने दिन कार्य कर सकता है। आखीर उसे भी त्यागपत्र देना ही होगा। इसी प्रकार हमारे भोजन कार्यालय में भी अनेक सेवक हैं और उन सबके पृथक् २ कर्तव्य हैं, नेत्र भोजन का रूप देखते हैं—मक्खी बाल कोई हेय वस्तु नहीं है यह परीक्षण करते हैं। हाथ उष्णता की जांच करता है—कि भोजन कहीं अत्युष्ण तो नहीं है।

[चम्मच से खाने वाले कई आधुनिक बाबू शीघ्रतावश ग
गरम मोहनभोग मुंग में डालने की भूल कर बैठते हैं, जब
दग्ध होने लगता है, तो उसे लज्जा के मारे बाहिर तो उ
नहीं झट अन्दर गुटक जाते हैं। जिससे गला मेदा सब
होते चले जाते हैं।] दांत उसको खूब कुचल-कुचलकर पि
बना देते हैं। जिह्वा खूब रसास्वादन लेकर उसमें अधिका
स्वनिसृत जल मिला देती है। इस इस प्रकार यदि सब सेव
द्वारा पूरी तरह अपना-अपना कर्तव्य पालन करने के
भोजन का ग्रास आमाशय में पहुँचता है, तो जाठराग्नि
न्यायाधीश को केवल हस्ताक्षर रूप पाचन मात्र करना प
है, परन्तु यदि इसके विपरीत दांतों से उनका काम न ले
और जीभ से उसका काम न लेकर ग्रास को शीघ्रता से आम
शय में ठूंस दिया जाता है, तो बिना चबाए मोटे-मोटे अन्न
के नानाविध रसों से भरपूर होने के कारण जाठराग्नि को
सब कृत्य करने के लिए विवश होना पड़ता है। जैसे जज कु
का काम नहीं कर सकता, इसी प्रकार जाठराग्नि दांतों
काम नहीं कर सकती।

रस और अन्न का विश्लेषण करना जीभ का काम है, जै
कागजों को छांटकर फायल करना रीडर का काम होता है।
यदि यह भी न्यायाधीश को ही करना पड़े तो परिणाम य
होता है कि इधर यथावत् काम न लेने से जहाँ दाँत समय से
पूर्व अस्तीफा दे देते हैं, वहाँ कुछ दिन के बाद जाठराग्नि भी
त्यागपत्र दे बैठती है। इस तरह सभी स्वास्थ्य चौपट हो जाता
है। यह प्रत्यक्ष है, कि हम अपने जिस अंग से उसका काम न
लेंगे वह शिथिल पड़ जाएगा। उस अंग का रक्त प्रवाह बन्द हो
जायगा और जिस अंग से आवश्यकता से अधिक काम लेंगे वह

जवाब दे जाएगा। तपश्चर्या के नाम पर हाथ न हिलाने कई हठी भिखमंगों का जड़प्राय: सूखा हुआ हाथ हमने ों देखा है, और स्टुडियो की चकाचौंध के आधिक्य से य से पूर्व अन्धे हुए सिनेमा के नट और नटियें सचमुच रात टिमटिमाने वाले स्टार=तारे ही बने सर्वत्र देखे जा सकते । इसलिए इस प्रकार की स्वाभाविक भूल से बचने का एक त्र उपाय ठाकुर जी को भोग लगाना है।

भोजन सामने आते ही ज्योंही मनमें उत्कण्ठा का भयंकर ान उत्पन्न होने लगा, कि भोक्ता उसके पनपने से पूर्व ही नों आखें बन्द करके यथोचित मन्त्र श्लोक पढ़ते हुए भगवद् यान में तल्लीन हो गया। मनकी वृत्ति भोजन की जिघृक्षा के च्छ लाभ में न रह कर भगवान् के लोकोत्तर प्रेमरस में बकियें लेने लगी! त्वरा और जल्दबाजी को निष्ठा का डण्डा दिखाकर रफूचक्कर कर दिया। यदि पंक्ति भोजन हुआ तो हस्रशीर्षा' के लम्बेपाठ द्वारा जहाँ तत्रस्थ वातावरण को त्वगुणमय बनाने का पुनीत कृत्य सम्पन्न हुआ, वहाँ समस्त क्ति के सामने सम्यक् सब पदार्थ पहुँचने का भो अपेक्षित समय मिल गया। इसी बीच यदि देर से आने वाले सज्जन भी आ पहुँचे, तो सब काम ठीक ठाक हो गया, कोई अवांछित काण्ड होने की सम्भावना नहीं रही। अब जब कि दूध के उफान रीखा मन का वह उमड़ता हुआ तूफान शान्त हो गया, तो न्न बड़े २ ग्रास बिना चबाए, बिना रसास्वादन लिए अन्दर ठूंसने की प्रवृत्ति अपने आप बन्द हो गई। जब यथावत् पूर्वोक्त रीति से अन्न का सूक्ष्मांश रस रसना को प्राप्त हुआ और स्थूलांश आमाशय में पहुँचा, तो इस रस विश्लेषणात्मक कृत्य के कारण जीभ थोड़े ही भोजन में परितृप्त हो गई अन्न थोड़ा ाया गया परन्तु तृप्ति खूब हुई।

उक्त विधि से भोजन करने के लाभ।

हमने जो शास्त्रानुमोदित भोजनविधि लिखी है तदनु भोजन करने से भोक्ता को निम्नलिखित मुख्य लाभ होंगे :—

(१) भोजन को अन्न रूपी ब्रह्म की उपासना समझने से भी एक धार्मिक अनुष्ठान बन जाएगा, जिससे मनुष्य की धार्मि निष्ठा को प्रोत्साहन मिलेगा।

(२) भोग लगाकर भगवत् प्रसाद समझकर खाने से कि भी अभक्ष्य अपेय वस्तु का स्वभावत: सम्पर्क न हो सकेगा औ अन्न में अपना ममत्व भी न रहेगा।

(३) सबको देकर खाने की क्रियात्मक भावना से जमींदा और किसान, मिल मालिक और मजदूर, पूंजीपति औ शोषित—इत्यादि जितनी भी आज की समस्याएँ हैं, वे समाहि हो जाएँगी।

(४) आज की प्रचलित भोजन व्यवस्था के अनुसार बहु अन्न पेट में चले जाने पर भी रसास्वादन के लिये तबियत मचलती रह जाती है। जब पेट हो अँट जाता है उस विवशता का नाम—'धाप गया' 'रज गया' 'तृप्त हो गया' रक्खा गया है परन्तु जीभ का भाग जीभ को देने की दशा में पेट कम अटेगा और तृप्ति अधिक मिलेगी। अर्थात् थोड़े भोजन में ही तबियत भर जाएगी। इससे कम खर्च और अधिक लाभ होगा।

(५) यदि संसार की सरकारें उक्त एक ही नियम के पालन के लिये अपने-अपने देश के लोगों को प्रोत्साहित करें तो आज की खाद्य समस्या, राशन समस्या और कन्ट्रोल समस्याएँ हल हो जायेंगी।

(६) विधिवत् भोजन करने का यह परिणाम होगा, कि बैल भैंस बकरी आदि जीवों की भांति मनुष्य के मल में दुर्गन्ध न

ती क्योंकि दुर्गन्ध का कारण यही है, कि हम आवश्यकता से धिक खा जाते हैं और उसमें विभिन्न रसों का अपच अंश वशिष्ट रहता है। गाय आदि जीव रोमन्थ=जुगाली करके ने भक्ष्य को जिह्वा के पानी से परिप्लुत कर लेते हैं, परन्तु नुष्य को यह कार्य खाने के समय ही कर लेना चाहिए। इससे न्धासवो मूत्रपुरीषमल्पम्' के अनुसार योगियों की भाँति भोक्ता ा पसीना और मल तक दुर्गन्धित नहीं रहता।

यदि उपर्युक्त रीति से भोजन किया जाएगा तो समस्त न्द्रियें अन्त तक सुरक्षित रहेंगी और स्वस्थतापूर्वक पूर्णायु की प्त होगी।

पेट पर हाथ फेरना क्यों ?

भोजनानन्तर बांया हाथ पेट के ऊपर दक्षिणावर्त फेरते हुये नीचे लिखा श्लोक बोलना चाहिये :—

अगस्त्यं कुम्भकर्णञ्च, शनिं च बडवानलम् ।
आहारपरिपाकार्थं, स्मरेद् भीमं च पञ्चमम् ॥

अर्थात्—अढ ई चुल्लू में समुद्रपान कर जाने वाले महर्षि अगस्त्य, बहुभोजी महाकाय कुम्भकरण, जिसकी एक नजर ड़ने से ही अकाल पड़ जाता है ऐसे शनिदेव, सब कुछ भस्मसात् कर देने वाली वाडवाग्नि, और अतोव तीव्र जाठराग्नि वाले भीमसेन इन पाँच व्यक्तियों का भोजन के सम्यक् परिपाक के लिये स्मरण करना चाहिये।

कहना न होगा कि 'भावनावाद' के अनुसार प्रबल जाठराग्नि सम्पन्न, व्यक्तियों का स्मरण मनुष्य के मन में भोजनोपरान्त होने वाली स्वाभाविक ग्लानि को दूर करने में सहायक

होगा । साथ ही पेट पर दक्षिणावर्त रीति से फेरा हुआ बां हाथ—दांई कोखवर्ती आमाशय में पहुँचे हुये सद्यः भुक्त भो को वामकुक्षीवर्ती मलाशय की ओर गतिशील बनाने में सहा होगा ।

जलार्द्र अंगुली आंखों पर क्यों लगायें ?

प्रक्षालित गीली करांगुलियों द्वारा नेत्रों को छूने का प्रत्य लाभ तो तत्काल ही अनुभव होने लगता है । भोजन के सम मुख यन्त्र के व्यापार संलग्न रहने के कारण स्वभावतः सम शरीर में और खासकर नेत्रों में जो ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है वह जल की क्लिन्नता से दूर हो जाती है । इसीलिये भोज के आरम्भ में और अन्त में हाथ, पाँव, मुख आदि अङ्गों धोकर **'पञ्चार्द्रो भक्षयेन्नित्यम्'** इस शास्त्रविधि का पालन कि जाता है ।

चंक्रमण (चहल कदमी) क्यों ?

भोजनोपरान्त थोड़ी देर शनैः-शनैः घूमना चाहिये, शास्त्र में लिखा है कि—**'भुक्त्वा शतपदं गच्छेत्'** अर्थात्—भोजन खाकर कम से कम सौ कदम चलना चाहिये ऐसा क्यों करना चाहिये ?—इसका सहेतुक विवेचन भी सुस्पष्ट लिखा है । यथा

भुक्त्वोपविशतः स्थौल्यं शयानस्य रुजस्तथा ।
आयुश्चंक्रममाणस्य, मृत्युर्धावति धावतः ॥

अर्थात्—भोजन करते ही बैठ जाने से शरीर स्थूल हो जाता हैं, तत्काल सो जाने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । चहल कदमी करने से आयु बढ़ती है और भागने से मौत का खतरा बढ़ता है ।

गद्दे तकियों पर बैठने वाले अनेक मारवाड़ी सेठ कार्याधिक

ात् भोजनोपरान्त तत्काल पुनः बैठ जाने के कारण प्रथम म का उल्लंघन करके भीमकाय तुंदिल प्रत्यक्ष देखे जा सकते । तत्काल सो जाने पर अजीर्ण रोग हो जाता है—यह बात ोई भी शङ्काशील महाशय स्वयं किसी दिन अनुभव करके देख कता है।

कहना न होगा कि—**'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः'** अनुसार समस्त रोगों का मूल, एक मात्र मलों का प्रकोप है अजीर्ण से ही उत्पन्न होता है। भोजन खाकर भागने से काल दर्द होने लगता है, क्योंकि सद्यो-भुक्त भोजन जब तक ामाशय में ठीक-ठीक सुव्यवस्थित न हो जाए तब तक भाग ड़ करना खतरे से खाली नहीं। इसलिये उक्त तीनों चेष्टायें करके शनैः शनैः चंक्रमण करना ही आयुवर्द्धक है यह कोई समझदार प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

बांई करवट से लेटना क्यों ?

चंक्रमण के बाद भोक्ता को बांई करवट से लेटना चाहिये—ो शास्त्र की आज्ञा है यथा—

वामपार्श्वेण संविशेत् ।

अर्थात्—भोजनानन्तर बांई करवट से विश्राम करना ाहिये।

हम प्राणायाम प्रकरण में यह प्रकट कर आये हैं, कि मनुष्य शरीर में नासिका के जो दो छेद हैं, उनमें क्रमशः बांया चांद और दांया सूर्य है। अपने-अपने नामानुसार यह दोनों शरीर ठण्डक और गर्मी का तारतम्य ठीक रखते हैं। यह बात त्यक्ष देखी जा सकती है, कि बांई करवट से लेटने पर दांया=र्य स्वर चलने लगता है और इसी प्रकार दांई करवट से लेटने स्वभावतः बांये=चन्द्र स्वर से श्वास आने लगता है। सो

भोजन के परिपाक के लिये जाठराग्नि का उद्दीप्त होना अभिप्रेत है । इसलिये बांई करवट लेटने से ही लाभ हो सकता है।

दो काम करने और दो नहीं करने

शास्त्र में मल मूत्र त्याग और स्नान भोजन के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य विशेष नियम लिखे हैं यथा—

सन्देहेऽपि द्वयं कुर्य्यात्सन्देहेऽपि द्वयं नहि ।
कुर्य्यान्मूत्रपुरीषे द्वे, न कुर्य्यात्स्नान-भोजने ॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—स्वास्थ्य में गड़बड़ी होने के समय 'करूँ या न करूं'-ऐसा सन्देह हो जाने पर दो काम करने चाहियें और दो काम न करने चाहियें, यदि मल मूत्र के त्याग की शङ्का हो तो वे दोनों त्याग ही देने चाहियें । परन्तु यदि स्नान और भोजन में विचिकित्सा हो तो ये दोनों काम नहीं करने चाहियें ।

कारण सुस्पष्ट है, कि आलस्यवश मल मूत्र के निरोध में तो रोग उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है, परन्तु त्यागने की दशा में शौच की शङ्का न होने की अवस्था में भी किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं । ठीक इसी प्रकार अजीर्ण खट्टी डकार और अरुचि होने पर भी जिह्वालौल्यवश पुनरपि भोजन ठूंस लेने की दशा में तथा सर्दी जुकाम ज्वरांश होने पर भी स्नान करने की अवस्था में तो रोग बढ़ने की सम्भावना है, न करने पर कोई खतरा नहीं ।

दिन में क्यों न सोएं ?

ग्रीष्म ऋतु के अपवाद को छोड़कर अन्य किसी भी ऋतु में

वृद्ध रुग्ण और रात भर जगे पुरुष के अतिरिक्त सर्व ारण को दिन में नहीं सोना चाहिए–यह शास्त्राज्ञा है यथा–

दिवास्वापं च वर्जयेत्

अर्थात्–दिन में नहीं सोना चाहिए ।

यह क्यों ? इसकी हेतु परम्परा बतलाते हुए आयुर्वेद में ता है कि दिन में सोने से 'प्रतिश्याय' जुकाम हो जाता है, चिरस्थायी होकर 'कास' रोग को उत्पन्न करता है, कास आगे चलकर 'श्वास' रूप में परिणत हो जाता है ! श्वास वस्था से फुफ्फुस=फेफड़े खराब हो जाने पर 'क्षय' तपेदिक B.) जैसा असाध्य रोग बन जाता है । कहना न होगा, कि हेतु परम्परा का सभी भुक्तभोगी व्यक्ति समर्थन कर सकते जीवन में अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं जब कि दिन में–स्यवशात् सो जाने पर प्रतिश्याय का आक्रमण हो जाता शास्त्र मर्य्यादा का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को प्रकृति क्षमा नहीं कर सकती । कारणान्तर से, दण्ड मिलने में हो सकती है, परन्तु न मिले ऐसा अन्धेर नहीं ।

अन्यान्य उपयोगी नियम

प्रतिदिन पालन करने योग्य कुछ आवश्यक नियमों का भी यहाँ दिग्दर्शन कराते हैं, जिससे सर्व साधारण को लाभ हो ।

लाँग खोलकर मूत्र त्याग करे

अमुक्त्वा पश्चिमां कक्षां मूत्रयेद्योद्विजाधमः ।
तोधाः पितरस्तस्य, तन्मूत्रक्लेशपूरिताः ॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—धोती की पीठ वाली कक्षा=लांग को बिना खो जो पतित द्विज मूत्र त्याग करता हैं, उसके रेतोधाः=पि पितामहादि—पितर उस मूत्र के क्लेश से पीड़ित होते हैं।

कहना न होगा, कि लांग बन्धे शंका करते हुए कई बा हाथ से संभाली हुई धोती छूटकर मूत्र में सन जाती है, कि लघुशंकानन्तर जल से लिंग धोते हुए तो दोनों ही हाथ स्वत रहने की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, ऐसी दशा में यदि लां खोलकर पहिले से ही कटि प्रदेश मे मुडी हुई न होगी तो हा से जल लेते समय अवश्य ही छोड़नी पड़ेगी। इसलिये पतलू पैजामा-धारी बाबुओं की भांति सदैव मूत्र में भीगा सड़ि वस्त्र पहिनना भारतोय संस्कृति में ग्राह्य नहीं। वैदिकमतानुया लोग तो 'कटिनिर्मुक्त कार्पास' वस्त्र को बिना धोये पुनः क नहीं पहिनते, इसीलिये हमारे यहाँ अधोवस्त्र का नाम ही 'धौ =धोती रक्खा गया है जिसका अक्षरार्थ ही 'निरन्तर धु धुलाया पहिनने योग्य वस्त्र' है।

लांग बांधना

दुर्भाग्यवश यवनों के संसर्ग से पवित्र भारत में भी मार्ग कुछ हिन्दू युवक बिना लांग की धोती बांधना, जिसे म्लेच्छ भा में 'तहमद' या तम्बा भी कहते हैं—फैशन समझने लगे हैं खासकर जब से पश्चिमी पंजाब से उपद्रुत हिन्दू लाखों की संख्या में यत्र तत्र सर्वत्र भारत के नगर ग्रामों में पहुँचे हैं, तो भावों में कट्टर हिन्दू होते हुए भी वेश भूषा में तम्बा बांधे खासे शेख का स्वांग बनाए फिरते हैं, जिसका दुष्प्रभाव इ के लोगों पर भी पड़े बिना नहीं रहा। इसलिये कुछ दिन

मुक्त कक्ष हिन्दुओं की बाढ़ सी आ गई है। परन्तु शास्त्र में आर्य पुरुष के लिए 'मुक्त कक्ष' रहना महा पाप बतलाया है यथा—

मुक्तकक्षस्तु यो विप्रो भूमौ चलति पादतः।
पदे पदे सुरापान-फलं भवति निश्चितम्॥

(शिष्टस्मृति)

अर्थात्—जो विप्र='हिन्दूमात्र का उपलक्षण' मुक्तकक्ष= धोती की लांग लगाये बिना पैदल घूमता है, उसे कदम २ पर मद्य पान का पाप लगता है।

उपर्युक्त आदेश में 'भयानक' वचन द्वारा इस अनार्य-संस्कृति सूचक पाप से बचने की आज्ञा दी गई है। कहना न होगा कि प्रायः मद्यपान करने वाले लोग ही उन्मत्त होकर इस प्रकार कपड़े संभालने की सुध बुध भुलाकर घूमा करते हैं। इसलिए प्रत्येक आस्तिक हिन्दू को इस अहिन्दू वेश से बचे रहना चाहिए। इस आदर्श के पालन में दक्षिण भारत और ख़ासकर बंगाल के सज्जनों का आचरण अनुकरणीय है—जो पंचकक्षा धोती बांधकर हिन्दू संस्कृति की परम्परागत पुरातन मर्यादा का अभी तक अक्षुण्ण पालते करते आ रहे हैं।

रात्रि-चर्या

प्रातःकाल की भांति सायंकाल भी सन्ध्या वन्दन भगवदाराधन आदि कृत्य विधिवत् करने चाहियें। एक ही प्रहर के अन्दर दो बार भोजन नहीं करना चाहिए, ऐसी शास्त्राज्ञा है यथा—

याममध्ये न भोक्तव्यम् ।

आयुर्वेद शास्त्र में एक बार खाकर उसके जीर्ण होने से पुनः पुनः खाने से 'अध्यशन' रोग की उत्पत्ति बतलाई है।

सायंकाल चार काम न करे:—

चत्वारि खलु कार्य्याणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत् ।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम् ॥
(मनुसंहि

अर्थात्—सन्ध्याकाल में भोजन, स्त्रीसंग, नींद और पाठ ये चार काम नहीं करने चाहिए ।

सोते समय दक्षिण दिशा को पांव क्यों नहीं

'दक्षिण दिशा की ओर पांव करके नहीं सोना चाहिए।'
शास्त्र की इस विज्ञानपूर्ण आज्ञा को हिन्दू घरों की ठेठ दे
में रहने वाली अपठित देवियां भी खूब जानती हैं और वे
इसका कुछ हेतु न जानती हों तब भी धर्म के नाम पर तत्पर
पूर्वक उसका पालन करती हैं। परन्तु इसका हेतु क्या है
उसी का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते है।

कुछ समय पूर्व आधुनिक वैज्ञानिक सूर्य को स्थिर और पृ
को उसके चारों ओर घूमने वाला पिण्ड मानते थे, परन्तु
खोज करने पर विदित हुआ कि सूर्य भी अपनी ही केन्द्र की
पर घूमता है—अतः मध्ययुग में यही माना जाता रहा—पर
अब साम्प्रतिक अभिनव खोज में यह सिद्ध हो गया कि सूर्य
केवल अपनी केन्द्र कील पर ही घूम रहा है, किन्तु वह सम
सौर जगत् को अपने साथ लिए किसी अनिश्चित दिशा की

ओ प्रगतिशील है। इसलिए हमारा यह ब्रह्माण्ड प्रतिक्षण नये नये आकाश में पहुँचता रहता है। कहना न होगा कि साध्य-कोटि के ये सब अनुभव अधूरे हैं। अभी वास्तविक सिद्धान्त तक पहुंचने में उन्हें कुछ काल और लगेगा परन्तु क्रान्तदर्शी ऋषियों ने वेद की दूरबीन से उक्त सब विषयों को 'इदमित्थं' देखकर बतलाया है, कि जैसे समस्त सौर जगत् सूर्य के आकर्षण पर सुस्थिर है, ठीक इसी प्रकार सूर्य भी 'ध्रुव' नामक महापिण्ड के आकर्षण पर आधारित है।

वर्तमान वैज्ञानिक आज सूर्य की जिस कक्षा को 'अनिश्चित दिशा' मान रहे हैं हमारे यहाँ वह अनन्त सहस्राब्दियों पूर्व सुनिश्चित हो चुकी है—ऐसी स्थिति में सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, कि सौर जगत् ध्रुव के आकर्षण पर अवलम्बित है, सो वह 'ध्रुव' उत्तर दिशा में स्थित है। यदि कोई व्यक्ति दक्षिण दिशा को पांव और ध्रुव की ओर मस्तक करके सोएगा तो ध्रुवाकर्षण के तारतम्य से पेट में पड़ा भोजन,—पचने पर जिसका अनुपयोगी अंश मल के रूप में नीचे की ओर जाना आवश्यक है—वह ऊपर की ओर गतिशील हो जायगा। इससे हृदय, फुप्फुस और मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। जिस मस्तिष्क को निर्मल और स्वस्थ बनाने के लिये शयन किया जा रहा है उस पर उल्टा प्रभाव पड़ेगा। इसलिए दक्षिण दिशा की ओर पांव करके नहीं सोना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम उत्तर दिशा की ओर पांव करके सोयेंगे तो जहां भोजन परिपाक ठीक होगा, वहाँ ध्रुव के आकर्षण से दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर प्रगतिशील विद्युत् प्रवाह हमारे मस्तक से प्रविष्ट होकर पांवों के रास्ते से निकलेगा। इस तरह प्रातः जगने पर

मस्तिष्क विशुद्ध वैद्युत् परणुमाओं से परिपूर्ण एवं सर्वथा स्व
हो जाएगा।

ध्रुव के आकर्षण को प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए कि
भी जलपोत=स्टीमर में लगी कम्पास की चुम्बक की सुई
देखा जा सकता है—जो सदैव ध्रुव की ओर ही रहती है औ
अनन्त जल राशि में चलते हुए जहाजों को ठीक २ दिशा ब
लाती है। कुछ घड़ियों की चैन में भी छोटा सा ध्रुव दर्शक
रहता है, उसे बांए दांए यथेच्छ घुमाने पर भी सुई की नो
सदैव ध्रुव की ओर ही रहती है। इसलिए दक्षिण की ओ
पांव करके नहीं सोना चाहिए।

शयनकाल से सम्बन्धित 'गर्भाधान' आदि कृत्यों को संस्
प्रकरण में निरूपण किया जाएगा इस प्रकार प्रातः जागरण
लेकर शयन पर्यन्त—समस्त अहोरात्रचर्या का सांगोपांग व
करते हुए, हम इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं।

* * *

मानव-दानव-तिर्यञ्चों में, सम है भूख नींद भय काम।
विधि विधान के बल से विष भी, बन जाता है जीवनधाम॥
अहोरात्र में किस विधि से ? क्यों करे ? शास्त्र सम्मत सत्कर्म।
हेतु-वाद से सिद्ध किया, अध्याय दूसरे में यह मर्म॥

द्वितीय अध्याय समाप्त

जीवनचर्याध्यायः

(तीसरा अध्याय)

गर्भाद्या न्यास-पर्य्यन्ताः संस्काराः सौर्ध्वदैहिकाः ।
ते सर्वेऽत्र निरूप्यन्ते हेतुवादपरिष्कृताः ।।

दिनचर्या की भांति हमारी जीवनचर्या भी नियमित है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के मानव जीवन का गम्भीर अध्ययन करके महर्षियों ने उसके पूर्ण विकास—ऐसा विकास जिसमें शरीर मनः आत्मा तीनों की सर्वाङ्गीण उन्नति हो-के लिए जिन सुनहले नियमों को रचना की है, उन्हें हम जीवनचर्या के नियम कहते हैं। संस्कार इसी जीवनचर्या के प्रमुख अंग हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं संस्कारों पर विचार करेंगे और दिखलायेंगे, कि दैनिकचर्या की भांति हमारी जीवनचर्या की शास्त्र निर्दिष्ट यह सभी क्रियाएँ कितनी वैज्ञानिक तथा अर्थपूर्ण हैं।

संस्कार

संसार में दो प्रकार की वस्तुएँ हैं एक प्राकृत, दूसरी संस्कृत। प्रकृति—आदि पुरुष की कार्यरूपाशक्ति—ही अखिल विश्व का

मूल है। सम्पूर्ण दृश्यादृश्य पदार्थ मानो इसी अबोध बालिका स्वरचित खिलौने हैं, जिनसे वह प्रतिक्षण खेलती रहती है मानव भी इसी का बनाया हुआ खिलौना है, परन्तु है यह विलक्षण प्रकार का खिलौना ! यह विलक्षणता और कुछ न केवल मनुष्य की वह ज्ञानशक्ति है जिसके बल पर वह नितान परवश खिलौना मात्र होते हुए भी प्रकृति राज्य के प्रति विद्रो करता है। प्रकृति की निर्माण की हुई वस्तुओं को उसी रूप देखकर उसे प्रसन्नता नहीं होती किन्तु प्रत्येक वस्तु को छांटकर=संस्कृत—करके उसे वह अपने लिए उपयोगी बना प्रसन्नता अनुभव करता है। संस्कार की यह प्रबल भावना की दूसरी विलक्षणता है।

हाँ, तो प्रकृति ने जिनको जिस रूप में उत्पन्न किया है रूप में वे वस्तुएँ प्राकृत कहलाती हैं और मनुष्य द्वारा काट होकर परिष्कृत तथा संशोधित रूप में आ जाने पर उन्हें संस्कृत कहा जाता है। पर्वत उपत्यकाओं में कल कल कर स्वच्छन्द गति से प्रवाहित होने वाले झरने तथा सरिताएँ प्राकृ हैं और सिंचाई के लिए बनाई गई नहरें संस्कृत। प्रकृति अनेक प्रकारके अन्न, धान्य, फल मूलादि उत्पन्न किये हैं, मनुष्य उनको संस्कृत करके (कूट पीसकर, घृतादि में तलकर या अन्य विधि से) सुन्दर सुस्वादु मिष्टान्न का रूप दे देता है। प्रकृति ने कपास ऊन आदि की रचना को, किन्तु मनुष्य ने उसके विविध संस्कार करके जो दिव्य परिधान तैयार किये हैं, वे मनुष्य की संस्कारमयी भावना के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

आज का वैभवपूर्ण हरा भरा संसार, मनुष्य में विद्यमान इसी भावना का सुन्दर फल है। तात्पर्य यह कि—आज मानव, सभ्यता के जिस उच्च शिखर पर पहुंचा हैं उसका प्रमुख कारण यह संस्कार

मयी भावना ही है। यह भावना प्राकृत तथा ईश्वर प्रदत्त है। वैदिक षोडश संस्कार इसी भावना के विशुद्ध तथा परिमार्जित रूप हैं।

संस्कार कब से ?

संस्कारों का प्रारम्भ कब से हुआ ? इस विषय में कहा जा सकता है, कि मानव जाति के प्रारम्भ काल में ही मनुष्य की यह संस्कारमयी भावना व्यक्त रूप धारण कर चुकी होगी। ऐतिहासिकों का कथन है कि 'एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा जब यूरोप एशिया अमेरिका आदि सम्पूर्ण देशों में फैले हुये मनुष्यों के पूर्वज एक ही स्थान में रहते थे, उनका आपस में बड़ा प्रेम तथा भाई चारा था; वहीं से उन्होंने सभ्यता तथा संस्कृति का विकास प्रारम्भ किया और विभिन्न स्थानों की ओर फैलते गये'। यह विचार अधिकांश में सत्य प्रतीत होता है। और तब हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं, कि उस सभ्यता-संस्कृति-शिक्षा-शून्य, क्रूर एवं हिंसक मानव-पशु को,—सभ्य, सुशिक्षित, तथा शान्ति-प्रिय मनुष्य बनाने में इन वैदिक संस्कारों का महत्त्वपूर्ण भाग रहा है, क्योंकि यह निश्चय है, कि एकत्र निवास करने वाली मानव जाति के मेधावी पूर्वपुरुषों=ऋषियों—ने ईश्वरीय ज्ञान स्वरूप वेदत्रयी के साक्षात्कार के साथ ही संस्कार प्रणाली का न केवल ज्ञान प्राप्त किया किन्तु उसे अपनाया भी। यह आदि मानव जाति, ब्रह्मा की सृष्टि वेदी * धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र से ज्यों ज्यों इधर उधर फैली वह अपने साथ इन संस्कारों को—

टिप्पणी:—'आदि सृष्टि कहां हुई ?' यह विवेचन हमारे 'पुराण-दिग्दर्शन' ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

जो कि उस समय तक धार्मिक कृत्यों का अङ्ग बन चुके थे— अपने साथ लेती गई और आज हम देखते हैं, कि यद्यपि विशु रूप में नहीं किन्तु विकृत रूप में ही सही संस्कारों की परम्परा सर्वत्र मिलती है। हिन्दु, मुसलमान, सिक्ख, पार यहूदी, ईसाई आदि सभी जातियों में और भारत चीन जापा अरब मिश्र यूरोप आदि सभी देशों में जातकर्म नाम-कर विवाह,अन्त्येष्टि आदि मुख्य-मुख्य संस्कार किसी न किसी में अवश्य पाये जाते हैं। यद्यपि इनका विशुद्ध रूप तो वैदि ज्ञान की उत्तराधिकारिणी आर्य जाति में ही देखने मिलता है।

संस्कार की आवश्यकता

संस्कारों की सबसे अधिक आवश्यकता आज है। आज हम एक विश्वसंघ की कल्पना कर रहे हैं—एक ऐसे संघ जिसकी छाया में रहने वाले सब नागरिक समान होंगे कोई ऊं नीचा न होगा, तो ऐसे अवसर पर हमें उन संस्कारों को पुन वित करना होगा, जिनमें इस प्रकार की उदात्त तथा प्राच भावनाओं का विशेष स्थान है।

इस समय सर्वत्र मानवता की पुकार है। जाति, वर्ण, ध परम्परा और संस्कृति आदि के पुरातन महत्त्व का स्थान मान वता ग्रहण कर रही है। वर्ग भेद की तथाकथित अशान्ति उत्पीड़ित मनुष्य, आज केवल 'मानव' बनकर विश्व के सम्पू मनुष्यों से भाई चारा तथा एकता स्थापन करना चाहता है यह शुभ लक्षण हैं। यदि हम सच्चे अर्थों में मनुष्य बन जाते हैं तो आये दिन धर्म जाति और राष्ट्र की संकुचित परिधि के नाम पर होने वाली अमानवीय घटनायें समाप्त हो जायें। कि इसके लिये एक बार फिर सनातन धर्म की शरण में आना होगा

शारीरिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से परिपूर्ण उस सार्वभौम मानव की सृष्टि इन संस्कारों द्वारा ही होगी अन्यथा नहीं।

हमने पीछे कहा है, कि संस्कार सभी देशों और सभी जातियों में किसी न किसी रूप में सम्पन्न होते हैं, किन्तु एकता प्रेम तथा विश्व भ्रातृत्व का जो उच्च आदर्श हमें संस्कार पठित वैदिक मन्त्रों में देखने को मिलता है वह अन्यत्र नहीं।

वेदादि शास्त्रों में संस्कारों का बड़ा माहात्म्य प्रदर्शित किया है यहां तक, कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक अधिकार प्राप्त करने के लिये संस्कृत होना आवश्यक समझा गया है; द्विज माता पिता के शरीर से जन्म लेने के उपरान्त भी यदि बालक असंस्कृत हो तो वह द्विज नहीं कहला सकता। श्रुति ने संस्कार को जन्म के ही समान महत्त्व दिया है। 'द्विज' शब्द का अर्थ है जिसका दो बार जन्म हो। पहला मातृ-गर्भ से दूसरा संस्कार द्वारा। मानवजीवन का चरम लक्ष्य है—ब्रह्मत्व लाभ करना। इस लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले परमार्थ पथिक के लिये यह संस्कार एक स्फूर्तिप्रद पाथेय हैं—जिनके सम्बल से वह बिना भटके अपने मार्ग पर चला जाता है। मानव शरीर मानों एक चित्र है—जिसे कुशल कलाकार की तूलिका संस्कार रूपी अनेक रंगों से भरकर पूर्ण करती है। यदि वे न हों तो 'मानव' अधूरा है—केवल श्वासयुक्त एक पिण्ड मात्र! इसी लिये भगवान् अंगिरा ने कहा है--

चित्रं क्रमाद्यथानेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

अर्थात्—जैसे अनेक प्रकार के रंगों को तूलिका द्वारा संयुक्त करके चित्र बन जाता है, इसी प्रकार विधिपूर्वक किए गए गर्भा-

धानादि संस्कारों से यह शरीर भी ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

संस्कार क्यों ?

पीछे बतलाया गया है, कि 'संस्कार' मानव प्रकृति का स्वाभाविक अंग है। किन्तु कैसे वह मानव प्रकृति का अंग बना इसके तीन कारण हैं। प्रकृति से प्राप्त होने वाली प्रत्येक वस्तु हमारे लिये उसी रूप में उपयोगी नहीं होती; उसमें कोई दोष होता है जिसे दूर करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। उपयोगी बनाने के लिये उसमें कुछ गुणों का सन्निवेश करना पड़ता है तथा उसकी कमियों को दूर करना भी जरूरी होता है। शब्दान्तर में हम कह सकते हैं १–दोष मार्जन, २–गुणाधान, ३–हीनाङ्गपूर्ति, इन तीन उद्देश्यों के लिये हम प्रत्येक वस्तु का विविध प्रकार का संस्कार करते हैं। खान से निकले हुए स्वर्ण को ही लीजिए। सुन्दर मणि–रत्न–जटित मुकुट बनाने के लिए उसे उपरोक्त त्रिविध संस्कारों में से गुजरना पड़ता है। खान में से निकलने पर वह मिट्टी आदि से मिला हुआ मैला कुचैला धातु खण्डमात्र होता है। न उसमें चमक, न सुन्दर छवि ! उसे भट्टी में डालकर उसका दोष परिमार्जन होता है। अग्नि से उसका सम्पूर्ण मल दग्ध हो जाता है और एक दिव्य आभा तथा चमक से वह जगमगा उठता है। इसके अनन्तर स्वर्णाकार अनेक प्रकार से घड़कर उसे मुकुट का रूप देता है। यह गुणाधान है। उसकी रही सही कमी को मणि रत्नादि से जटित करके पूरा कर दिया जाता है। इस प्रकार त्रिविध संस्कारों के सम्पन्न हो जाने पर वह स्वर्णाखण्ड एक रत्न जटित राजमुकुट के रूप में परिणत हो जाता है।

दूसरा उदाहरण कमीज का लीजिये। प्रकृति ने कपास को

न्म दिया है, किन्तु क्या वह उसी रूप में हमारे लिए उपयुक्त द्ध हो जाती है, नहीं। मनुष्य अनेक क्रियाओं द्वारा उसके षों को दूर कर उसे कपड़े का रूप देता है। तब दर्जी उस पड़े को काट छांटकर कमीज के रूप में परिवर्तित कर देता है। बटन वगैरह से संयुक्त करके उसकी अन्तिम कमी पूर्ण की ती है और वह एक अत्युपयोगी परिधान बन जाता है।

जब संसार की सभी वस्तुयें इन त्रिविध संस्कारों द्वारा म्पन्न होकर ही पूर्णता को प्राप्त होती हैं, तो मानव जैसा सर्व-ष्ठ प्राणी माता पिता से गर्भ से, ही 'मनुष्य' रूप में उत्पन्न हों या उसे किसी संस्कार की आवश्यकता ही न हो यह बात न्त असम्भव है। इसलिये मनुष्य की जन्मजात इन कमियों को दूर करके सभ्यसमाज के लायक पूर्ण मनुष्य बनाने के लिए स्कारों का होना अत्यावश्यक है। वैदिक संस्कारों के भी वोक्त तीन ही उद्देश्य हैं और तीन ही विभाग। गर्भाधान, तकर्म, अन्नप्राशन, आदि द्वारा गर्भवासजन्य मलिनता आदि षों का परिमार्जन होता है। चूड़ाकर्म उपनयन आदि द्वारा नुष्य में शिक्षा तथा चारित्रिक विकास का सृजन करके गुणा-न क्रिया निष्पन्न होती है और विवाहादि द्वारा हीनांगपूर्ति जाती है। इसीलिए संस्कारों का वर्गीकरण करते हुए मनु ने लिखा है—

निषेकाद् वैजिकं चैनो गार्भिकञ्चापमृज्यते ।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम् ॥
गर्भाद् भवेच्च पुँसूतेः पुँस्त्वस्य प्रतिपादनम् ।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः ॥

गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा॥
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः।
सूर्यावलोकनाद्वायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवा।
निष्क्रमादायुःश्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः।
अन्नाशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुध्यति॥
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूडाकर्मफलं स्मृतम्।
उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धिपूर्विका॥
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धि ऋषिभिरीरिताः।
पत्न्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः फलं स्फुटम्॥
ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः।
विवाहस्य फलं त्वेतत् व्याख्यातं परमर्षिभिः॥

अर्थात्—गर्भाधान संस्कार से बीज तथा गर्भ सम्बन्धी संपू मलिनता नष्ट हो जाती है और क्षेत्र रूपी स्त्री का संस्कार भी हो जाता है। इस गर्भ से पुत्र ही उत्पन्न हो इस अभिप्राय से 'पुंसवन संस्कार' होता है। 'सीमन्तोनयन' का फल गर्भाधान संस्कार की भांति गर्भ की शुद्धि है। जातकर्म संस्कार द्वारा माता के खान पान सम्बन्धी समस्त दोष दूर किये जाते हैं। नामकरण संस्कार से आयु तथा तेज की वृद्धि और लोक व्यवहार में नाम प्रसिद्ध होने से अपना पृथक् अस्तित्व कायम होता है। निष्क्रमण संस्कार में शिशु को समन्त्रक जगत्प्राण भगवान् सूर्य का दर्शन कराया जाता है, जिससे आयु तथा लक्ष्मी की वृद्धि होती है। अन्न-

प्राशन द्वारा मातृ गर्भ में मलिनता भक्षण से जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें शान्त किया जाता है। बल आयु तथा तेज की वृद्धि ही चूड़ाकर्म संस्कार का फल है। उपनयन से बालक 'द्विज' की श्रेणी में आ जाता है और उसे वेदाध्ययन का अधिकार मिल जाता है। विवाह के अनन्तर सपत्नीक अग्निहोत्रादि अनुष्ठान द्वारा स्वर्गलाभ होता है, और ब्राह्मादि उत्तम विवाह के फल से सुपुत्र उत्पन्न होकर जीवित पितरों की सेवा तथा मृत पितरों के लिये श्राद्ध तर्पणादि द्वारा उनका उद्धार करता है—यह सब विवाह संस्कार का फल है।

स्मृतिकारों ने प्रत्येक संस्कार का जो फल निर्देश किया है, उसकी वास्तविकता एवं वैज्ञानिकता पर हम अगली पंक्तियों में विचार करेंगे, किन्तु यहां इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा, कि संस्कारों के इस महत्व को भुलाकर ही हमने अधोगति को प्राप्त किया और आज यदि हम वस्तुतः उन्नत होना चाहते हैं, तो हमें संस्कार प्रणाली को पुनर्जीवित करना होगा। भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न—राम, कृष्ण, वेदव्यास बुद्ध रामानुजाचार्य और शंकराचार्य जैसे आदर्श पात्रों की सृष्टि उसी संस्कार परम्परा का फल था।

संस्कार कितने ?

उल्लिखित भूमिका के बाद हम इस विवेचन में प्रवृत्त होते हैं, कि संस्कारों की संख्या कितनी है। इस विषय में स्मृतिकारों के भिन्न-भिन्न मत पाये जाते हैं। किन्हीं स्मृतिकारों ने ४० संस्कार माने हैं, किन्हीं ने २५, और कुछ ने १६। महर्षि गोतम ने ४० संस्कार माने हैं और महर्षि अङ्गिरा ने २५। भगवान् वेदव्यास जी ने १६ संस्कारों को ही मान्यता दी है, यथा—

गर्भाधानं पुँसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रियानिष्क्रमणोऽन्नाशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तं स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशः स्मृताः ।

अर्थात्—१–गर्भाधान, २–पुंसवन, ३–सीमन्तोन्नयन, ४–जातकर्म, ५–नामकरण, ६–निष्क्रमण, ७–अन्नप्राशन, ८–चूड़ाकर्म, ९–कर्णवेध, १०–यज्ञोपवीत, ११–वेदारम्भ, १२–केशान्त १३–समावर्तन १४–विवाह, १५–आवसथ्याधान, १६–श्रौताधान–यह १६ संस्कार हैं ।

मनुस्मृति में १३ ही संस्कारों का विधान है। उपरिलिखित संस्कारों में से पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, कर्णवेध, वेदारम्भ, आवसथ्याधान और श्रौताधान इन छः संस्कारों का मनुस्मृति में विधान नहीं है, किन्तु वानप्रस्थ, सन्यास, अन्त्येष्ठि इन तीन नवीन संस्कारों का सन्निवेश है ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में १–विवाह, २–गर्भालम्भन, ३–पुंसवन ४–सीमन्तोन्नयन, ५–जातकर्म, ६–नामकरण, ७–अन्नप्राशन, ८–चूड़ाकर्म, ९–उपनयन, १०–समावर्तन, ११–अन्त्येष्ठि –इस ११ ही संस्कारों का उल्लेख मिलता है ।

इसी प्रकार पास्कर गृह्यसूत्र में १२ संस्कारों का वर्णन है । आवश्वलायन में वेदारम्भ और निष्क्रण का उल्लेख नहीं था । पारस्कर गृह्यरूत्र में वह मिलता है । मनु के वानप्रस्थ सन्यास और अन्त्येष्टि इन तीन संस्कारों का पारस्कर गृह्यसूत्र

उल्लेख नहीं है। इन तीनों को सम्मिलित कर देने पर यह ख्या १५ पर पहुँच जाती है।

मीमांसा दर्शन में कुछ हेर-फेर से व्यासप्रोक्त सोलह संस्कार ही समर्थन उपलब्ध होता है। हम इन सबका यथा सम्भव न्वय करके निम्नलिखित मुख्य १६ संस्कारों का ही इस ध्याय में विवेचन करेंगे। यथा—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तो-यन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, र्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, वानप्रस्थ, सन्यास, न्त्येष्ठि।

संस्कार में अधिकारी विचार

विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने रूप में पूर्ण और शिव है। नुष्यों के हित के लिये ही उनका निर्माण हुआ है, किन्तु फिर ी संसार की सभी वस्तुओं को अच्छी या बुरी—इन दो णियों में विभक्त किया ही जाता है। यह विभाग पात्रापात्र-लक ही हो सकता है। घी एक शक्तिप्रद पौष्टिक खाद्य है, न्तु वह सभी प्रकार के मनुष्यों के लिए हितकर नहीं हो कता। 'आयुर्वै घृतम्'—के अनुसार जो घृत सामान्यावस्था में नुष्य को बल और शक्ति प्रदान करके दीर्घायु का कारण ता, अतिसार ज्वर तथा कास के रोगी के लिए वही घृत सद्यः त्यु का कारण बन जाता है। इसी प्रकार दही एक सुन्दर ौर स्वादिष्ट पदार्थ है, पदार्थ—विज्ञान के अनुसार वह निग्ध, हृद्य एवं ओजप्रद है, किन्तु उसके यह गुण तभी तक , जब तक वह कांसी कांच मिट्टी या पत्थर के किसी पात्र में खा जाता है—तांबे या पीतल के बर्तन में पड़कर वह विकृत हो ता है और यदि उसका सेवन किया जाय तो तुरन्त जी चलाकर वमन हो जाना स्वाभाविक होगा।

तात्पर्य यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु के लिए पात्रापा का विचार है और अधिकारी भेद से ही उसकी व्यवस्था की ग है; शास्त्रकारों ने लोक की भांति वैदिक प्रक्रियाओं में भी इ नियम का आदर किया है। यों तो संस्कारों में मनुष्य मा का अधिकार है क्योंकि उनका उद्देश्य—सर्वांगपूर्ण मानव सृ सभी मनुष्यों पर लागू होता है, किन्तु फिर भी महर्षियों ने अधिकारी भेद से एक व्यवस्था निश्चित की है। श्री याज्ञवल्क महर्षि ने लिखा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः।
शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विनामन्त्रेण संस्कृतः॥

अर्थात् – ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन द्विज वर्णों के गर्भाधान से श्मशान पर्यन्त सब संस्कार मन्त्रपूर्वक करने चाहि और शूद्रों को बिना मन्त्र ।

भेद क्यों ?

कई लोग इस भेद को घृणामूलक समझते हैं, किंतु वास्तव में इसमें घृणा की गन्ध भी नहीं है अपितु यह तो कृपालु महर्षियों द्वारा शूद्रों के कार्यभार को देखकर एक विशेष रियाय दी गई है। द्विजों को जो फल समन्त्रक संस्कार करने पर प्राप्त होगा, वही फल शूद्रों को अमन्त्रक करने पर प्राप्त हो सकेगा। इसके अतिरिक्त असंस्कृत होने के कारण वे मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण न कर सकेंगे और अशुद्ध मन्त्रोच्चारण करने पर **'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्'** वाली कथा के अनुसार प्रतिकूल फल की ही सम्भावना रहती है। इसलिए भी शूद्रों के लिए अमन्त्रक का विधान है।

अधिकार या भार ?

वर्तमान युग में समस्त संघर्षों का एक मात्र मूल 'अधिकार' अमुक कहता है मुझे यज्ञोपवीत गले में डालने का अधिकार यों नहीं ? तो दूसरा चिल्लाता है मुझे वेद पढ़ने का अधिकार यों नहीं ? तीसरा कहता है मुझे दण्ड धारण पूर्वक सन्यास श्रम में प्रवेश करने का अधिकार क्यों नहीं ?—धार्मिक जगत् जैसा यह 'अधिकार' का द्वन्द्व चल रहा है, ठीक इसी प्रकार र्थिक जगत् में भी मजदूर और मिल मालिक में, किसान तथा श्वर में—विद्यार्थी और शिक्षक वर्ग में, शास्य एवं शासक में न्ततोगत्वा पत्नी और पति में—गर्ज है आज अधिकार के म पर यत्र तत्र सर्वत्र अवाञ्छनीय देवासुर संग्राम मचा हुआ है। त्रिकालज्ञ महर्षियों ने अधिकारवाद को अनर्थ मूलक समझ-र समाधि में अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा परम कारुणिक वान् के निःश्वासभूत वेदों में कर्तव्यवाद के दर्शन किये। धिकारवाद संघर्ष जन्य अनेक अनर्थों से उपप्लुत मानव समाज दि आज अधिकारवाद की रट छोड़कर कर्तव्यवाद के दृष्टिकोण समस्त उलझी हुई समस्याओं को समाहित करने के लिये त हो जाए तो संसार का चित्र ही बदल जाय।

यदि हम क्षणमात्र के लिये भी अधिकारवाद के अस्तित्व को वीकार करते हैं—तो 'कम परिश्रम अधिक लाभ' की स्वाभाविक नव प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जो सर्व अनर्थों की मूल है। यह प्रवृत्ति जहाँ सामाजिक संगठन के लिये विघातक है हाँ राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति में भी रोड़ा अटकाने ली सिद्ध होती है। इसलिये आर्य शास्त्रों में समस्त कार्यकलाप

का विभाजन अधिकार के आधार पर नहीं, किन्तु कर्तव्य पा के आधार पर किया गया है, जैसे वेद पढ़ने का ब्राह्मण अधिकार नहीं, किंतु उसके कन्धों पर यह भार है, कि वह भू रहकर भी वेद पढ़े। क्षत्रिय को रणभूमि में सर काटने अधिकार नहीं, किन्तु वह देश जाति धर्म की रक्षा के लिये सि कटाये–यह उसके मस्तक पर ईश्वर निहित भार है। अधिक और भार का विश्लेषण करते हुए यह बात समझ लेनी चाहि कि अधिकार के प्रयोग में अधिकारी स्वतन्त्र होता है प भार तो न चाहते हुए भी कर्तव्य वशात् धारण करना ही प है। यही कारण है, कि ब्राह्मण जाति ने सुदामा की भां दारिद्रय जीवन सहर्ष बिताते हुये भी आज के इस युग में वेदों की पठन प्राठन प्रणाली को अक्षुण्ण रखा है।

विगत दिनों में यह प्रत्यक्ष देखते हुए भी कि इंगलिश लिखे डाक्टर, प्लीडर इञ्जनियर आदि मालामाल हो रहे लाखों संस्कृतज्ञ विद्वानों ने जान बूझकर अपने पुत्रों को भी अ तरह आर्थिक संकटमय जीवन बिताने के लिये केवल कर्त पालन भार की दृष्टि से ही उस उपेक्षित मार्ग का पथिक बना यवन शासनकालीन राजपूतों के वे केसरिया बाना पहन किए गए साके, केवल भार के आधार पर विभाजित कर्तव्य कारण ही हुए हैं। इसलिये अनर्थकारी अधिकारवाद की से ही समस्त कार्यकलाप को देखने की प्रवृत्ति को छोड़कर कर्तव्य पालन—भार—की दृष्टि से ही मनन करने की आ डालनी चाहिये।

सो उक्त संस्कारों की भी इति कर्तव्यता के विषय में किसको कब ? कैसे ? क्या ? करना चाहिए। यह सब बात केवल शास्त्रों ही पूछनी चाहिये, शास्त्र जिसे जो कहे वह उसे वैसे कर डा जिसे न कहे, वह भूलकर भी उसे करने की चेष्टा न करे।

शास्त्र से आदिष्ट अमुक कार्य न करने पर पाप होता है ठीक इसी प्रकार शास्त्र से अनादिष्ट कार्य करने पर भी महापाप होता है। सैनिक या पुलिस मैन के लिए जैसी वेषभूषा निर्धारित है यदि वह 'ओन डयूटी' होता हुआ वैसी न पहिने, तो जैसे राजा के निकट वह व्यक्ति दण्डनीय होता है वैसे ही साधारण नागरिक यदि पुलिस मैन का स्वांग बनाकर भोले भाले देहातियों पर रोब गाठें तो वह भी प्रतारणा विषयक धोखा देही की ४२० धारा के मातहत दण्डनीय होगा। इसलिये जिन द्विजाति पुरुषों के लिए अमुक अमुक संस्कार समन्त्रक करने बताये हैं यदि वे न करेंगे तो पाप भागी बनेंगे और जिन द्विजेतर पुरुषों के लिये जो संस्कार अमन्त्रक करने की किंवा सर्वथा न करने की ही छूट दे रक्खी है, वे यदि तद् विरुद्ध आचरण करेंगे तो पातकी अवश्य होंगे।

हमारे यहां कर्मलाप का विभाजन तो वर्ण और आश्रम के तारमम्य से कर्तव्य पालन के आधार पर हुआ है, परन्तु कर्मफल जन्य अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति अब्राह्मण आचाण्डाल सब को समान रीति से होती है।

अधिकार और अनधिकार से किये गए कर्म के बाह्य रूप में प्रत्यक्ष दृष्ट चाहे कुछ अन्तर मालूम न होता हो, परन्तु पुण्य पाप के तारतम्य से तज्जन्य अदृष्ट फल में महान् अन्तर पड़ता है, जैसे एक अनधिकारी पुरुष रात दिन भी 'पकड़ो! मारो! फाँसी दे दो' पुकारे तो किसी का बाल बांका नहीं होता, परन्तु यदि यही शब्द शासक की कुर्सी पर बैठा निर्णायक एक बार भी कहे तो तदनुसार अमुक को मृत्युदण्ड और अमुक को पुरस्कार दिया जाता है। यहां दोनों व्यक्तियों के शब्दों और वाक्यों में कुछ अन्तर नहीं, केवल अधिकार का ही अन्तर है। पहिले व्यक्ति को उन्मत्त पागल दीवाना कहकर उपहासपात्र समझा जाता है

और दूसरे को न्यायाधीश शासक तथा जज कहकर सम्मानित किया जाता है। आशा है हमारी इस छोटी सी पृष्ठ भूमिका से पाठक संस्कारों की इतिकर्तव्यता का सामञ्जस्य समझने में कृतकार्य हो सकेंगें।

संस्कारों के सामान्य कृत

यद्यपि प्रत्येक संस्कार की अपनी २ विभिन्न अनुष्ठेय प्रक्रियायें हैं, किन्तु गणपत्यादि पूजन तथा गृह्य होम प्रत्येक संस्कार के आवश्यक आरम्भिक कृत्य हैं। इससे पूर्व कि हम गर्भाधानादि पृथक् २ संस्कारों पर विचार करें यह आवश्यक प्रतीत होता है, कि संस्कारों के इन सामान्य कृत्यों पर ही पहिले विचार किया जाय। इनमें भी गणेश पूजन का विषय तो इतना विवादास्पद और आलोच्य बन गया है, कि बुद्धिवादी युग के बड़े २ लिक्खाड़ महाशयों को भी अपनी कमल कुठार सम्भालकर मैदान में उतरना पड़ा है। गणेश को अनार्य एवं अवैदिक देवता सिद्ध करने के लिये बुद्धि वादियों द्वारा दी गई यक्तियों के प्रवाह में आस्तिक हिन्दू समाज की श्रद्धावल्लरी आज डूबती उतराती नजर आ रही है। इसलिए क्यों न इस अध्याय में वर्णित मानव चर्या का श्रीगणेश इन सामान्य कृत्यों से ही किया जाए।

स्वस्तिवाचन और शान्ति पाठ

प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान के आदि में वातावरण की विशुद्धता के लिए सर्व प्रथम तार स्वरेण स्वस्तिवाचन और शान्तिपाठ करना आवश्यक है। इस कृत्य में यूं तो भी सभी समुपस्थित अधिकारी सज्जन सम्मिलित हो सकते हैं, परन्तु पुरोहित या वेदपाठी सज्जनों को तो मंगलाचरणार्थ स्वस्तिवाचन अवश्य करना चाहिए।

हरिः ॐ क्यों ?

वेद पाठ के आरम्भ में मन्त्रोच्चारण से पूर्व 'हरिः ॐ' चारण करना वैदिकों की परम्परागत प्रणाली है इसका र्थ यह है कि वेद के अशुद्ध उच्चारण में महापातक लगता ौर बहुत सावधान रहने पर भी मनुष्य स्वभाव सुलभ स्वर व्यत्यय जन्य अशुद्धि हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है : इस सम्भावित प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिये आदि और में 'हरिः ॐ' शब्द का उच्चारण करना अनिवार्य है; द्भागवत में लिखा है कि—

मन्त्रतस्तन्त्रतस्छिद्रं देशकालार्ह वस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकोर्तनं हरेः ।।

अर्थात्—मन्त्रोच्चारण, तत्तद् विधि-विधान, देशकाल और तु की कमी के कारण धर्मानुष्ठान में जो भी कमी हों 'हरि' म का संकीर्तन करने से वे सब बाधायें दूर हो जाती हैं।

श्री गणेश प्रथम पूज्य क्यों ?

(आदौ गणपतिं वन्दे विघ्ननाशं विनायकम्)

श्रीगणेश जी महाराज का—प्रत्येक शुभाशुभ कार्य के रम्भ में आस्तिक हिन्दू समाज, पूजन वन्दन एवं ध्यान अपना कर्तव्य समझता है। योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में खा है कि—

एवं विनायकं पूज्यं ग्रहांश्चैव विधानतः ।
कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ।।

(याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय २९२)

अर्थात्—पूर्वोक्त विधि के अनुसार गणपति की पूजा क
विधि पूर्वक नव ग्रह पूजन करना चाहिये, जिसमें समस्त
का फल प्राप्त होता है तथा लक्ष्मी की भी प्राप्ति होती है।

कोई ऐसा कार्य नहीं, जो कि गणपति पूजन के
आरम्भ किया जाता हो। इस अटल नियम की पालन प्र
के प्रताप से संस्कृत साहित्य में तो 'श्रीगणेश' शब्द को '
ही आरम्भार्थ में आरूढ़ हो गई है। हिन्दी भाषा में भी न
गणेश पूजन में निष्ठा रखने वाले आस्तिक सज्जन ही—
'तुन्दिल पेट' और 'हाथी की नाक' कहकर कहकहे लगाने
अपटूडेट महाशय भी 'श्रीगणेश' पद को प्रारम्भकता सूच
'मुहावरा' स्वीकार करते हैं और बड़े धड़ल्ले के साथ किसी
आन्दोलन का प्रशंसात्मक बखान करते हुए यही उचरते हैं,
"जब से इस आन्दोलन का 'श्रीगणेश' हुआ है, तब से मृ
हिन्दू जाति में पुनः जीवन आ गया है" इत्यादि। कहना
होगा कि 'श्रीगणेश' शब्द का आरम्भिक क्रिया के साथ कु
कुछ अनिवार्य एवं घनिष्ट सम्बन्ध अवश्य है, जिससे कि—"अस्म
दादयमर्थो बोधव्य इत्याकारक ईश्वरसंकेतः शक्तिः' के अनु
यह शब्द प्राकृतिक रीति से 'प्रारम्भ' अर्थ में आरूढ़ हो गया

गणेश शब्द के 'विघ्नहन्' 'विनायक' 'गजास्य' 'इ
दाता' और 'विघ्न-शमन' आदि अनेक पर्य्याय प्रसिद्ध है। सं
भारती विश्व भर को प्रचलित भाषाओं की जननी है तथा
भाषाओं में संस्कृत भाषा के शब्द ही अपभ्रष्ट होकर समा
हुए हैं—यह नग्न सत्य प्रायः सभी अनुसन्धायक स्वीकार
हैं। तदनुसार अन्यान्य भाषाओं में भी आरम्भार्थक जितने
शब्द हैं वे सब प्रायः 'गणेश' शब्द के पर्य्यायों में से ही

एक के अपभ्रंश जान पड़ते हैं। जैसे—इंगलिश भाषा का प्रारंभार्थक 'बिगनिंग' शब्द गणेश शब्द के अन्यतम पर्याय 'विघ्नहन्' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। इबरानी पर्सियन और उर्दू भाषा के 'आगाज' 'इप्तदा' 'बिशमिल्ला' आदि शब्द भी हमारे 'गजास्य' 'इप्सित दाता' 'विघ्न-शमन' शब्दों के ही अपभ्रंश हैं। इस तरह विश्व साहित्य पर व्यापक दृष्टि डालने से यही परिणाम निकलता है, कि शब्द-शास्त्र की परम्परा के विचार से गणेश तत्त्व का आरम्भिक क्रिया के साथ अनादिकाल से अविछिन्न सम्बन्ध चला आता है।

गणेश पूजन, यत्र तत्र सर्वत्र

गणेश-पूजन की प्रथा केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत विश्व के सभी देशों में पाई जाती है। बौद्ध-धर्म के महायान के तांत्रिक सम्प्रदायों ने भी अपने यहां 'विनायक' की कल्पना करके उसे महत्वपूर्ण स्थान दे रखा है। पिछली शताब्दियों में कई बौद्ध-प्रदेशों के अन्दर विनायक रूप में बुद्ध की कल्पना प्राप्त होती है। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध का एक नाम 'विनायक' भी मिलता है। उनके यहां 'वज्रधातु' और 'गर्भधातु' के रूप में भी विनायक पूजन का प्रचुर प्रचार है।

नेपाल में बौद्ध-धर्म के साथ-साथ 'हेरम्ब' और 'विनायक' नाम से गणपति पूजा सर्वत्र पाई जाती है।

चीन में गणेशमूर्ति दो नामों से विख्यात है, एक 'विनायक' और दूसरा 'कांगीनेन'। उस देश में अन्य देवों की अपेक्षा विनायक पूजन का विशेष महत्व माना जाता है। 'नृत्यगणपति' की पूजा भी इस देश में विशेष रूप से पाई जाती है।

जापान—इतिहास से ज्ञात होता है कि 'कोबो दाइशी' नामक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने चीन के बौद्धाचार्यों से शिक्षा लेकर ९वीं शताब्दी में अपने यहां विनायक पूजन प्रचलित किया था। अब तो वहां के 'शिङ्गोन' सम्प्रदाय ने भी इस पूजा पद्धति को अपना लिया है।

तिब्बत—के प्रत्येक मठ के अधिरक्षक के रूप में गणेश की पूजा पाई जाती है।

बर्मा, स्याम—प्रदेशों में भी गणपति पूजा प्रचलित है। उस देश में कांस्यधातु को गणेशमूर्त्ति सर्वप्रिय समझी जाती है।

कम्बोडिया—में स्थानीय ख्मेरकला के कारण वहाँ के गणपति मूर्तियों में विशेष परिवर्तन पाया जाता है।

जावा—में प्रायः गणेश के स्वतन्त्र मन्दिर नहीं होते, प्रत्युत शिवमन्दिर में ही उनकी पूजा होती है। शँकर के सदृश वहां के गणेश भी गले में मुण्डमाल पहने हुए पाए जाते हैं।

बोर्नियो—तथा **बालद्वीप** में भी गणपति पूजन का विशेष प्रचार है।

अमरीका—में लम्बोदर गणेश की मूर्ति मिलती है। इस प्रकार की मूर्ति का उल्लेख श्री चम्मनलाल ने 'हिन्दु अमरीका' नामक अपनी पुस्तक में विस्तृत रूप से किया है। सन् १४९२ में 'कोलम्बस' द्वारा अमरीका के आविष्कार होने के पूर्व भी वहां गणेश, सूर्य आदि देवताओं की मूर्तियाँ उपलब्ध हो चुकी थीं। इससे यह निश्चित है कि भारतीयों ने ईसवी सन् से बहुत वर्ष पूर्व अमरीका में भी अपना उपनिवेश स्थापित कर रखा था।

भिन्न २ देशों में गणपति पूजन भिन्न २ नामों से पाया जाता है। श्रीमती 'ए गेट्टी' (A getty) ने गणेश पूजन पर एक विस्तृत पुस्तक लिखी हैं, जो सन् १९३६ में 'आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी' से प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थ में विदुषी गेट्टी ने तामिल भाषा में गणेश का नाम 'पिल्लैय', भोट भाषा में 'सोग्सदाग', बर्मी में महा पियेन्ने', मंगोलियन में 'त्वोत् खारून् नागान्', कम्बोडियन में 'प्राहकेनीज्', चीनी में 'कुआन्-शी-तियेनू' और जापानी भाषा में 'कांगिनेन्' इन नामों का उल्लेख किया है। निःसन्देह उत्तरीय मंगोलिया से लेकर दक्षिणी बाली तक और जापान से लेकर अमरीका तक यह गणेश-पूजन-पद्धति जिस किसी रूप में प्रचलित है।

अहिन्दुओं में परोक्षतया गणेश का ही पूजन

ग्रीक (Greece) यूनान के निवासी श्रीगणेशजी को 'ओरेनस' (Ouranos) नाम से पूजते हैं उनके प्राचीन धर्मग्रन्थों में ओरेनस का बड़ा भारी महत्व वर्णित है। हिन्दू-धर्म ग्रन्थों के अनुसार श्री गणेश जी 'लाक्षासिन्धुरवदन' कहे जाते हैं, अर्थात्- उनका लाख के रंग के सदृश गूढ़ा लाल रंग है, इसलिये पर्याय रूपेण उनको 'अरुणास्य' भी कहा जा सकता है। ऐसो दशा में यूनानियों का 'ओरेनस' हमारे 'अरुणास्य' का अपभ्रंश ही सिद्ध होता है।

ईरानी पारसियों में 'अहुरमजदा' (Ahurmazda) नाम से गणेश उपासना की जाती है। प्रसिद्ध 'जेन्दाअवस्ता' नामक धर्म ग्रन्थ में पचासों आयतें अहुरमजदा की लोकोत्तर शक्तिका वर्णन करती है। पर्सियन भाषा में संस्कृत शब्दों का सकार प्रायः हकार में अपभ्रष्ट हुआ है, जैसे—'सप्त' को 'हप्त' और

'मास' को 'माह' बोला जाता है, ठीक इसी प्रकार 'अहुरमज्द' भी 'असुर-मदह' का अपभ्रंश जान पड़ता है। पुराण ग्रन्थों में श्रीगणेश जी द्वारा अनेक असुरों का पराजित होना अंकित है इसलिये गणेश का—असुरों के मद=घमण्ड को हनन=दू करने वाला" यह नाम भी अन्वर्थ है।

चीन और जापान के निवासी—जो कि प्रायः बौद्ध हैं त्रिमूर्ति गणेश की उपासना करते हैं उसकी वे फो (Fo) नाम से पुकारते हैं।

मिश्र देश के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हर्मीज (Hermes) ने लिख है कि—"सब देवों का अग्रिम=अगला देव वह है जिसक विभाग नहीं हो सकता और जो बुद्धि का अधिष्ठाता है उसक नाम 'एक्टोन' (Eicton) है।" निःसन्देह यह देव श्री गणे जी हो है, क्योंकि हिन्दू ग्रन्थों में अग्रपूजनीय गणेश को माना गया है। सम्भवतः 'एक्टोन' शब्द भी गणेश जी के अन्त तम पर्याय 'एकदन्त' का ही अपभ्रंश है।

गणेश जी के मुख्य बाहर नामों की व्याख्या आगे चल की जाएगी, इन नामों में एक नाम 'भालचन्द्र' भी है, जिसक अर्थ–'मत्थे में चांद धारण करने वाला होता है।' जान पड़ है मुसलमान लोग हजरत मुहमद साहिब के जन्म से पूर्व गाए पत्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे, इसी कारण से इस्लाम मजह को स्वीकार कर लेने पर भी वे लोग 'भालचन्द्र' की उपास का चिन्ह—'टेढ़ा चांद और बीच में तारा का निशान'—अ तक धारण करते आ रहे हैं। इस्लामी झण्डों इमारतों— तक कि ओढ़ने की टोपियों पर भी यह मार्का बड़े गौरव के साथ अंकित रहता है। बुतपरस्ती को कुफर बताने वाले से बड़े कट्टर मुल्ला भी 'धातु से बने हुए' चमकते चांद को पर चढ़ाकर 'भालचन्द्र' के इस अर्चाचिन्ह को सन्मान देते हैं

किस्तान जैसा 'कठ मुल्ला नीति' पर नर्मित मुस्लिम देश भी ने राष्ट्रीय ध्वज को भालचन्द्र चिह्न से ही अलंकृत कर रहा है।

ईसाई लोगों का परमपवित्र चिन्ह क्रास + है। यद्यपि मान समय में इसे यहूदी जमाने का मृत्युदण्ड का तख्ता समझा ता है जिसे कि सूली किंवा फांसी की तरह हजरत यशुमसीह प्राण लेने के लिये प्रयुक्त किया गया था, तथापि वास्तव में मानना भ्रम है, क्योंकि जिस साधन द्वारा किसी प्रतिष्ठित क्ति को जान ली गई हो उस बीभत्स साधन को कोई भी पवित्र और पूजने योग्य नहीं मान सकता, बल्कि उसे न्त घृणित ही समझेगा। यही बुद्धि का तकाजा है। इसलिए तो स्पष्ट देखते हैं कि 'क्रास' + वास्तव में गणेश की प्रतिमा 卐 का ही संक्षिप्त रूपान्तर है।

गणेश के साकार विग्रह में मनुष्य के धड़ पर हाथी का मुख युक्त किया है—जिसका रहस्य आगे चलकर स्पष्ट किया जा,—इसलिये गणेश जी के नाम 'गजवदन', 'करि मुख' आस्य' आदि प्रसिद्ध हैं ऐसी दशा में हमें तो ऐसा मालूम होता कि 'क्रास' शब्द भी 'करि–आस्य' शब्द का ही अपभ्रंश है। का-अर्थ-हाथी के मुख बाला होता है। ईसाई मत का द 'क्राइस्ट' शब्द भी करि+आस्य+इष्ट इन तीन शब्दों के योग का परिणाम ही जान पड़ता है। जिसका तात्पर्य हाथी सदृश मुख वाले श्री गणेश जी को अपना 'इष्टदेव' मानने वाला व्यक्ति होता है।

हिटलरवादी जर्मनीवालों की राष्ट्रीय पताका में तो अभी विशुद्ध 卐 अंकित रहता है और वे इस चिन्ह को ईश्वरीय समझते हैं।

दक्षिणी अमेरिका (South America) के ब्रजिज
स्थान की खोदाई में गणेश जी की भव्य प्रतिमा प्राप्त हुई
जिसे अनुसन्धायक चार पांच हजार वर्ष से अधिक पु
खयाल करते हैं इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ये दो—बातें तो निः
सिद्ध हो जाती हैं, कि ईसा की चौदहवीं शताब्दी में अमे
का पता लगाने वाले कोलम्बस को ही सर्व प्रथम अमेरिका
कहना बड़ी भूल है; और कोलम्बस के परदादा के सात
से भी पहिले वहां गणेश पूजक आर्य सभ्यता का प्रसार
चुका था।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त प्रघट्ट पर दृष्टि डालने से
में ही यह परिणाम निकल आता है, कि गणेश पूजन न
हिन्दुओं में ही अपितु समस्त जातियों में, और न सिर्फ भार
में ही बल्कि समूचे विश्व में पुरातन काल से आरम्भ करके
तक चल आ रहा है। [यहां यह भी समझ लेना चाहिए
अमेरिका में हाथी नहीं होता। इसलिए हाथी की आकृति
कल्पना किसी प्राचीन अमेरिकन की मस्तिष्क की उपज
कही जा सकती।

शास्त्रीय–स्वरूप

निषुसीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्
न ऋते त्वत्क्रियते किंचनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च

(ऋग्वेद १०। ११२।

(सायणभाष्यानुसारी भाषार्थ) हे गणपते ! आप स्तु
करने वाले हम लोगों के मध्यम में भली प्रकार स्थित हूजि
आपको क्रांतदर्शी=कवियों में अतिशय बुद्धिमान्=सर्वज्ञ
जाता है। आपके बिना कोई भी शुभाशुभ कर्म (आरम्भ)

या जाता (इसलिए) हे मघवन्=ऋद्धि सि. के अधिष्ठातृ ! हमारी इस पूजनीय प्रार्थना को स्वीकार कीजिए।

नमस्ते गणपते त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं र्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। मेव केवलं खल्विदं ब्रह्मासि। (गणपत्यथर्वशीर्ष)

अर्थ—हे गणपति जी ! आपको नमस्कार हो। आपही क्ष 'तत्त्व' हो आप हो केवल समस्त चराचर के उत्पादक, क एवं संहारक हो आप ही निश्चय से ब्रह्म हो।

वंस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च, शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिकवैदिके च, त्वमर्चनीयः प्रथमं प्रयत्नात्॥
(गणेश-पुराण)

अर्थ—[त्रिपुरवध के अनन्तर शिवजी ने कहा कि हे गण-!] शैव. गाणपत्य, वैष्णव, शाक्त और सौर प्रत्येक सम्प्र-के अनुयायी लौकिक अथवा वैदिक दोनों तरह के शुभ वा अशुभ समस्त कार्यों में सर्व प्रथम आपको ही यत्न पूर्वक ते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निश्चित हुआ कि वेदादि शास्त्रों अनादि अनन्त निर्विकार जगद् रचयिता जगत्पालक एवं संहार कारक परमात्मा को हो गणेश माना है। हिन्दू लोग सर्वाधार की सब कार्यों के आरम्भ में पूजा करते हैं।

गणेशपूजन और एकेश्वरवाद

(एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति)

हिन्दू धर्मावलम्बी आदि काल से एक मात्र परमात्मा की उपासना करते हैं जो लोग हिन्दू धर्म पर यह आक्षेप करते कि हिन्दू लोग एक ईश्वर को छोड़कर अनेक देवी देवताओं

और यहां तक कि धातु, पत्थर, मिट्टी आदि जड़ वस्तुओं की पूजा करते हैं''–वे मनुष्य सर्वथा भ्रांत हैं क्योंकि उनके तंग और शुष्क मस्तिष्कों में हिन्दूधर्म का विशाल रहस्य समा नहीं सकता। वास्तव में अनेक नामों और रूपों द्वारा की जाने वाली साम्प्रदायिक उपासनाएँ अन्त में एकेश्वरवाद में ही परिणत हो जाती हैं। हम यह रहस्य एक दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त करते हैं।

एक नगर में एक विलक्षण मनुष्य रहता था। उसका नाम विश्वरूप था। जो संस्कृत का दिग्गज विद्वान्, अंग्रेजी का एम. ए. कानून में 'बार एट्ला' और डाक्टरी में सिविलसर्जन था। साइन्स में प्रौढ़ता रखने के कारण उसे 'डाक्टर ऑफ सायन्स' की पदवी मिली थी। फौजी खिदमात से सन्तुष्ट होकर सरकार ने उसको 'टाइगर आफ वर्ल्ड' का खिताब प्रदान किया था। गवैयों में उसकी बड़ी भारी धाक जमी थी, सब कहते थे कि यह तो दूसरे तानसेन उत्पन्न हुवे हैं, तान, टप्पे, पलेट, आरोह सम और तार–गर्ज है कि गान कि प्रत्येक कला में ये अद्वितीय हैं।—एक ताल, तीन ताल झपताल, लक्ष्मीताल और दुर्गाताल एवं चंचर, धमार, कहरूवा, बंजारा आदि वादन की समस्त पद्धतियों में माहिर हैं।

अनेक पहलवान इसके चेले थे। यह अपने अखाड़े के पट्ठों को एड़, भिन्नी, कुलाजंग, पलटा, चौपट और कन्धर के दांव पेंचों में ऐसा फरवट करता था, कि मुकाबले में जेवस्को सरीखे विश्वविजयी पहलवान भी, आन की आन में चारों खाने चित्त हो जाते थे। 'रुश्तमे हिन्द' की गदा इसने इसीलिए ठुकरा दी थी कि वह सिर्फ हिन्दुस्थान का 'रुश्तम' कहलाने में अपना अपमान समझता था।

नदिया शान्ति के नैय्यायिक उसे अपना गुरु मानते हैं

स दिन 'नीलो घटः' पर धारा प्रवाह शास्त्रार्थ सुनकर विद्व-ण्डल ने उसको 'अभिनव वाचस्पतिः' की उपाधि दी थी।

काशी के 'टिड्ढाणञाचार्य्य' तो हमारे प्रतिपाद्य नायक को ांकी' फांकते हुवे देखकर 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' के उदाहरण न जाते थे। उस दिन दशाश्वमेध घाट पर 'आमीति न्यासे स्वग्रहणं वैयर्थ्यम्' के शास्त्रार्थ में सब ने एक स्वर में कहा ा कि 'जो है शो है आप तो 'व्याकरणीय-महाटवीय प्रखर-व्याननोदाहरणभूत-पण्डित-प्रकाण्ड-मण्डली-मण्डनायमाण' हैं।

कहां तक वर्णन करें यह व्यक्ति प्रत्येक गुण में अद्वितीय ा, सब विद्याओं का वेत्ता था, हर एक फन में माहिर था और ाम मामलात में दखल रखत था।

एक दिन उसी नगर के रहने वाले 'शंका पंक पयोनिधि' हाशय शकूकचन्द साहिब आप से मुलाकात करने के लिये ारे। इत्तिफाक से उस वक्त हमारे चरित नायक अपने निवास ह में विद्यमान थे, महाशय जी 'नमस्ते' फटकार कर आज्ञा-ार एक तर्फ बैठ गये। उसी समय विश्वरूप जी के पुत्र नें कर कहा 'पिता जी ! प्रणाम, आपको घर बुला रहे हैं।' हाशय शकूकचन्द ने अपनी डायरी निकाली और यह समझ र-चूंकि आगत सज्जन ने आपको 'पिता जी' शब्द द्वारा बोधित किया है इसलिये हो न हो, ईं जनाब का नाम 'पिता ी है—झट से आज की तारीख वाले पन्ने पर 'पिता जी से ाकात' यह शब्द नोट कर लियें।

विश्वरूप जी घर जाते हुवे महाशय जी से शिष्टाचार पूर्वक ते गए कि आप यहीं तशरीफ, रखिएगा मैं अभी २ लौटकर ता हूं। विश्वरूप जी को पीठ मोड़े देर न हुई थी एक कत्थक न-तम्बूरा थामे दर्वाजे पर आ धमके और पूर्वस्थित महाशय

शक्कूकचन्द जी से पूछने लगे कि—'गायनाचार्य्य जी किध गए ?' शक्कूकचन्द जी ने आश्चर्यचकित होते हुवे उत्तर दिया- 'जनाब ! यह तो 'पिता जी' का मकान है, यहां कोई गायना चार्य्य नाम का व्यक्ति नहीं रहता। कत्थक ने समझ लिया कि यह कोई पागल मनुष्य है अतः कुछ भी उत्तर न दे यथास्थान बैठ गया।

इतने में एक दूसरे साहब ने आकर पूछा बैरिस्टर साह कहां गए ? शक्कूकचन्द फिर बोल उठे—अजी जनाब ! यह 'पिता जी' का घर है, क्या आप सभी भंग पीते हैं जो इ दर्वाजे पर आकर दुनिया भर के मनुष्यों को दर्य्याफ्त करते हैं। कत्थक ने कहा 'मवक्किल साहिब, बैठ जाइए वाबू जी अ आ जाते हैं।' वह भी फर्श पर बैठ गया। आधी मिनट के बा एक तीसरा व्यक्ति लठिया के सहारे कराहता हुवा आ पहुं और दम फूल जाने के कारण विस्वर कण्ठ से दबी आवाज पूछने लगा 'डाक्टर···साहिब···कहां है'। कत्थक और मवक्कि अभी दयार्द्र होकर सान्त्वनामय उत्तर देने को तैयार ही कि महाशय जी झुंझला कर बोल उठे—'अरे भाई यह तो 'पि जी का मकान है यहां टर फर कोई नहीं बंसता।' महाशय के मूर्खता पूर्ण उत्तर से बीमार को क्रोध तो बहुत आया पर कत्थक के सान्त्वना पूर्ण हाथ के इशारे से आराम कुर्सी पर टे देकर बैठ गया। इतने में एक विद्यार्थियों का झुण्ड बगल पुस्तकें दबाए आ पहुँचा, कोने में बिछी चटाई पर बैठे हु पूर्वावस्थित सज्जनों को सम्बोधित करते हुए पूछने लगा—श्री 'गुरुदेव जी' कहाँ पधारे हैं ? महाशय जी की लीला देखने लिए अन्य सब सज्जन चुप रहे। शक्कूकचन्द जी कुछ तो से ही जले भुने बैठे थे परन्तु विद्यार्थियों के प्रश्न से [यह

कर कि ये सभा लोग मुझ से मसखरी करने की सलाह करके आये हैं तभी तो एक के बाद दूसरा चिढ़ाने के लिए आकर ढूंढे प्रश्न करता है।] आगबबूला होकर गर्ज उठे—नालायक कहीं के! कौन होते हैं 'गुड़द्योजी' ? दश बार समझा चुका हूँ कि यह तो 'पिताजी' का मकान है। मगर तुम शरारत से बाज नहीं आते। चिड़िया घर की तरह सभी जानवरों का यहीं ठेका लिया है ? जो हर एक मनुष्य को यहीं आकर दर्याफ्त करते हो! क्या यह इन्क्वयरी आफिस (Enquiry office) समझा है? महाशय जी की बड़बड़ाहट का अखण्ड पाठ समाप्त होता न देखकर विद्यार्थियों की सहनशीलता जवाब दे गई। आखिर स्वभाव सुलभ वानर-चांचल्य के कारण उन्होंने महाशय शङ्कर को जा दबोचा और लगे मीठी-मीठी चुटकियों से मरम्मत करने। जब सिर पर तड़ातड़ पड़ी तब कहीं महाशय जी को अक्ल ठिकाने आई, खीतसी झड़ाकर चुप रह गए। मन-ही-मन सोचने लगे कि मैं पागल हूँ या ये सब ?

तत्काल श्री विश्वरूप जी भी वहां आ पहुँचे, समस्त उपस्थित मनुष्यों ने अपने-अपने ढंग से सत्कार करना आरम्भ किया। प्रत्येक विद्यार्थी ने श्रीचरणों में मस्तक झुकाते हुए अपने दांए हाथ से गुरुजी के दांए पांव को तथा बांये से बांये पांव को स्पर्श करते हुए नाम-गोत्र-निर्देशपूर्वक कहा—'अभिवादयेऽहं भोः ?' बीमार मुहम्मडन ने कहा 'आदाब अर्ज जनाब ?' ईसाई मवक्किल ने कहा—'गुड मार्निंग सर !' महाशय जी ने सीना उभारे तनेतनाए दूर से ही ढेले की तरह जोर से 'नमस्ते' दे मारी, और आंसू पोंछते हुवे पूछा—श्रीमान् जी ! मैं जानना चाहता हूँ, कि आपका शुभ नाम क्या है ? श्री विश्वरूपजी ने कहा कि इस साढ़े तीन हाथ के कलेवर का नामकरण

संस्कार के समय तो 'विश्वरूप' नाम रक्खा गया है परन्तु आज सब सज्जन अनेक प्रकार सोपाधिक नामों से पुकारते हैं। पुत्र मुझे 'पिताजी' कहते हैं। धर्मपत्नी 'पतिदेव' कहती है। शिष्य लोग 'गुरुजी' पुकारते हैं। मरीज़ 'डाक्टर साहिब' बोलते हैं। मवक्किल 'वकील' कहकर याद करते हैं, गर्ज़ है कि जितने मुँह उतने नाम ! आपने आज 'श्रीमान् जी' यह एक नया नाम रख छोड़ा है।

श्री विश्वरूप जी को इस उक्ति को सुनकर महाशय जी का समस्त सन्देह मिट गया और अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करते हुए उपस्थित प्रत्येक सज्जन से क्षमा याचना करने लगे।

ठीक यही दृष्टान्त उन बुद्धि के हिमालयों पर घटित होता है जो कि–एक ही ईश्वर की अनेकों नाम रूपों द्वारा की जाने वाली विभिन्न समुदायों की विभिन्न पूजा पद्धतियों का रहस्य न समझ कर हिन्दूधर्म पर अनेकेश्वरवाद का मिथ्या लाञ्छन लगाने का प्रयास करते हैं।

परमात्मा एक है परन्तु वही अनेक गुणों का भण्डार है अगणित शक्तियों का केन्द्र है। -अनन्त लीलाओं का अथाह सागर है इसलिए 'अनाम' होते हुये उसके अनेक नाम हैं और 'अरूप' होते हुए भी उसके असंख्य रूप है तभी तो वेद कहता है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

अर्थात्—ज्ञानी लोग उस एक ही परमात्मा का अनेक तरह से बखान करते हैं।

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति के तत्तद् सम्बन्ध विशेष से तत्तद् गुण वैशिष्ट्य से पिता पुत्र माता और गायक मल्ल

अनेक नाम पुकारे जाते हैं तथापि उसके एकत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता, ठीक इसी प्रकार एक ही ईश्वर को अपनी २ भावना विशेष के तारतम्य से अनेक नामों द्वारा प्रतिपादन करने वाले हिंदूधर्म के 'एकेश्वरवाद' पर भी कुछ आक्षेप नहीं आ सकता।

गान कला सीखने के अभिलाषी शिष्य गायक गुरु की प्रशंसा में यही स्तुति करेंगे कि—, आपका गला अतीव कोमल है और हाथ की अंगुलियें इतनी हलकी हैं कि हारमोनियम बाजे पर पानी की तरह थिरकती हैं इत्यादि'। परन्तु मल्लविद्या सीखने वाले शिष्य इसी गुरु की प्रशंसा में उपर्य्युक्त कोमलता और हलकापन न कहकर इसके विपरीत यह कहेंगे कि—'आपके भुजदण्ड हाथी के सूंड के समान सुडौल और अतीव प्रचण्ड हैं, कहना न होगा कि प्रत्येक मनुष्य अपने प्रयोजन के अनुसार तदुपयुक्त शब्दों द्वारा ही दूसरे की स्तुति करता है। ऐसा कौन मूढ अपराधी होगा जो कि अदालत के समक्ष अपना अपराध सिद्ध हो जाने पर भी जज को 'इंसाफ पसन्द' कहकर स्वयं सजा भुगतने को उतावला होगा, किन्तु उस समय तो 'रहम दिल' कहकर दया की भीख मांगने से ही अपना प्रयोजन एक सीमा तक सिद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार एक ही ईश्वर को शान्ति अभिलाषी मनुष्य **'शान्ताकारं भुजगशयनम्'** कहकर स्मरण करते हैं। वीरत्व शक्ति के चाहने वाले बहादुर **'सिंहादुत्थाय कोपाद् घघड़घड़घड़ा धावमाना भवानी'** कहकर याद करते है। धनसंपदा के मुतलाशी महाजन **'हिरण्यवर्णा. हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्'** पुकारते हुए ध्यान करते हैं और समस्त विघ्नबाधाओं की निवृत्ति चाहने वाले आस्तिक **'विघ्नेश्वरं सकलविघ्नहरं नमामि'** कहते हुये पूजते हैं।

हाथी का शिर क्यों ?

गणेश गायत्री में लिखा है कि–

तत्पुरुषाय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ।

अर्थात्—हाथी के समान मुखवाले–वक्रतुण्ड और एकदांत वाले गणेश का हम मनन और ध्यान करते हैं वह हमें सन्मार् में प्रवृत्त करें।

प्रत्यक्ष में भी गणेश की प्रत्येक मूर्ति का कण्ठ से ऊपर का भाग हाथी का होता है। नराकृति अर्धाङ्ग के साथ हाथी के मस्तक का मेल मानव बुद्धि को चकित कर दे यह स्वाभाविक ही है, इसके आधिदैविक स्वरूप का रहस्य तो आगे चलकर पौराणिक कथाभाग के समाधान के समय प्रकट किया जायगा, यहाँ हम कथित बुद्धिवादी सज्जनों के सन्तोषार्थ—'दुर्जन तोष न्याय से स्वयं भी बुद्धिवाद के आजाद घोड़े पर सवार होकर दो चार दुलत्तियें फटकारने के लिए उसे चाबुक की नोंक से चौंक देते हैं। अस्तु,

वर्तमान युग में किसी भी घटना का रहस्य प्रकट करने के लिए समाचार पत्रों में व्यंग्य-चित्र=कार्टून प्रणाली का आश्रय लिया जाता है। यद्यपि उक्त चित्र देखने में बड़े ही अटपटे जान पड़ते हैं, इनमें मनुष्यों को पशु पक्षी कीट पतंगों की विकृत आकृतियों में सर्वथा असम्भव स्वरूपों में, अंकित किया जाता है परन्तु इनसे घण्टों मगज पच्ची करने पर भी ध्यान में न बैठने वाले भाव, समाचार पत्रों के कई कालम पढ़ने पर भी न सुलझने वाले रहस्य विनोद विनोद में तत्काल आंखों के आगे नाचने लगते हैं, देहली के सुप्रसिद्ध व्यंग्यचित्रकार श्री शंकर अपनी कला में बड़े निपुण माने जाते हैं, उनका एक साप्ताहिक प

शंकर वीकली' कार्टूनमय निकलता है, जिसे बड़े बड़े पत्रकार खरीदते हैं, अन्य देशों में तो ऐसे २ कार्टून सहस्रों पौण्ड कीमत में बिकते हैं यह प्रसिद्ध है। एतावता टेढ़ीमेढ़ी रेखाओं से उचित समस्या का रहस्य समझने के बजाय यदि कोई जीवट जीव उसकी बनावट के असम्भवपन का रोना रोने लगे तो विज्ञजनों की दृष्टि में वह महाशय (?) उक्त कला से सर्वथा अनभिज्ञ और बुद्धि का शत्रु ही समझा जायगा, फिर चाहे वह बुद्धिवादी होने के सैकड़ों प्रमाण-पत्रों के बण्डल का बोझा उठाए अहर्निश घूमा करे। ठीक इसी प्रकार गणेश भगवान् के विलक्षणरूप को देख कर कोई नास्तिक अपने आपको ही एकमात्र सम्भावना का निर्णायक व्यर्थ मानता हुआ तादृश स्वरूप से ली जा सकने वाली शिक्षाओं से वंचित रह जाए तो यह उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। इसलिए हम पिछली किश्त में बुद्धिवादियों को यही बतलाना चाहते हैं कि गणेश को तुम कार्य में निर्विघ्नता चाहने वालों के लिए शिक्षाप्रद रेखाचित्र ही समझ लो—कल्पना करो—तुम यह रहस्य जानना चाहते हो कि—हमारे किसी कार्य में कोई विघ्न बाधा उपस्थित न हो, एतदर्थ हमें स्वयं क्या प्रयत्न करने चाहिएं। यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि हमारे कार्यों में जो विघ्न उपस्थित होते हैं उनके मूल में कुछ हमारी ही भूलें लापरवाहियें, अनुचित चेष्टायें एवं गलत फैहमियाँ होती हैं, यदि हम सचमुच सावधान हो जायें और तादृश चेष्टाओं की पुनरावृत्ति न होने दें तो निस्सन्देह हमारे सब काम विघ्न बाधाओं से प्रतिहत न होंगे।

शिर—जब हमने भगवान् वेदव्यास सदृश मनोविज्ञान के पारंगत किसी कलाकार के सामने अपना उपर्युक्त हार्द प्रकट किया तो उन्होंने शब्द चित्रमयी अतुल तूलिका उठाकर तादृश चित्र का निर्माण आरम्भ करते हुए सबसे प्रथम हस्ती का

मस्तक अंकित किया और कहा कि देखो तुम यदि अपने प्रत्ये कार्य में निर्विघ्नता चाहते हो तो अन्य किसी भी प्राणी से शि भिड़ाने=टक्कर लेने की बुरी आदत को छोड़ दो, फिर चाहे तुम कितने ही वपुः-सम्पत्ति सम्पन्न क्यों न हो ! यह शिक्ष संसार में केवल हाथी के मस्तक से ही ली जा सकती है क्यों संसार के अन्याय सभी प्राणियों का सर्वाधिक मर्मस्थान अण् कोश होते हैं। हम मल्लों को सौ बार शिर भिड़ाते देखते है छोटे २ बच्चे भो बाल लीला में प्रायः शिर भिड़ाते रहते है भैंसे, सांड और मेंढों की शिरभिड़न्त तो बहुत प्रसिद्ध ही है परन्तु इन सब जीवों के यदि अण्डकोशों पर थोड़ी भी चो पड़ जाये तो विचलित हो उठते हैं। यदि शंकावादी महा को हमारी इस स्थापना पर कुछ भी सन्देह हो तो वे स्वयं अप अण्डकोशों पर तनिक चुटकी चलाकर परीक्षा कर लें-सं संसार के अन्यान्य सभी प्राणियों के अण्डकोश जहां गुह्यांग के निकट होते हैं वहां प्रकृति ने हाथी के अण्डकोश उसके मस्तक में स्थापित किये हैं। पाठकों ने देखा होगा कि अन्यान्य जीवों की भांति हाथी के गुह्यांग के निकट अण्डकोश नहीं होते किन्तु मस्तक के ऊपर जो मटके-से औंधे उभरे हुए दीख पड़ा करते हैं वे वस्तुतः हाथी के अण्डकोश ही होते हैं, यही कारण है कि शरीर के अन्यान्य भागों की अपेक्षा इस भाग को अधिक मर्म-स्थल समझकर महावत इसी स्थान पर अपना अधिकार रखता है। जो हाथी अन्य अंगों पर भालों के प्रहारों से भी इतना विचलित नहीं हो सकता वही महाकाय जीव उक्त अंग के ऊपर पांव के अंगूठे की चोक से और अंकुश के तनिक से संकेत पर महावत की इच्छानुसार नाचता है। सो अपने शिर को अन्यों

की अपेक्षा अधिक मर्मस्थल समझकर व्यर्थ और अविवेकपूर्ण अनावश्यक संघर्ष में प्रवृत्त न होने की शिक्षा एकमात्र हाथी के मस्तक से मिल सकती है। इसलिए कोई भी कलाकार ऐसा शिक्षाप्रद रेखाचित्र निर्माण करते हुए उसका मस्तक हाथी का ही लगाने के लिए बाध्य है।

हाथी की आंख क्यों ?

इसी प्रकार—'निर्विघ्नता के इच्छुक साधक को अपने नेत्रों को अर्थात्-दृष्टिकोण को कैसा बनाना चाहिए'—यह शिक्षा भी एकमात्र हाथी के नेत्रों से ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि प्रकृति ने हाथी के नेत्रों को भी सब जीवों से विलक्षण बनाया है। जैसे दूरवीक्षण यन्त्र में आगे पीछे तो कांच लगे रहते हैं आगे का कांच छोटा होता है और पीछे वाला बड़ा, ठीक इसी प्रकार प्राणियों के नेत्र यन्त्र में भी सामने वाला काला तिल—जिसे कनीनिका कहते हैं, छोटा होता है और उसका पीछे का भाग उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। यही क्रम प्रायः समस्त प्राणियों के नेत्रों में पाया जाता है, परिणामस्वरूप सब जीव सामने की वस्तु को उतनी बड़ी देखते हैं जितनी कि वह वास्तव में होती है, परन्तु प्रकृति ने हाथी के नेत्र का निर्माण संसार के सब प्राणियों के नेत्रों से सर्वथा विपरीत किया है। जैसे सब प्राणी सूर्य्य के प्रकाश में खूब देखते हैं, परन्तु उलूक अपने शरीर के अनुपात से अधिक विस्तृत नेत्र-कनीनिका होने के कारण दिन में देख ही नहीं पाता, आंख चुंधिया जाने के भय से बन्द किये किसी सूखे पेड़ को खोह में-दुबका रहता है, ठीक इसी प्रकार हाथी भी अपनी विपरीत कनीनिका के कारण सामने की छोटी वस्तु को भी बड़ी देखता है। जैसे ऐनक के शीशे के तारतम्य से हम सूक्ष्म अक्षरों को भी मोटे देखते हैं ठीक इसी प्रकार

हाथी अपने नेत्र के विलक्षण निर्माण के कारण सामने खड़े साढ़े तीन हाथ के मनुष्य को भी अपने से ऊँचा देखता है, सम्भवतः प्रकृति ने हाथी के तादृश नेत्र इसलिए निर्माण किये हों कि यह पर्वतायमान प्राणी कदाचित् अपनी वपुः सम्पत्ति के अभिमान से अन्यान्य लघुकाय प्राणियों को कीटप्राय समझकर पावों से रोंद डाले, इसलिए इसे सब अपने से बड़े दीखने चाहियें।

हमने उपर्युक्त रहस्य को जानने के लिए बहुत से हाथियों को सधाने वाले महावतों को पूछा है, उन्होंने उपर्युक्त बात का समर्थन करते हुए अधिक बतलाया है, कि हम नये नये हाथों के नेत्र में नोला थोथा आदि ओषधियें इसलिए डालते हैं कि हाथी की दृष्टि कम हो जाए। यदि ऐसा न किया जाय तो यह सामने आने वाले अन्यान्य जीवों को अपने से बड़ा देखकर भय खाता है और ठीक नहीं चलता—सो अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले पुरुष को भी अपना दृष्टिकोण हाथी की भांति दूसरों को अपने से बड़ा देखने वाला बनाना चाहिए। मनुष्य जब दूसरों को तुच्छ समझकर उनका अपमान करता है किंवा अवहेलना =लापरवाही करता है तभी दूसरे लोग अपनी सम्मान संरक्षा के लिए उसे हृदय से सहयोग नहीं देते। सो दूसरों को अपने से बड़ा देखने की शिक्षा एकमात्र हाथी के ही नेत्रों से मिल सकती है इसलिए कोई भी कलाकार ऐसे रेखाचित्र में हाथी के ही नेत्र अंकित करने के लिए बाध्य है।

लम्बी नाक क्यों ?

संसार में 'नाक' शब्द प्रतिष्ठा के अर्थों में प्रयुक्त होता है। जब कोई पुरुष अनुचित कार्य्य कर बैठता है तो संसार उसे कहता है कि 'उसकी नाक कट गई'। प्रतिष्ठित कुल के सपूत

अपने पूर्वजों की नाक रखने के लिए ऋण उठाकर कुलोचित व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, सो अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले भद्र-पुरुष को चाहिए कि वह सदैव अपनी, अपने पूर्वजों की, अपने कुल एवं अपने देश की लम्बी नाक का ध्यान रखे, अर्थात्—ऐसा कोई ओछा कार्य्य करने को उद्यत न हो जिससे नाक कट जाए। यह शिक्षा केवल हाथी की लम्बी नाक से ही मिल सकती है क्योंकि प्रकृति ने अन्य किसी जीव को इतनी लम्बी नाक प्रदान नहीं की। इसलिए रेखाचित्र में कलाकार हाथी की ही नाक लगाने के लिए बाध्य है।

बड़े कान क्यों ?

हमारे कार्य्यों में बहुत से विघ्न केवल इसलिए आ पड़ते हैं, कि हम कानों के कच्चे होते हैं, अर्थात् हमारे कान इतने छोटे किंवा ओछे होते हैं कि जहाँ किसी कर्णेजप=चुगलखोर निंदक ने झूठ सच आकर कहा कि—'तुम्हारा अमुक मित्र किंवा संबंधी यूं कहता है'—बस ! हम उस दुरात्मा को सत्यवादी हरिश्चंद्र समझकर उधेड़-बुन में पड़ जाते हैं और इस प्रकार अपने बहुत से विश्वासपात्र सहयोगियों की उपेक्षा करने लग जाते हैं, अथवा जो सुना उसी की प्रतिक्रिया आरम्भ कर देते हैं। निःसन्देह हमारी यह चेष्टा अन्त में विघ्नरूप में परिणत हो जाती है सो अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले पुरुष को ओछे कान नहीं रखने चाहिएं, किंतु अपने कानों को इतना विस्तृत बनाना चाहिए कि जिनमें सैंकड़ों असूयकों की विद्वेषपूर्ण बातें ऐसी समा जाएँ कि वे कभी जिह्वा के अग्रभाग पर आने ही न पाएँ। यह शिक्षा भी हाथी के सूर्पाकार कर्णों से ही ली जा सकती है, इसलिए

मनोविज्ञान के चतुर चितेरे ने उक्त रेखाचित्र में कान भी हाथी के ही अंकित किये।

हाथी की जीभ क्यों ?

सब विघ्नों को दूर करने किंवा उसको बुलाने में जिह्वा का सर्वाधिक हाथ है। एक शब्द अनुकूल निकल गया तो बुराई पर तुला हुआ घोर शत्रु भी मोम बन गया, एक शब्द प्रतिकूल बोला गया, कि अपने पसीने के स्थान में खून बहाने वाला चिरविश्वस्त सम्बन्धी सदा के लिए शत्रु बन गया। कहा जाता है कि तलवार का घाव भर जाता है परंतु बोल का कांटा मृत्यु पर्य्यंन्त कसकता रहता है। इसलिए अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले पुरुष को चाहिए, कि वह अपनी जिह्वा का नोकीला बाण दूसरों पर न तानकर उसका अग्रभाग अपनी ओर ही रक्खें अर्थात्—दूसरों को कुछ कहने से पूर्व 'स्वयं कितने पानी में है' यह आत्म-निरीक्षण भी कर लें। यह शिक्षा हाथी को छोड़कर संसार के अन्य किसी जीव की जिह्वा से नहीं ली जा सकती क्योंकि सभी जीवों की जिह्वा मनुष्य की भांति कण्ठ की ओर से आगे की ओर ही लपलपाती है परन्तु संसार में हाथी ही एकमात्र ऐसा जन्तु है जिसकी जिह्वा प्रकृति ने दन्तमूल की ओर से कण्ठ की ओर लपलपाती लगाई है। सम्भव है पाठकों ने सौ बार हाथी देखने पर भी इस अद्भुत तथ्य को न जाना हो, वस्तुतः हाथी के मूँड का निर्माण संसार के समस्त प्राणियों से विलक्षणतम है ऐसी स्थिति में रेखाचित्रकार किसी विलक्षण जिह्वा से तादृश शिक्षा देने के लिए हाथी की ही जिह्वा लगाने के लिए आपाततः बाध्य है।

हाथी के दांत क्यों ?

लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कि 'हाथी के दांत खाने के और होते हैं और दिखाने के और होते हैं'—सो अपने कार्य्य में विघ्न न चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह सज्जन पुरुषों के साथ जहां बैर भिड़ाने से बचे, उदार दृष्टिकोण से पेश आए, कुलोचित प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रक्खे, प्रसंगवश उनकी ओर से कही गई मानव-सुलभ ओछी बातों को भी अनसुनी कर दे और उनके गुण ंयों की आलोचना न करके अपनी ही निर्बलताओं पर ध्यान दे, वहां अकारण शत्रुओं की दुष्टता से बचने के लिए भी हाथी के खाने के दांतों की भांति अपने हृदय के अभ्यन्तरतल में उनके वास्तविक स्वरूप को समझते हुए और उससे सर्वदा सावधान रहते हुए भी अनावश्यक विरोध प्रकट न होने दे, किंतु दिखावे के दांतों की भांति ऊपर से मानवोचित लल्लोचप्पो बनी रहने दे, यह नीति है। यह शिक्षा भी हाथी के उभयविध दांतों से ही मिल सकती है, परन्तु यह नीति केवल महाभारत के शब्दों में–'मायाचारो मायया बाधितव्यः' के अनुसार 'एक' सीमा तक ही आचरणीय है, सर्वथा और सर्वदा अनुकरणीय नहीं ; इसलिए हाथी का मुख होते हुए भो दिखावे का दांत केवल 'एक ही' चित्र में अंकित किया गया है इसलिए गणेश का अन्यतम नाम (एक दन्त) प्रसिद्ध है।

गणेश के एक दंत होने की कथा का रहस्य तो अन्यत्र प्रकट किया जाएगा परन्तु यहां इतना और भी अधिक जान लेना आवश्यक है, कि गणेश चित्र में दर्शनोय दांत केवल दांयी ओर का होता है बांयी ओर का नहीं होता जिसका तात्पर्य्य यह है कि वाह्य प्रदर्शन भी केवल दक्षिण=अर्थात्—चतुर श्रेणी की

के विप्रतिपक्षों के लिए ही उचित है—वाम=अर्थात्-स्वभावतः कुटिल कदर्य्यों का तो मनु के शब्दों में—'वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' अर्थात्—वाणीमात्र से भी आदर नहीं करना चाहिए।

यहां तक—मस्तक से लेकर कण्ठ पर्य्यन्त हाथी के अङ्गों से प्राप्त होने वाली शिक्षाओं का दिग्दर्शन किया गया है, कहना न होगा, कि उक्त शिक्षाएं केवल हाथी के ही विलक्षण अङ्गों से ही प्राप्त हो सकती हैं। संसार के अन्य किसी प्राणी के अंगों को प्रकृति ने तादृश नहीं बनाया है इसलिए रेखा-चित्र कला कुशल कोई भी कलाकार कुल चित्र में हाथी का ही मस्तक लगाने के लिए बाध्य है।

आकण्ठ नर-शरीर क्यों ?

अपने किसी कार्य्य में विघ्न न चाहनेवाले पुरुष के लिए उचित है, कि वह स्पष्टवादी हो, मानव हृदय रखता हो, मनुष्योचित कर्म्मकलाप में सतत निरत रहे एवं उसकी गति विधि मानवोचित होनी चाहिए। उक्त गुणों को सीखने के लिए उक्त चित्र में-कण्ठ, हृदय, हाथ और पांव अर्थात् कण्ठ से नीचे का सब भाग निराकार अंकित किया गया है, मनुष्य ही केवल सुस्पष्टवादी है, शेष जीव कप चट आदि विशुद्ध ध्वनि बोलने में असमर्थ हैं अतः अस्पष्टवादी हैं। इसलिए यह शिक्षा मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी के कण्ठ से अप्राप्य है सो वेद के अनुसार='तुरीयं **वाचो मनुष्या वदन्ति**' अर्थात्–मनुष्य ही अर्थानुगत वाणी बोलने में समर्थ है इसलिए गणेश का गला मनुष्य के समान नियत है।

मनुष्य ही कर्म्मयोनि है, शेष सब जीव भोगयोनि के जन्तु हैं इसलिए प्रकृति ने केवल मनुष्य को ही समस्त कार्य्य कर सकने योग्य हाथ दिये हैं। वानर इसका अपवाद कहा जा सकता है परन्तु वह भी नर का समीपवर्ती जीव होने के कारण हाथ तो रखता है

किन्तु जिनसे वह खाता है उन्हीं से पांवों का भी काम लेता है। अतः उन्हें विशुद्ध हाथ नहीं कहा जा सकता, सो कर्तृत्व भोक्तृत्व की भावना एकमात्र मनुष्य में ही उपलब्ध हो सकती है। इसलिए गणेशचित्र में मनुष्य सदृश हाथ अंकित किये गये हैं, परंतु साधक को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार पदार्थों को प्राप्त करना है, इसलिए उसे निरन्तर पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के लिये चतुर्विध कर्म करते रहना चाहिये, एतदर्थं चार भुजाएं अंकित की गईं।

'सहृदय' शब्द तो केवल मनुष्य में ही चरितार्थ होता है, संसार के अन्य जन्तु केवल हृदयहीन होने के कारण ही 'पशु' कहे जाते हैं। इसलिये हृदय का आवास-स्थान उरुस्थल भी मनुष्य के ही समान उक्त चित्र में अंकित किया गया है।

गतिविधि-चाल-रफ्तार-कदम—आदि शब्दों का व्यवहार तादृश कार्यकलाप के लिये किये गये उपक्रम उद्योग किंवा कार्य प्रणाली की रूपरेखा के अर्थ में किया जाता है, सो बैल, घोड़ा, ऊंट, हाथी आदि पशुओं को उचित मार्ग में प्रवृत्त रखने के लिये, नाथ लगाम, नकेल और अंकुश की आवश्यकता रहती है तभी वे संयत रूप से कदम उठा सकते हैं अन्यथा अन्यत्र-गामी हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसकी गतिविधि ठीक करने के लिए तादृश भौतिक साधनों की आवश्यकता नहीं, किन्तु बुद्धिजीवी होने के नाते वेदादि शास्त्रों के वचन ही उसके नियन्त्रण के लिए पर्याप्त समझे गये हैं। इसलिए शास्त्र जिसे 'एष निष्कण्टकः पन्था' कहे उसी सन्मार्ग पर कदम पर कदम बढ़ाते चले जाना मानव की विशेषता है, एतदर्थं उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए गणेश चित्र में मनुष्य के समान पांवों का ही उपयोग हुआ है।

लम्बोदर क्यों ?

गणेश का अपर पर्य्याय लम्बोदर भी है। लोक में कि
भद्रपुरुष के दैवात् विकृत हुए अंग का निर्देश करते हुए उस
नाम धरना अपमानजनक समझा जाता है, परन्तु गणेशभगव
की उपर्युक्त नाम से स्तुति करना अनेक लाभों का हेतु है।
नाम की व्याख्या तो यथास्थान की जाएगी, परन्तु यहां
प्रकट कर देना आवश्यक है कि अपने कार्य में विघ्न न चाह
वाले साधक को एक प्रधान शिक्षा देनी अभी शेष थी जिस
सन्निवेश उक्त लम्बोदर आकृति में किया गया है, तद्यथा-
संसार में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं, एक वे हैं जो
कुछ भी झूठी सच्ची बात सुन पाएँगे तो तत्काल उसे
जने जने' गाते फिरेंगे। जब तक वे उस कच्ची पक्की बात
बिना वेतन लिए ही ढिण्ढोरा न पीट डालेंगे तब तक उन
भोजन भी हजम न होगा। ऐसे ही पुरुष अफवाह फैलाने
उद्गम स्थान माने जाते हैं। कहना न होगा कि अफवाहों
कारण सैंकड़ों पुरुष आतंकित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ता में
का कुछ अनर्थ कर बैठते हैं, कई तो भयवशात् 'हृदय
बन्द हो जाने के कारण मृत्यु के मुख में चले जाते हैं, बहुत
बेंकों का दिवाला निकल जाता है। इसीलिए लड़ाई झगड़े
दिनों में सरकार को ऐसे जंगी जीवों की रोक थाम के
आर्डीनेंस तक बनाने पड़ते हैं। सचमुच इस प्रकृति के मनुष्य
केवल अपने लिये बल्कि अपने पड़ौसियों, नगरवासियों एवं
तक के लिए भयावह सिद्ध होते हैं। ऐसे सज्जनों (?) को
जाता है कि इनका पेट बहुत छोटा है, अर्थात् इनको साधार
सी बात भी नहीं पचती।

दूसरे वे लोग हैं जो बड़ी से बड़ी रहस्यपूर्ण भयंकर

सुन कर भी उसे ऐसा पी जाते हैं कि आयु भर दूसरे के सामने उसकी गन्ध तक नहीं आने देते। महाभारत में प्रसिद्ध है कि दानवीर कर्ण कुन्ती की प्रथम सन्तान थे अर्थात् महाराजा युधिष्ठिर के ज्येष्ठ भ्राता थे, परन्तु कुन्ती नें यह रहस्य कर्ण के जीवन काल में किसी पर प्रकट नहीं किया, उसके मरने पर ही युधिष्ठिरादि को बताया कि 'अपनें ज्येष्ठ भ्राता कर्ण को जलाञ्जलि प्रदान करो'—इस पर युधिष्ठिरादि को बहुत शोक हुआ, कदाचित् यह रहस्य पहले विदित हुआ होता तो महाभारत का संहारक संग्राम ही न ठना होता—अतः स्त्री जाति को शाप दिया कि 'इनको बात न पचा करे'—इस कथा का तात्पर्य जो भी हो परन्तु प्रत्यक्षतः स्त्री जाति अपने छोटे पेट के लिए बहुत काफो प्रसिद्ध है, इसलिए धर्मशास्त्रों तक में इनकी इस प्रकृति से अनर्थ हो जाने की आशंका के विचार से ही 'स्त्रीषु नर्म्मविवाहे च···नानृतं स्यात् जुगुप्सितम्' अर्थात्—स्त्रियों में उपहास में और विवाहादि—विनोद के अवसरों पर अयथार्थ कह देना पाप नहीं माना है, अस्तु !

छोटे पेट से तात्पर्य्य है (जिसे बात न पचती हो) बड़े पेट का अर्थ है—बड़ी से बड़ी बात को भी शर्बत की तरह पी जाना, सो छोटा पेट रखने वाले लोग अपनी इस मूर्खतापूर्ण आदत के कारण सैंकड़ों विघ्नों के पात्र बन जाते हैं, परन्तु बड़ा पेट रखने वाले गम्भीर पुरुष बड़ी से बड़ी आपत्ति को भी धीरतापूर्वक पार कर जाते हैं, इसलिए तादृश शिक्षा ग्रहण करने के लिये चतुर कलाकार ने इस विज्ञानमय पवित्र चित्र में पेट को लम्बायमान अंकित किया है।

मूषक वाहन क्यों ?

यदि हम यहां चूहे की चर्चा न करें तो यह रेखाचित्र अधूरा ही

रह जाए, पूरा चित्र तो तभी बनता है जबकि ऊपर महाविशा हाथी का मस्तक ! उसके नीचे साढ़े तीन हाथ के मनुष्य का छो सा धड़ ! और उसके भी नीचे अकिंचित्कर मूषक जैसे स्वल्पका जन्तु का क्षुद्रतम कलेवर। निसन्देह यह वैदिक रेखाचित्र स साधारण की समझ बूझ की वस्तु नहीं है। हमने प्रायः बहुत शास्त्रार्थों में देखा है कि आर्य्योपदेशक महाशय गणेश के आ हाथी और आधा मनुष्य-रूप पर तो 'सनातनधर्मियों कलमी देवता' कहकर खूब उपहास करते हैं, परन्तु जब मूष वाहन का प्रसंग आता है तो उनका वह उपहास आवेश औ क्रोध के रूप में परिणत हो जाता है। मजाक उड़ाना भूल लड़ने मरने को उद्यत हो जाते हैं। हमने जब उनकी इस प्रवृ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया तो मालूम हुआ कि उन क्रुद्ध होना सहैतुक ही है, कारण ? सब जानते हैं कि स्वा दयानन्द को जो कथित बोध हुआ था वह शिवलिंग पर चुहि को चढ़े देखकर ही हुआ था, वह बात सब समाजी स्वीक करते हैं, ऐसी दशा में आर्यसमाज की मूल उपदेष्ट्री श्रीम चुहिया ही ठहरो, सो चुहिया में किसी भी महाशय की श्रद्धा होना अस्वाभाविक नहीं, अब यदि सनातनधर्मियों का ह सुण्ड, उद्दण्ड वक्रतुण्ड समाजियों की चुहिया पर सवार हो ज तो उनका बिगड़ उठना निष्कारण नहीं। फिर सूक्ष्मांगी चुहि और लम्बोदर गणेश का शारीरिक तारतम्य मिलाने पर यह चेष्टा और भी गुरुतर अपराधरूप में परिणत हो जाती है परन्तु हम अपने मित्र महाशयों को नम्रतापूर्वक बता दें चाहते हैं, कि इसमें सनातनधर्मियों किंवा उनके गणेश तनिक भी दोष नहीं क्योंकि उनकी यह चेष्टा अपनी इच्छा से न किन्तु साक्षात् निराकार बाबा ने यजुर्वेद में आदेश दिया है कि

आखुस्ते पशुः।

अर्थात्—(हे गणेश ! मैं) तेरा पशु=वाहन आखु=मूषक =चूहा नियत करता हूँ।

इसलिए गणेश भगवान् बेरोक टोक मूषक महाराज पर विराजते हैं। जिस भगवान् ने आम्र जैसे विशाल वृक्ष को छोटा सा फल चिपकाया और अकिंचित्कर तरबूज, सीताफल आदि की लहलही लतिकाओं में विशालकाय फलों को संयुक्त किया उसी भगवान् ने आपकी चुहिया का श्री गणेश के साथ सामंजस्य भिड़ाया। अस्तु,

सम्भव है, पाठक हमारे इस उपक्रम की विशालता में नीरसता अनुभव करें, परन्तु हमने वास्तव में एक अक्षर भी इसमें अनावश्यक नहीं आने दिया है--तात्पर्य यह है कि—समस्त विघ्नों का प्रधान कारण साधक के मन में उठने वाले तर्क-वितर्क, ननुनच, किन्तु, परन्तु ही हैं। जो पुरुष आवश्यकता से अधिक शंकाशील होता है वह श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों में—'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् विनष्ट हो जाता है।

सो जैसे सत्त्वगुण की प्रतीक गोमाता, रजोगुण का प्रतीक सिंह और तमोगुण का प्रतीक सर्प या महिष है, ठीक इसी प्रकार तर्क का प्रतीक मूषक=चूहा है। अहर्निश काट छांट करना, अच्छी से अच्छी वस्तुओं को भी निष्प्रयोजन कुतर डालना—यह चूहे का स्वभाव है—सो अपने कार्य में विघ्न न चाहने वाले साधक को उचित है कि वह अपनी कुतर्कों को उपर्युक्त गणेश प्रतिमा से प्राप्त किए ज्ञान के द्वारा दबाए रक्खे, अर्थात्—तर्क को स्वतन्त्र न विचरने दे, किन्तु जैसे सवार वाहन को अपने वश में रखकर अपनी इच्छानुसार उद्दिष्ट स्थान की ओर चलाता है, ठीक इसी प्रकार 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' के अनुसार अपनी तर्क प्रणाली को उच्छृंखल न बनाकर उसको 'वेदशास्त्राविरोधिना' रूप से वेदादि शास्त्रों की अनुसन्धायक

बनाए। यही गणेशवाहन मूषक का तात्पर्य्य है।

आर्यसमाजी तथा कथित बुद्धिवादी तर्क ही को मुख्य मानते हैं, अतएव हमने बार बार अपने लेख में चुहिया को महाशयों की सम्बन्धिनी प्रकट किया है, और सनातनधर्मी प्रमाणवाद को प्रधान मानते हैं इसलिए गणेश को उनका सम्बन्धी प्रकट किया है, यही हमारे उपक्रमात्मक रूपक का तात्पर्य है।

लोकव्यवहार में मूषक, सम्पन्न घरों के प्रतीक समझे जाते हैं, दरिद्रों के यहां प्रायः 'चूहे सूखे दण्ड पेलते हैं' कहकर उनकी स्थिति का निरूपण किया जाता है। जिस नगर किंवा जिस घर में चूहे मरने लग जाते हैं वहां आने वाली विघ्न बाधाओं का सहज में ही अनुमान हो जाता है। महामारी आदि बहुत सी बीमारियों का पूर्व रूप चूहों की मृत्यु समझा जाता है। जब तक चूहे घर में आनन्द से रहें घर वालों को कुछ चिन्ता नहीं। इस दृष्टि से भी चूहों को विघ्न विनाशक गणेश के वाहन मानना सर्वथा संगत है।

ऋद्धि सिद्धि सेविकाएँ ?

प्रत्येक गणेशचित्र के साथ हाथ में चँवर लिये बाँए दाएं दोनों ओर ऋद्धि और सिद्धि की समुपस्थिति प्रायः अंकित की जाती है, जिसका सीधा तात्पर्य यह है कि जो साधक सर्वविध विघ्न बाधाओं को पार करके तर्काश्रित बुद्धिवाद का समुपासक होगा, संसार भर की समस्त ऋद्धि और सिद्धि उसके चरण चूमने को सदैव उद्यत रहेंगी।

इस प्रकार गणेश भगवान् के बाह्यचित्र की रूप रेखाओं के मनन करने से होने वाली शिक्षाओं का निरूपण करके हम घोरतम नास्तिकों से पूछना चाहते हैं कि—जब आप नित्य ही

समाचारपत्रों में छपे रेखाचित्रों का बड़े चाव से अध्ययन करते हैं और सामयिक समस्याओं की वस्तुस्थिति प्रकट कर सकने योग्य व्यंग्यचित्र पर उसके निर्माता की कला की दाद देते हैं, तब हमारे जीवन की एक प्रबल समस्या पर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डालने वाले गणेशचित्र और उसके प्रदर्शयिता भगवान् व्यासदेव की अनुपम प्रतिभा पर नतमस्तक क्यों नहीं होते ? हम समझते हैं कि हमारी इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद घोरतम नास्तिक भी प्रत्येक कार्य के आरम्भ में उपर्युक्त चित्र का मनन करके अपने आपको तादृश बनाने में कृतकार्य हो सकेगा, जैसा जान जाने पर कि वास्तव में किसी कार्य में भी विघ्न बाधा उपस्थित होने की सम्भावना शेष नहीं रह सकती ।

गणेश की विचित्र उत्पत्ति

पौराणिक स्वरूप—

पुराण ग्रन्थों में गणेश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई कथाएं उपलब्ध होती हैं, यद्यपि कल्प भेद के कारण तत्तत् आख्यानकों में किञ्चित् भेद भी पाया जाता है, परन्तु मूल बातें सभी कथाओं में समान ही पाई जाती हैं । यथा:—

(१) गणेश—किसी कर्म-फल जन्य शरीर धारी माता पिता द्वारा गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु अमैथुनी सृष्टि के अनादि और स्वयम्भू देवता हैं ।

(२) उनका मस्तक छिन्न होने पर ही गज-मस्तक जोड़ा गया है ।

(३) वे सभी देवताओं में एकस्वर से प्रथमपूज्य नियत किए गए हैं ।

(४) वे गजमुख, एकदन्त, चतुर्भुज और लम्बोदर हैं । इत्यादि

पौराणिक स्वरूप

(क) कदाचिन्मज्जमानायां पार्वत्यां वै सदाशिवः।
नन्दिनं परिभर्त्स्यैवमाजगाम स्वयं तदा॥
उत्तस्थौ मज्जमाना सा लज्जिता सुंदरी तथा।
एवं जाते तदा काले कदाचित्पार्वती शुभा॥
मदीयसेवकः कश्चिद् भवेच्छुभतरस्तदा।
इत्थं विचार्य्य सा देवी करयोर्जलसम्भवम्॥
शंखमुत्सार्य्य तेनैव निर्ममे पुत्रकं शुभम्॥
(शिवपुराण ज्ञानसंहिता अध्याय ३२)

(ख) कदाचिद् गन्धतैलेन गात्रमभ्यज्य शैलजा।
चूर्णैरुदवर्तयामास मलेनापूरितं वपुः॥
तदुदवर्तनकं गृह्य नरं चक्रे गजाननम्।
पुरुषं क्रीडती दैवी साक्षेपं च तदम्भसि॥
(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अध्याय ४५४-५५)

(ग) यच्चापि हसितं तेन देवेन परमेष्ठिना।
मूर्तिमानपि तेजस्वी हसतः परमेष्ठिनः॥
प्रदीप्तास्यो महादीप्तः कुमारस्त्रासयन् दिशः॥
तं दृष्ट्वा परमं रूपं कुमारस्य महात्मनः।
उमा निमेषनेत्राभ्यां सहापश्यत् सुभामिनी।
तं दृष्ट्वा कुपितो देवः स्त्रीभावं चञ्चलं तथा॥

मत्वा कुमाररूपं तं शोभनं मोहनं दृशाम् ॥
ततः शशाप तं देवो गणेशं परमेश्वरः ।
कुमार ! गजवक्त्रस्त्वं प्रलम्बजठरस्तथा ॥
(वाराह पुराण २३। १४—१८)

(घ) प्रतिष्ठाप्य तदा द्वारि निर्वाप्यो य इहागमेत् ।१९।
एतदन्तरमासाद्य शूलपाणिस्तथोत्तरे ।
आगत्य च त्रिशूलेन शिरस्तस्य न्यपातयत् ॥६९॥
इत्येवमभिमन्त्रेण मन्त्रितश्च यदा पुनः ।
तदोत्तस्थौ पुनश्चायं शुभाङ्गः सुन्दरस्तथा ॥३९॥
अभिषिक्तस्तदा देवगणाध्यक्षैर्गजाननः ॥४०॥
(शिवपुराण ज्ञानसंहिता अध्याय ३२-३३)

(ङ) नायकेन विना देवि ! मया भूतोऽपि पुत्रकः ॥७२॥
यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः ॥७३॥
(शिवपुराण ज्ञानसंहिता अध्याय ३३)

(च) शङ्कराय ददौ तां च पार्वतीं पर्वतो मुदा ॥१४॥
स रेमे नर्मदातीरे पुष्पोद्याने तया सह ॥१५॥
सहस्रवर्षपर्य्यन्तं देवमानेन नारद ॥१६॥
(ब्रह्मवैवर्त गणपतिखण्ड अध्याय १)

दृष्ट्वा सुरान् भयार्तांश्च· · ·स विष्णुर्विष्णुमायया।१९
गणेशरूपः श्रीकृष्णो बालरूपं विधाय सः ।८२-८३।
तल्पस्थे शिववीर्य्ये च मिश्रितः स बभूव ह ॥८४॥
(ब्र० वै० गण० ८)

(छ) एतस्मिन्नन्तरे तत्र द्रष्टुं शङ्करनन्दनम् ।
आजगाम महायोगी सूर्य्यपुत्रः शनैश्चरः ॥
(ब्र० वै० गण० ११।१

शनेश्च दृष्टिमात्रेण चिच्छेद मस्तकं मुने ! ।७।
विस्मितास्ते सुराः सर्वे···आरुह्य गरुडं हरिः ।१०-१
गजेन्द्रं निद्रितं तत्र··तथोदक् शिरसं रम्यम् ।१२-१
रुचिरं तत् शिरः सम्यग् योजयामास बालके ।२१।
जीवयामास तं शीघ्रं हुंकारोच्चारणेन च ।२२।
सर्वाग्रे तव पूजा च मया दत्ता सुरोत्तम ।
(ब्रह्मवैवर्त गण १

(ज) पितुरव्यर्थमस्त्रं च दृष्ट्वा गणपतिः स्वयम् ।
जग्राह वामदन्तेन नास्त्रं व्यर्थं चकार ह ।३६।
निपात्य पर्शुर्वेगेन छित्वा दन्तं समूलकम् ।
जगाम रामहस्तञ्च महादेवबलेन च ।३४।
(ब्रह्मवैवर्त गण० ४

विष्णुरुवाच—

पुत्राभिधानं वेदेषु पश्य वत्से ! वरानने !
'एकदन्त' इतिख्यातं सर्वदेवनमस्कृतम् ॥
(ब्र० वै० गण० ४४।८

अर्थात्–(क) किसी समय पार्वती स्नान कर रही थी, (रोक
पर) द्वारपालभूत नन्दीगण को झिड़ककर सदाशिव भगवान् स्व
अंदर आ पहुँचे। तब स्नान करती हुई सुंदरी पार्वती लज्जित होकर

खड़ी हुई। ऐसा होने पर पार्वती ने सोचा कि कदाचित् मेरा ई निजी सेवक हो तो ठीक रहे। ऐसा विचार करती हुई र्वती ने अपने हाथों से कमल निर्मित चूड़ियें उतार उनसे ही क पुतला बनाया।

(ख) शैल-पुत्री ने कभी अपने शरीर पर सुगन्धित तैल मालिश की और उबटन के साथ उस चिकनाहट को उतारते सब शरीर मैल से परिपूरित हो गया। अनन्तर उस मैल लेकर हाथी जैसे मुखवाला एक पुतला बनाकर एक बार जल डालती हुई क्रीड़ा करने लगी।

(ग) भूतभावन भगवान् शिव अद्भुतरूप-सम्पन्न गणेश को कर हंसने लगे। तब वह तेजस्वी कुमार सब दिशाओं को प्रदीप्त ता हुआ और भी अधिकाधिक शोभायमान होने लगा, पार्वती परमसुन्दर कुमार के रूप लावण्य को निर्निमेष नेत्रों से उत्कंठा क देखने लगी। शंकर पार्वती की इस स्त्री-सुलभ चंचलता देखकर और बालक की मनोमोहक सुन्दरता को देखकर क्रुद्ध और गणेश को शाप दिया कि—हे कुमार! तुम्हारा मुख के समान हो! और तुम्हारा पेट भी लम्बा हो जाए!

(घ) पार्वती ने इस (मलनिर्मित पुतले को) द्वार पर खड़ा या और कहा कि जो अन्दर आए उसे रोको। अनंतर शूल में लिए शिव आ पहुँचे। (रोकने पर) शिव ने त्रिशूल से क काटकर गिरा दिया। (पुनः पार्वती को प्रसन्न करने के) ज्यों ही मन्त्रजल से उसे अभिमन्त्रित किया, वह पूर्ववत् र सजीव हो गया। तब सब देवताओं ने उसको समस्त गणों अधिष्ठाता पद पर अभिषिक्त किया।

(ङ) महादेव ने कहा—हे पार्वती! यह कुमार मुझ नायक के

बिना ही उत्पन्न होकर पुत्र बना है, इसलिए इसका अन्वर्थ 'वि-नायक' प्रसिद्ध होगा ।

(च) हिमाचल ने अपनी पुत्री पार्वती, शंकर भगवान् प्रदान की । नर्मदा के किनारे पुष्पोद्यान में शंकर पार्वती से रम करने लगे । देवताओं के एक सहस्र वर्ष बीत गए । (असुरों भय से त्रस्त हुए देवताओं को देखकर विष्णु भगवान् वैष्णवी माया से शय्या पर गिरे । शिव वीर्य्य में मिश्रित हो बालरूप श्रीकृष्ण भगवान् गणेशरूप में परिणत होगये ।

(छ) इसी समय महायोगी सूर्य्य-पुत्र शनैश्चर शंकर भग के इस पुत्र को देखने के लिए यहां आ पहुँचे । शनि की दृष्टि पड़ने से बालक का मस्तक छिन्न हो गया, तब सब देवता चकित हुए । (रंग में भंग देखकर) विष्णु भगवान् गरुड़ चढ़ कर चले, मार्ग में उत्तर को शिर किये सोते हुए हुए हाथी को देखकर सुदर्शन चक्र के साथ उसका मस्तक काट ले आए और उस सुन्दर मस्तक को बालक के अंग पर संयु कर दिया, तथा सब देवताओं से पूर्व तुम्हारी पूजा होगी यवस्था की ।

(ज) (सहस्रार्जुन और परशुराम के युद्ध प्रसंग के सम गणेश जी ने देखा कि—(परशुराम ने) मेरे पिता को प्र किया हुआ अमोघ अस्त्र सन्धान किया है, तब जानबूझ कर सफ़ल बनाने के निमित्त अपने बांए दांत पर ओटा, पशु ने वेग से दांत को जड़ से उखाड़ कर फैंक दिया और पुनः महादेव के बल से परशुराम के ही हाथ में चला गया । (चि पार्वती को) विष्णु भगवान् ने कहा—हे देवि ! वेदों में पुत्र का नाम देखो वहां 'एकदन्त' लिखा है, वे सब देवताओं इसी नाम से पूजित हैं ।

वैदिक स्वरूप

(क) रुद्रो वैज्येष्ठः श्रेष्ठश्च देवानाम्। (कौषीतकी २५।१३)

(ख) ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् । (शतपथ १४।३।४।४)

(ग) अस्माद् वीर्य्यमुदक्रामत् । (शतपथ ७।१।२।१-६)

(घ) ततो विराडजायत । (यजु० ३१।५)

(ङ) ···त्वं कुमारः···त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः । (अथर्व० १०।८।२७)

(च) शिर इन्द्रोदवर्तयः । (ऋग्वेद ८।१४।१३)

(छ) शिरः प्रत्यैरयतम् । (ऋग्वेद १।११७।२२)

(ज) गणानां त्वा गणपतिं हवामहे । (यजुः)

(झ) लम्बोदराय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि ।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात् । (गणेश गायत्री)

अर्थात्—(क) रुद्र भगवान् देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। (ख) तब पति और पत्नी हो गये। (ग) इससे वीर्य गिरा। (घ) तब उससे (समस्त गणों के) विशिष्ट राजा (गणपति) उत्पन्न हुए (ङ) तू कुमार=कुत्सित विघ्नों का संहार करने वाला है और तू सब ओर से मुख=मुख्य=सब देवों में अग्रपूज्य है। (च) देवाधिदेव ने उसका शिर काट डाला। (छ) पुनः अन्य शिर को संयुक्त किया गया। (ज) आप समस्त गणों के पति हैं, हम सब आपका अवाहन करते हैं। (झ) बड़ा पेट, हाथी की सूंड और एकदन्तोपलक्षित देव का हम विवेकपूर्वक ध्यान करते हैं, वह हमें शुभ कार्यों में प्रेरित करे।

पाठक उपर्य्युक्त पौराणिक और वैदिक दोनों स्वरूपों तुलना करके देखें, वेद में बीजरूपेण सभी पौराणिक भावों मूल सुस्पष्ट विद्यमान है। अब हम क्रम प्राप्त इसका आध्यात्मि भाव प्रकट करते हैं। बनारस के 'पण्डित पत्र' में प्रकाशित लेख से इस अंश के संकलन में बहुत सहायता मिली है, एतद हम अज्ञात लेखक के कृतज्ञ हैं—

आध्यात्मिक-भाव

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परम तत्त्व ही गणपतितत्त्व है, क्यों **'गणानां पतिः गणपतिः'**, गण शब्द समूह का वाचक होता है **'गणशब्दः समूहस्य वाचकः' परिकीर्तितः।'** समूहों के पालन कर वाले परमात्मा को गणपति कहते हैं। देवादियों के प को भी गणपति कहते हैं। अथवा—**'महत्तत्वादि—तत्त्वगणा पतिः'**, **गणपतिः'** अथवा—**'निर्गुणसगुणब्रह्मगणानां पतिः गणपतिः** तथा च-सर्वविध गणों को सत्ता स्फूर्त्ति देने वाला परमात्मा है वही गणपति है। अभिप्राय यह कि **'आका स्तल्लिगात्'** इस न्याय से जिसमें ब्रह्मतत्त्व के जगदुत्पत्तिस्थिति-लयलोलत्व, जगन्नियन्तृत्व सर्वपालकत्वादि गुण पाए जा वही ब्रह्म होता है। जैसे आकाश का जगदुत्पत्तिस्थिति-कारणत्व—**"आकाशदेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"** इस श्रु से जाना जाता है। इसलिए वह भी आकाश पदवाच्य परमात्मा माना जाता है।

अतीन्द्रिय सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्णय केवल शास्त्र के ही आधार पर किया जा सकता है। जैसे शब्द की अवगति श्रोत्र से ही होती है वैसे ही पूर्ण परम तत्त्व की अवगति शास्त्र से ही होती है। इसीलिए **"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, शास्त्रयोनित्वात्"** इत्यादि

श्रुतिसूत्र तथा अनेकविध युक्तियों से भी यही साबित होता है कि सर्वं जगत् कारण ब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। यदि शास्त्रातिरिक्त अन्य प्रमाणों से वस्तुतत्त्व की अवगति हो जाय शास्त्र को अनुवादक मात्र होने से नैरर्थक्य-प्रसंग दुर्वार होगा; इसीलिए गणपति तत्त्व की अवगति में मुख्यतया शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रानुसार यही जाना जाता है कि 'गण्यन्ते बुद्ध्यन्ते ते गणाः' इस व्युत्पत्ति से सर्वदृश्य मात्र गण है और उसका जो अधिष्ठान है वही गणपति है। कल्पित की स्थिति–प्रवृत्ति अधिष्ठान से ही होती है; अतः कल्पित का पति अधिष्ठान ही युक्त है। यद्यपि कहा जा सकता है कि तब तो भिन्न-भिन्न पुराणों में शिव विष्णु, शक्ति आदि ही ब्रह्मरूप से विवक्षित हैं। जब कि ब्रह्मतत्त्व एक ही है तो उसके नाना नाम रूप भिन्न-भिन्न पुराणों में कैसे पाये जाते हैं ? पर इसका उत्तर यही है कि एक ही परमतत्त्व भिन्न-भिन्न उपासकों की भिन्न-भिन्न अभिलषित सिद्धि के लिए अपनी अचिन्त्य लीलाशक्ति से भिन्न २ गुणगण सम्पन्न होकर भिन्न-भिन्न नामरूपवान् होकर अभिव्यक्त होता है। जैसे वामनीत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व संकल्पादि गुण विशिष्ट ब्रह्मतत्त्व की उपासना करने से उपासकों को उपास्यविशेषणभूत गुण ही फल रूप में प्राप्त होते हैं, ठीक वैसे ही प्राधान्येन विघ्नविनाशकत्वादि गुणगणविशिष्ट गणपति रूप में वही परमतत्त्व आविर्भूत होते हैं।

यदि कहा जाए कि फिर इसी तरह से बाह्याभिमत भिन्न-भिन्न देव भी ब्रह्मतत्त्व ही होंगे; तथा इतना ही क्यों, जब कि सारा ही प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व है तब गणपति ही क्यों विशेष रूप से ब्रह्म कहे जाएँ। इसका उत्तर यही है कि ठीक, यद्यपि अधिष्ठान रूप से बाह्याभिमत देव तथा तत्तद्वस्तु सकल ब्रह्मरूप कहे जा सकते हैं,

तथापि तत्तद्गुणगण विशिष्ट रूप से ब्रह्मतत्त्व तो केवल शा से ही जाना जा सकता है, अर्थात्—शास्त्र ही जिन २ नाम गुणयुक्त तत्त्वों को ब्रह्म बतलाते हैं वही ब्रह्म हो सकते हैं क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान करा में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हो सकते हैं। शास्त्र मुख्य रू वेद और वेदानुसारी स्मृतीतिहासपुराणादि ही हैं, यह ब आगे पूर्ण रूप से विवेचित की जायगी। शास्त्र गणपति पूर्ण परब्रह्म बतलाते हैं।

स्वरूप विवेचन

गणपति के स्वरूप में नर तथा गज इन दोनों का ही सामंजस्य पाया जाता है। यह मानों प्रत्यक्ष ही परस्पर विरोध प्रतीयमान तत्पदार्थ तथा त्वं पदार्थ के अभेद को सूचित करता है। क्योंकि तत्पदार्थ सर्व जगत्कारण सर्वशक्तिमान् परमात्म होता है। एवं त्वं पदार्थ अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान् जीव होता है उन दोनों का ऐक्य उपरिष्टात् (स्थूल दृष्टि से) यद्यपि विरुद्ध है तथापि लक्षणा से विरुद्धांशद्वय का त्याग कर एकता सुसम्पन्न होती है। तद्वत् लोक में यद्यपि नर और गज का ऐक्य असमंजस है, तथापि सकलविरुद्धधर्माश्रय भगवान् में वह समंजस है। अथवा जैसे 'तत्पद' लक्ष्यार्थ सर्वोपाधिनिकृष्ट "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" एवं लक्षणा लक्षित ब्रह्म है, वैसे ही 'त्वं' पदार्थ जगन्मय सोपाधिक ब्रह्म है। इन दोनों का अखण्डैक रस 'असि' पदार्थ में सामञ्जस्य है। इसी तरह नर और गज स्वरूप का सामंजस्य गणपति स्वरूप में है। 'त्व' पदार्थ नर स्वरूप है तथा 'तत्' पदार्थ गज स्वरूप है एवं अखण्डैक रस गणपति रूप 'असि' पदार्थ में इन दोनों का सामंजस्य है।

शास्त्रों में नरपद से प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा है, ाहि—

"नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।"

गज शब्दार्थ शास्त्रों में ऐसा किया है-**समाधिना योगिनो च्छन्ति यत्र इति 'गः',—यस्मात् बिम्बप्रतिबिम्बवत्तया णवात्मकं जगज्जायते इति 'जः'** समाधि से योगी लोग परमतत्त्व को प्राप्त करते हैं वह 'ग' है और जैसे बिम्ब से तिबिम्ब उत्पन्न होता है, वैसे ही कार्य-कारण-स्वरूप प्रणत्मक प्रपंच जिससे उत्पन्न होता है उसे 'ज' कहते हैं। तथाहि न्माद्यस्य यतः" "यस्मादोङ्कारसम्भूतिः यतो वेदो यतो जगत्" त्यादि वचन भी उसके पोषक हैं। सोपाधिक 'त्वं' पदार्थात्मक श का पादादि कण्ठपर्यन्त नरदेह है। यह सोपाधिक होने से पाधिकापेक्ष या निकृष्ट है। अतः अधोभूताङ्ग है। निरुपाधि त्कृष्ट 'तत्' पदार्थ मय गणेश जी का कण्ठादि मस्तक पर्यन्त स्वरूप है क्योंकि वह निरुपाधिक होने से उत्कृष्ट है। संपूर्ण दादि मस्तक पर्यन्त गणेश का देह 'असि' पदार्थ अखण्डैक है।

यह गणेश एकदन्त है। 'एक' शब्द 'माया' का बोधक है र 'दन्त' शब्द 'मायिक' का बोधक है। यथाः—'मोद्गले'

"एकशब्दात्मिका माया, तस्याः सर्वसमुद्भवम्"
"दन्तः सत्ताधरस्तत्र, मायाचालक उच्यते।"

अर्थात्—गणेश जी माया और मायिक का योग होने से दन्त' कहलाते हैं।

गणेश जी वक्रतुण्ड भी हैं। **'वक्रं आत्मरूपं मुखं यस्य। वक्र**

कहते हैं टेढ़े को। आत्मस्वरूप टेढ़ा है, क्योंकि-सर्वजगत् वचन का गोचर है, किन्तु आत्मतत्त्व उसका (मनोवाणी अविषय है। तथा च—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" और भी—

कण्ठाधो मायया युक्तं मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्राख्यं तेन विघ्नेशस्तेनायं वक्रतुण्डकः॥

गणेश चतुर्भुज भी हैं। क्योंकि देवता, नर, असुर और इन चारों का स्थापन करने वाले हैं। एवं चतुर्वर्ग चतुर्वेदादि भी स्थापक हैं यथा—

स्वर्गेषु देवतांश्चायं पृथ्व्यां नरांस्तथाऽतले।
असुरान्नागमुख्यांश्च स्थापयिष्यति बालकः॥
तत्त्वानि चालयन्विप्रास्तस्मान्नाम्ना चतुर्भुजः।
चतुर्णां विविधानाञ्च स्थापकोऽयं प्रकीर्तितः।

और वह भक्तानुग्रहार्थ चारों हाथों में पाश, अंकुश, और वरादि धारण करते हैं। सर्व जगन्नियन्तृ रूप ब्रह्म है। दुष्टों को नाश करने वाला ब्रह्म दन्त है। सर्वकामनाओं पूर्ण करने वाला ब्रह्म वर है।

गणपति भगवान् का वाहन मूषक है, मूषक सर्वान्तर्या सर्व प्राणियों के हृदय रूप बिल में रहने वाला सर्व जन्तुओं भोगों को भोगने वाला ही है। तथा वही चोर है, क्योंकि जंतुओं के अज्ञात सर्वस्व को हरने वाला है। उसको कोई जानता क्योंकि माया करके गूढ़ रूप अन्तर्यामी ही समस्त भोगों भोगता है। इसीलिए 'भोक्तारं सर्वतपसां' कहा है।

धातु का मूषक बनता है। जैसे मूषक प्राणियों के सर्वभोग्य वस्तुओं को चुराकर भी पुण्यपाप वर्जित ही होता है, वैसे ही मायागूढ़ सर्वान्तर्यामी भी सर्वभोग्य को भोगता हुआ भी पुण्यपाप वर्जित है। सर्वान्तर्यामी गणपति की सेवा के लिये मूषक रूप धारण कर वाहन बना।

मूषकं व्यापकाख्यं च पश्यन्ति वाहनं परम्।
तेन मूषकवाहोयम् वेदेषु कथितोऽभवत्॥
मुषस्तेये तथा धातुर्ज्ञातव्य स्तेयब्रह्मधृक्।
नामरूपात्मकं सर्वं तत्रासद् ब्रह्म वर्तते॥
भोगेषु भोगो भोक्ता च ब्रह्माकारेण वर्तते।
अहङ्कारयुतास्तं वै न जानन्ति विमोहिताः॥
ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत् तत्र संस्थितः।
तदेव मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः॥

भगवान् लम्बोदर हैं, क्योंकि उनके ही उदर में समस्त प्रपंच प्रतिष्ठित है और वह किसी के उदर में नहीं हैं। तथा च—तस्योदरात्समुत्पन्नं नाना विश्वं न संशयः। एवं शूर्पकर्ण हैं; क्योंकि योगीन्द्र मुख से वर्ण्यमान तथा उत्तम जिज्ञासुओं से श्रूयमाण हृद्गत होकर शूर्प के समान पाप पुण्य रूप रज को दूर करके ब्रह्मप्राप्ति सम्पादित कर देते हैं।

रजोयुक्तं यथा धान्यं रजोहीनं करोति च।
शूर्पं सर्वनराणां वै योग्यं भोजनकाम्यया॥
तथा मायाविकारेण युतं ब्रह्म न लभ्यते।

त्यक्तोपासनकं तस्य शूर्पकर्णस्य सुन्दरि।
शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलं विकारकम्॥
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत् तेन यथास्मृतः।

गणेश जी ज्येष्ठराज हैं—सर्वज्येष्ठों के अधिपति या सर्वज्ये जो ब्रह्मादि उनके बीच में विराजमान हैं। वही गणेश जी शिव-पार्वती के तप से प्रसन्न होकर पार्वती-पुत्र रूप होकर प्रादुर्भू हुए हैं। जैसे रामभद्र और श्रीकृष्णचन्द्र दशरथ और वसुदेव के पुत्र रूप से प्रादुर्भूत होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं, वैसे ही भगवान् गणेश उनसे उत्पन्न होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं है अतएव उनकी शिवविवाह में विद्यमानता और पूज्यता भी हुई

आधिदैविक-भाव

ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि—पार्वती के तप से गोलोक-निवासी पूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्मा ही गणपतिरूप से प्रादुर्भूत हुए हैं। गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्त्व है इसी गणपति तत्त्व को सूचित करने वाला ऋग्वेद (अष्टक अध्याय ६ वर्ग २९) का यह मन्त्र है—

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्।"

इससे मिलता-जुलता ही यजुर्वेद में भी गणपतिस्तावक मंत्र है। "गणानान्त्वा गणपतिं"इत्यादि ऋग्वेद का जो मन्त्र है उसका सर्वथा ही गणपति-स्तुति में तात्पर्य है। एवं यजुर्वेदगत

त्र का विनियोग यद्यपि अश्वस्तवन में है, तथापि केवल अश्व मन्त्रोक्तगुण अनुपपन्न होने से अश्वमुखेन गणपतितत्त्व की ही स्तुति इस मन्त्र से होती है। मन्त्रार्थ यों है—

(हे वसो !) वसति सर्वेषु भूतेषु व्यापकत्वादिति तत्सम्बुद्धौ णानां) महदादीनां ब्रह्मादीनामन्येषां वा (गणपतिं) गणरूपेण क्षिरूपेण, ज्ञेयाधिष्ठानरूपेण वा 'गण सङ्ख्याने' इत्यस्माद् गण्यते ख्यते योगिभिः साक्षात्क्रियते यः स गणस्तद्रूपेण वा पालकं, एतादृशं त्वां आह्वयामहे) तथा (प्रियाणाम्) वल्लभानां (प्रियपतिं) प्रियस्य कं तच्छेषतयैव सर्वस्य प्रेमास्पदत्वात्, 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति श्रुतेः। (निधीनां) सुखनिधीनां सुखनिधेः मदन्तःकरणे प्रादुर्भूय स्वस्वरूपानन्दसमर्पणेन (ममापि) पतिर्भूयाः। पुनः हे देव ! (अहन्ते वं) प्रजायां प्रकृतौ-चैतन्य-प्रतिबिम्बात्मकं चैतन्यम्, (तथाच—मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहमिति भगवत्स्मरणात्।) (आकृष्य) बलेन, (अजानि) स्वहृदि स्थापयानि, (त्वं च मम हृदि) (अजासि) सि स्वस्वरूपं स्थापयसि।

भावार्थ—अधिकारी उपासक गणपति की प्रार्थना करता है—हे सर्वान्तर्यामिन्! देवादि समूहों का अधिष्ठान तथा साक्षीरूप से पालन करने वाले, प्रियों को प्रियरूप से पालन करने वाले, लौकिक प्रेमास्पदों को परम प्रेमास्पदरूप से स्वसम्बन्ध द्वारा पालन करने वाले, लौकिक सुखराशियों को अलौकिक परमानन्दरूप से पालन करने वाले, अर्थात् अपने अंश से सम्पादन करने वाले आपको मैं पतिरूप से आह्वान करता हूँ। आप मुझे भी स्वस्वरूपानन्द समर्पण द्वारा पालन करें। जगदुत्पादनार्थ कृतिरूप योनि में स्वकीय चैतन्य प्रतिबिम्बात्मकरूप गर्भ को

धारण करने वाले विम्बचैतन्यरूप को मैं अपने हृदय में विशुद्धान्तःकरण से धारण करूँ। एतदनुकूल आप अनुग्रह करें, ऐसी प्रार्थना है।

विघ्न-विनाशक गणेश

इस तरह मन्त्र प्रतिपाद्य गणपतितत्त्व सर्व विघ्नों का विनाशक है। अतएव गणपत्यथर्वशीर्ष के नवें मन्त्र में–"**विघ्ननाशिने शिवसुताय वरदमूर्त्तये नमः**" ऐसा आया है। सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान करते समय "**कालात्मकभयहारिणे, अमृतात्मकपदप्रदत्वात्**" अर्थात्, गणेश जी कालात्मक भय को हरण करने वाले हैं, क्योंकि वे अमृतात्मकपदप्रद हैं। स्कान्द तथा मौद्गल में विनायकमाहात्म्य विषयक एक ऐसी गाथा है–किसी समय अभिनन्दन राजा ने इन्द्रभागशून्य एक यज्ञ आरम्भ किया। यह जानकर इन्द्र कुपित हुआ। उसने काल को बुलाकर यज्ञभङ्ग की आज्ञा दी। कालपुरुष यज्ञ को नष्ट करने के लिए विघ्नासुररूप में प्रादुर्भूत हुआ। जन्ममृत्युमय जगत् काल के अधीन है। काल तीनों लोकों को भ्रमण कराता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष काल को जीतकर अमृतमय हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का साधन वैदिक स्मार्त सत्कर्म हैं। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवाः।**" सत्कर्म से विशुद्धान्तःकरण पुरुष को भगवत्तत्त्व साक्षात्कार होता है, और उससे ही काल का पराजय होता है। यह ज़ानकर काल उस सत्कर्म के नाश के लिए विघ्नरूप होकर प्रादुर्भूत हुआ। सत्कर्महीन जगत् सदा ही काल के अधीन रहता है। इस वास्ते काल-स्वरूप विघ्नासुर अभिनन्दन राजा को मारकर जहां-तहां दृश्यादृश्यरूप से सत्कर्म का खण्डन करता था। उस समय वशिष्ठादि भ्रान्त होकर ब्रह्मा की शरण गये।

की आज्ञा से भगवान्–गणपति की स्तुति की। क्योंकि पति को छोड़कर किसी भी देवता में कलानाश सामर्थ्य है। गणेश जी असाधारण विघ्न-विनाशकत्व गुण-सम्पन्न वह बात श्रुतिस्मृति शिष्टाचार तद्वाक्य एवं श्रुतार्थापत्ति से त है। श्री गणेश जी से विघ्नासुर पराजित होकर उनकी में गया और उनका आज्ञावशवर्ती हुआ। अतएव गणेशजी नाम विघ्नराज भी है। उसी समय से गणेशपूजनस्मरण- जो भी सत्कर्म हो उसमें विघ्न का प्रादुर्भाव अवश्य होता इसी नियम से विघ्न भगवान् के आश्रित रहने लगा। विघ्न भी रूप होने से भगवत्स्वरूप है। "**विशेषेण जगत्सामर्थ्यं हन्तीति**" ब्रह्मादिकों में भी जगत्सर्जनादि सामर्थ्य को हनन करने को विघ्न कहते हैं। अर्थात् ब्रह्मादि समस्त कार्य ब्रह्म-पराभूत होने के कारण स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते। किंतु के अनुग्रह से ही विघ्नरहित होकर कार्यकरण क्षम होते विघ्न और विनायक ये दोनों ही भगवान् होने के कारण हैं। अतएव "**भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम्**" ऐसा पुण्याह-में लिखा है। विघ्न सिवाय गणेश के और किसी के वश हीं, जैसा कि—योग वाशिष्ठ में शाप देने को उद्यत भृगु के विघ्नरूप काल ने कहा है—

"मा तपः क्षपयाबुद्धे ! कल्पकालमहानलैः।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि॥
ब्रह्माण्डावलयो ग्रस्ताः निगीर्णा रुद्रकोटयः।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने॥"

इससे सिद्ध हुआ कि, निःश्रेयस साधन गणेशस्मरण-हीन

सभी सत्कर्मों में कालरूप विघ्न के प्रादुर्भाव का होना अनिवा है। अतस्तन्निवारणार्थ गणेशस्मरण सभी सत्कर्मों में आ श्यक है।

यदि कहा जाय कि ओंकार ही सर्वमंगलमय है, वेदो समस्त कर्म उपासनाओं के आदि में ओंकार का ही स्मरण कि जाता है, अतः गणेशस्मरण निरर्थक है, सो ठीक नहीं। क्यों ओंकार भी सगुण गणेशस्वरूप ही है। मौद्गल में भी कहा है **“गणेशस्यादिपूजनञ्चतुर्विधम् चतुर्मूर्त्तिधारकत्वात्।”** ब्रह्मा के चा मुखों से अष्टलक्ष पुराणों का प्रादुर्भाव हुआ। उसके बाद द्वा में व्यासदेव ने कलियुगीय मन्दमति प्राणियों के बोधार्थ अष्टाद पुराणोपपुराणों का निर्माण किया। उनमें पहला ब्राह्म पुरा है। उसमें निर्गुण एवं बुद्धितत्त्व से पर गणेशतत्त्व का वर्ण है। अन्तिम ब्रह्माण्डपुराण है, उसमें सगुण गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है, क्योंकि वह विशेष रूप से प्रणवात्मक प्रपञ्च प्रतिपादन करने वाला है। उपपुराणों में भी पहला गणे पुराण है, जो कि सगुण निर्गुण गणेश की एकता का प्रतिपाद करने वाला और गजवदनादि मूर्त्तिधर गणेश का भी प्रतिपाद करता है। यहां पर जो यह कहा जाता है कि उपपुराण अपकृ है, सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे उपेन्द्र इन्द्र से अपकृष्ट नहीं, वैसे पुराणापेक्षया उपपुराण अपकृष्ट नहीं। मौद्गल अन्तिम उ पुराण है। उसमें योगमय गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है इस तरह से वेद, पुराण, उपपुराण आदिकों के आदि म अन्त में गणेशतत्त्व का प्रतिपादन है। इतना ही क्यों ? इ विष्णवादि भी गणेशांश होने से ही शास्त्र प्रतिपाद्य हैं। को लोग बुद्धिस्थ चिदात्मरूप गणेशस्मरण करके सत्कर्म करते हैं कोई प्रणवस्मरणपूर्वक सत्कर्म करते हैं। कोई गजवदनादि

मूर्तिधर गणेश का स्मरण करते हैं। एवं कोई योगमय गणपति का स्मरण करते हैं। यों सभी शुभाशुभ कार्यारम्भ में येनकेनचिद्रूपेण गणेशस्मरण देखा जाता है। कोई कहते हैं—प्राणप्रयाण समय में, पितृ यज्ञादि में गणेशस्मरण नहीं प्रसिद्ध है, सो ठीक नहीं, कारण ? गयास्थित गणेशपद पितृमुक्ति देने वाला है। वेदोक्त पितृयज्ञारम्भ में गणेशपूजन का निषेध नहीं है। इसीलिए वहां भी गणेशपूजन होता है और वह युक्त है। इसीलिए श्रुति गणेशको ज्येष्ठराज शब्द से सम्बोधित करती है।

'गणेशगीता' में मरणकाल में भी गणेशस्मरण कहा है—

'यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वितः ।
स यात्यपुनरावृत्तिं प्रसादान्मम भूभुज ॥"

गणेशतापिनी में भी कहा है—

ओं गणेशो वै ब्रह्म तद्विद्यात्, यदिदं किञ्च, सर्वं भूतं भव्यं सर्वमित्याचक्षते"

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—पूर्ण परब्रह्म पवमात्मा ही निर्गुण एवं विघ्न विनाशकत्वादि गुणगण विशिष्ट गजवदनादि अवयव मूर्त्तिधर रूप में गणेश हैं।

क्या गणेश अनार्य्य देवता है ?

इस प्रकार आधिदैविक पक्ष में गणेशलोक के स्वामी भक्तों के समस्त विघ्नों को दूर करने वाले भगवान् गणेश हैं। वे 'यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति' के अनुसार भक्तों की भावना के अनुसार यथेच्छरूप बनाकर समय समय दर्शन देते हैं।

आजकल कुछ ग्रन्थ-चुम्बक पण्डितम्मन्य पाश्चात्यों के शिष्य होकर बाह्यकुसंस्कार दूषितान्तःकरण सुधारक श्री "गणेशतत्त्व पर विचार करने का साहस कर बैठते हैं। वे अपने गुरुओं के

विपरीत कितना विचार कर सकते हैं। उनका कहना है पहले गणेश आर्यों के देवता नहीं थे किन्तु एतद्देशीय अनार्यों को पराजित करने पर उनके सान्त्वनार्थ गणेश को अपने देवताओं में मिला लिया गया। ग्रन्थ-चुम्बक होने के कारण कुछ पुराण, कुछ वेदमंत्र, कुछ चौपाइयों का संग्रह कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय देते हुए ऐसे स्वरूप में गणपति का वर्णन किया करते हैं कि जिससे शास्त्रीय गणपतिस्वरूप समाच्छन्न हो जाता है। यद्यपि थोड़े से भी तत्त्वज्ञों के लिए ऐसे असम्बद्धालाप हेय ही हैं, तथापि मूर्खों के लिए व्यामोह होना स्वाभाविक ही है। कोई इन महानुभावों से पूछे कि गणेश नाम का कोई तत्त्व है यह कैसे जाना गया? पुराणादि शास्त्रों से या यत्र-तत्र गणपति की मूर्त्तियों को देख कर। यदि शास्त्रों से ही गणेशतत्त्व समझा जाय तब तो फिर उन्हें अनार्यदेव कैसे कहा जाय, क्योंकि शास्त्र से तो वे ब्रह्मादियों के पूज्य पाये जाते हैं। यदि द्वितीय पक्ष उचित समझें तब तो उसे देवता या पूज्य समझना यह केवल मूर्खता ही है, कारण केवल काष्ठ मृत पाषाणादि को कौन अभिज्ञ देवता समझेगा। यदि अदृश्य देवशक्तिविशेष का आवाहन कर उस मूर्त्ति का पूजन किया जाता है, तो भी वह देवशक्ति किस प्रमाण से जानी तथा आहूत की गई है? इसका उत्तर यदि यह कहा जाय कि शास्त्र ही से यह बात जानी गई तब फिर शास्त्र ने तो गणेशतत्त्व को अनादि ईश्वर ही कहा है। फिर वह अनार्यों के देवता कैसे हुए। फिर दूसरी विलक्षण बात यह है कि शास्त्रों के भी आधार पर गणेश को अनार्यों का अभिमत देव मानना और आर्यों का बाह्य देश से आना; भारतवर्ष में प्राथमिक अनार्यों का निवास, अनार्यों के देवता गणेश को आर्यों का ग्रहण! भला ऐसी बेशिरपैर की बातें अनार्य्य शिष्यों के सिवा किसे सूझ

ती हैं ? भला कोई भी सहृदय क्या वेद-पुराणादि शास्त्रों को ता हुआ भी आर्यों का बाहर से आना तथा गणेश का ार्य्यदेवत्व स्वीकार कर सकता है ? वस्तुतः यह सब फल त संस्कारों तथा आचार्यशून्य मनमाने शास्त्रों के पुस्तकी का है। इसीलिए ज्ञानलवदुर्विदग्ध अनभिज्ञों से भी शोच- समझे जाते हैं, और इसीलिए हमारे यहां किसी भी सच्छास्त्र अध्ययन का नियम है कि आचार्य्य परम्परा से शास्त्रीय गूढ़ रहस्यों को समझना चाहिए, परस्पर विरोधी वाक्यों का न्वय करना चाहिए। ऐसा न होने से गणपति की भिन्न- न लीलाएँ प्राणियों को मोहित करने वाली होती हैं, जैसे का नित्यत्व और पार्वती पुत्रत्व शनि की दृष्टि से शिरच्छेद जवदन का सन्धानादि।

इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा है कि अनादि देवता समझकर णेशादि के रूप भेद, शिव पूज्यता आदि अंशों में संशय न करे।

‘जनि कोई अस संशय करै, सुर अनादि जिय जानि।

गणेश के द्वादश नाम

गणेश परमात्मा का विघ्न-नाशक स्वरूप है, इसीलिए प्रत्येक कार्य के आरम्भ में सर्वप्रथम गणेश जी के पूजन व ध्यान का शास्त्रीय आदेश है, विघ्न—दैवी और लौकिक—दो प्रकार के होते हैं, दैवी विघ्नों की निवृत्ति के लिए ईश्वर प्रार्थना और लौकिक विघ्नों को दूर करने के लिए कार्य्यकर्ता का सर्वतोभावेन ‘युक्तचेष्ट’ होना आवश्यक है। गणेश उपासना से ये दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। दैवी विघ्नों का मूल पूर्वकृत तत्तत् कर्मों का विपाक है, परन्तु लौकिक विघ्नों का मूल कारण हमारी मूर्खता, अनवधानता एवं अयुक्त चेष्टा है। प्रायः देखा जाता है

कि जो लोग अभिमान, मात्सर्य, क्रोध, लोभ तथा प्रलाप आ
दुर्गुणों वाले होते हैं वह प्रत्येक कार्य में अपने अनेक शत्रु
लेते हैं, शत्रुओं का बाहुल्य ही विघ्नों का मूल है। सो हमा
कार्य्य में कोई विघ्न न पड़े एतदर्थ जहां गणेश की गजवद
लम्बोदर, एकदन्त-मूर्ति का ध्यान करते हुए पूर्व लेखानुसा
साधक अनेक शिक्षाएं प्राप्त करता है, वहां अपने मुख से गणे
के द्वादश नामों का उच्चारण करता हुआ भी उनके अर्थों
मनन करके अनेक शिक्षाओं से लाभान्वित होता है, वे द्वादश ना
प्रत्येक सनातनधर्मी गणेशपूजा के समय इस प्रकार बोलता है—

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः॥
धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः।
द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणुयादपि॥
विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमे तथा।
संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य न जायते॥

(पूजा पद्धति)

अर्थात्—(१) सुमुख, (२) एकदन्त, (३) कपिल, (४) गजकर्ण, (५) लम्बोदर, (६) विकट, (७) विघ्ननाशक, (८) विनायक, (९) धूम्रकेतु, (१०) गणाध्यक्ष, (११) भालचन्द्र, (१२) गजानन। इन बारह नामों को जो पढ़ता है या सुनता है, विद्यारम्भ, विवाह, नगर प्रवेश, यात्रा-प्रस्थान, युद्ध और संकट के समय में उसके किसी कार्य में विघ्न नहीं पड़ता।

मनोमूर्ति गणेश

वास्तव में गणेशतत्त्व मन का ही उपलक्षण है। चैतन्य पुरु

र जड़-प्रकृति को ही शास्त्रों में 'शिव पार्वती' नाम से स्मरण या गया है। पुरुष एक और अद्वितीय है, परन्तु प्रकृति के परा र अपरा दो भेद माने गये हैं, सो एक शंकर का प्रथम दक्ष-या सती से पुनः हिमालय कन्या पार्वती से सम्बन्ध प्रकट या गया है। सती रूप परा प्रकृति का सृष्टि से कोई सम्बन्ध हीं अतः पुराणादि ग्रन्थों में सती की सन्तान का वर्णन नहीं ता, अपरा प्रकृति ही संसार की हेतु है इसलिए उससे ही मुख, गजमुख आदि विलक्षण सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। र जड़ता का उपलक्षण है तत्सम्भव पार्वती नाम भी इसी नय से प्रयुक्त होता है, सो प्रत्येक प्राणी का चेतन जीव तत्त्व का अंश है और जड़देह प्रकृतिदेवी का विकास। उक्त ड़ और चेतन दोनों के योगायोग से एक तीसरा तत्त्व उत्पन्न ना स्वाभाविक है क्योंकि जब असमान गुण वाली दो वस्तुओं सम्मेलन होता है तो उसका परिणाम अनिवार्यरूप से अन्य सरे पदार्थ का प्रादुर्भाव होता है, सो प्रकृति पुरुष के संयोग परिणाम ही वह तीसरा तत्त्व मन है, प्रकृति जड़ है, पुरुष न है, और तत्सम्भव मनः—**'उभयात्मकं मनः'** इस दार्शनिक द्धान्त के अनुसार जड़ चेतन दोनों की ग्रन्थि कहा जाता है, सी दार्शनिक भाव शिव-पार्वती के संयोग से गणेश की उत्पत्ति था में प्रकट किया गया है। जड-प्रकृति के पूर्ण विकास का अन्तिम परिणाम-सर्वातिशायी शरीर-गुरुत्व हाथी में दीख पड़ता है और बुद्धिजीवी प्राणी के रूप में चेतनांश का अन्तिम विपरिणाम मनुष्य में व्यक्त हुआ है, इसलिए—**'उभयं वा एतत्प्रजापतिः रुक्तश्चानिरुक्तश्च'** के अनुसार वही द्वैततत्त्व मन रूप गणेश में ज और नर के सामंजस्य से व्यक्त किया जाता है।

कहना न होगा कि समस्त कार्य-कलाप की साधना मनस्तत्त्व पर निर्भर है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमो 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' और 'मन जीते जग जीत' सूक्तियें हमारे इसी आशय को पुष्ट करती हैं। सर्व प्रथम प्र कार्य का संकल्प मन में उनता है, फिर वही वाणी और कर्म परिणत होता है इसीलिए वेद कहता है कि –

'यन्मनसानुमनुते तद् वाचा वदति, यद् वाचा वद तत् कर्म्मणा करोति।'

अर्थात्—जो मन से मनन करता है सो ही वाणी से बो है, जो वाणी से बोलता है सो ही कर्म करता है।

इसलिये प्रत्येक कार्य की सिद्धि प्रबल मनोयोग पर अवलं है। इसे ही लोकभाषा में 'लगन' कहते हैं। आधुनिक मिस्मरे आदि प्रणाली के अभ्यासी लोग इसको ही 'बिल पावर' कह पुकारते हैं। सो प्रत्येक कार्य के आरंभ में साधक को किस प्र आत्म विश्वास उत्पन्न करना चाहिए यह तथ्य गणेश के युक्त बारह नामों में निहित है, यथा:–

सुमुख—मन = समस्त इन्द्रियगण का मुख = मुख्य = मुखिया है

एकदन्त—मनः 'युगपद्ज्ञानानुत्पत्ति मनसो लिंगम्' इस दार्श सिद्धांत के अनुसार एक समय एक ही वस्तु में लगाया जा सकता है

कपिल—मनः अपनी चंचलता में कपि–वानर को भी मात वाला है।

गजकर्ण—मनः दूसरे के मन की गुप्त बात को भी आका इंगित, चेष्टा, भाषण और गति आदि से तत्काल भांप लेता है

लम्बोदर—समस्त संसार की दृष्ट श्रुत लंबी-चौड़ी घटनाएं इनके एक कोने में समा जाती हैं।

विकट—यह इतना विकट है कि अर्जुन जैसे सव्यसाची योधा ने भी इसके प्राबल्य के सामने नतमस्तक होकर श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों में-**चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम्**' कहते हुए हथियार डाल दिए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की इस क्रिया का प्रतिवाद न कर स्वयं भी—'**असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्**' कहते हुए इसका समर्थन ही किया है, तभी तो संसार में चलते पुर्जे पुरुष को कहा जाता है कि इसका तो त्रिकटो-पर्यन्त पाठ पहुंचा हुआ है।

विघ्ननाश—जब प्रबल मनोयोग से कोई कार्य किया जायगा तो विघ्न बाधाएँ अपने आप काफूर हो जायेंगी।

विनायक—यही सब इन्द्रियों का विशिष्ट स्वामी है, जहां यह संयत हुआ कि इन्द्रियों में कोई विकार हो ही नहीं सकता।

धूम्रकेतु—संकल्प विकल्पात्मक अविस्पष्ट धूम धूसर कल्पनाओं की सत्ता ही मन के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है।

गणाध्यक्ष—संख्या में आ सकने योग्य सभी सांसारिक पदार्थों का यह स्वामी है।

भालचन्द्र—शंकर भगवान् के मस्तक में विराजमान चन्द्रमा का ही यह संक्षिप्त संस्करण है। क्योंकि विराट् के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है और उस चन्द्रतत्त्व से सब प्राणियों के मनः अनुप्राणित हैं।

गजानन—हाथी की भांति इसका मुख भाग ही विलक्षण है, यदि साधक धैर्यपूर्वक आरम्भिक कठिनाइयों को पार कर जाए तो

तो फिर कण्ठ से नीचे का उत्तर भाग तो चेतनांश का ही विपरिणाम है। अर्थात्—आरम्भ में ही साधक को मनः का अटपटापन खलता है पश्चात् वही मन साधना का इतना अभ्यासी हो जाता है कि उसके बिना अन्य किसी व्यापार में वह शान्ति अनुभव नहीं करता।

यह स्पष्ट है कि यदि साधक उक्त द्वादश नामों का अर्थ मननपूर्वक उच्चारण करें तो उनमें आत्म-निर्भर होने की भावना जागृत हो सकती है।

गणेश विश्वतोमुख प्रणव है

गणपति अथर्वशीर्ष में लिखा है कि—

ॐ नमस्ते गणपतये

ॐकाररूप गणपति के लिए नमस्कार।

हम पीछे मौद्गल पुराण के प्रमाण से यह सिद्ध कर आए हैं कि वास्तव में विश्वतोमुख सगुण ॐकार ही गणेशरूप में पूजा जाता है, सो यदि विश्वतोमुख ॐकार की लेख्य प्रतिमा बनाए तो वह इस प्रकार बनेगी–

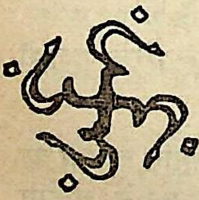

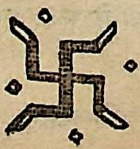

इसे किसी ओर से देखो, ॐकार ही दीख पड़ेगा, परन्तु इसका निर्माण विचक्षण चित्र-कलाकार ही कर सकता है, अतः सर्व साधारण में इसका सरल रूप आज भी सर्वत्र इस प्रकार लिखकर पूजा जाता है जिसे स्वस्तिक कहा जाता है। भारतीय संस्कृति के इस पवित्र चिह्न को अन्य सभ्य देशों ने भी अपनी संस्कृति में परिगृहीत किया है, परन्तु जिस प्रकार गंगा से

निकलने वाला गङ्गा-प्रवाह ज्यों २ आगे बढ़ा है त्यों २ अनेक सहायक नदियों के संगम से विचित्र होता गया है, ठीक इसी प्रकार हमारी संस्कृति और उसके चिह्न भी अन्यान्य देशों में कुछ विचित्र अवश्य हो गये हैं, सो जर्मनी आदि देशों में स्वस्तिक और भी लघुकाय हो गया है, जैसा कि प्रस्तुत चित्र से जाना जा सकता है। नाजी लोगों ने जो कि अपने को विशुद्ध आर्य्य मानने में गौरव अनुभव करते हैं, इसी रूप को महत्व दिया है। परन्तु इंगलैंड आदि अन्यान्य सभी ईसाई जातियें इसे और अधिक सरल बनाकर 'क्रास' कहकर सम्मान देती हैं, इसका कुछ विवेचन पीछे लिख आए हैं। इस्लामी संस्कृति सम्पन्न जातियें इसे अर्धचन्द्र सहित सर्वतोमुख तारे के रूप में सम्मान देती हैं। वह वास्तव में ओंकार का अर्धविन्दु चिह्न ही है।

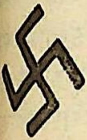

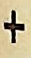

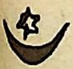

* * *

ग्रह पूजन विज्ञान

सनातनधर्म्मी प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के प्रारम्भ में नवग्रह पूजन अवश्य करता है, यह क्यों ?

योगी याज्ञयवल्क्य ने अपनी स्मृति में मन्त्र विनियोगपूर्वक ग्रह-शान्ति प्रकरण लिखा है, यथा—

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् ।

(याज्ञ० स्मृति आचाराध्याय २९४)

अर्थात्—श्री और शान्ति की कामना करने वाले मनुष्य को ग्रहयज्ञ करना चाहिए।

हम पीछे 'अण्ड पिण्ड' सिद्धान्त में और 'मुहूर्त विज्ञान'

प्रकरण में भी यह सिद्ध कर आए हैं, कि हमारा यह मानव पिण्ड तत्तद् देवताओं के दान से बनी एक पञ्चायती धर्मशाला के समान है। सो जैसे कोई संस्था धर्मशाला के निमित्त अपील करे तो सभी उदार दानी अपनी योग्यतानुसार दान देते हैं, एक ने भूमि दी तो दूसरे ने ईंट पत्थर, तीसरे ने लोहा लक्कड़, तो चौथे ने चूना सीमिण्ट—इस तरह उक्त दानियों के दान से थोड़े दिन में सर्वाङ्गपूर्ण धर्मशाला बनकर तैयार हो जाती है। संस्थाओं के संचालक दाताओं के सम्मानार्थ पत्थर में खुदा-खुदाकर उक्त दानियों के दान का विवरण तथा नाम धर्मशाला के मुख्य स्थान में लगवा देते हैं। जिस दिन उक्त धर्मशाला का उद्घाटन मुहूर्त होता है तो उक्त सभी दानियों को सादर बुलाया जाता है और भरी सभा में मन्त्रीजी अपनी रिपोर्ट उपस्थित करते हुए कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उक्त दानियों का नाम ले-लेकर दान के उपलक्ष में उन सबका धन्यवाद करते हैं, यह लौकिक शिष्टाचार सर्वत्र प्रचलित है। यदि कदाचित् संस्था का मन्त्री दानियों का धन्यवाद न करे तो दानी जो कुछ दे चुके हैं—वह वापिस छीनने से तो रहे, परन्तु उक्त संस्था के सञ्चालकों को कृतघ्न अवश्य समझा जायगा, क्योंकि दान मांगने के समय तो ये लोग टोली बनाकर द्वार-द्वार घूमते हुए प्रत्येक दानी को 'भवान् सोमः भवान् सूर्य्यः' कहते थे, परन्तु अब अन्त में 'धन्यवाद' देते भी न बना। यह ठीक है कि धन्यवाद से पेट नहीं भरता परंतु हमने स्वयं बहुत से उत्सवों में यह काण्ड देखे हैं कि यदि मन्त्री जी अमुक व्यक्ति का धन्यवाद करना भूल गये तो महाराज! अमुक व्यक्ति अप्रसन्नता प्रकट करने के लिए तत्काल सभा स्थान छोड़कर नौ दो ग्यारह हो गए, पीछे मालूम पड़ने पर बड़ी-बड़ी क्षमा मांगने पर भी सीधे न हुए।

सो हमारे इस पिण्ड के निर्माण में भी सूर्यादि नवग्रहों का

हाथ रहा है। मानवपिण्ड में सूर्य ने आत्मा फूंकी, चांद दिया, मंगल ने रक्त का संचार किया. बुध ने कल्पनाशक्ति बृहस्पति ने ज्ञान प्रदान किया, शुक्र ने वीर्य और शनि महा- ने सुख-दुःख की अनुभूति दी। इस प्रकार धर्मशाला-रूप यह शरीर इन्हीं महानुभावों की कृपा का फल है, सो धर्मशाला का जब-जब भी उत्सव होता है, अर्थात्—नींव के समय=गर्भाधान से लेकर पुनर्निर्माण=अन्त्येष्टि पर्यन्त जब-जब भी कभी अवसर आता है तब-तब उक्त दाताओं के नाम लेकर—'**सूर्याय नमः, चन्द्रमसे नमः, भौमाय बुधाय नमः, बृहस्पतये नमः, शुक्राय नमः और शनैश्चराय नमः,** हुए सबका धन्यवाद किया जाता है।

जो महाशय उक्त दाताओं से दान मांगते समय तो बड़ी-चापलूसी से पेश आते हैं, परन्तु धन्यवाद करने के समय भी मूक बन जाते हैं और उल्टा दूसरे लोगों को भी सन्मार्ग भ्रष्ट करके अपने सदृश कृतघ्न=अहसान फरामोश बनाना हैं—वे निस्संदेह ईश्वर के कोप भाजन बनते हैं।

ब्रह्माण्ड भर से भाईचारा

यह बात सभी जानते हैं कि जो पुरुष जैसा प्रतिष्ठित होगा की प्रतिष्ठा के अनुसार ही उसके यहां दुःख और सुख में लोग सम्मिलित होते हैं, जैसे मौलाना साहिब के यहां में मुहल्ले भर के मियां जुट सकते हैं क्योंकि आखिर सगे भाई की लड़की से ही तो शादी=खाना आबादी है। पादरी साहिब के यहां इससे कुछ अधिक की सम्भा- की जा सकती है, क्योंकि चाय के एक कप पर ही तो की दौड़-धूप हो रही है। राजा साहिब के यहां राज्य के, और सम्राट् के यहां विदेशों तक के—मेमहमान तशरीफ

ला सकते हैं, क्योंकि इनका भाई-चारा इतना फैला हुआ है
बस ! अहिन्दू लोगों के भाई-चारे की यही 'सा काष्ठा सा
गतिः' है, परन्तु एक सनातनधर्मी हिन्दू का 'भाईचारा' इत
विस्तृत है कि उसके यहां न केवल देश-विदेशों के ही अ
सूर्य-लोक, चन्द्र-लोक, सुदूर शनि-लोक और ब्रह्माण्ड कक्षा
परले किनारे–नक्षत्र प्रदेश तक के भी मेहमान पधारते हैं,
को वह अपने प्रत्येक शुभाशुभ कार्य में सम्मान देता है।

यहां यह आशंका व्यर्थ है कि इतने बड़े मेहमानों को बु
कर उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप सम्मान नहीं किया जाता कि
जल के छींटे और चावल के दो दाने चढ़ाकर सूखा टरका दि
जाता है, निःसन्देह यह प्रश्न—'सामग्रीनेमनिवर्तक' किसी धड़ी
पेट्ट का ही हो सकता है अन्यथा—प्रेम पन्थ का तो यह प्रधा
'मोटो' है कि—

'भाव बिन थूकूं नहीं, गाड़ी भरे सामानपर ।
रीझ जाता है मेरा मन, मान के एक पान पर ॥

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) शन्नो ग्रहाश्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा । शन्नो
मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः । (अथर्व १९।९।१
(ख) अग्निर्देवता व्वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता
वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देव
विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता

अर्थ—(क) चन्द्रमा के साथ सब ग्रह, सूय के साथ राहु
मृत्युसूचक धूमकेतु तथा विकराल रुद्रगण हमारे लिये कल्याण-
कारी हों। (ख) अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अष्टवसु, ११ रु

आदित्य, ४६ मरुत, विश्वेदेव, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण ये सब ता हैं।

वेदादि शास्त्रों में सूर्यादि नवग्रहों की शान्ति के लिए नादि का स्पष्ट विधान है। आज के अधकचरे वैज्ञानिकम्मन्य ही सूर्यादि ग्रहों को सर्वथा जड़ मानते रहें और तदनुयायी लोचक भले ही वैदिक ऋषियों पर, सूर्य चन्द्रादि प्राकृतिक तुओं के रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण उनसे भयभीत हो ने कल्याण के लिए विविध प्रकार की स्तुति प्रार्थना करने रने का आक्षेप लगायें, परन्ते हमें यह न भूलना चाहिए कि तोष न्याय से एक क्षण के लिए इन्हें जड़ स्वीकार कर या जाय तब भी जिस प्रकार जड़पृथ्वी की गति-विगति के रतम्य से संसार को भिन्न-भिन्न ऋतुओं में सर्दी-गर्मी वर्षा दि का अनुभव करना पड़ता है इसी प्रकार अन्य ग्रहों की ति-विगति का संसार पर कोई प्रभाव न पड़ता हो यह कैसे म्भव है ?

इसके अतिरिक्त जैसे अचेतन एवं जड़ रेलगाड़ी को उचित यन्त्रण में रखने—उसे निर्दिष्ट सयय पर चलने, रोकने आदि के लिए चैतन्य ड्राइवर तथा गार्ड की अनिवार्य आवश्यकता है, न्यथा स्टेशन के सब सिगनल और लाल-हरी झण्डियें रखी ाई रह जायँ, इसी प्रकार शास्त्रों में सूर्यादि ग्रह-पिण्डाभिमानी नांश को लक्ष्य करके की गई सब प्रार्थनाएं सर्वथा सुसंगत ही हैं।

आवाहन करने से ग्रह कैसे आ सकते हैं ?

सूर्यादि ग्रह हमारी पृथ्वी से लाखों योजन दूर हैं और लाखों गुणा बड़े हैं यह सभी वैज्ञानिक जानते हैं, सो सनातनधर्मियों के डेढ़ वालिस्त के मण्डप में अथवा चुटकीभर चावलों के छूमंतर में कैसे समा सकते हैं ? और इतनी दूर कैसे आ सकते हैं ?

फोटोग्राफी कैमरे के एक इंच के शीशे में देहली का लाल-

किला कुतुब की लाट और पुल सहित जमना की वाढ़ विस्तृत प्रदेश कैसे समा जाता है ? आपकी ही आंख के लघु काले तिल में न केवल सूर्य-चांद अपितु सभी ग्रह नक्षत्र समा जाते हैं ? कभी शंकावादी महाशय ने इस रहस्य का परिशीलन किया है ? वास्तव में 'भावनावाद' सिद्धान्त अनुसार ज्योंही वेद-मन्त्रों के आध्यात्मिक वायरलैस से वेद ब्राह्मण तत्तद् ग्रहों के नाम अपना सन्देश ब्राडकास्ट कर है त्योंही तत्काल सर्वव्यापक परमात्मा के प्रबन्धानु विश्वभर की एकमात्र भाषा देववाणी के प्रताप से सूर्यपि भिमानी चेतनदेव पूजक भक्त के पिण्ड में राजदूत की रहने वाली अपनी प्रतिनिधिभूत शक्ति सत्ता को प्रेरित पूजक भक्त का कल्याण कर देता है। इसलिए किसी भी पिण्ड को अपनी कक्षा छोड़कर महाशय जी के मकान के से टकराने की और उनके चौपट चौबारे में धँसने की आवश्यक नहीं है क्योंकि वे सब तो पहले से ही मानव पिण्ड में सूक्ष्म से विराजमान हैं, आवाहन पूजनादि का तो केवल इतना प्रयोजन है जितना कि माचिस की सलाई में पहले से ही विद्यमा अग्निदेव को रगड़कर प्रकट करने की क्रिया में हो सकता है।

ग्रह मनुष्य पर कैसे चढ़ जाते हैं ?

कहा जाता है कि अमुक पुरुष पर शनि चढ़ रहा है, अमु पर राहु केतु चढ़ रहे हैं,-यदि पुरुष पर छोटी-सी चिउंटी चढ़ जाए तो वह तत्काल मालूम पड़ जाती है परन्तु ये करो अरबों टन तोल के ग्रह पिण्ड चढ़े हुए मालूम क्यों नहीं होते ?

लोक में जैसे मूर्खतापूर्ण चेष्टा करने पर कहा जाता है कि 'तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं'-और अमुक बुराई करने उद्यत मनुष्य को कहा जाता है कि 'उसके शिर पर तो भूत सवार

हो रहा है।' ठीक इसी प्रकार जब ब्रह्माण्ड के ग्रहों की स्थिति के तारतम्य से तदंगभूत मानवपिण्ड पर अमुक भलाई या बुराई के पड़ने की सम्भावना होती है तब इसी वैज्ञानिक भाव को प्रकट करने के लिए यह व्यङ्ग्यात्मक=मुहावरा बना हुआ है कि अमुक ग्रह चढ़ा हुआ है अर्थात्-उस ग्रह की दशा है। जैसे पाप और पुण्य किसी व्यक्ति को डण्डा लेकर मारने या बचाने नहीं आता किन्तु ईश्वर के न्याय से पापी की बुद्धि में विकृति हो जाती है जिससे वह अपनी हानि के लिए स्वयं ही ताना-बाना बना लेता है, इसी प्रकार पुण्यात्मा की बुद्धि वास्तविकता समझने में समर्थ हो जाती है जिससे वह दुस्तर कार्यों को भी कर सकने में सफल हो जाता है, अर्थात्-भगवान् भक्त पर कृपा करके उसे—'**ददामि बुद्धियोगं तम्**' के अनुसार 'बुद्धियोग' ही प्रदान करते हैं जिससे सभी काम बन जाते हैं और रुष्ट होते हैं तो '**बुद्धिनाशात्प्रणस्यति**' के अनुसार बुद्धि छीन लेते हैं जिससे उसका नाश हो जाता है। सो इसी प्रकार ग्रह भी जब किसी महाशय पर चढ़ते हैं तो उसकी बुद्धि में ननु नच, तर्क वितर्क, अगर, मगर, की सनक सवार हो जाती है। जैसे उन्मत्त-प्रमत्त को अपनी खोपड़ी का विकार स्वयं मालूम नहीं पड़ता, विक्षिप्त पागल को अपने पागलपन का पता नहीं चलता परन्तु दूसरे लोग उसकी अण्ड-बण्ड बात सुनते ही तत्काल भांप लेते हैं कि '**अयंविक्षिप्तोऽयम्**' ठीक इसी प्रकार आप अपने ऊपर चढ़े हुए शनिदेव को नहीं देख पाते किन्तु साक्षर सनातनधर्मी तुम्हारी जिह्वा के हिलते ही तत्काल अनुभव कर लेते हैं कि '**देवानां प्रियोऽयम्।**'

क्या पोप जी ग्रहों के एजेन्ट हैं ?

कहा जाता है कि अमुक वस्तु दान देने से ग्रह टल जाएगा। क्या ग्रह घूसखोर हैं और पोप जी ग्रहों के एजेण्ट हैं ? जो इनको

पाकेट भरने से सब काम ठीक बन जाएगा ।

मालूम होता है कि महाशय जी को यह विदित नहीं है कि अचानक ही अमुक-अमुक रोग क्यों आ जाते हैं और मन भी परेशान क्यों हो जाता है ? आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि—

पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते ।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमसुरार्चनैः ॥ (माधवनिदान)

अर्थात्—पूर्वजन्म-कृत पाप व्याधिरूप बनकर मनुष्य को कष्ट देते हैं और उनकी शान्ति औषधि, दान, जप, होम और देवपूजन से होती है । कहना न होगा कि यहां रोगों का कारण पूर्व जन्मार्जित पाप बताया है, यजुर्वेद स्वयं एकमात्र औषधि से उनकी शान्ति नहीं मानता किन्तु दान, जप, होम, देवपूजन को भी आवश्यक बताता है, यूनानी वाले भी दवा के साथ दुवा= ईश्वर प्रार्थना और खैरात आवश्यक समझते हैं । रुपया-पैसा कमाने में भी खून-पसीना एक करना पड़ता है, अतः द्रव्य को मनुष्य का 'बाह्य प्राण' माना है, सो यदि कोई पुरुष स्वेच्छा से दान रूप में अमुक-अमुक वस्तु प्रदान करेगा तो उसे मीठा मीठा किन्तु हर्षपू कष्ट अवश्य होगा, जिससे रोग कष्ट निवृत्त हो जाएगा, यानी रोगी को जितना कष्ट भुगतना था वह द्रव्य के देने से हो जायगा । इसीलिए दान, हैसियत से कम करने पर फल नहीं देता, इसलिए ग्रह घूसखोर नहीं किन्तु पूर्वजन्म के पापों का बदला चुकाने के लिए परमात्मा की ओर से नियुक्त न्यायाध्यक्ष हैं । जैसे जज इतना जुर्माना या इतने दिन की कैद की आज्ञा देते हैं, जुर्माना भरने पर कैद में जाने की आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार शारीरिक, मानसिक कष्ट या दान-पुण्यादिक इन दोनों विकल्पों से एक चुना जा सकता है, दान

पर कष्ट अवश्य दूर होता है यह हमारा निजी अनुभव है। ाठी ब्राह्मणों से अधिक भगवान् के एजेण्ट और कौन हो ते हैं, यह स्वयं वेद कहता है। यथा—

य: आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति
स देवेषु वृश्चते। (अथर्व० १२।४।१२)

अर्थात्—जो पुरुष देवताओं के निमित्त याचित गाय को ाठी ब्राह्मणों को नहीं देता, देवता उसको दण्ड देते हैं।

अण्ड-पिंड मूलक आयुर्वेद

यहां इतना और भी अधिक समझ लेना चाहिए कि ब्रह्माण्ड तत्तद् दैवी शक्तियों का केवल 'मानव-पिण्ड' पर ही नहीं पड़ता अपितु घास-फूस मिट्टी पत्थर पानी जैसे जड़ ों पर भी पड़ता है। क्योंकि ये सब वस्तुयें भी ब्रह्माण्डा- नी किसी-न-किसी देवता से ही सम्बद्ध हैं। आयुर्वेद शास्त्र में मुक लोहे लक्कड़ का क्वाथ देने की व्यवस्था की गई है वह अण्ड-पिण्ड सिद्धान्त पर अवलम्बित है। रोग का तात्पर्य नव-पिण्ड में रक्त, मांस, मज्जा, मेदा अस्थि, शुक्र और न तत्त्वों में से किसी तत्त्व की कमी या अधिकता हो जाना चिकित्सा का तात्पर्य है—उसी तत्त्व को ब्रह्माण्ड व्याप्त घास , अन्न, धातु आदि किसी द्रव्य से पूरा कर दिया जाय।

बीमार को छिलकेवाली मूंग की दाल खिलाने का यही हेतु क रुग्ण व्यक्ति का वीर्य क्षीण हो जाता है और ब्रह्माण्ड में स्थानीय द्रव्य पारद अर्थात् पारा है। सो जिन द्रव्यों में पारा मात्रा में उपलब्ध हो वे द्रव्य बीमार के लिए लाभप्रद

सिद्ध होंगे । सो मूंग में और खासकर उसके छिलके में पा अंश अधिक मात्रा में पाया जाता है। यही बात घिया तोरी के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

इसी तरह यकृत और प्लीहा अर्थात् जिगर और तिल्ल बिमारियों में लोहासव, कुमारी आसव टमाटर आयरन आदि औषधियें इसलिये दी जाती हैं, कि शरीर में खाये हु पदार्थों का जो रस बनता है, वह यकृत और प्लीहा द्वा रंजित होकर रक्त अर्थात् लाल रंग वाला बनता है सो इन यन्त्रों के विकृत हो जाने पर वह रंग लाल नहीं हो पाता, पीला ही रह जाता है, इसीलिये ऐसे रोगियों के नख, जिह्वा और मलमूत्र तक अतिपीले हो जाते हैं, सो इस रोग की नि के लिये मंगल ग्रह से सम्बन्ध रखने वाली सब वस्तुएं औ रूप में दी जाने पर लाभ होने की पूरी संभावना है। क होगा कि उपरोक्त द्रव्य मांगलिक रसायन से भरपूर होते

अपामार्ग (ऊंगा) अर्क (आक) पलाश (ढाक) (खैर) उदुम्बर (गूलर) अश्वत्थ (पीपल) और कु सातों औषधियों में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र शनि, सातों महाग्रहों के क्रमशः विशेष तत्त्व विद्यमान हैं। प्रकार सोने, चांदी, तांबा, पीतल, कांसी, पारा और लोह सातों धातुओं में, तथा मणिक मोती विद्रुम (मूंगा) (पिरोजा) पद्माख (पुखराज) वज्र (हीरा) नीलमणि इन सात रत्नों में क्रमशः सूर्यादि सात महाग्रहों के विशेष उपलब्ध होते हैं। सो मानव-पिण्ड में जब जिस देवता के तत्त्व में न्यूनता किंवा अधिकता आ जाये तो उसके ता को ठीक करने के लिए तत्तद् औषधियों की विधिवत् उप

की जाती है, यही आयुर्वेद शास्त्र का मूल सिद्धान्त है।

प्रत्यक्ष देखने में आता है, कि सुदूर आकाश में अवस्थित ग्रहों का प्रभाव पृथ्वी के जड़-पदार्थों पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ता है। पौर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा समस्त पृथ्वी को उद्वेलित करता है यद्यपि ठोस होने के कारण पाषाण, वृक्ष और मृत्तिका आदि पदार्थों में हम उस आकर्षण विकर्षण की प्रगति को नहीं देख पाते, परन्तु तरल होने के कारण अनन्त-जल-राशि समुद्र को बल्लियों उछलता प्रत्यक्ष देखते हैं।

शनि की उच्च नीचता के तारतम्य से नीलम की आभा में भी तारतम्य हो जाता है। यह अनेक रत्न परीक्षक जोहरियों की जबानी हमें मालूम हुआ हैं। सो इन्हीं विज्ञानपूर्ण भावनाओं के आधार पर भारतीय ऋषियों ने मानव पिण्ड की उन्नति के लिये किये जाने वाले प्रत्येक कार्य में अधिकाधिक सफलता प्राप्त करने के निमित्त ग्रह नक्षत्र तारे, सैयारे, और धूमकेतु, उल्का पिण्डों के तारतम्य से तैयार होने वाले विशिष्ट वातावरण "कुर्रे हवाई" किंवा "ऐटमास्फीयर" की अनुकूलता निर्माण करना ही नव-ग्रहपूजन का वास्तविक उद्देश्य माना है।

हवन-विचार

आरब्ध कर्म के निर्विघ्न परिसमाप्त्यर्थं जैसे प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ में गणपत्यादि देवों का पूजन आवश्यक है इसी प्रकार प्रायः सभी धार्मिक अनुष्ठानों में हवन भी तदङ्गभूत होने के कारण करणीय है यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। आज के इस युग में प्रत्यक्षवाद में पले हुवे व्यक्ति तो हवन को, तत्तद् बहुमूल्य पदार्थों को अग्नि में व्यर्थ फूंक देने की जङ्गली प्रथामात्र समझते हैं

परन्तु प्रत्यक्षवादियों की यह धारणा वैसी ही भ्रमपूर्ण है जैसी कि किसान को कीमती अन्न खेत की मिट्टी में डालते हुवे देखकर किसी कृषि-विज्ञान से अपरिचित व्यक्ति की हो सकती है।

हमें यत्र-तत्र यज्ञ-यागादि करते कराते हुवे आजकल प्राय: सर्वत्र ही कम्यूनिस्ट सोशलिस्ट एवं अधकचरे कांग्रेसियों द्वारा किये गए विरोध का सामना करना पड़ता है अत: हमें यह अनुभव है कि आज का कथित शिक्षित-समाज एक साधारण किसान जितना भी भौतिक विज्ञान नहीं जानता है। घर में नपा तुला अन्न हो, घर के बालक आधा पेट खाते हों, तव भी चतुर किसान पाषाण का हृदय वनाकर सब अन्न खेत की मिट्टी में मिला डालता है। घर में अन्न का दाना न हो तब भी गहना पत्ता बेच कर, उधार उठाकर यथातथा–बीज जुटाने का प्रयत्न करता है। प्रत्यक्षदर्शी अनभिज्ञ लागों की दृष्टि में उसकी यह चेष्टा भले ही मूर्खतापूर्ण जंचती हो परन्तु बुद्धिमान् कृषक को विश्वास है, कि खेत की मिट्टी में मिलाया हुवा उसका प्रत्येक अन्नकण शत-सहस्र गुणित होकर पुन: प्राप्त होगा, यद्यपि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शुक, शलभ और राजसेनाओं के गमनागमन रूप ईतियों की भीति किसान के सिर पर खड़ी रहती है उसे कोई यह गारन्टी नहीं दे सकता कि खेत में डाला हुवा यह अन्न अवश्य ही उसे निर्वाधरूपेण वापिस प्राप्त होगा ही, तथापि प्रारब्धवादी पुरुषार्थी किसान भगवान् के भरोसे पर ही पीढ़ियों से अपना कर्तव्यपालन करता चला रहा है।

यही बात यज्ञ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। किसान का यज्ञ पार्थिव यज्ञ है और यह तैजस्! कृषि दोनों हैं एक आधिभौतिक है तो दूसरी आधिदैविक! एक का फल है–स्वल्पकालीन

तृप्तिक्षम अनाजों के ढेर, तो दूसरे का फल देवताओं के प्रसाद से अनन्तकालीन तृप्ति ! इसीलिए यह कृषि, की भी दूसरे ही तरीके से जाती है। देवता सूक्ष्म शरीरधारी होने के कारण 'अन्नाद' नहीं हैं अतः 'द्रव्य' को विधिवत् अग्नि में होमकर उसे सूक्ष्मरूप में परिणत किया जाता है। अग्नि में डाली हुई वस्तु का स्थूलांश भस्म रूप में पृथ्वी पर रह जाता है। स्थूल-सूक्ष्म-उभय-विमिश्रित भाग धूम बनकर अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाता है जो अन्ततोगत्वा मेघरूप में परिणत होकर पुनरपि भूमि पर जलरूप में बरसता है और सूक्ष्मतम भाग अर्चि रूप में परिणत होकर द्यूलोकस्थ देवगण को परितृप्त करता है। '**स्थूल सूक्ष्मवाद**' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अंश अबाध गति से अपने अंशी तक पहुँचकर ही विश्राम लेता है। मृतपिण्ड ऊपर फेंका हुआ पुनरपि भूमि की गोद में स्थिर होता है, जल-प्रवाह अपने आदिम उद्गम स्थान समुद्र में पहुँचे बिना दम नहीं लेता, इसी प्रकार भौतिक अग्नि की प्रत्येक अर्चिः ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त तैजस पदार्थों के आदिम-मूल-केन्द्र सूर्य में पहुँचे बिना परिसमाप्त नहीं होती। यह वैज्ञानिक विवेचन श्रीमनुस्मृति के—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपष्ठिते'

(मनु० ३।७६)

अर्थात्—अग्नि में विधिवत डाली हुई आहुति, सूर्य में उपस्थित होती है-आदि श्लोकों में सूत्ररूपेण विद्यमान है।

यहां पदार्थ-विज्ञान के अनुसार यह समझ लेना चाहिए कि जैसे विधिवत् मिट्टी में मिला अन्न-कण शत-गुणित हो जाता है, ठीक इसी प्रकार जल में मिला पदार्थ सहस्र-गुणित, और अग्नि में मिला लक्ष-गुणित हो जाता है। यहां शत, सहस्र

लक्ष आदि शब्दों का प्रयोग केवल समझाने की दृष्टि से किया गया है। तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि पृथ्वी, अप:, तेज:, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतों के संसर्ग से तत्तत् पदार्थ-जात उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यापक रूप में परिणत हो जाते हैं। खेत में बोये हुए अन्न की अभिवृद्धि सर्वसाधारण को भी विदित है परंतु जलादि के संसर्ग से वस्तु की व्यापकता जानने के लिए जरा गहराई में गोता लगाना पड़ता है।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आयुर्वेद की पद्धति में अमुक गुटिका शीतोष्ण जल किंवा किसी अनुपान विशेष के साथ देने की विधि चली आती है। ऐलोपैथिक डाक्टर लोग भी अमुक द्रव्यों को जल में मिलाकर 'मिक्स्चर' ही अधिकतया देते हैं। होम्योपैथी चिकित्सा-पद्धति की तो स्थापना ही इस सिद्धान्त पर हुई है, कि औषधि की जितनी मात्रा जो गुण रखती है यदि उसे फिल्टर किये पानी में मिलाकर ज्यों-ज्यों न्यूनतम किया जाए त्यों-त्यों वह अधिकाधिक गुणप्रद बनती जाती है, अर्थात् दवाई की एक बूंद में जो गुण है उसे यदि दशगुणित पानी में हल करके एक बूंद ली जाए तो वह दशगुणित रोगनाशनी–शक्ति-सम्पन्न बन जाती है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर आगे भी यह वृद्धिक्रम जल-संसर्ग से तथैव जारी रहता है, कहना न होगा कि ये सब क्रियाएं इस सिद्धांत की परिचायक हैं कि जल में मिश्रित हुआ पदार्थ सहस्र-गुणित हो जाता है।

अग्नि के संसर्ग से पदार्थ की व्यापकता का अनुमान लगाने के लिए अधिक दौड़-धूप करने की आवश्यकता न होगी, आप भले ही नित्य एक लाल मिरच खाते हों परंतु वह एकले आप को ही अपनी चरचराहट से परिचित कराती है परंतु यदि आप

को अग्नि में डाल कर तमाशा देखना चाहें तो वह न केवल भर के लोगों को बल्कि पास पड़ौस तक के व्यक्तियों को भी की गन्ध से 'आंछी आंछी' करने को विवश कर डालेगी। भर हींग का छौंक महल्ले भर में सूचना दे देता है, कि आज नारायण के यहां कढ़ी बनाई जा रही है। गांवों में गुड़ की भीनी २ गन्ध वायु के संसर्ग से दूर तक आगन्तुकों की को आप्यायित करती है। मोटर बसों में जलते हुए पेट्रोल दुर्गन्ध और आयल इंजनों में जलते हुए क्रूड आयल की सर्व साधारण के सिर में दर्द पैदा कर देती है, गाड़ियों में सिगरट की धुंवाधार से, न पीने वाले सैकड़ों व्यक्ति परेशान कर नाक पर कपड़ा डालने के लिए विवश हो जाते है, इन दृष्टान्तों का एक ही तात्पर्य है कि अग्नि में डाली हुई वस्तु गुणित हो जाती है।

सो हवन में जो द्रव्य डाले जाते हैं वे सब अनन्त गुणित कर देवगण को परितृप्त करते हुए, अन्त में कर्ता को नाना-भोगों के रूप में उपलब्ध होते हैं।

आर्य्यसमाज की मान्यता है, कि हवन का प्रयोजन 'वायुशुद्धि' है, परन्तु उनकी यह मान्यता प्रत्यक्षवाद पर आधारित एक किंचित्कर मान्यता ही है, हवन के अनेक लाभों में 'वायु शुद्धि' अन्यतम लाभ हो सकता है परन्तु हवन का मुख्य प्रयोजन तो परमात्मा के अंगप्रत्यंग भूत देवगण को परितृप्त करके स्वयमपि त पदार्थों के भोक्ता हो सकने की योग्यता प्राप्त करना है। से आम पर वैठे हुए कव्वों को देखकर कोई मनुष्य यह कहने कि आमवृक्ष के लगाने का प्रयोजन कव्वे महाशयों के लिए माल प्रस्तुत करता है! अथवा वृक्ष की टण्डी छाया को देख

कर कोई उसे ही वृक्ष का सर्वोपरि प्रयोजन मान बैठे ! ये मा ताएँ प्रत्यक्ष सिद्ध होती हुई भी वास्तविकता से कोसों दूर है आम्रवृक्ष का प्रयोजन यथार्थतः रस परिपूरित सुमधुर फल जो कि समय आने पर उपलब्ध होते हैं ।

यदि वास्तव में हवन का उद्देश्य 'वायु शुद्धि' ही है तो घर में बैठकर तोला दो तोला घी फूंक देने से वायु क्या होगी ? इसके लिये तो महाशय लोग यदि ईस्ट पंजाब रेलवे ईस्ट इण्डिया रेलवे की सेवायें प्राप्त करें तो ज्यादा लाभ सकता है ! सारी सामग्री इकठ्ठी करके रेलवे के पास पहुंचा और वहां से उसे यदि इंजन में झोंका जाय तो न केवल महा जी के घर की, न केवल उनके गांव नगर या जिले की, कि अमृतसर से लेकर सुदूर बंगाल तक की वायु ही शुद्ध न हो जाय! और फिर देश में कभी कोई बीमारी ही न फैले। बलिहारी ऐं अक्ल की !

इसलिये यह समझ लेना चाहिए कि हवन का प्रयो प्रत्यक्ष घ्राण तर्पण अनुभव अथवा वायु शुद्धि मात्र नहीं है कि देवाराधन पूर्वक भगवत्परिचर्य्या है जिसका सुमधुर फल लोक में अभ्युदय के रूप में और परलोक में निश्रेयस् के रूप यथासमय कर्ता को प्राप्त होता है ।

देवताओं की तृप्ति से क्या लाभ ?

पूछा जा सकता है, कि देवताओं की तृप्ति से मानवसमाज को क्या लाभ ?—यहां यह समझ लेना चाहिए कि 'अण्ड पिण्ड दाद' सिद्धांत के अनुसार मानव पिण्ड देवगण की विभिन्न देवों मूर्त परिणाम है; सो जैसे नल की टूंटी को प्रधान जलाशय (वाटर वर्क्स) की, और विद्युत वलय (बिजली के बल्ब) को शक्ति के

वर हाउस) की सदैव अनिवार्य अपेक्षा रहती है ठीक इसी कार अनुजीवी मानव पिण्ड को भी पदे २ अपने अनुजीव्य देव-ण की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। यद्यपि हम देवगण की अनु-म्पा के बिना अभिलषित भोगों को जुटाने की भी शक्ति नहीं खते तथापि हम यह निर्मूल कल्पना भी कर लेते हैं, कि मान लो नुष्य अपने उद्योग के बलबूते पर खानपान को सर्वविध सामग्री टाने में सफल हो सके परन्तु एतावता भी वह संग्रहीत पदार्थों का स्वतन्त्रता पूर्वक उपभोग कर सकेगा यह उसके अपने सामर्थ्य की बात नहीं है; सैकड़ों धनोमानी पुरुषों के यहां उपभोग सामग्री की कमी नहीं होती परन्तु अग्निमांद्य, अरुचि आदि रोगों के कारण वे कुछ भी खा पी नहीं सकते, पदार्थों को देख २ कर झींकते हैं। ह लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि 'गरीबों को दूध प्राप्त नहीं होता और अमीरों को हज्म नहीं होता'। सो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति-प 'योग' और प्राप्त वस्तुओं का उपभोग कर सकने की क्षमता प 'क्षेम'—उभय विध सौकर्य केवल देवतात्मा भगवान् की ही से हो सकती है इसलिये हवन द्वारा परितृप्त देवता मनुष्य को तत् पदार्थों के उपभोग कर सकने की वह योग्यता प्रदान करते हैं, जो कि अन्य उपायों द्वारा कथमपि प्राप्त नहीं हो सकती।

देहाती भाषा में इस गूढ़ प्रकरण को सरल शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि देवगण विविध प्रकार के दाता होने के कारण 'देवता' कहे जाते हैं और मनुष्य पदे २ उनसे लेनेवाला होने के हेतु 'लेवता' कहा जा सकता है तो लेवता का देवता बिना काम चल ही नहीं सकता।

दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक राजा ने अपने पुरोहित से हवन के लाभ जानने की जिज्ञासा की। विद्वान् पुरोहित ने वेद शास्त्रानुसार

यज्ञ-प्रक्रिया का वर्णन किया परन्तु परोक्षवाद पर निहित तत्त्वों को प्रत्यक्षवादी राजा पूरी तरह न समझ पाया। ननु किन्तु व परन्तु करता ही रहा, अन्ततोगत्वा पुरोहितजी ने प्रक्रिया समझाने की एक नवीन युक्ति निकाली। राजा से तुम ब्रह्मभोज करो तब कुछ समझ में आएगा। वैसा ही कि गया, पुरोहितजी ने यज्ञ-प्रक्रिया के प्रगाढ़ ज्ञाता वेदपाठियों एक भवन में बिठाया और दूसरे ब्राह्मणों को दूसरे भवन में नानाविध पदार्थ परसे गए परन्तु भोजन से पूर्व पुरोहितजी सङ्केतानुसार राजा ने समस्त ब्राह्मणों की कोहनी के साथ हा को एक २ डण्डा बांध दिया, और भोजन करने की आज्ञा दी ब्राह्मणों ने ज्यों ही ग्रास उठाकर मुख में डालना चाहा तो मुड़ न सकने के कारण शिर से भी हाथभर ऊंचे गया। वे चकित हुए, राजा के भय के कारण कोई कुछ पूछ न सका और सामने पड़ा भोजन देखकर सांस भरते रह गए। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणों ने आपस में परामर्श करके दो पंक्ति लगालीं, सामने वाला व्यक्ति भोजन ग्रास उठाकर अपने सामने बैठे व्यक्ति के मुख में डालने लगा और दूसरा भी इसी भांति उसको खिलाने लगा। क्योंकि बंधा हुआ हाथ अपने मुख में नहीं पहुँच पाता था, सामने वाले के मुख में तो भलीभांति पहुँचता था। इस तरह सबने भरपेट भोजन किया और तृप्त होकर डकारें लेने लगे। राजा ने परितृप्त याज्ञिक ब्राह्मणों से जब इस सूझ का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि महाराज! श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है कि

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

अर्थात्—हे मनुष्यो! तुम यज्ञ प्रक्रिया से देवताओं को तृप्त

करो, देवता तुम्हें तृप्त करेंगे, इस प्रकार एक दूसरे को तृप्त करते हुवे तुम दोनों का परम कल्याण होगा।

सो हमने यहां भी इसी यज्ञ सूत्र से काम लिया। कहना न होगा कि उपर्युक्त दृष्टान्त हवन विधान पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। निःसन्देह मनुष्य संसार में सब पदार्थों के होते हुवे भी कर्म-बन्धन में बंधा हुवा उनका स्वतन्त्रता पूर्वक उपभोग कर सकने में स्वाधीन नहीं है। यदि मनुष्य यज्ञ यागादि द्वारा देवताओं को तृप्त करे तो फिर देवता भी उपभोग क्षमता प्रदान करते हैं। इसलिये अमुक २ संस्कार के समय विहित होमादि का, श्रद्धा-पूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये।

गर्भाधान संस्कार विचार

वैदिक स्वरूप

(क) गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति गर्भं ते
अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा।
(ख) गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो वृहस्पतिः। गर्भं त इन्द्र-
श्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥ (अथर्व ५, २५, ३·४)

अर्थ—[क] (सिनीवालि !) हे अमावस्याधिष्ठातृदेवते, तथा (सरस्वति) हे वागधिष्ठातृदेवते, आप इस स्त्री को गर्भ धारण करने की सामर्थ्य दें एवं उसे पुष्ट करें। (पुष्करस्रजा) कमलों की माला से सुशोभित (उभा अश्विनौ) दोनों अश्विनीकुमार (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (आधत्तां) पुष्ट करें। [ख] (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करें। (देवो

बृहस्पतिः) देव गुरु बृहस्पति (गर्भं) गर्भ को पुष्ट करें। (इन्द्र) इन्द्रदेवता (अग्निः) सम्पूर्ण प्राणियों में—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित:— वैश्वानर रूप से व्याप्तदेव, (धाता) सृष्टि कारक ब्रह्मा, (ते) तेरे (गर्भं) गर्भ को (दधातु) पुष्ट करें।

उपर्युक्त वैदिक मन्त्रों के उद्धरण से यह ज्ञात होगया होगा कि यह संस्कार वेदानुमोदित है! चूंकि मानव जातिके प्रतिनिधि भावी शिशु का सम्पूर्ण भविष्य इस ही के ऊपर निर्भर है अतः इस संस्कार का महत्व निर्विवाद है। 'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे.—इस श्रुति के अनुसार सन्तान माता पिता के आत्मा हृदय तथा शरीर से उत्पन्न होता है ऐसी दशा में माता पिता में होनेवाले शारीरिक या मानसिक गुण अवगुण भी सन्तान में अवश्य संक्रमित होंगे। उन दोषों को दूर करने के लिये गर्भाधान संस्कार की आवश्यकता होती है। इसीलिये मनुजी ने इस संस्कार का उद्देश्य—

निषेकाद्बैजिकं चैनो गार्भिकञ्च पमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानं फलं स्मृतम्॥

इस श्लोक में बीज तथा क्षेत्र दोनों की शुद्धि हो मुख्य रूपेण माना है।

प्रश्न हो सकता है कि—क्या चन्द मन्त्रों के उच्चारण तथा देवपूजनादि से शारीरिक और मानसिक दोषों की शान्ति सम्भव है? इसका उत्तर हम हां में ही देंगे। हमें यह न भूलना चाहिये कि मनुष्य के अच्छे या बुरे होने में उसके मन का प्रधान हाथ होता है। शास्त्रों में बतलाया गया है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मनुष्य का मन ही उसके सांसारिक कष्टपूर्ण बन्धन

और नित्य सुखमय मोक्ष का कारण है। ऐसी दशा में जब दोषों के उद्गम और उनके दुर्भेद्य दुर्ग का हमें पता लग गया तो हमारा कर्तव्य यह हो जाता है कि हम सीधा आक्रमण उसी पर करें—उसके प्रवाह को बदलें और अभीतक उसकी जो शक्ति दोषों को उत्पन्न करने की ओर लगी हुई थी उसीको दोषों एवं दुर्गुणों के विनाश की ओर लगावें। इस तत्त्व को समझने वाले महर्षियों ने ही इस संस्कार का विधान किया है। मद मोह वासना से अन्धे हुए पुरुष के अन्धकार पूर्ण हृदय में ऐसे समय में भी अध्यात्मप्रदीप की एक लौ को प्रज्वलित रखना—भारतीय ऋषियों की ही विलक्षण बुद्धि का चमत्कार है। इस संस्कार के समय पढ़े जाने वाले—

(क) धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः।
पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे॥

(अथर्व ५।२५।१०)

(ख) यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाऽहं
तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः
शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्।

(पारस्कर० १।११।९ यजु० ३६।२४

अर्थ—[क]—(धातः) हे सृजनाधिष्ठातृ देवता ब्रह्माजी! (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ रूप के साथ (अस्याः) इस (नार्याः) स्त्री को (गवीन्योः) पार्श्वस्थ नाड़ियों में (पुमांसं पुत्रं) पुरुष सन्तान को (दशमे मासि) दसवें महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (आधेहि) भली प्रकार स्थापित कीजिए। [ख]—(सुसीमे) हे सुन्दरि, (यत्ते हृदयम्) तुम्हारा जो हृदय (दिवि चन्द्रमसि श्रितम्)

द्यु लोकस्थ चन्द्रमा में स्थित है (तत् अहं वेद) उसे मैं जानता हूं और (तत् मां विद्यात्) वह मुझे जाने। अर्थात् हम दोनों एक दूसरे के मनोभावों को भली प्रकार समझें। हम दोनों सौ वर्ष तक देखें, जीवें, और श्रवण-शक्तियुक्त रहें।

—इत्यादि मन्त्र मनुष्य के मन को सात्विक भावों की तरफ आकृष्ट करते हैं। उसमें पशुत्व का उदय नहीं होने पाता। विषयोपभोग में प्रवृत्त हुआ भी वह उसे कामवासना की शान्ति का साधन नहीं समझता किन्तु सृष्टि यज्ञ जैसे पवित्र एवं वेद-निर्दिष्ट कर्तव्य की पूर्ति के लिये ही उसका सेवन करता है। उसके हृदय में अनुक्षण उठने वाली "मैं सत चित् आनन्दमय पूर्ण पुरुष का अंश हूं, यह मेरी प्रकृति है; देव ऋषि पितृ ऋण से मुक्त होने के लिये हम गर्भाधान करते हैं" आदि भावनाएं भावी मानव के शरीर निर्माण पर बड़ा प्रभाव डालती हैं।

यह सिद्ध हो चुका है कि गर्भाधान के समय पति पत्नी के हृदय में जिस प्रकार के विचार होते हैं—उनके हृदय और अन्तःचक्षु के सन्मुख जो चित्र होता है—भावी शिशु उन्हीं सबके प्रतिबिम्ब को लेकर जन्म लेता है। अक्सर देखा गया है और समाचार पत्रों प्रतिदिन ऐसे समाचार पाठकोंको में पढ़ने को मिलते हैं कि 'अमुक स्त्री ने एक ऐसे अद्भुत बालक को जन्म दिया जिसकी आकृति वानर की थी जिसके शरीर पर बाल थे और पूंछ थी' कभी 'दो सिर और चार हाथ वाले बालक का जन्म"। इन सब घटनाओं का मूल क्या है ? कहना न होगा कि गर्भाधानकाल के ऊटपटांग विचारों ने ही ऐसी अद्भुत आकृतियों को जन्म दिया है। इसलिये गर्भाधान काल में मनुष्य के मन का प्रसन्न तथा धार्मिक भावयुक्त रहना नितान्त आवश्यक है।

हम पीछे कह आये हैं कि शिशु का निर्माण माता पिता के शरीर आत्मा और हृदय से होता है इन तीनों में भी मन की ही प्रधानता है वह बड़ा चंचल और अनियम्य है। वह प्रतिक्षण गतिमान् रहता है और बुद्धि को अपने साथ मिलाकर कुछ न कुछ मनन करता रहता है। यदि उसे कोई उचित सरणी न मिले तो उसके लिये विपथगामी होना कोई कठिन नहीं है। अन्य समय में मन की इस चंचलवृत्ति को सहन किया जा सकता है किन्तु गर्भाधान जैसे पवित्र और महत्त्वपूर्ण काल में, जब कि हम अपने वंश जाति और परम्पराओं के उत्तराधिकारी के निर्माण के लिये प्रस्तुत हो रहे हों, इस प्रकार की चंचल तथा सरणीहीन मनोवृत्ति,—अयोग्य, कुलकलङ्की तथा सर्वदा संताप एवं अनुताप की आग में जलानेवाले शिशु के जन्म का कारण बन सकती है। इसलिये मन को देवभाव युक्त करने तथा इस पवित्र एवं महान् कार्य की जिम्मेवारी अनुभव कराने के लिये ही क्रान्तदर्शी महर्षियों ने इस संस्कार का प्रचलन किया था।

गर्भाधान-संस्कार क्यों ?

जब सृष्टि में मनुष्य पशु पक्षी आदि सभी प्राणी, बिना शास्त्रोक्त गर्भाधान संस्कार के ही, गर्भाधान कर लेते हैं और उनके सन्तान भी हो जाती है, बल्कि पशु पक्षी तो दो चार पांच सात बच्चे तक एक बार उत्पन्न कर लेते हैं तब यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि इसकी गणना संस्कारों में क्यों ?

यह सत्य है कि पशु पक्षी बिना शास्त्रोक्त गर्भाधान के ही सन्तान उत्पन्न करने में सफल हो जाते हैं और मनुष्य भी हो रहे हैं किन्तु फिर भी मनुष्य और पशु में अक्ल का सोचने समझने की शक्ति का—जो महान् अन्तर है उसे भुलाना सहज नहीं है।

ज्ञान शक्ति देकर प्रकृति ने पुरुषों पर जो अनुग्रह किया है पशुओं पर नहीं। पशु पक्षी सर्वात्मना प्रकृति माता के ही आश्र पर जीवन निर्वाह करते है। प्रकृति ही उनकी सम्पूर्ण वृत्ति की संचालिका होती है। वह उनको एक नियम के अन्दर चला और उससे रत्तीमात्र भी बाहर नहीं होने देती।

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो हम कह सकेंगे कि आज मनुष्य से पशु कई बातों में बढ़ा चढ़ा है और उसने मनुष्य सामने एक आदर्श स्थापित किया है। गर्भाधान और समा को ही लीजिये; पशु पक्षी एक निश्चित समय में ही—जो प्रकृति ने उनके लिये निश्चित कर दिया है—समागम करते हैं उस समय भी वे अपनी घ्राण शक्ति द्वारा स्त्री के शरीर को सूं कर यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि स्त्री गर्भिणी तो नहीं है। यदि ऐसा हुआ तो फिर उससे समागम नहीं करते। इसके विपरी पुरुष;—ज्ञानशक्ति सम्पन्न पुरुष! प्रकृति के सभी वैज्ञानि बन्धनों को ताक पर रखकर समय कुसमय का कोई विचार करता हुआ अपनी भोग लालसा को तृप्त करता है और इस प्रका जान-बूझकर अपने अमूल्य स्वास्थ्य की हानि करके अकाल में ही मृत्यु के मुख में जा पहुँचता है। इसलिये प्रकृति प्रदत्त संयम—जो कि इस संस्कार के कतिपय प्रयोजनों में से एक है—के कार पशु पक्षियों के लिये इस संस्कार की आवश्यकता भले ही न हो किन्तु मनुष्य के लिये तो इसकी परमावश्यकता है।

इस संस्कार द्वारा स्त्री पुरुष के सम्बन्ध की पवित्रता तथा संयम के महत्त्व का दिग्दर्शन होता है। विवाहित स्त्री पुरुषों के सामने यह आदर्श विचार रखा जाता है कि तुम दोनों का सम्बन्ध विषय भोग की तृप्ति के लिये नहीं, किन्तु एक महान् उद्देश्य की

पूर्ति के लिये है। केवल इसी पुत्रोत्पत्ति रूप उद्देश्य के लिये ही उन्हें समागम करना चाहिये। संयम पूर्वक गृहस्थ जीवन ही उनका आदर्श है व्यभिचार नहीं। विवाह का तात्पर्य यह नहीं, कि अब उनको विषय सेवन की खुली छुट्टी दे दी गई है; वे चाहे जैसे भी विषयभोग करते रहें वह पाप न होगा क्योंकि वे तो पति पत्नी हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार विषय-सेवन व्यभिचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

प्राय: हम देखते हैं कि—माता पिता भाई बिरादरी—अर्थात् समाज की अनुमति से एवं वैदिक मन्त्रों की शक्ति से ही स्त्री पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध मान्य होता है। इन दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त यदि कोई स्त्री पुरुष आपस में ऐसा सम्बन्ध रखते हैं तो जहां लोक में उसे व्यभिचार गिना जाता है वहां परलोक में भी दुर्गति करनेवाला कहा जाता है।

परन्तु व्यभिचार की यह व्याख्या अधूरी है। इसके विषय में अनेक विचारशील व्यक्तियों का यह मत है कि 'व्यभिचार के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह पराई स्त्री से ही हो, किन्तु अपनी विवाहिता स्त्री से भी शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध समागम करना व्यभिचार ही है।' पाश्चात्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् Dr. Balfowr (डा० बैलफोर) ने इस विषय का विवेचन करते हुए एक जगह लिखा है :—

"विवाहित लोगों के मध्य में अत्यन्त विषय सेवन यथार्थ रूप से व्यभिचार है।" इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता में 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' कह कर धार्मिक भावना से युक्त काम को ही अपनी विभूति में परिगणित किया है।

आज हमारे समाज में स्त्री पुरुष का पारस्परिक संबन्ध गोप्य

समझा जाता है। गर्भाधान की चर्चा और वह भी संस्कार के उत्सव में पधारे हुए उपाध्याय या रिश्तेदारों के सन्मुख-स्त्री और पुरुष दोनों के लिये ही लज्जा का कारण समझा जाता है, किन्तु वास्तव में ऐसी चर्चा न गोप्य है न लज्जा का कारण ही। जब से समाज में इस वैदिक संस्कार का अभाव हुआ और उसका स्थान गोपनीयता ने लिया तब से ही अधिक विषय सेवन रूप व्यभिचार की बाढ़ सी आ गई। यदि आज फिर गर्भाधान को संस्कार रूप में करने की प्रथा प्रचलित हो तो समाज के बहुत से दोष स्वयं शान्त हो जाएं। और तब, जिस प्रकार विवाहित हो जाने पर, पर-स्त्री और पर पुरुष से सम्बन्ध रखना पाप समझा जाता है, यथा सम्भव नर नारी इससे बचने का प्रयत्न भी करते हैं, इसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिये गर्भाधान संस्कार के समय ही स्त्री पुरुष समागम किया करें, अतिरिक्त समय में नहीं, यही इस संस्कार का मुख्य अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के निम्न उद्देश्य और कहे जा सकते हैं।

गर्भाधान क्रिया ज्ञान

हिन्दू शास्त्रों में संसार के स्पृहणीय समस्त पदार्थों का वर्गीकरण करते हुवे उन्हें केवल चार भागों में विभक्त किया है। जिसे चतुर्वर्ग, कहा जाता है। उन चार पदार्थों के नाम हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पदार्थों को प्राप्त कराने वाले शास्त्र भी चतुर्विध हैं। जैसे मन्वादि स्मृतियें धर्मशास्त्र हैं। शुक्र, बृहस्पति, कणक, कामन्दक, और चाणक्य आदि के ग्रन्थ अर्थशास्त्र हैं तथा उपनिषद् गीता आदि २ मोक्ष शास्त्र हैं, इसी प्रकार वात्स्यायन आदि महर्षियों के बनाये हुए 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थ कामशास्त्र हैं।

प्राचीन समय में ऋषिकुल, गुरुकुलादि में २५ वर्ष पर्यन्त चर्य व्रत पूर्ण करके स्नातक होनेवाले छात्रों को अन्य विद्याओं भांति आचार्य लोग इस रतिशास्त्र (Sexual Physiology) भी उपदेश देते थे जिससे युवकवृन्द पहिले से ही गृहस्थाश्रम आवश्यक नियमों से सुपरिचित हो जाते थे। किन्तु मध्यकाल जब कि आश्रम प्रणालो समाप्त हो गई यह प्रथा भी जाती और धीरे २ देश दो दलों में विभक्त हो गया। एक दल उन जा नवाब और रईसों का था जो विलासान्ध होकर दिन रात रलियां मनाते थे। सुरा सुन्दरी का मादक नशा प्रति क्षण नकी आंखों में छाया रहता था और मंगलामुखियों के मुजरों जिन्हें क्षण भर का भी अवकाश न मिलता था। दूसरा दल मिक भावना प्रधान जनता का था और वह इस प्रकार के र्यों से सख्त घृणा करता था। मध्यकाल के तुलसी सूर मीरा दि भारतीय सन्तों ने —जो कि जनता के सच्चे मार्ग प्रदर्शक —इन विलास प्रवृत्तियों के विरुद्ध बड़ा प्रचार किया, फल यह ा कि 'दूध का जला छाछ को फूक २ कर पोता है' कहावत के सार जनता, न केवल विलास से पराङ् मुख हुई, किन्तु उसने त्र अथवा कामशास्त्र को —जिसे प्रजनन शास्त्र भी कहते हैं लील और हेय समझना शुरू कर दिया। इस प्रकार चतुर्वर्ग अन्यतम (काम) पदार्थ का विशुद्ध परिज्ञान उत्तरोत्तर समाप्त या।

संस्कार प्रणाली तो लुप्त हो ही चुकी थी, तब पुरुषों को गर्भा- दि का यथार्थ ज्ञान कैसे आता ? आज भी हमारी यही ति है। रति शास्त्र (Sexual Physiology) का वास्तविक न देने वाली पुस्तकों का आज भी सर्वथा अभाव है। गृहस्थ में श करने वाले युवक अपने आस पास के लोगों तथा विलासी

युवकों से जैसा तैसा सुनकर या बाजार में बिकनेवाले ग्रन्थ
कथित 'सचित्रकोकशास्त्रों' से—जो बाजारू औषधियों के वि
पन मात्र होते हैं और पुरुषों को पथभ्रष्ट करके विनाश के गहरे
में गिरादेते हैं—ऊट पटांग ज्ञान प्राप्त करके अपना सर्वनाश क
बैठते हैं। विदेशों में रतिशास्त्र के ऊपर आजकल सैकड़ों पु
निकल रही हैं। डा० पाइनकर, डा० विलसन, डा० हैविलाक
लिस, डा० प्लोटस, डा० वनार्ड एवं डा० फ्रेंकलिन आदि प्र
लेखकों ने इस विषय को वैज्ञानिक रूप में जन साधारण के
उपस्थित करने का प्रयास किया है। 'What a husband
to know' Sexual questions, Before I wed' 'Th
Science of New life' 'Secrets of successful m
riage' आदि २ पुस्तकों द्वारा वहां गृहस्थ में प्रविष्ट होनेवाले
युवकों को गृहस्थ का रास्ता दिखाया जाता है। इस प्रयत्न
वहां की जनता का कुछ उपकार ही हुआ है। परन्तु भारत
इस विषयकी सच्ची शिक्षा देनेवाला जो पुस्तकें उपलब्ध हैं
भारतीय स्वयं उनसे सुशिक्षित होकर अपने गार्हस्थ्य जीवन
सुखी बनाने का प्रयत्न करें तो वह पुनरपि इस विषय में
संसार का सच्चा नेतृत्व कर सकते हैं।

गर्भाधान संस्कार कराने वाले आचार्य को इस विषय
पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, इसलिये यदि यह प्रणाली पुनर्जीवित
तो संस्कारार्थी को सब अपेक्षित सत्य ज्ञान गुरु से ही प्राप्त हो स
है। अथवा इस संस्कार से पूर्व ही वह संस्कार सम्बन्धी योग्य
प्राप्ति के लिये इस विषय के ग्रन्थों द्वारा अपेक्षित ज्ञान लाभ
सकता है। जिस प्रकार परीक्षा तिथि के निर्धारित हो जाने
विद्यार्थियों की पढ़ाई में अधिक अभिरुचि उत्पन्न हो जाती

र वे उस दिन सफलता प्राप्त करने के लिये डटकर तैयारी ते हैं, इसी प्रकार मुहूर्त शास्त्रादि द्वारा गर्भाधान संस्कार का नियत किया जाने पर संस्कारार्थी का उसके लिये यथेष्ट प्राप्त करने की प्रेरणा पाना स्वाभाविक ही होगा और तब र्मिक क्रिया के रूप में गर्भाधान के निष्पन्न करने पर भावी नु का धार्मिक भाव सम्पन्न, सत्पुत्र के रूप में उत्पन्न होना कठिन नहीं ।

त्री की अनुमति——

नारी विषयभोग की पूर्ति का साधन नहीं है; यह सृष्टि र्य की पवित्र प्रतिमा है। विश्व को समस्त सुकुमार भावनाओं उद्ग्रथित करके विधाता ने नारी को सृजन किया है। प्रेम, , माया, ममता धैर्य और कोमलता की अतुल राशि से उसका सर्वदा प्लावित रहता है। त्याग और आत्म समर्पण के वरदानों को लेकर कुमारी रूप में उसका उदय होता है और रूप में पर्यवसान ! 'माता' रूप में परिणति उसके जीवन व्याख्या है। वह श्रद्धा की वस्तु है, विलास की नहीं। अतः व्यक्ति पुत्रोत्पत्ति के धार्मिक प्रयोजन के अतिरिक्त तथा स्त्री इच्छा के प्रतिकूल भी अपनी विषय-लालसा को तृप्त करते हैं, वे न केलल अपने अमूल्य स्वस्थ्य का नाश करते हैं नु स्त्री के साथ एक बड़ा अन्याय भो करते हैं।

गर्भाधान सस्कार स्त्रो पुरुष की सहवास के लिए पारस्परिक मति तथा सन्तान को आवश्यकता द्योतक संस्कार है। यह की आवश्यकता नहीं है कि सहवास के लिए स्त्री की सम्मति सहमति कितनी आवश्यक है। स्त्री का शरीर स्वस्थ हो अस्वस्थ उसका मन प्रसन्न हो अथवा विषण्ण, आज के

अधिकांश पति इसकी कोई पर्वाह न करते हुए बिना किसी निश्चय के अपनी जघन्य वासना पूर्ति के लिये स्त्री को क डालते हैं। सन्तान बाहुल्य से दुःखी निर्धन पुरुष, सन्तान की इच्छा न रहते हुए भी, गर्भाधान में प्रवृत्त हो जाते हैं और क्षणिक आनन्द का तात्पर्य होता है एक और बालक,—जि कि परिवार में कोई आवश्यकता नहीं थी। अन्त में गरीबी भूख से तंग आकर या तो बालक ही तड़फ २ कर मर जाते हैं विलासान्ध पति महाशय को आत्महत्या का द्वार खटखटा पड़ता है। यह सब क्यों होता है? गर्भाधान प्रथा के लुप्त हो के कारण ही तो!

वर्तमान काल की अनेक भ्रूण हत्याओं और गर्भ निरोध औषधियों के अन्धाधुन्ध प्रचार का कारण क्या इस संस्कार लुप्त हो जाना ही नहीं है? यदि आज समाज में इस संस्कार पूर्वक ही गर्भाधान का प्रचार हो, तो—न तो बेकारी के समय अनायास ही जनसंख्या के बढ़ने की शिकायत रहे और न पुरु की स्वेच्छाचारिता पूर्ण प्रवृत्ति से त्रस्त तथा पददलित नारि के आन्दोलन का सवाल,—जो आज पुरुषों के समान अधिका प्राप्त करने के लिये नारियों द्वारा चलाया जा रहा है।

पर्वादिकों में सहवास निषेध——

सनातनधर्मियों के समस्त क्रिया कलाप किसी मुहूर्त में हो हैं। मुहूर्त का तात्पर्य है—सर्वथा उपयुक्त काल। दूसरे शब्दों एक ऐसा समय--जो उस कार्य के लिये वैज्ञानिक दृष्टि से बिलकु पूरा उतरे। इस उपयुवतता का निर्धारण साधारण मानवों की बुद्धि से नहीं किन्तु प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित ज्योति शास्त्र (Astronomy) के द्वारा होता है।

स्त्री समागम के लिये शास्त्रों की आज्ञा है कि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥

अर्थात्—पुरुष को चाहिये पर्वादि रहित ऋतुकाल में धर्म-कामना पूर्वक स्वकीय भार्या से ही समागम करे। संस्कार विषयक मुहूर्त का विचार करते हुए पारस्कर गृह्य-सूत्रकार ने लिखा है—

“ऋतुकाले रजोदर्शने सञ्जाते चतुर्थादि समदिने ज्योतिःशास्त्रोक्ते पुण्याहे, कन्यार्थी पञ्चमादिविषमदिने गर्भाधानं कुर्यात्। (पारस्कर गृह्य सूत्र)

अर्थात्—ऋतुकाल में, रजोदर्शनोपरान्त ऋतुस्नाता हो चुकने र चौथे दिन, अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या पूर्णिमा संक्रान्ति आदि ंकाल रहित ज्योतिष शास्त्रोक्त शुभ समय में गर्भाधान करे।

गृह्य-सूत्र के उपरोक्त विधान में ‘ज्योतिषशास्त्रानुमोदित शुभ समय’ का निर्देश करके मनुष्य की अबाध विलास प्रवृति को संकु-चित एवं सीमित करके जहां मानव स्वास्थ्य को समुन्नत करने का यत्न किया गया है वहां वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भाधान के लिये पयुक्त समय का संकेत भी किया गया है। इस विषय में मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने बड़ा सूक्ष्म और गहन विचार किया है। मनु लिखते हैं—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्र्यः षोडशः स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
(मनु० ३, ४६-७८)

अर्थात्–स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल रजोदर्शन के दिन आगे १६ रात्रियें कहा गया है। इनमें प्रथम चार रात्रियें अती निन्दित हैं, इनमें सहवास तो क्या रजस्वला के हाथ का स्प किया जल भी न पीना चाहिये। पहली चार रात्रियों के अतिरि क्त ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्री भी निन्दित है। शेष दश रात्रि प्रशस्त हैं। पुत्राभिलाषी पुरुष युग्म–अर्थात् छठी आठवीं दश बारहवीं चौदहवीं और सोलहवीं रात्रि में स्त्री समागम करे इ प्रकार कन्याभिलाषी पुरुष अयुग्म–पांचवीं सातवीं आदि श रात्रियों में गर्भाधान करे।

मनु के उपरोक्त उद्धरण से यह भलीभांति ज्ञात हो जाता है कि आज से हजारों लाखों वर्ष पूर्व जबकि शेष संसार अर्ध स अवस्था में नितान्त पशु तुल्य जीवन बिता रहा था तब भारती महर्षि अपनी सुदीर्घ तपश्चर्या तथा विज्ञानमय विश्लेषण द्वा मानव जीवन की प्रत्येक दिशा में परीक्षण (Experiment करने में लगे हुए थे। जीवन का कोई कोना ऐसा नहीं है ज उनकी पैनी दृष्टि का प्रसार न हुआ हो। मानव जीवन के स पहलुओं पर उन्होंने विशद विचार किया है और तब जो सिद्धा और नियम उन्होंने स्थिर किये हैं वे कितना महत्व रखते हैं–य कहने की आवश्यकता नहीं।

अमुक रात्रि में सहवास निषेध क्यों ?

भौतिक विलास परिपूर्ण आधुनिक जगत् में उपरोक्त प्रश्न

न्वयं नहीं है। Eat drink and be marry या 'यावज्जी-सुखं जीवेत्' जैसी सुन्दर एवं सरल फिलासफी के मुकाबले मनु उपरोक्त विधि निषेधमय नियम, ज्वरार्त प्राणी के सामने से वे की तश्तरी हटाकर कड़वी कुनैन देने के समान हैं और तब का, ऐसा करने वाले वैद्य और घरवालों के प्रति क्षोभ, हिष्णुता, समर्थ होने पर आज्ञोल्लंघन भी स्वाभाविक ही है। यही दशा हमारे सामने है। लोग कहते हैं—धर्म ने मनुष्य सब प्रकार की स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे कैदी बना ता है। उसके सभी क्रियाकलापों पर सदा धर्म का अंकुश भू-रहता है। खाना पीना सोना उठना बैठना--गर्ज यह कि सभी ों में अदृष्ट प्रेत की छाया की भांति धर्म उसके पीछे लगा रहता । आखिर यह सब क्यों ? धर्म मनुष्य के लिये है न कि मनुष्य के लिये। इस प्रकार के विचार आज सर्वत्र सुनने को मिलते । ऐसी दशा में उपरोक्त प्रश्न का समाधान आवश्यक ही नहीं आवश्यक है।

पर्वादिकों में सहवास निषेध के रहस्य को समझने से पूर्व निम्न लिखित पांच बातों को बुद्धि में उतार लेना चाहिये, ससे प्रतिपाद्य समाधान को अनायास ही समझ सकें।

(१) भूगोल विद्या (Physical Zography) के अनुसार चन्द्रमा जलीय संघातों का, जिन्हें रस कहा जाता है—एक बड़ा पिण्ड है।

(२) हमारे शरीर में विद्यमान खून तथा प्राण — जो कि जीवन के मुख्य हेतु हैं—जल के विकार से बने हुए द्रव्य हैं, जैसा उपनिषद् के निम्न उद्धरण से भली भांति ज्ञात हो सकता है।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः।

(छान्दोग्य उप॰ ६।५)

अर्थात्—मनुष्य जिस जल को पीता है उसका सब से स्थूल भाग मूत्र बन जाता है, उससे सूक्ष्म भाग रक्त बन जाता है और सब से सूक्ष्म भाग प्राण होता है।

(३) चन्द्रमा की उत्पत्ति विराट् के मुख से हुई है जैसा कि

चन्द्रमा मनसो जातः (यजुः)

—इस मन्त्र से भली भांति जाना जा सकता है।

(४) भूमण्डल की उन सभी वस्तुओं पर जिन में जलीय अंश रहता है चन्द्रमा का प्रभाव पड़ता है, उदाहरणतया सभी औषधि वनस्पति आदि चन्द्रमा से ही रस को प्राप्त कर बढ़ती हैं इसीलिये चन्द्रमा को औषधीश कहा जाता है।

(५) पार्थिव जल संघात—समुद्र पर चन्द्रमा का यह प्रभाव अमावस्या तथा पौर्णिमा के दिन दीर्घ ज्वार (Spring tide) के रूप में तथा अष्टमी को लघु ज्वार (Neap tide) जल के उतार के रूप में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

उपरोक्त तथ्यों को हृदयंगम कर लेने के बाद यह बात सरलता से समझ में आ सकती है, कि शास्त्रकारों ने पर्व आदि काल में गर्भाधान तथा स्त्री समागम का निषेध क्यों किया है। पर्व से शास्त्र का अभिप्राय अमावस्या पौर्णिमा चतुर्दशी अष्टमी तथा संक्रान्ति से है। इनमें पूर्णिमा अमा, तथा दोनों चतुर्दशी इन चार तिथियों में चन्द्रमा सूर्य और पृथ्वी एक ही सीधी रेखा में होते हैं। चन्द्रमा और सूर्य के एक ही रेखा में होने से दोनों का सम्मिलित

अन्य दिनों से अधिक होता है और उसका प्रभाव भू- के अन्य पदार्थों की भांति मानव शरीर पर भी विशेष पड़ता है।

हम पीछे बतला चुके हैं कि हमारे प्राण तथा रक्त, जलीय से उत्पन्न पदार्थ हैं, इसलिये इन पर उसका विशेष प्रभाव है। इन तिथियों में शरीरस्थ रस, रक्त, प्राण, क्षुब्ध तथा होते हैं, उनकी गति स्वाभाविक स्तर से विशेष बढ़ी हुई है। इसी प्रकार शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी को चूंकि और चन्द्र एक दूसरे के साथ समकोण बनाने की में होते हैं, फलतः उनकी आकर्षण शक्तियों का संघर्षण हो जाता है और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति भाविक स्तर से निम्न हो जाती है; इसलिये इन तिथियों पार्थिव द्रव्यों पर चन्द्रमा का प्रभाव स्वाभाविक अनुपात से होता है। इसका प्रभाव मानव शरीर पर भी पड़ता है उस शरीरान्तर्वर्ती रस रक्त तथा प्राणों में ह्रास एवं निर्बलता जाती है। पूर्णिमा आदि पर रसों में अतिशय वृद्धि और टमी पर ह्रास को देखने के लिये बम्बई या कलकत्ता में द्र के किनारे चले जाइये। इन समयों में प्राकृतिक प्रेरणा से उठने वाले दीर्घ ज्वार और लघु ज्वार को देखकर आप ही इसकी सचाई के कायल हो जायेंगे।

तात्पर्य यह है कि इन पर्व तिथियों पर मनुष्य के प्राण तथा क्तादि स्वाभाविक दशा में नहीं होते। चन्द्र-प्रभाव-जन्य व एवं उतार से वे विषम अवस्थापन्न होते हैं, अतः ऐसे में समागम करने से जहां स्वास्थ्य वैषम्य से प्राण शक्ति हो सकती है, वहां समागम से गर्भ स्थिति हो जानेपर भावी शु के शरीर में रक्त विकार तथा प्राणशक्ति दौर्बल्यादि दोषोंका

रह जाना आश्चर्यकारक न होगा। वह बालक सम्पूर्ण आयु फो
फुन्सी दाद आदि रक्त विकारों से तथा प्राण शक्ति की दुर्बलता
होनेवाली हृदय दौर्बल्य (Heart weakness) आदि व्याधियों
भोगता हुआ अपने माता पिता के अज्ञान का फल चखता रहेगा

इसके अतिरिक्त क्योंकि चन्द्रमा विराट् भगवान् के मन से उत्पन्न हुआ है और समस्त चराचर के प्राणियों के मन समूह का एकमात्र अधिष्ठाता है, इसलिये उसके वृद्धि क्षय के तारतम्य से मनुष्यों के मन की अवस्था भी बदलती रहती है। पर्वकाल में रस रक्त तथा प्राण के साथ २ मनुष्य का मन भी स्वाभाविक दशा में नहीं होता। ऐसे समय में गर्भाधान से उत्पन्न होने वाले बालक अतिशय क्रूर, साहसी चारित्र्यहीन चञ्चल या अत्यन्त कायर डरपोक और धैर्यहीन होते हैं। इसलिये ऐसे समय में कभी स्त्री प्रसंग न करना चाहिये।

अमुक रात्रि में अमुक संतान क्यों ?

श्री मनु जी महाराज ने पुत्राभिलाषी पुरुषों के लिये युग्म अर्थात्—छठी आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं रात्रि में, एवं कन्याभिलाषी पुरुषों के लिये अयुग्म–अर्थात् पांचवीं सातवीं पन्द्रहवीं आदि रात्रियों में स्त्री प्रसंग का विधान किया हैं। प्रसंगानुसार इस विषय पर भी विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

सन्तति शास्त्र (Sexual physiology) के सभी विद्वान्–चाहे वे पौरस्त्य हों या पाश्चात्य, इस विषय में कम से कम एक मत हैं, कि वीर्य के आधिक्य से पुत्र और रज की प्रबलता से कन्या उत्पन्न होती है जैसा कि मनुजी महाराज ने कहा है—

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः (मनु ३)

अर्थात्– पुरुष के अधिक वीर्यवान् होने से पुत्र और स्त्री के आर्तवाधिक होने से कन्या का जन्म होता है । किन्तु कब स्त्री के शरीर में रज की प्रबलता होती है और कब वह ह्रास को प्राप्त हुआ रहता है यही एक रहस्य है जिसे केवल क्रांतद्रष्टा भारतीय महर्षियों ने ही जाना और तदनुकूल विविध नियमों की रचना की। विदेशों में इस सम्बन्ध में जो नए सिरे से खोजें हुई और हो रही हैं वे यद्यपि नितान्त अधूरी हैं किन्तु उनसे प्रतीत होता है कि एक दिन ऐसा अवश्य आएगा कि वे लोग, तपोधन ऋषियों द्वारा बतलाये गये प्रजनन शास्त्र के तथ्यों को अन्तिम रूप में स्वीकार करने का वाध्य होंगे ।

इन तथाकथित परीक्षणों अनुसंधानों और उन पर निर्धारित अधकचरे सिद्धान्तों के वर्णन जब हम इन लेखकों को पुस्तकों में पढ़ते हैं तो हमें बड़ी हंसी आती है और साथ ही दया भी। उस समय बलात् मुख से निकल पड़ता है—काश ? ये लोग संस्कृत साहित्य से परिचित होते ········ !

हमें पिछले दिनों अमेरिका के सुप्रसिद्ध सन्तति शास्त्र वेत्ता डा० ट्राल (Dr. Tral) की इस विषय की एक पुस्तक देखने का अवसर प्राप्त हुआ । आपने उसमें एक स्थान पर लिखा है "१५-वर्ष पूर्व मैंने यह नियम प्रकाशित किया था, जिसका परीक्षण हजारों व्यक्तियों पर किया जा चुका है। वह नियम है– 'रज वन्द हो जाने के पश्चात् एक प्रकार का आर्तव स्त्री के गर्भाशय से निकलना आरम्भ होता है और दश बारह दिन तक जारी रहता है। यदि बन्द हो जाने के दिन से लेकर दश या बारह दिनों के मध्य समागम न किया जया तो गर्भस्थिति कभी न होगा।

पाठकों से यह बात छिपी न होगी कि डा० ट्राल जिसे द्वारा १५ वर्ष पूर्व निश्चित किया नया आविष्कार कह वह सहस्रों वर्ष पूर्व मनु आदि स्मृतिकारों द्वारा निर्दिष्ट काल' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार आगे 'क्या इच्छानुसार लड़का या लड़की उत्पन्न की जा सक विषय पर विचार करते हुएँ आप लिखते हैं—

'हमारी वर्तमान विद्या सम्बन्धी दशा हमें एक मार्ग है और वह यह है कि हम ऋतुकाल के अनुसार चलें। यत से साक्षियें इस बात को मिलती हैं, कि पहिले दिनों में धान से लड़कियां और पिछले दिनों समागम से लड़के होते

उपरोक्त उद्धरण का सीधा सा तात्पर्य यही हो सक कि डा० ट्राल या उन सरीखे दूसरे वैज्ञानिकों के मतानुसार म्भ के आठ दश दिनों में स्त्री के शरीर में रज की प्रबलता है और बाद के दिनों में वह ह्रास को प्राप्त हो जाता है तब पुरुष वीर्य के प्रबल होने के कारण लड़के उत्पन्न हुआ ते हैं। हमें इन अपूर्ण सिद्धान्तों की आलोचना करके पाठ समय खोने या कागज काले करने को आवश्यकता नहीं होती ! वे पहिले दिन कौनसे होते हैं और पिछले कौन से वे वैज्ञानिक ही जानें या साक्षी देनेवाले। इस उद्धरण से इतना ही प्रयोजन है, कि वे लोग भी कम से कम इस बात सहमत हैं कि कुछ समय—वह चाहे पहिला हो या बाद क अन्य कोई—ऐसा अवश्य होता है जब स्त्री शरीर में आर्त वेग अधिक बढ़ा हुआ होता है और कभी वह घटा हुआ।

अब मनु विहित युग्म-अयुग्म-रात्रि-व्यवस्था पर विचार जिये उपरोक्त व्यवस्था का तात्पर्य यही है कि रजोदर्शन

हो जाने के अनन्तर स्त्री के शरीर में आर्तव वृद्धि के साथ एक प्रकार की तरंग उठती है जिसे 'मदन तरंग' भी कहा जाता है। इसका वेग एक दिन अधिक होता है और एक दिन कम; जैसे—एकान्तर ज्वर ठीक एक दिन बीच में छोड़ कर अगले दिन होता है यह प्रायः सभी भुक्त भोगी जानते हैं। ठीक इसी प्रकार यह 'मदन तरंग' समझनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि पांचवीं रात्रि से आगे एक एक रात्रि को छोड़ कर-पांचवीं, सातवीं, नवीं-आदि अयुग्म रात्रि में इसका वेग बढ़ा हुआ होता है जिससे स्त्री के शरीर में बल अधिक होता है और तब—'युग्मासु पुत्राः जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु' मनु के इस नियम के अनुसार उपरोक्त रात्रियों में समागम से कन्या जन्म होता है और इससे भिन्न समय में स्त्री का आर्तव निर्बल होता है इससे उनमें सयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखन काल में ली गई ५० साक्षियों में ४० ऐसी थीं जिनमें उपरोक्त सिद्धान्त की यथार्थता का समर्थन पाया गया है। ५ व्यक्ति ऐसे थे जो गर्भ स्थिति का यथार्थ समय न जान सके, २ गर्भस्राव के कारण पूर्ण समर्थक न हो सके और ३ मामले इसके विरुद्ध मिले। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय महर्षियों द्वारा आविष्कृत 'युग्मायुग्मरात्रि-व्यवस्था' नितान्त पूर्ण और शारीरिक विज्ञान की भित्ति पर अवलम्बित है। इसके पालन से आज भी उतना ही लाभ उठाया जा सकता है जितना कि पूर्वकाल में लोग उठाते थे। इसके साथ ही हमें यह आशा करनी चाहिये कि अवश्य ही पाश्चात्य विज्ञान अपनी अन्तिम खोजों के बाद इसी परिणाम पर पहुँचने को बाध्य होगा।

रजस्वला अशुचि क्यों ?

गर्भाधान संस्कार में प्रसंगवश रजस्वला स्त्रीके विषय में कु लिखना अप्रासंगिक न होगा। रजस्वला स्त्री के विषय में शास कारों ने लिखा है:—

एवं शुद्धशुक्रार्तवा ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यंगनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनात्यायासा परिहरेत।

अर्थः—इस प्रकार रजस्वला स्त्री को चाहिये, कि ऋतुका के पहिले दिन से ही ब्रह्मचारिणी होकर रहे। दिन में शयन न करे, आंखों में काजल न डाले, रोवे नहीं। स्नान करना, चन्दन अथवा उबटन लगाना, तेल मालिश, नख छेदन, दौड़ना, हंसना, अधि बोलना, भयंकर शब्द सुनना, केश संस्कार, उग्र वायु सेवन तथा परिश्रम, इन सब से यथाशक्ति दूर रहे।

उपरोक्त शास्त्रीय वचन के अनुसार भारतवर्ष में अभी तक यही परिपाटी प्रचलित रही है। इन दिनों में स्त्रियों को अस्पृश्य समझा जाता था। उन्हें सभी घरेलू कार्यों से अवकाश रहता था यहांतक कि उनका छुआ जल भी लोग नहीं पीते थे, किन्तु समय के साथ आज अवस्था बदल रही है। प्रत्यक्षवादी जनसमुदाय आज इस वैज्ञानिक बन्धन को दूर फेंक कर अपने मनमाने आचार विचारों का पालन करना चाहता है। विशेषतया शहरों में निवास करने वाली आजकल की बाबू पार्टी—जिनको ९ बजे ही दफ्तरों की हाजरी बजानी होती है—इस वैज्ञानिक व्यवस्था को

असुविधा मूलक होने कारण मानने के लिए] कतई तैयार नहीं है।

इसलिए इस स्तम्भ में हम इस सम्बंध को क्यों पर ही प्रकाश डालना चाहते हैं, जिससे पथभ्रष्ट होती हुई निरोह जनता का मार्ग प्रदर्शन हो सके।

'रजोदर्शन क्या है' ?—इस विषय का विवेचन करते हुए पीयूषपाणि भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है:—

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥

(सुश्रुत शारीरस्थान अ० ३ वाक्य ८)

अर्थात्—स्त्री के शरीर में वह आर्तव (एक प्रकार का रुधिर) एक मास पर्यन्त इकट्ठा होता रहता है। उसका रंग काला पड़ जाता है। तब वह धमनियों द्वारा स्त्री की योनि के मुख पर आकर बाहर निकलना प्रारम्भ होता है इसीको रजोदर्शन कहते हैं।

रजोदर्शन की उपरोक्त व्याख्या से हमें ज्ञात होता है कि स्त्री के शरीर से निकलने वाला वह रक्त काला तथा दुर्गन्धयुक्त होता है। अणुवीक्षणयन्त्र द्वारा देखने पर उसमें कई प्रकार के विषैले कीटाणु पाये गए हैं। दुर्गन्धादि दोषयुक्त होने के कारण उसकी अपवित्रता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ही। इसलिए उस अवस्था में जब कि स्त्री के शरीर की धमनियें इस अपवित्र रक्त को बहाकर साफ करने के काम पर लगी हुई हैं और उन्हीं नालियों से गुजर कर शारीरिक रोमों से निकलने वाली ऊष्मा तथा प्रस्वेद के साथ रज कीटाणु भी बाहर आ रहे होते हैं, तब यदि स्त्री द्वारा छुए हुए जलादि में वे संक्रमित हो जाएं तथा मनुष्य के शरीर पर अपना दुष्प्रभाव डाल दें, तो इसमें क्या आश्चर्य? हस्पतालों में हम प्रति

दिन देखते हैं कि डाक्टर अक्सर ड्रेसिंग का कार्य करते
और पश्चात् अपने हाथों तथा नश्तर आदि को—हालांकि वे
में साफ सुथरे होते हैं—साबुन तथा गर्म पानी से अच्छी
साफ करते हैं। आपने कभी सोचा—ऐसा क्यों किया जाता
एक मूर्ख की दृष्टि में तो यह सब, समय साबुन और पानी के
योग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, किन्तु डाक्टर जानता
यदि वह ऐसा न करे तो न जाने वह कितने व्यक्तियों का
का कारण बन जाये। इसी सिद्धान्त को यहां लीजिए और
विचार करें कि उस दुर्गन्ध तथा विषाक्त कीटाणु युक्त
प्रवहण काल में स्त्री द्वारा छुई हुई कोई वस्तु क्यों न हानि
होगी ?

'भारतीय मैडीकल ऐसोसियेशन' नवम्बर १९४९ के
हमें डा० रेड्डी तथा डा० गुप्ता का लेख देखने का अवसर
हुआ है जिसमें बतलाया गया है कि पाश्चात्य डाक्टरों ने भी
स्वला के स्राव में विषेले तत्त्वों का अनुसन्धान किया है।
में डा० सेरिक ने अनुभव किया कि कुछ फूल रजस्वला के
में देते ही मुरझा जाते हैं १९२३ में डा० मिकवर्ग और पाइ
यह खोज निकाली, कि रजस्वला स्त्री का प्रभाव पशुओं पर
पड़ता है, उन्होंने देखा है कि उसके हाथ में दिये हुए मेंढक के
की गति मन्द पाई गई। १९३० में डा० लेनजो भी इसी परि
पर पहुँचे और उन्होंने अनुभव किया कि कुछ काल तक मे
को रजस्वला के हाथ पर बैठा रखने से मेंढक की पाचन
में विकार आगया। डा० पालेण्ड तथा डील का मत है कि
खमीर, रजस्वला स्त्री के हाथों से तैयार कराया जाय तो
ठीक नहीं उतरता। यह सब तो दूर के सूक्ष्म विश्लेषणा
अनुभव हैं। हम इस विषय के कुछ स्थूल अनुभवों का

करते हैं, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति जब कभी चाहे स्वयं करके देख सकता है। रजस्वला स्त्री के स्पर्श का तो कहना क्या यदि अचार पर उसकी छाया तक भी पड़ जाये तो वह बिगड़ जाता है। तुलसी के हरे भरे पौधों को आप रजस्वला द्वारा एक दो बार स्पर्श करवा दीजिये, आप देखेंगे कि वह उसी समय से मुरझाना प्रारम्भ कर देंगे और एक मास के अन्दर २ अवश्य सूख जायेंगे।

इसके अतिरिक्त स्त्री के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उसको सम्पूर्ण कार्यों से अवकाश मिला रहना नितान्त आवश्यक है। वैद्य या डा० जब किसी को विरेचन अर्थात् जुलाब देते हैं तब उसे परिश्रम करने उग्रवायु सेवन तथा स्नानादि से बिलकुल रोक देते हैं। वह पुरुष आराम से बैठा रहता है और शरीर की आभ्यन्तरिक सफाई के इस कार्य को पूरा करता रहता है इसका कारण यह है कि उस समय जब कि शारीरिक प्रकृति शरीर में से मल निकालने के कार्य में लगी हुई है, यदि इस प्रकृति या मनोवृत्ति को किसी अन्य तरफ लगाया गया या जायगा तो मल रुक जावेगा। मानव शरीर में रक्त का दबाव बहुत कुछ मानसिक दशा के ऊपर निर्भर है, क्योंकि हम देखते हैं कि भली भांति खाने पीने पर भी मानसिक चिन्ता के कारण मनुष्य का शरीर निर्बल पड़ता जाता है, और इसके विपरीत खाने पीने के अच्छा न होने पर भी मन को प्रसन्न रखने मात्रसे शरीर स्वस्थ रहता है। अतः किसी अन्य कार्य में मन को लगाने पर रक्त का दबाव उसी तरफ बढ़ेगा और तब उस रक्त में मल का अंश निश्चित ही अवशिष्ट रह जायेगा जो कि आगे चलकर उस अंग में विकार पैदा कर रोग का कारण बन सकता है।

रजोदर्शन भी एक प्रकार से स्त्री के लिए प्रकृतिप्रदत्त विरेचन है। ऐसे समय में उसे पूर्ण विश्राम करते हुए इस कार्य को पूरा

होने देना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो इसका दुष्परिणाम वह जन्म भर भोगेगी, वहां भावी सन्तान को भी विरासत में प्रकार के पुरस्कार सौंपेगी कि सन्तान भी सदा अपनी बुद्धिमत माता के गुणगान करती रहे।

जरा धन्वन्तरि जी के शब्दों में उन चीजों के नमूने तो देखि जो ऐसी माताए—अपने बालकों को सौंपती हैं:—

दिवा स्वपंत्याः स्वापशीलो अंजनादंधो रोदनाद्विकृतदृष्टिः स्नानानुलेपनाद् दुःखशोलस्तैलाभ्यंगात्कुष्ठो, नखकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चंचलो हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः प्रलापी चातिकथनादतिशब्दश्रवणाद् वधिरो अवलेखनात्खलतिः मरुतायासेवनान्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्।

(सुश्रुत शरीरस्थान अध्याय २-५)

अर्थात्—यदि रजस्वला स्त्री दिन के समय सोए, और कदाचित् उसे उस ऋतुकाल में गर्भ रह जाए तो, भावी शिशु बहुत सोने वाला उत्पन्न होगा। काजल लगाने से अन्धा, रोने से विकृतदृष्टि स्नान और अनुलेपन से शारीरिक पीड़ा युक्त, तेल मलने से कोढी, नाखून काटने से बुरे नाखूनों वाला, दौड़ने से चंचल, हंसने से काले दांतों, काले ओष्ठ विकृत जिह्वा तथा तालु वाला, बहुत बोलने से बकवादी, भयङ्कर शब्द सुनने से बहरा, कंघो आदि से बाल संवारने से गंजा, अधिक वायु सेवन से व परिश्रम करने से पागल बालक उत्पन्न होता है। इसलिए रजस्वला स्त्री इन्हें न करे।

कितने शोक को बात है, कि माता पिता पहिले तो इन बातों पर ध्यान नहीं देते। या यों कहिए इनका जानना भी आवश्यक नहीं समझते, किन्तु जब घर में इस प्रकार के बालक का जन्म हो जाता है तब भाग्य को कोसते हैं।

इसके आगे धन्वन्तरी भगवान् ने लिखा है कि—

ततः शुद्धस्नाता चतुर्थे अहन्यहतवाससमलंकृताँ कृत-गलस्वस्तिवचनां भर्तारं दर्शयेत्, कस्य हेतो :—

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमंगना ।
तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥

अर्थ—ऋतुस्नाता स्त्री को चौथे दिन सुन्दर वस्त्र तथा भूषण पहिना कर मंगलाचरण तथा स्वस्तिवाचन पूर्वक कुल-या गुरु, पति का दर्शन करावे। ऐसा क्यों किया जाए ? लिये कि—

ऋतु स्नान के अनन्तर स्त्री जसे पुरुष का प्रथम दर्शन करती सके उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती है।

इसलिए यह आवश्यक है, कि गृहस्थ में प्रवेश करने से पूर्व युवक और नवयुवतियां इन तथ्यों से पूर्णतया परिचित हो और इनका कठोरता से पालन करें । यह तभी हो सकता ब कि पुन: वैदिक संस्कार प्रणाली चलित हो और गर्भा-न संस्कार काल में गृहस्थ स्त्री पुरुषों को इन वस्तुओं का न कराया जावे ।

पुंसवन संस्कार विचार

(क) पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ पुमान-
श्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ।

(ख) पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः। पुमाठंसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमान्नु जायताम्। (साम० मं. ब्रा. १. ४.६.)

अर्थात्—(क) मित्रावरुण नामक दोनों देवता, पुरुष हैं। अश्विनी कुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं और अश्विनी वायु ये दोनों भी पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भ में भी पुरुष का आविर्भाव हुआ है। (ख) अग्नि देवता भी पुरुष हैं और देवराज इन्द्र भी पुरुष हैं। देवताओं का गुरु बृहस्पति भी पुरुष है तेरे भी पुरुषत्वयुक्त पुत्र ही उत्पन्न हो।

पुंसवन संस्कार में पढ़े जाने वाले उपरोक्त सामवेद के मन्त्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है, कि यह संस्कार 'गर्भ से पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए है।

'अथ पुंसवनम्। पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा'—पारस्कर गृह्य सूत्र के इस वचन के अनुसार यह संस्कार उस समय किया जाता है जब कि गर्भ दो मास अथवा तीन मास का हो; दूसरे शब्दों में जब कि गर्भ मांस का एक पिण्ड मात्र हो और उसमें स्त्री पुरुष विभेदक अंगों का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव नहीं हुआ होता। शारीरिक विज्ञान (Physical Scince) के अनुसार तीसरे चौथे महीने के बाद ही गर्भाशय में शिशु के स्त्री पुरुष विभेदक अंगों का बनना प्रारम्भ होता है। इसलिए यह संस्कार इस समय से पूर्व ही किया जाता है।

देखा गया है कि प्रायः सभी देशों में माता पिता, कन्या की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व देते हैं। पुत्र होने पर भांति २ के उत्सव मनाये जाते हैं और सभी व्यक्ति यथाशक्ति दानादि करते हैं। भारतवर्ष में तो—जहां कि पुत्र को—

'पुं'-नरकं ततस्त्रायते इति पुत्रः'

स यास्कोक्त वचन के अनुसार श्राद्धतर्पणादि द्वारा पितरों द्धारक कहा जाता है—सभी माता पिता पुत्र उत्पन्न हो जाने अपने जीवन को सफल समझते हैं। घरमें अनेक कन्याओं पर भी पुत्र के अभाव में स्त्रियें पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक के व्रत अनुष्ठान कराती हैं मनौती मानती हैं और तरह २ षधि सेवन करती हैं। इसलिए समय पर इस संस्कार का करके प्राचीन महर्षियों ने गृहस्थ नर नारियों की स्वाभा- पुत्रेषणा को पूरा करने का प्रयत्न किया है।

पुंसवन के लिए दो अव्यर्थ उपचार

स संस्कार के मुख्यतया दो पहलू हैं। (१) भावनामय (२) रिक चिकित्सा सम्मत। पति पत्नी दोनों, प्रेम पूर्वक पितरों सन्नता के लिए वृद्धिश्राद्ध माङ्गलिक यज्ञादि करते हैं। इस द गर्भिणी स्त्री को बटांकुर गुडची ब्राह्मी आदि औषधियों स पिलाया जाता है।

वृद्धि श्राद्ध तथा मांगलिक होम की क्रियायें सर्वथा मनोवि- न (Psycolosy) पर आधारित हैं, उनके द्वारा गर्भिणी के हृदय में एक विशेष भावना को उत्पन्न किया जाता है कार्यों में पढ़े जाने वाले मन्त्रों से उसके हृदय में यह भावना जाती है कि मेरे गर्भ से पुत्र का ही जन्म होगा। भावना दृढ़ता का परिणाम यह होता है, कि यदि उस गर्भ में शरीर का निर्माण भी होना हो तो भी उस स्त्री की प्रबल ना (Willing Power) के बल से वह बदल जाएगा।

भावना— दृढ़ विश्वास या श्रद्धा—में कितना बल है इसके

विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। पीछे भावनावाद प्रकरण हम इस पर काफी लिख चुके हैं। विगत महायुद्ध में पराजित हो हुए राष्ट्रों ने सब स्थानों पर विजय का प्रतीक 'V' लगा क और उससे जनता की गिरती हुई भावनाओं को पुनर्जीवित क किस प्रकार युद्ध का पासा ही बदल दिया था।—यह किसी छिपा हुआ नहीं है। भगवान् कृष्ण ने–'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' क कर मानव जीवन में श्रद्धा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है इसलिए भावनावाद पर आधारित वृद्धियाग तथा मन्त्रपाठादि पुत्राभिलाषिणी स्त्री के लिये कितने उपयुक्त होंगे यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

संस्कार का दूसरा कृत्य है—औषधि पान। वनस्पति विज्ञान के अनुसार बटांकुर-व्रण के लिये हितकारी, सन्धिकारक, रक्त पित्त नाशक तथा स्त्रियों के योनि दोष को दूर करने वाला है इसके सेवन से योनि संबन्धी दोषों का नाश होकर गर्भ को पर्याप्त शक्ति मिलती है। कुछ ग्रन्थों में इन औषधियों में 'सोमलता' का भी नाम मिलता है। सोमलता बल तथा वीर्य के लिए आश्चर्यकारी किन्तु दुर्लभ महौषधि है। प्राचीन समय में यज्ञादि मांगलिक कार्यों में इसका उपयोग होता रहा है। सोमरस देवताओं का पवित्र एवं ओजप्रद पेय था। इसका उपयोग पुत्र प्राप्ति के लिये किये जाने वाले यज्ञों में विशेष रूप से होता था, जिसका फल यह होता था कि यज्ञावशिष्ट प्रसाद के रूप में इस दिव्य औषधि का सेवन कर पति पत्नी स्वस्थ सुन्दर एवं पराक्रमी सन्तान उत्पन्न करते थे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि इस संस्कार को विधिवत् सम्पन्न किया जाय तो कोई सन्देह नहीं, कि पति पत्नी अपनी इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं।

स्वा० दयानन्द तथा तत्परवर्त्ती कुछ विचारकों ने वेदमंत्रों की शक्ति में तथा इन औषधियों में सन्देह करते हुए इस संस्कार को 'पुरुषत्व' अर्थात् वीर्यलाभ के लिए किया जाने वाला पुरुष का संस्कार माना है जब कि श्री मनु महाराज ने—

'गर्भाद्भवेच्च पुंसूतेः पुँस्त्वस्य प्रतिपादनम्'

अर्थात्— 'गर्भ के अन्दर कन्या शरीर न बन कर पुत्र शरीर ही बने, यही 'पुंसवन' संस्कारका फल है'—कहकर स्पष्ट रूप से इसे गर्भस्थ जीव का संस्कार ही स्वीकार किया है। "वैदिक धर्मी होने का दम भरने पर भी मन्त्र-शक्ति पर इतना अविश्वास कलियुगी ऋषित्व का प्रत्यक्ष नमूना है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार

येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय ।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि ॥
(ऋग्वेद)

अर्थात्–जिस प्रकार प्रजापति ने देवमाता अदिति का सीमन्तोन्नयन किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणी का सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्र पौत्रादिकों को मैं जरावस्था पर्यन्त दीर्घजीवी करता हूं।

पुंसवन संस्कार की भांति यह संस्कार भी बालक के गर्भस्थ होते हुए हो किया जाता है। आश्वलायन-गृह्य-सूत्रकार ने इसका धान चौथे महाने में और पारस्कर-गृह्य-सूत्रकार ने छठे या आठवें मास में किया है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र से यह भी जाना जाता है, कि यह संस्कार शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा के किसी पुरुषवाची नक्षत्र पर स्थित होने पर किया जाना चाहिये। यथा:—

चतुर्थगर्भमासे सीमन्तोन्नयनम् । आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात् ।

(आश्व० अ० १ कंडिका १४ सूत्र १२)

भगवान् मनु ने इस संस्कार का फल गर्भाधान संस्कार के तुल्य ही निर्देश किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गर्भाधान का फल, क्षेत्र अर्थात् स्त्री की शुद्धि पूर्वक गर्भ गत शिशु के दोषों को दूर कर उसमें उन शुभ गुणों के बीजों को बोना है जो आगे विकसित होकर उस बालक को सर्वांश में 'मानव' बना सकें उसी प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार भी क्षेत्र की पुनः शुद्धि तथा गर्भगत बालक को समुचित रक्षा एवं उपयुक्त शिक्षा दीक्षा के लिए किया जाता है। यह वह समय होता है जब गर्भ एक साधारण मांस पिंड की अवस्था से हाथ, पांव, आंख, नाक, कान तथा हृदय वाले व्यक्ति के रूप में परिणत हो रहा होता है। विशेषरूपेण मानव शरीर के प्रधान तथा प्रमुख अंग हृदय के प्रकट हो जाने के कारण जहां गर्भस्थ शिशु में चैतन्य शक्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है, वहां उसकी माता में भी एक विलक्षण शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा सबसे बड़ा परिवर्तन यह होता है कि अब वह दौहृदा अर्थात् दो हृदय वाली हो जाती है। एक गर्भस्थ बालक का हृदय और दूसरा अपना, क्योंकि हृदय चैतन्याधिष्ठान है इसलिये चेतनता के प्रादुर्भाव के साथ गर्भस्थ जीव इन्द्रियों के अर्थ में रुचि करने लगता है और वह इच्छाएं माता के हृदय पर प्रतिविम्बित होकर प्रकट होने लगती हैं।

"चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः अव्यक्ततरो भवति। र्भहृदयअव्यक्तभावाच्चेतनधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मा-त्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु रोति, द्विहृदयाञ्च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते"

(सुश्रुत शारीर स्थान अ० ३)

स्त्री के 'दौहृदिनी' बन जाने के कारण ही उसके हृदय में उठने वाली अभिलाषायें 'दौहृद' कहलाती हैं। जिन्हें हर सम्भव उपाय से पूरा करना पुरुष का कर्तव्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो गर्भस्थ बालक की अतृप्त अभिलाषाएं सम्पूर्ण जीवन अतृप्त ही बनी रहती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह समय जच्चा एवं बच्चा दोनों के लिऐ ही बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। क्रान्तद्रष्टा महर्षियों ने इन्हीं सब बातों का अनुभव करके जहां क्षेत्र स्त्रीका पुनः संस्कार करने की आवश्यकता अनुभव की वहां गर्भस्थ बालक के हृदय पर विशद भावनाओं को सदा के लिए अङ्कित कर देने के उद्देश्य से भी इस संस्कार का विधान किया।

इस संस्कार में पढ़े जाने वाले मन्त्र, पुष्कल-घृत-मिश्रित यज्ञावशिष्ट प्रसाद भोजन, पति द्वारा उदुम्बरादि वनस्पति से गर्भिणी के सीमन्त (मांग) का पृथक्करणादि क्रियायें तथा वृद्धा स्त्रियों द्वारा दिया जाने वाला—'वीरसूस्त्वं भव' 'तू वीर माता बन'—इत्यादि आशीर्वाद एक ऐसे अलौकिक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं कि जिसकी स्मृति स्त्री के हृदय हटल पर चिरकाल के लिए अङ्कित हो जाती है। इस वैदिक अनुष्ठान से और स्त्रियों के बार बार कहने से उसके हृदय को एक नई प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त होती है, वह ऐसे उपायों में प्रवृत्त हो सकती है जिससे वह वीरमाता बने।

शास्त्रकारों का यह अभिप्राय भी इसमें अन्तर्निहित है कि इसके लिये उसे रामायण महाभातादि सद्ग्रन्थों का अनुशील करना चाहिये। वीर पुरुषों के चरित्र पढ़ने सुनने चाहियें तथ अपने को वीर माता बनाने का सर्वविध प्रयत्न करना चाहिये

सीमन्त की इति-कर्तव्यता का प्रभाव

माता के इस प्रकार के सद्विचारों का बालक के निर्मल स्वच्छ एवं अछूते हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। उसका नवोदित हृदय, नई मानसिक शक्ति और नवोन्मेषिणी बुद्धि मातृ हृदय से शुभ विचारों का सम्बल पाकर कितनी सरलता से विकसित हो सकेगी और दर्पण के समान निर्मल तथा स्वच्छ हृदय पर पड़ी हुई विचार रेखायें उसके सम्पू जीवन में कैसी अक्षुण्ण बनी रहेंगी—इसे सभी व्यक्ति भलीभांि समझ सकते हैं। हमारे प्राचीन इतिहास में इस प्रकार की घटनाओं की कमी नहीं जिनमें माता की गर्भावस्था की भावना के सर्वथा अनुरूप ही बालकों ने जन्म लेकर इस संस्कार की वैज्ञानिक लक्ष्यभूत भावना को सिद्ध कर दिया है। महाभारत में अभिमन्यु सम्बन्धी ऐसी ही एक रोचक कथा का उल्लेख मिलता है

+ + + +

महाभारत का युद्ध अपने पूर्ण यौवन पर था। दोनों ओर के सहस्रों लाखों सैनिक प्रतिदिन नर मेध को उस भीषण ज्वाला में अपनी आहुति दे देते थे। चारों ओर विनाश का महाताण्डव था। भाई भाई के हृदय में वर्षों से संचित द्वेष और दर्प मानों ज्वालामुखी बनकर एक दूसरे को निगलने के लिये तत्पर हों। ऐ समय में दुर्योधन के अत्यधिक आग्रह पर द्रोणाचार्य ने 'चक्रव्यूह

की स्थापना की । उस दिन भाग्यवशात् अर्जुन अपने शिविर में न थे। भगवान् कृष्ण के साथ वे संसप्तकों के साथ युद्ध करने गए हुए थे। जब पाण्डवों को चक्रव्यूह का समाचार मिला तो वे बड़े हैरान हुए। अर्जुन के अतिरिक्त पांचों पाण्डवों में कोई ऐसा न था जो चक्रव्यूह का भेदन कर सके।

अब क्या होगा ? क्या चक्रव्यूह पाण्डवों की पराजय का कारण बन जायेगा ? यह विचार करते २ युधिष्ठिर एक गहन निराशा में डूब गये। आज पाण्डवों के जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित था और तभी सहसा १६ वर्ष के कुमार अभिमन्यु ने वहां पहुँच कर निराशा की अन्धकारमयी रात्रि को आशा के अरुणोदय में परिवर्तित कर दिया।

'महाराज ! पिताजी नहीं हैं तो क्या ? उनके अंश से उत्पन्न उसका बालक अभिमन्यु तो है । मैं करूंगा चक्रव्यूह भेदन ! अपनी जान पर खेल कर भी मैं पाण्डव कुल की लाज बचाऊंगा' अभिमन्यु ने कहा।

'तुम अभिमन्यु, तुम ! नहीं बेटा, ऐसा कैसे हो सकता है । चक्रव्यूह को अभेद्य रक्षा पंक्ति में तुम्हें झोंक कर हम अर्जुन को क्या मुंह दिखायेंगे, और फिर यह साधारण युद्ध नहीं वत्स, यह चक्रव्यूह है। हममें से कोई भी तो इसका वेध करना नहीं जानता।'

'तभी तो कहता हूँ महाराज ! आज मुझे व्यूहभेदन को आज्ञा दीजिए, मैंने गर्भावस्था में इस व्यूह का ज्ञान पिता जी से प्राप्त किया था। वे एक बार माताजी को तबियत बहलाने के लिये उन के सामने इसका वर्णन कर रहे थे अभी भेदन करने की रीति का वर्णन ही किया था कि माताजी को नींद आगई और पिता जी ने तो इस प्रसंग को वहीं छोड़ दिया, व्यूह भेद कर वापिस

लौट आने की रीति न बता सके। तात ! इसलिये मैं वापिस चाहे न लौट सकूं। किन्तु व्यूह भेदन तो निःसन्देह कर सकूंगा —अभिमन्यु ने कहा।

और हुआ भी यही। भारतीय इतिहास के उज्वल र रणबांकुरे अभिमन्यु ने महाभारत युद्ध में जिस अपूर्व वीरता त शौर्य का प्रदर्शन किया है उसे भारत का प्रत्येक नरनारी जान है। हमारा अभिप्राय महाभारत की कथा सुनाने का नहीं है। ह तो केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि किस प्रकार अनेक ऐतिह सिक साक्षियें सिद्ध कर रहीं हैं, कि गर्भस्थ जीव के हृदय अच्छे बुरे संस्कार डाले जा सकते हैं। और तब शास्त्रकारों इस अभिप्राय के लिए जिन संस्कारों का विधान किया वे विज्ञान पर आधारित नहीं ? अस्तु

प्रस्तुत सीमन्तोन्नयन संस्कार में पर्याप्त घी मिली हुई खिच जो कि यज्ञावशिष्ट होती है—खिलाने का विधान है। गोभि गृह्यसूत्र में लिखा है—

किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् तं सा स्व
भुञ्जीत वीरसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मंगल्याभि
र्वाग्भिरुपासीरन् (गोभिल गृ० सू० २।७। ९-१२—)

क्या देखती हो—यह पूछने पर स्त्री कहे—सन्तान देखती हूं उस खिचड़ी को वह स्वयं खाये, और इस शुभ संस्कार के अ एकत्रित स्त्रियें उसे यह आशीर्वाद दें—'तू वीर सन्तान उत्प करनेवाली हो, तू जीवित सन्तान उत्पन्न करने वाली हो चिरकाल तक सौभाग्यवती बनी रहे।'

यह विधान केवल कर्मकाण्ड का क्रिया-कलाप मात्र नहीं

इस क्रिया के द्वारा पति पत्नी का ध्यान एक विशेष आवश्यकता की ओर आकृष्ट किया जाता है। यह संस्कार जिस काल में किया जाता है, उस समय गर्भवती स्त्री को घृतादि पौष्टिक पदार्थों की बड़ी आवश्यकता होती है। अपने भोजन द्वारा इस समय एक ओर तो वह अपने शरीर का पोषण करती है दूसरी ओर उसे गर्भगत बालक का पोषण करना पड़ता है। इसलिये उसे ऐसा भोजन मिलना चाहिये जो बलवर्धक एवं पुष्टिकारक हो जिस में अधिक से अधिक विटामिन हों, साथ ही सुपाच्य हो। खिचड़ी इसी प्रकार का सुस्वादु भोज्य पदार्थ है। इसमें मिश्रित वस्तुओं में निम्नलिखित पौष्टिक तत्त्व निम्न प्रतिशत पाए गए हैं।

	प्रोटीन	चिकनाई	मिठास	नमक	पानी	ताकत ४० तोले में
मूंग की दाल	२३	३	६०	३	११	१५६५
चांवल	६½	½	६१	१	११	१२४०
घी	०	१००	०	०	०	३६०५

इस प्रकार हम देखते हैं, कि खिचड़ी एक सुपाच्य किन्तु पौष्टिक तत्त्वों से परिपूर्ण वैज्ञानिक भोजन है। इसीलिये डाक्टर रोगी को पथ्य के तौर पर खिचड़ी का ही निर्देश किया करते हैं। स्त्री को चाहिये इसके बाद से इसी प्रकार के बलवर्द्धक और सुपाच्य भोजन करने का नियम बनाले जिससे उसका शरीर भी स्वस्थ रहे तथा भावि शिशु भी स्वस्थ एवं हृष्ट पुष्ट उत्पन्न हो। घृतादि के उचित मात्रा में सेवन से कब्जी आदि की शिकायत भी नहीं रहती है और प्रसव होने में विशेष कष्ट नहीं होता।

संस्कार प्रथा के लुप्त हो जाने के कारण आज गृहस्थों में स्त्री के सगर्भा हो जाने पर भी, चूंकि ऐसा कोई अवसर नहीं आता जिसमें कि पुरुष को स्त्री तथा भावि शिशु के स्वास्थ्य के लिये पौष्टिक भोजन की आवश्यकता अनुभव कराई जाय, इसलिये

अधिकांश बालक इतने निर्बल उत्पन्न होते हैं, कि उनके शरीर में बाल्यावस्था में प्रथम अनुभूत होनेवाली गर्मी सर्दी को सहने की तथा तत्सम्बन्धी रोगों के कीटाणुओं से लड़ने की शक्ति ही नहीं होती फलतः वे अकाल में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

जात कर्म संस्कार विचार

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु
जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि (ऋग् ५ । ७८ । ९)

अर्थात्–हे परमात्मन्, दश मास तक माता के उदर में सोने वाला सुकुमार जीव प्राण धारण करता हुआ अपनी प्राण शक्ति सम्पन्न अर्थात् स्वस्थ माता से सुख से बाहर निकले।

उपर्युक्त संस्कार का तात्पर्य उसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। जातकर्म का अर्थ है वे क्रियायें जो बच्चे के उत्पन्न होने पर की जाती हैं। यह संस्कार आज अपने स्थूल रूप में तो सर्वत्र प्रचलित दिखलाई देता है किन्तु इसका भावना संबन्धी या यों कहिये आत्मा संबन्धी अंश सर्वथा लुप्त हो चुका है। भारतीय ऋषियों ने न केवल इस संस्कार में किन्तु सभी संस्कारों —नहीं नहीं मनुष्य के समस्त दैनिक कार्यकलाप में भी, मनुष्य को एक अस्थि मांस निर्मित शरीर के साथ उसे आत्मवान् के रूप में देखा है। उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि केवल बाह्य शरीर पर ही, नहीं रुकी किन्तु उसके अन्तर में विद्यमान-'अंगुष्ठमात्रं हृदि शयानम्, —आदि श्रुतिवाक्यों से बोधित प्रत्यक् चैतन्य आत्मा पर भी पड़ी। उन्होंने देखा पूर्ण मानव निर्माण के लिए शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति की परमावश्यकता है इसलिए उन्होंने दोनों ओर ध्यान दिया।

जातकर्म संस्कार की क्रियायें गृह स्वच्छता, बालक का स्नान, भि छेदन, दूध पिलाना आदि क्रियायें इस समय भी सभी घरों बालक के जन्मोपरान्त की जाती हैं तथा दाई नर्स आदि हिला चिकित्सकों की सहायता से बड़ी अच्छी तरह की जाती है नसे जच्चा और बच्चा का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है, न्तु उस सद्योजात शिशु के हृदय पर, उसके कोमल मन मस्तिष्क, णी, आत्मा पर प्रभाव डालने के लिये आधुनिक डाक्टर वैद्यों या व्यवस्था की है ? क्या शारीरिक संस्कार की तरह उसके नसिक तथा आध्यात्मिक संस्कार की आवश्यकता नहीं ?

जातकर्म संस्कार की यही अपनी विशेषता है। इसमें बालक ो स्नान कराकर मधु स्वर्ण मिश्रित औषधि प्रदान, नालछेदन था मातृ स्तन पान कराकर जहां उसके शरीर को जीवन मार्ग ी ओर बढ़ने के लिए सहारा दिया जाता है वहां उसके कान के स गंभीरता पूर्वक—

अग्निरायुष्मान्स वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुष्मन्तं करोमि ।

अर्थात्—जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियों द्वारा आयुष्मान् है उसी प्रकार उनके अनुग्रह से मैं तुम्हें दीर्घायु युक्त करता हूँ' इत्यादि ८ मन्त्रों को जपकर तत्तत् देवताओं से उसके आयुष्य अभ्यर्थना करके बालकके हृदय में दीर्घ जोवन को भावना का ढ़ किया जाता है। इसी प्रकार शिशु का शरोर स्पर्श करते हुए ाई जाने वाली—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमश्रुतं भव। आत्मा
पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।

अर्थात्—'हे बालक तू पत्थर की भांति दृढ़ तथा कुल्हाड़े भांति शत्रु विनाशक हो। स्वर्ण के समान स्वच्छ तथा तेज बनें। तू पुत्र नाम से मेरा ही स्वरूप है, तू सौ वर्ष तक जी' —आदि पावन ऋचायें बालक के निर्मल हृदय पर मानवो दृढ़ता, पराक्रम, तेज, आदि शुभ गुणों की सदा के लिए अमि छाप छोड़ देती हैं। इससे उसकी आत्मा और मन को अ पोषण प्राप्त होता है !

प्रसवोत्पीड़ित जननी जब वेद के—'हे वीर स्त्री ! तू इहा तूने वीर पुत्र को उत्पन्न करके हमें वीर पुत्र वाला बनाया है, इ पुत्र से तू भी वीर माता बन,
—आदि धैर्यप्रद शब्दों को सुनती है तो उसके हृदय में साह का संचार हो जाता है। वह कष्ट में घबराती नहीं और उस पी को वीरमाता बनने के चावमें सहर्ष झेलती है। इस प्रकार संस्कार बालक के शारीरिक और मानसिक दोनों पक्षोंका अभि वर्द्धन परक कहा जा सकता है।

माता या धाय—किसका दूध?

विदेशा शिक्षा तथा वहां की सभ्यता के प्रभाव से आज भा तीय स्त्रियों में जन्म के तुरन्त बाद पुत्र को किसी धाय (पिलाने वाली) को सौंप देने या उसे ऊपरी दूध—जिसके लिए अधिकतर विलायती डब्बों का दूध पसन्द किया जाता है— पालनका बुरा फैशन दिनानुदिन बढ़ रहा है। कुछ मनचले पाश्‍ त्य डाक्टरों ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किए थे, कि स्त्रियों

स्वास्थ्यनाशका कारण उनका बच्चोंको दूध पिलाना है,इससे उनके शरीरमें निर्बलता आती है और वे जल्दी वृद्ध हो जाती हैं आदि २।

इन शब्दों का विदेशी शिक्षा दीक्षित जनों पर जादू का सा असर हुआ और आज शिक्षित नर नारी अपनी अबाध विलास प्रवृत्ति को पूरा करने के लिए इसी नुस्खे का प्रयोग कर रहे हैं। जन साधारण की कौन कहें, आर्य्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द सरीखे कथित समाजोद्धारक भी इस विषय में बहक गए हैं और केवल ६ दिन तक ही मातृ दुग्ध पान की व्यवस्था का समर्थन कर के विलायती डाक्टरों की आवाजको और भी बुलन्द*कर दिया है यह नितान्त शोक की बात है।

वास्तव में अत्यावश्यक स्थिति के बिना, बच्चे को धाय से दूध पिलवाना बहुत हानिकारक है। इसीलिए इस संस्कार में विशेष रूप से, दोनों स्तनों को अच्छी तरह धोकर अमुक २ मन्त्र बोलते हुए बालकके मुखमें देने का विधान है। यह मंत्रोच्चारण अदृष्ट साधक होने के साथ २ माता को इस बात का उपदेश करता है, कि वह बालकको अपने उस स्तनका ही पान करावे जोकि मधु– अर्थात् प्रेम भावना का स्रोत है, तथा जो बालक के लिये पुष्टि तथा बलदायक है। माता का यह दूध उसके वात्सल्य प्रेम से मिश्रित होता है। वह बालक में उस वंश के उत्तम और शुभ विचारों को उत्पन्न करता है। ब्राह्मण वंशोद्भव स्त्री के दूध से जो बुद्धि और ज्ञान बालक में उत्पन्न होता है, क्षत्राणी के दूध से उसकी रगों में जो शूरवीरता भर जाती है वह धायके या डब्बों के दूध से नहीं। इतिहास साक्षी है, कि किस प्रकार वीर क्षत्राणी की कोख से उत्पन्न हुए महाराज जसवन्तसिंह के हृदय में ऐन वक्त पर कायरता

---

* टिप्पणी—यह प्रकरण हमारे 'चार शास्त्रार्थ' में द्रष्टव्य है।

की अप्रत्याशित भावनाओं ने काबू पा लिया था और वे प्राणों का मोह लेकर युद्ध भूमि से भाग आये थे । कायरता के इस क्षणिक उफानके मूलमें बचपन में रोते हुए ३ वर्ष के अबोध जसवन्त को चुप कराने के लिए दासी द्वारा पिलाया हुआ दूध ही तो था जो उनके जीवन के लिए अपरिमार्जनीय कलङ्क का कारण बना । इन सब बातों को देखकर ही अकबर इलाहाबादी ने कहा था कि—

तिफ्ल में बू आए क्या, मां बाप के इतबार कीं ।
दूध तो डब्बों का है तालीम सब सरकार की ॥

तात्पर्य यह है, कि इस संस्कार के मूल भूत उद्देश्यों में मातृ दुग्ध पान एक प्रमुख वस्तु है और यदि हम बालक को अपने कुल की विशुद्धता, महानता, उदात्तता और अन्य किसी विशेषता का सच्चा उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं तो हमें उसे माता का ही दूध पिलाना चाहिए ।

मधु घृत क्यों चटायें ?

बालक के उत्पन्न होने पर उसकी शारीरिक मशीनरी को चालू करने के लिए तत्तत् स्थानों पर जमे हुए कफ मल आदि दोषों को दूर करना आवश्यक होता है, इसके लिए चतुर दाई अंगुली में रुई लपेट कर उसके नाक कान मुख आदि को तो स्वच्छ कर देती है किन्तु प्रसव यन्त्रणा के कारण बालक की ऊर्ध्वोमुखी रक्त गति तथा तज्जन्य कफकी शान्तिके लिए बालक को अन्य उपचार की आवश्यकता पड़ती है, इसके अतिरिक्त बालक की आंतों में एक प्रकारका काला २ सा मल संचित रहता है, जिसके न निकलने से बालकको अनेक प्रकारकी पीड़ायें हुआ करती हैं । इन सब बातोंके

उपचार के लिए आधुनिक चिकित्सक शहद मिला हुआ रेड़ी का तेल देने की व्यवस्था किया करते हैं किन्तु प्रयोगशालाओं में हाल ही में हुए परीक्षणों ने सिद्ध कर दिया है, कि इसके लिए शास्त्र-वर्णित सुवर्णघृष्ट मधु मिश्रित घी, रेडी के तेल की अपेक्षा अधिक हितप्रद होता है। सुवर्ण से घिसे हुए इस मधु मिश्रित घी को चटाने से बालक की उपरोक्त सभी शिकायतें दूर हो जाती हैं और उस की शारीरिक मशीनरी ठीक प्रकार से कार्य करने लग जाती है।

सुवर्ण के लिए आयुर्वेद में लिखा है कि वह वायु को उपशमन करनेवाला है, मूत्रको साफ करता है और रक्त की उर्ध्वगति को शान्त कर देता है। इसी प्रकार घृत, शरीर में तापवृद्धि करता है बलवर्द्धक है और विरेचक भी है। मधुके खाने से मुख में लार-जो कि पाचन शक्ति के लिए अत्यावश्यक पदार्थ है—का सञ्चार होता है, पित्त कोष सजग होता है और कफ शान्त हो जाता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जातकर्म संस्कार की उपयोगिता और विशेषता गर्भाधान संस्कार से कम नहीं है। प्रथम यदि 'मानव' सन्तति निर्माण के पवित्र उद्देश्य से किया हुआ बीज वपन है, तो दूसरा उठते हुए कोमल पौधे को समुचित अवलंबन द्वारा उन्नत करना। इन दोनोंको ही सावधानी से करना चाहिए।

नामकरण संस्कार विचार

किसी पदार्थ के निर्णय में उसका नाम भी गुण अथवा अव-गुण बताने का एक साधन माना जाता है। प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि किसीभी पदार्थ-विशेष या व्यक्ति-विशेष का ऐसा ही नामकरण हो जो कि अधिक से अधिक सीमा तक उसके गुण अवगुणों को प्रकट करने की शक्ति रखता है। नाम रूपात्मक

इस जगत् में–जहां कि नाम के द्वारा ही सम्पूर्ण व्यवहार चलता है--सभी बुद्धिमान् व्यक्ति, ग्रन्थ लेखक, कवि और वैज्ञानिक अपनी वस्तु का नाम चुनने में बहुत सोच विचार किया करते हैं और चाहा करते हैं, कि उनका सम्भावित एवं अभिलषित अर्थ उनके निर्वाचित (कम से कम अक्षरों के) नाम से अभिव्यक्त हो सके।

शायद विज्ञ पाठकों को यह बताने की आवश्यकता न हो कि हमारे पूर्वजों ने इस नामकरण शैली की प्रथा को ऐसी सुव्यवस्थित बनाने की चेष्टा की थी कि जिसे ध्यान पूर्वक देखने पर चकित सा रहना पड़ता है। रामायण महाभारत आदि सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों के चरित्र नायक, प्रतिनायक तथा अन्यान्य पात्रों तक के नाम ऐसे विलक्षण हैं, कि जो उस २ व्यक्ति के चरित्र की विशेषता को सहसा प्रकट कर देते हैं।

'राम' जहां मर्यादाओं के आदर्श पालक होने के कारण प्रत्येक प्राणी के चित्त में रमण करनें वाले थे, वहां 'रावण' भी अपने अन्वर्थ गुण में कम न था, अर्थात्—प्राणी मात्र का सर्वोपरि रुलाने वाला था। युधिष्ठिर को महाभारत के युद्ध में स्थिर होना पड़ा और उसने अपनी इस स्थिरता को अनेक धर्म संकटों के अवसर में भी हाथ से न जाने दिया। दुर्योधन भी अपने नाम के अनुरूप योधन (योद्धा) तो अवश्य था परन्तु दुर-दुष्ट अन्याय युक्त युद्ध ही उसे प्रिय था। भीम के समान भयंकर और अर्जुन के समान अपने गुणों से दूसरों को अपना बनाने वाला वीर दूसरा मिलना कठिन है। द्रौपदी जैसी प्रातः स्मरणीया अबला को भरी सभा में नग्न करने में ही जिसके शासन की शान बरकरार रहती हो उससे बढ़कर 'दुश्शासन' और कौन हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन समय में आर्य जाति में बहुत कुछ समझ कर नामकरण करने की रीति प्रचलित थी अब भले हजारों विद्यासागर विद्यालंकार वेदप्रकाश नाम वाले वज्र- मिलते हों और बहादुरसिंह नामधारी चूहों की खड़खड़ाहट चोर की सेंध समझकर लिहाफ से मुंह ढाप लेते हों, परन्तु चीन समय में 'यथा नाम तथा गुणः' सिद्धान्त पर बहुत बल जाता था और ज्योतिष शास्त्र के पारंगत पुरोहित, वैज्ञानिक से नक्षत्र तिथि योग करण आदि के सम्मेलन से भावी गुण गुणों की कल्पना कर उसके अनुसार ही नामकरण किया ते थे उनकी यह कल्पना कितनी सच्ची और पूरी उतरती थी बात पिछले उदाहरणों से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है।

नाम अथवा शब्द का प्रभाव बिजली से भी अधिक चमत्कारी । प्रायः देखा जाता है जिस व्यक्ति को लोग जिस नाम से पुका- लग जाते हैं उसमें उसी प्रकार के गुण अवगुण का सन्निवेश जाता है, लोगों द्वारा बार २ 'आलसी' कह कर पुकारा गया क्ति जैसे कुछ दिनों बाद सचमुच आलसी बन जाता है उसी कार शूरवीर के नाम से ख्याति प्राप्त व्यक्ति भी अपने नाम की ाज रखने के लिए समर भूमि में अपने प्राणों की आहुति देने में ी नहीं हिचकिचाता। अपनी नामध्वनि श्रवण के साथ ही उस म से सम्बद्ध यदि कोई प्राचीन चरित्र है तो निश्चय ही वह ष्टतया आंखों के सामने झलकने लग जाता है और मानव हृदय को एक तीव्र प्रेरणा प्रदान करता है। सती मदालसा ने-'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि' को प्रेममयी लोरी, या यों कहिये बालक को बार २ विशुद्ध ब्रह्म है' कह २ कर आत्मज्ञानी बना दिया था।

नामकरण संस्कार क्यों?

उपरोक्त भूमिका से नामकरण की आवश्यकता तथा अ नाम रखकर कैसे हम मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों का सुधार कर स हैं यह तो स्पष्ट हो गया किन्तु प्रश्न हो सकता है कि प्रत्येक बा का नाम तो स्वभावतया उसके माता पिता रख हो देते हैं इ लिए नामकरण संस्कार जैसे उत्सव की आवश्यकता क्यों?

इसका उत्तर कुछ कठिन नहीं है, इस संस्कार का उद्दे वर्णन करते हुए मनु जी महाराज ने कहा है कि नामकरण दो प्रयोजन हैं, (१) आयु और तेज को वृद्धि, (२) सांसारि व्यवहार में नाम का उपयोग, यथा—

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ।

इन दोनों प्रयोजनों के लिए सचमुच एक उत्सव के रूप में ही नामकरण की आवश्यकता है, अपने स्वजन सम्बन्धी गुरुजन ए मित्रों की उपस्थिति में इस संस्कार का विधान है। इसका अ प्राय यही है कि उन सबकी उपस्थिति में नाम रखने से अधिक अधिक लोगों में नाम प्रसिद्ध हो जायेगा और लोग उसे जल्दी ह जान जायेंगे। वह समस्त एकत्रित सज्जनों की शुभ कामना और आशीर्वादों का पात्र बनेगा जो उसके दीर्घायुष्य में सहाय होंगी। अधिक से अधिक जनता में नाम की ख्याति तथा प्रिय 'तेजस्विता' का लक्षण है इसलिए मनुजी ने नामकरण संस्का से आयु और तेज की वृद्धि बतलाई है।

संस्कारका दूसरा उद्देश्य व्यवहार सिद्धि कहा गया है। सांसा रिक व्यवहार सञ्चालनार्थ प्रत्येक बालक का कुछ न कुछ ना तो पड़ेगा ही। यदि माताने विधि पूर्वक कोई नामकरण न किय

अब भी लोग या तो जन्म वार की कल्पना से मंगलू, बुद्धू, वीरू आदि, या जन्मतिथि के अनुसार ग्यारसा, पुन्नू, दौजीराम आदि और नहीं तो साधारणरूपेण मुन्ना काका आदि कुछ न कुछ रख ही लेंगे परन्तु इससे न तो किसी एक नाम का निश्चय होगा और न बालक को कोई निश्चित नाम ही मिल सकेगा. कोई उसे बुद्धू कहेगा तो कोई कूड़ामल। इन सब झंझटों से बचने के लिए क्या यह अधिक उपयुक्त न होगा कि एक निश्चित समय पर बालक का यथाविधि नामकरण संस्कार किया जाय।

नाम कैसा हो ?

साधारण व्यक्ति इस बात का महत्त्व नहीं समझते कि बालक का नाम किस प्रकार का रखना चाहिए। उनका ख्याल है कि माता पिता आदि गृह जनों को जो रुचिकर मालूम हो वही नाम रख लेना चाहिये। वास्तव में यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह कार्य कम महत्त्व का नहीं है। हम बतला चुके हैं कि 'नाम' मनुष्य के भविष्य निर्माण में एक मुख्य भाग रखता है। अर्थ गाम्भीर्य के साथ २ नाम चुनने में ध्वनि सौकर्य का पूरा २ विचार रखना आवश्यक है। कोई भी नाम कितने ही सुन्दर अर्थ का वाचक हो, यदि उसके उच्चारण में बोलने वालों को विशेष परिश्रम करना पड़ता हो या उनकी ध्वनि क्लिष्ट होने के कारण कठिनता से बोली जा सकती हो तो नाम लोकप्रिय नहीं हो सकता। इसलिए शास्त्रकारों ने इस विषय में कुछ नियम निश्चित किये हैं जिनका वर्णन सर्वथा ध्वनि विज्ञान (Phonetics) और मनोविज्ञान (Psychology) की भित्ति पर किया गया है। यथा—

द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरमन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। अयुजाक्षरमाकारान्तꣳस्त्रियै तद्धितम्। शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य।
(पार० गृ० का० १ क० १७ सू० २४)

अर्थात्— पिता को चाहिये कि बालक का नाम दो या चार अक्षरों वाला रखे उसके आदि में घोष—ग घ, ज झ ड ढ, द ध न, ब भ म, य र ल व, ह, इनमें से कोई, अक्षर होना चाहिये। मध्य में अन्तस्थ य र ल व, इनमें से कोई, अन्त में दीर्घ स्वर संयुक्त कृदन्त नाम रक्खे, तद्धित नहीं। स्त्रियों के नाम तीन अक्षरों के होने चाहिएं और आकारान्त हो, यदि तद्धितान्त भी हों तो कोई हानि नहीं।

उपर्युक्त नियम कितने वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त हैं यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, इन नियमों में प्रधानतया चार बातों पर बल दिया गया है।

(१) नाम के आदि में ऐसे अक्षर रक्खे जायं जिनका उच्चारण साधारण व्यक्ति भी सरलता पूर्वक कर सके। भाषा विज्ञान के अनुसार घोष इसी प्रकार की ध्वनिएं हैं जो अत्यन्त सरलता पूर्वक मुख से निकलती हैं। जन्म के अनन्तर ९० प्रतिशत बालक घोष वर्णयुक्त शब्दों के उच्चारण से ही बोलना सीखते हैं। यदि ध्यान पूर्वक पशुओं की बोलियों का अध्ययन करें तो आपको यह जान कर आश्चर्य होगा, कि कुछ अपवादों को छोड़ कर सभी पशु पक्षी घोषवदादि ध्वनि में ही बोलते हैं। बकरी की मैं मैं, बिल्ली की म्यांऊ २, गीदड़ की ह्वां ह्वां, कुत्ते की भौं भौं, गाय भैंस की भां भां, आदि सभी पशुओं की बोलियों को देखिये, वे सब घोष

र से ही प्रारम्भ हुई हैं। यों तो 'भारोपीय परिवार' की सभी पाओं में किन्तु विशेषकर भारतीय भाषाओं में तो अधिकांश घोष ध्वनियों से ही प्रारम्भ होते हैं। इसलिए उच्चारण की मता की दृष्टि से 'घोषवदादि' नियम कितना युक्तियुक्त है स्वय समझा जा सकता है।

(:) नामों को रखने में इस बात का पूर्ण विचार रखा जाय नाम कृदन्त हो तद्धित नहीं। कृदन्त का तात्पर्य है, धातुओं से ार लगाकर बने हुए शब्द जैसे—आनन्द, चन्द्र, प्रकाश, राम दि शब्द नदि, चदि, कासृ, रमु आदि धातुओं (Root) से त होकर ही बने हुए हैं, इसलिए ऐसे नाम रक्खे जाएं जिनके में उपरोक्त शब्द आवें। तद्धित का तात्पर्य है—नाम अर्थात् वाचक शब्दों से विकृत होकर बने हुए शब्द, जैसे पाण्डव, ुदेव, भगवान्, दयालु, कृपालु, आदि शब्द;—पाण्डु, वसुदेव, दया, कृपा आदि शब्दों से तद्धित प्रत्यय लगाकर बने हुए हैं। तद्धित नामों को रखने का निषेध इसलिए है कि त नाम सुस्पष्टार्थ नहीं होते और उसके प्रत्यय भी क्लिष्ट होते प्राय: तद्धित प्रत्ययों का उपयोग माता पिता के नाम को ान के नाम द्वारा प्रकट करने के लिए किया जाता है।

समझ लीजिए पाण्डु नामक एक व्यक्ति है, उसके एक लड़का सका नाम पाण्डव रख दिया गया, इसके बाद दूसरा, तीसरा, , यहां तक कि पांचवां भी पुत्र उत्पन्न हुआ। पाण्डव (पाण्डु) इस शब्द के अर्थ के अनुसार तो पांचों ही पाण्डव हुए। हम किसी एक के विषय में कोई बात कहना चाहें तो हमारा प्रकार का नाम सर्वथा भ्रमोत्पादक ही होगा और उस विशेष का बोध कराने के लिए हमें अन्य किसी

विशेषण या नाम का प्रयोग करना पड़ेगा, इन सब बातों को देखकर ही तद्धित नामों का निषेध किया गया है।

(३) स्त्री के नाम में पुरुष की अपेक्षा ध्वनि में कोमलता और स्वर वैचित्र्य लाने के लिए भेद रखा गया है। इसके साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि कन्याओं के नाम ऐसे नहीं रखे जाने चाहिएं जो नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्पादि भयकर वस्तु वाचक हों, क्योंकि इस प्रकार के नाम रखने से तदनुसार प्रकृति का परिवर्तन हो जाना कुछ कठिन नहीं।

(४) जन्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन अनिवार्य चार सामाजिक श्रेणियों के प्रदर्शन के लिए-शर्मा वर्मा गुप्त तथा दास यह चार उपाधियां अपने नाम के साथ लगानी चाहियें। इन उपाधियों के लगाने का तात्पर्य था अमुक अमुक कर्म में नैपुण्य बोध। आज लोग कर्मणा वर्णव्यवस्थाका राग आलाप रहे हैं और वेदादि शास्त्रों में इस नये आविष्कार का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वेदाभिमानी होने का दावा करने वाले आर्य समाजी भी उन ही की हां में हां मिलाकर किस प्रकार स्वयं वैदिक सिद्धान्तों की हत्या कर रहे हैं यह किसी से छिपा नहीं है। गृह्य सूत्र के उपरोक्त उद्धरण से भलो भांति जाना जा सकता है कि वेदादि सभी शास्त्र तथा युक्तिवाद भी जन्मना वर्णव्यवस्था के ही समर्थक हैं। आर्य समाज प्रवर्तक स्वामो दयानन्द ने अपनी संस्कार विधि में पारस्करगृह्यसूत्र के उपरोक्त उद्धरण को बिना किसी ननु नच के प्रमाण रूप में स्वीकार किया है। किन्तु क्या इस उद्धरण में नाम करण संस्कार के समय हो ब्राह्मण माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न बालक को 'शर्मा' क्षत्रिय सन्तान को 'वर्मा', वैश्य कुलोत्पन्न को 'गुप्त' आदि विभिन्न शब्दों से सम्बोधित करने को आज्ञा नहीं दी गई है।

क्या उस सद्योजात १० दिन के शिशु के किसी कर्म को देखकर उसे शर्मा वर्मा-आदि उपाधि से विभूषित किया जाता है ? वस्तुत: ऐसा नहीं है। इन उपाधियों का तात्पय केवल यह है कि उसके नाम के साथ जुड़े हुए इन शब्दों को देखकर प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सके कि उसे किस कर्म में कुल परम्परागत एवं जन्म से ही नैपुण्य प्राप्त है।

नामकरण कब ?

यह संस्कार वालक के जन्म के अनन्तर दश रात्रि व्यतीत होने पर करना चाहिए जैसा कि—

दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति (पार० गृ० सूत्र)

—इस सूत्र द्वारा गृह्य सूत्र में बताया गया है। गोभिल गृह्यसूत्रकार ने इस विषय में तीन विकल्प रक्खे हैं, यथा—

जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम्। (गो० गृ० सूत्र प्र० २)

अर्थात्—जन्म से ११वें दिन १००वें दिन या एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर नामकरण संस्कार करे।

दश रात्रि छोड़कर ग्यारहवें दिन के विषय में तो किसी का मतभेद नहीं है। दश रात्रि छोड़ने का अभिप्राय यह है कि सूतिका गृह में जितने लड़के लड़की मरते हैं उनमें से लगभग १० प्रतिशत पहिली दश रात्रियों में ही मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के मतानुसार सद्यः प्रसूता स्त्रीके शरीर से दश दिन तक रक्त का प्रवाह चलता रहने से बड़ी निर्बलता रहती है। दश दिन बाद वह उठने योग्य हो जाती है। क्योंकि इस सस्कार में माताकी उपस्थिति भी आवश्यक है इसलिए यह दश दिन बाद किया जाता है।

गोभिल गृह्य सूत्रकार ने जो विकल्प रक्खे हैं उनका उपयो तब होता है जब स्त्री बड़ी निर्बल हो और दश दिन बाद तक व विस्तर से उठ न सके तब लगभग सवा तीन मास बाद नामकर किया जाय। यदि पिता आदि विदेश में हों और पीछे बाल का जन्म हो तो उनके आने के समय का ख्याल करते हुए व भर की अवधि दी गई है।

निष्क्रमण संस्कार विचार

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ, शं ते
सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे। शिवा अभिक्षरन्त्वापो
दिव्या पयस्वतीः। (अ॰ ८।२।१४)

अर्थात्—हे बालक! तेरे निष्क्रमण काल में द्युलोक और पृथ्वी लोक कल्याणकारी सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी प्रकाश करे, तेरे हृदय में स्वच्छ वायु का संचार हो गंगा यमुनादि दिव्य सरिताएं तेरे लिए निर्मल और स्वादु जल का प्रवहण करें।

प्रार्थना एवं मनोज्ञ भावों से परिपूर्ण उपरोक्त मन्त्र सृष्टि में निहित जीवन के उन तत्त्वों की ओर सङ्केत कर रहा है जिनके सम्बल से मनुष्य मनुष्य बनता है। इस मन्त्र का महत्त्व उस ती चार मास के बालक के लिए उस समय चाहे कुछ न हो किन्तु जिन के जीवन की सभी आशाएं सभी आकांक्षाएं और अभिलाषाएं उस नन्हे से बालक पर केन्द्रित हैं—उन माता पिताओं के लिए ईश्वर के इन अमोघ वरदानों का कुछ कम महत्त्व नहीं है।

इस प्रार्थनात्मक मन्त्र में सार रूप से उन सब वस्तुओं का निर्देश कर दिया गया है जो मानव जीवन के लिए परमावश्यक हैं। दुर्भाग्यसे संस्कृत भाषा भारतीय जनताकी भाषा से इतनी दूर हो गई है कि साधारण जनता इन वैदिक मन्त्रोंमें वर्णित अत्युपयोगी विषय को भी नहीं समझ सकती और हरएक काम के आरम्भ में मन्त्र पढ़ने को पाखंडों का ढकोसला समझा जाता है, किन्तु समय था जब यही मन्त्र बीमार के लिए बताये गए डाक्टर के नुस्खे से कम महत्त्व न रखते थे। लोगोंका दैनिकजीवन इतना व्यस्त हो चुका है कि उनको न इन बातों को जाननेकी फुर्सत है न आवश्यकता। छोटी २ तङ्ग कोठरियोंमें जहां न सूर्य की धूप, न प्रकाश, स्वच्छ वायु का नाम नहीं, विशुद्ध जल भी जहां बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है—अधिकांश मध्य निम्नवर्ग के लोग अपना जीवन बिताने को बाध्य होते हैं और अन्त में तपेदिक या ऐसे ही अन्य रोगों का शिकार बनकर न केवल स्वयं कष्ट भोगते हैं किन्तु अपनी भावी सन्तान को भी विरासत में उन रोगों के कीटाणु सौंप जाते हैं।

इस वैदिक मन्त्रमें बतलाया गया है कि बालक ऐसे स्थान पर रहे जहां खुला आकाश हो, सूर्य का प्रकाश एवं धूप हो, शुद्धवायु एवं स्वच्छ जल मिल सकता हो। आज निष्क्रमण संस्कार में इन बातों पर कौन ध्यान देता है, ध्यान तब दिया जाता है जब बीमार होने पर डाक्टर की जेब गरम करदी जाती है और वह कहता है—इसे खुली हवा में रखो, पानी छानकर पीने को दो, धूप में लेटाओ आदि २।

निष्क्रमण संस्कार में की जानेवाली सभी क्रियाओंका तात्पर्य बालकके स्वास्थ्यको समुन्नत करना है। यह संस्कार चौथे मास

में किया जाता है जब कि बालक की ज्ञान व कर्मेन्द्रियां सशक्त और वायु धूप आदि को सहन करने योग्य हो जाती हैं। सूत्रकारों का अभिप्राय इस संस्कार से यह था कि उस दिन से बालक को प्रति दिन थोड़ा २ टहलाया जाय, उसे सूर्य स्नान कराया जाए जिससे उसके शरीर में सर्दी गर्मी को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो और वह दृढ तथा निरोग बन सके ।

इस संस्कार के रूढ़िगत नहीं, किन्तु उपरोक्त मुख्य उद्देश्य पर जितना अमल विदेशों में होता है उतना भारत में नहीं। जब हम अंग्रेज माताओं को छोटे २ बालकों को गाड़ियों में लिए विशुद्ध वायु में टहलाते देखते हैं तो —'शं वातो वातु ते हृदे' की साकार व्याख्या कानों में गूंजने लगती है ।

इस संस्कार की मुख्य क्रियाओं—सूर्यप्रदर्शन देवदर्शन एवं रात्रिमें चन्द्र दर्शन का अभिप्राय, जगत्प्राण प्रेरक सूर्य एवं मनाधिष्ठातृ चन्द्रमा से जीवन शक्ति की प्रार्थना के साथ २ बालक के हृदय में प्राकृतिक पदार्थों के प्रति स्नेह उत्पन्न करना है । तथा माता पिता को भी एक प्रकार की शिक्षा है कि वे बालक को घर में घोटकर न रक्खें किन्तु उसे उन्मुक्त नभ के नीचे खुली वायु में श्वास लेने दें।

अन्न प्राशन संस्कार विचार

शिवो ते स्तां व्रीहियवावबला सावदो मधौ।
एतौ यक्ष्मं विबाधेते, एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥
(अथर्व० ८। २। १८)

अर्थ—हे बालक, जौ और चावल तुम्हारे लिए बलदायक तथा

कारक हों, क्योंकि यह दानों वस्तुएं सभी प्रकार के यक्ष्मा-क—नहीं होने देते तथा (देवान्न होनेके कारण) मनुष्य को से मुक्त करने वाले हैं

वेद के उपरोक्त मन्त्र में अन्नप्राशन संस्कार की महिमा पर डाला गया है। यह संस्कार उस समय किया जाता है जब बालक छः सात महीनेका हो जाता है और उसकी पाचनशक्ति ग्य हो जाती है कि वह सुगमता से अन्न पचा सके। यह या प्रायः ६ महीने के बाद प्रारम्भ हो जाती है। इस समय क के दांत निकलने आरम्भ होते हैं। इस कार्य के सुगमता होनेके लिए शरीर में क्षार—जोकि स्वास्थ्यके लिए उपयोगी है—की आवश्यकता उत्पन्न होतीहै, अगर उस आवश्यकता द्धिमान् माता पिता, क्षार अर्थात् लवण युक्त अन्नादि द्वारा न करें तो बालक उसकी कमी मिट्टी से—जिसमें कि क्षार मात्रा पर्याप्त होती है—पूर्ण करने लगते हैं इसलिए मातापिता इस ओर पहिले ही ध्यान देना चाहिये।

अन्नप्राशन संस्कार इस बात का चिन्ह है कि अब से बच्चे क्रमशः थोड़ा २ अन्न खिलाना आरम्भ कर दिया जाय और पान की मात्रा इसी प्रकार क्रमशः घटाई जाय।

यह संस्कार हमें यह भी बतलाता है कि मनुष्यका स्वाभाविक न अन्न है मांस नहीं। आज का मानव इस तथ्य को भूलकर भक्ष्य के नियम को तिलाञ्जलि दे सर्वभक्षी बन गया है, का परिणाम स्पष्टतः आंखोंके सामने है। व्रीहियवादि सात्विक खाने से उत्पन्न होने वाले पवित्रभाव आज संसार में कहां है? स्वार्थपरता, वैमनस्य और पारस्परिक घृणा—जिनके ण कि आये दिन विश्व युद्ध का खतरा आज के सभ्य संसार

के सामने छाया रहता है—इसी तामस भोजन से उत्पन्न दु
त्तियों का परिणाम है। आज जगह २ डाक्टरों हकीमोंकी दु
की वृद्धि का कारण यही मांसाहार है। तपेदिक और तत्सम
अवान्तर रोग इसी प्रतिषिद्ध आहार विहार से उत्पन्न होते

पिछलेदिनों 'मांसाहारसे होनेवाले भयङ्कर दर्द' नामक पु
में मांसाहारके विषयमें विदेशी विद्वानोंकी कुछ सम्मतियें प्रका
हुई थीं जिनको देखनेसे विदित होता है कि संसारके अधिकांश
रोग मांसाहारसे ही होते हैं। नासूर, हरप्रकार के दांत आंख
के दर्द, आंतोंकी बीमारियां, एपेन्डिसाइटिस जैसे भयङ्कर रो
रोगियों की परीक्षा करने पर डा० डगलस मेकडानल्ड, सर
सीयर एम० डी० ऐफ० आर० सी० पी०, प्रो० किथ, मि०
फ्लेचर, डा० मेक फार्ड आदि विदेशो विद्वानों ने एक सम्म
इन रोगोंका कारण मांसाहार हो निश्चित किया है। मांसा
हमारे इस प्रकरण का विषय नहीं है, यथा स्थान इस पर वि
प्रकाश डाला गया है। यहाँ यही समझ लेना चाहिये कि मां
मनुष्यका स्वाभाविक भोजन नहीं है। वेदने उपरोक्त छोटेसे
में ही इस विषय की ओर सङ्केत किया है कि अन्न से ही
सम्बन्धी रोगों का विनाश होता है मांस से तो यह बढ़ते ही

अन्नप्राशन संस्कार में बालक के आगे—पुस्तक, ले
खिलौने, मिठाई, अस्त्र शस्त्रादि बहुतसी वस्तुओं का एक ढेर
दिया जाता है, बालक को गोद में से छोड़ दिया जाता है
देखा जाता है कि वह किस वस्तु की ओर अधिक आकर्षित
है। वह जिस वस्तु की ओर आकर्षित हो, उससे उसके भ
जीवन की रुचि की कल्पना की जाती है और समयपर उसी
में पटु होनेके लिए प्रोत्साहन किया जाता है। यह एक मनो

क क्रिया है । प्राय: देखा जाता है कि माता पिता बालकों को मुन्नत बनानेमें उनकी रुचिका कोई विचार नहीं करते । बालक हां चार पांच वर्ष का हुआ कि उसे स्कूल भेजना शुरु किया । आठ दश वर्ष तक यही चक्की चलती रहती है । बालक का पढ़ने में मन नहीं लगता परन्तु फिरभी उसे स्कूल जाना पड़ता है, रुचि न होते हुए भी अध्यापक बरबस पुस्तकों के ज्ञान को उसमें उडेल देना चाहता है । लड़का फेल हो जाता है । माता पिता फिर भी नहीं समझते उसे ठोक पीटकर पढ़ाना ही चाहते हैं, फल यह होता है कि स्वाभाविक रुचिके अभावमें वह बालक पढ़नेमें सफल नहीं होता और उसके जीवनका वह अमूल्य भाग—जिसमें उसने भावी जीवन संग्रामकी तैयारी करनी थी मातापिता की मूर्खतासे नष्ट हो जाता है । हमें अपने जीवन में ऐसे बहुत से बालकों को देखने का अवसर मिला है जिनको यदि सचमुच उनकी रुचि के अनुसार उचित शिक्षण दिया जाता तो वे आज और ही कुछ आदमी होते मेरे एक मित्र हैं बड़े सज्जन और संस्कृत भाषा के प्रेमी । उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार अपने पुत्र को संस्कृत भाषा पढ़ाने का प्रयत्न किया किन्तु उस बालक की रुचि उस ओर शायद कभी नहीं हुई । पाठशाला में, घर में, पढ़ने के समय या खेलकूद के समय सर्वदा वह चित्र कला की ओर झुकी हुई अपनी रुचि को न दबा पाता । ज्येष्ठ आषाढ के लम्बे दिनों में जब माता पिता उसे धूप में जाने से रोकने के लिए घर के किवाड़ बन्द कर आराम करने लग जाते वह धीरे से उठता और किवाड़ों के समीप आ बैठता । मिट्टी के दीपकों में उसने कुछ रंग घोल रक्खे थे । वह भोला भाला बालक अपनी प्रतिभा के अनुसार कागजों पर चित्र बनाने का अभ्यास किया करता, ज्यों ही माता पिता जागने

को होते उसका भीत हृदय सहम उठता। आखिर एक दिन मे मित्र ने उस बालक की चोरी पकड़ ही ली, उन्होंने वे चित्र मु दिखाये। मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे उसे किसी आर्टस्टुडि में चित्रकला की शिक्षा दिलायें किन्तु मेरी यह सलाह और दूस लोगों की सम्मतियें भी उनके मन में न बैठी। उनका प्रयत्न य रहा कि किसी प्रकार वह बालक 'लघु कौमुदी' रटले। फल य हुआ न तो वह लघुकौमुदी ही रट सका और चित्रकार तो बनत ही कैसे? इस प्रकार न जाने देश के कितने होनहार बालक की प्रतिभा बचपन में ही मसल दी जाती है और उनका जीव नष्ट कर दिया जाता है।

इसलिये आवश्यकता है कि हम इस संस्कार द्वारा प्रथम बालककी रुचि का परिचय प्राप्त करलें और तब उसे उसमें निपु होने के लिये प्रोत्साहित करें।

चूडाकरण संस्कार विचार

निर्वर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्र-
जास्त्वाय सुवीर्याय। (यजु० अ० ३ म० ३३

अर्थात्—हे बालक दीर्घायु के लिए, अन्न ग्रहण में समर्थ बनाने के लिए, उत्पादन शक्ति के लिए, ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए सुन्दर सन्तान के लिए और बल तथा पराक्रम प्राप्ति के योग्य होने के लिये तेरा मुण्डन करता हूं।

चूड़कर्म संस्कार बल आयु तथा तेज की वृद्धि के लिए किया जाने वाला आठवां संस्कार है, इससे पूर्व

त संस्कार दोष परिमार्जन श्रेणी के हैं। उनके द्वारा खान से कले लोहे को—मिट्टी हटाना, मांजना, तपाना, आदि की तरह व शरीर को गर्भवास जन्य मलिनतादि निराकरण पूर्वक बनाया जाता है। चूड़ाकरण उपनयनादि चार संस्कारों ा उसमें गुणाधान होता है—अर्थात् मानवोचित विशिष्टगुणों समावेश किया जाता है।

'चूड़ा क्रियतेऽस्मिन्' इस विग्रहके अनुसार चूड़ाकरण संस्कार अभिप्राय है वह संस्कार जिसमें बालक को चूडा अर्थात् शिखा जाए। अमरकोष के 'शिखा चूडा शिखण्डस्तु' इत्यादि श्लोका ार चूडा का अभिप्राय शिखा से ही है। गृह्य सूत्रकारों ने लिए—

अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवेषां कुल-र्मः स्यात्। यथर्षिशिखा निदधात्येके।

अर्थात्—बालक को कुलधर्म के अनुसार एक शिखा, दो या न शिखा धारण करावे।

—इत्यादि वचनोंसे इस संस्कार के समय शिखा रखनेका विधान किया है। इस संस्कार का समय जन्म से प्रथम या तीसरा वर्ष है र कि बालक अपनी शैशव अवस्था के पहिले—किन्तु सब से यपूर्ण—दौरको समाप्तकर चुकना है। शरीर विज्ञानके अनुसार यह समय ऐसा होता है जबकि दांतोंके निकलने के कारण बालक शरीर में कई प्रकार की व्याधि हो जाना अनिवार्य है। चूंकि उसका शरीर निर्बल हो जाता है और बाल झड़ जाते हैं ऐसे समय में इस संस्कार का विधान करके महर्षियों ने बालकको इन सब अस्वस्थकर कारणों से बचाने का प्रयत्न किया है।

इस संस्कारका दूसरा नाम मुण्डनसंस्कार भी है। यह त्वचा सम्बन्धी रोगों के लिए अत्यन्त लाभकारी होता है। शिखा को छोड़कर शिरके शेष बालों को मूंड देने से शरीर में तापक्रम कम हो जाता है और उस समय होने वाली फोड़ फुन्सो दस्त आदि व्याधि जोकि शरीर में उष्णता जन्य उबाल के कारण उत्पन्न होतो हैं स्वतः शिथिल पड़ जाती हैं।

एक बार मुण्डन हो जाने पर फिर उगने वाले बाल वद्धमूल होंने के कारण फिर झड़ते नहीं। आयुर्वेदके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता के देखने से ज्ञात होता है कि चूड़ाकरण के सम्बन्ध में मन्वादि स्मृतिकारोंके वचन कोरे अर्थवाद या रोचक नहीं हैं किन्तु वे सत्य पर आधारित हैं। मुण्डन क्षौर आदि के लाभ हानियों का वर्णन करते हुए महर्षि चरक ने लिखा है—

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्॥

(चरक सूत्रस्थान ५, सूत्र ६३)

अर्थात्—क्षौरादि कर्म करवाने से, नाखून कटवाने से और कंघी आदि से बालों को साफ रखने से पुष्टि, वृष्यता, आयु, पवित्रता और सुन्दरता आदि की वृद्धि होती है। बालक का मुण्डन कराने के अनन्तर उसके शिर में मलाई आदि की मालिश का विधान है जिससे मस्तिष्कके मज्जा तन्तुओंको कोमलता शीतलता तथा शक्ति प्राप्त होती है जो कि आगे चलकर बालक की बौद्धिक शक्ति के विकाश में बड़ी सहायक होती है। वैसे भी ठडा शिर मनुष्य के स्वास्थ्य का चिह्न है। बड़े बूढ़े मनुष्य—हाथ पांव गरम और ठंडे शिर का स्वास्थ्य को निशानो समझते हैं। इसलिए

को स्वस्थ तथा प्रसन्न रखने के लिए यह संस्कार अवश्य
चाहिये ।

हम पीछे कह आए हैं चूडाकरण संस्कार का प्रयोजन मह-
ने बल आयु तथा तेज की वृद्धि माना है। इस विषय पर हम
विशद दृष्टिकोण से विचार करना चाहते हैं और बतलाना
हैं कि एक समय था जब समस्त भूमण्डल में इस वैज्ञानिक
र की प्रथा प्रचलित थी। सभी देशों के निवासी 'चूड़ा'
शिखा शिखा के महत्व को समझते थे और उसे धारण
थे ।

बुद्धि बल आयु तेज की वृद्धि के साथ शिखा का क्या
है इसको समझने के लिए हमें सर्वप्रथम मानव शरीर की
को समझना होगा तब हम सुगमतया महर्षियों के उपरोक्त
की सचाई को आंक सकेंगे, तभी हमें ज्ञात हो सकेगा कि
गवान्:—

दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्

अर्थात्—दीर्घ आयु बल और तेज के लिए शिखा को स्पर्श
ता हूं—की घन गम्भीर वाणी से मानव मात्र को शिखा
के लिए क्यों प्रेरित कर रहे हैं। स्मृतिकारों ने:—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

—कहकर सभी धार्मिक कार्यों में शिखा को इतना महत्व
दिया है ? क्या कारण है कि बिना शिखा के, या उसमें
लगाए बिना जो कुछ भी धर्मानुष्ठान किया जाता है वह
निष्फल हो जाता है ।

मानव शरीर की रचना पर अगर आप ध्यान दें तो आप मालूम होगा कि सम्पूर्ण शारीरिक प्रवृत्तियों का केन्द्र हमा मस्तिष्क है। क्या मानसिक क्या शारीरिक सभी प्रकार क्रियाओं का संचालन उसी के द्वारा होता है। यदि वह स्वस्थ समुचित शक्ति सम्पन्न है तो मनुष्य भी स्वस्थ रहता हुआ वेदों 'शतं जीवेम शरदः' के अनुसार न केवल सौ वर्ष की आयु प्राप्त सकता है किन्तु इससे भी अधिक दीर्घजीवी हो सकता है। हमें स्मरण रखना चाहिये कि दीर्घजीवन का मूल रहस्य 'युक्ताहा विहार'– अर्थात् अपना दिनचर्या को नियमानुकूल बनाने में छु हुआ है, और युक्ताहार विहार के लिए ज्ञानशक्ति अक्षुण्ण रह अनिवार्य है। उसी ज्ञानशक्ति को प्रबल एवं जागरूक रखने लिए महर्षियों ने जिन अमोघ उपायों का आविष्कार किया है शिखा भी उनमें से एक है।

हरिवंश पुराण में एक कथा आती है जिससे ज्ञात होता है कि शिखा न केवल ज्ञानशक्ति को सम्पन्न रखती है किन्तु बल परा- क्रम एवं तेज के साथ भी उसका गहरा सम्बन्ध है। कहा जाता है महर्षि वशिष्ठ का सगर नामक एक विश्वविजयी शिष्य था। उसके पिता को पश्चिम देश के कुछ राजाओं ने मिलकर मार डाला। सगर ने पिता की मृत्यु का बदला चुकाने की प्रतिज्ञा की और उन राजाओं का विनाश करना प्रारम्भ किया। वे व्याकुल हो महर्षि वशिष्ठ की शरण में गए तथा उनसे प्राणरक्षा की प्रार्थना की। वशिष्ठ जी ने उन्हें अभयदान दे दिया एवं सगर को बुलाकर उनका विनाश करने से रोकना चाहा। सगर उनके वध का प्रण कर चुका था, इसलिए बड़ी दुविधा में पड़ा। एक ओर प्रतिज्ञा भंग का भय तो दूसरी ओर गुरु आज्ञा की अवहेलना का

। उसनें महर्षियों से विचार विनिमय किया, अपनी संशयापन्न ति को उनके सामने रक्खा और कर्तव्य का निर्देश चाहा। सोच विचार के बाद यह निश्चित हुआ कि उन राजाओं को मुण्डन कराकर छोड़ दिया जाय। तदनुसार ऐसा ही किया और सभी लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि शिखा के उपरान्त वे बिलकुल प्रभाव शून्य और निर्जीव से हो गए। प्रकार सगर नें अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करली एवं गुरु की आज्ञा भंग न हुई। सारांश यह कि हम देखते हैं—शिखा विज्ञान ने वाले महर्षियों की दृष्टि में शिखा छेदन मृत्यु से कुछ कम समझा जाता था!

शिखा क्यों ?

वर्तमान भौतिक युग में जब कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य-कलाप मतलब के कभी नहीं होते, जब कि प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष लाभ उसमें प्रवृत्ति का कारण होता है तब यह प्रश्न स्वाभा- है कि शिखा क्यों रक्खी जाए? अपटुडेट समाज में मनुष्य पोंगापन्थी सिद्ध कर देने वाले, केश सौन्दर्य में विघ्न स्वरूप ों के इस गुच्छे को शिर पर पाल रखने से क्या फायदा? लिये अब हम पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दृष्टि कोणों से शिखा के पय लाभों पर विचार करते हैं।

(१) शिखा हमारी ज्ञान शक्ति को चैतन्य रखते हुए उसे अभिवृद्धि की ओर अग्रसर रखती है। यह विज्ञानानुकूल है कि काली वस्तु सूर्य की किरणों में से अधिक ताप तथा का आकर्षण किया करती है। इस वस्तु को सिद्ध करने के हमें दूर जाने की आवश्यकता न होगी। आप सफेद और

काले कपड़ों के दो टुकड़े लीजिए, उनको भिगोकर धूप में सू
डाल दीजिये, आप देखेंगे कि काला कपड़ा सफेद की अपे
जल्दी से सूख गया । हमने अपनी प्रयोगशाला में इसे स्वयं अ
भव किया है । दो शीशे के बर्तन-जिनमें एक सफेद था तथा दूस
काला, एक ही समय में सूर्य की धूप में रखे गये और ५ मि
बाद जब दोनों का तापांश नापा गया तो काले बर्तन
तापांश दूसरे की अपेक्षा ५ डिग्री ज्यादा था । इसके बाद ह
उनके मोटे तले के नीचे सफेद और काले कपड़े के दो टुकड़े र
कुछ क्षण बाद काले वस्त्र-खण्ड में धुंआ उठना शुरू हुआ औ
इसके पूरे १ मिनट बाद दूसरे में । हमारे इन सब उदाहरणों
तात्पर्य यही है कि काली वस्तु में सूर्य-किरणों को विशेष रूप
अपने में आत्मसात् करने की शक्ति होती है । वैसे भी सूर्य
प्रखर किरणों से काले हुए व्यक्ति दक्षिण देश में खूब देखे
सकते हैं । अस्तु,

इसके अतिरिक्त प्रकृति में दूसरा नियम यह पाया जाता है
कि प्रत्येक क्षुद्रांश (जुज) सर्वदा अपने महान् अंशी (कुल)
मिल कर ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है । प्रकृति की स
वस्तुएं इसी नियम के आधीन काम कर रही हैं । सभी नदि
अतुल जलराशि समुद्र में मिल कर ही शान्त होती हैं । कोई
पार्थिव वस्तु ऊपर फेंकने पर भी पार्थिवपन के कारण ही पृ
की ओर आकर्षित होती है । दीपक की लौ—'जो कि तेजस श
भण्डार सूर्य का ही एक सूक्ष्मांश है—सर्वदा इसी लिये ऊर्ध्वगा
देखी जाती है । 'अण्ड पिण्डवाद' के अनुसार इसी नियम
अपने शरीर पर भी परखिये । हमारी बुद्धि को शास्त्रों ने
का अंश माना है । इसीलिये हम प्रतिदिन 'भू भुंवस्व:'

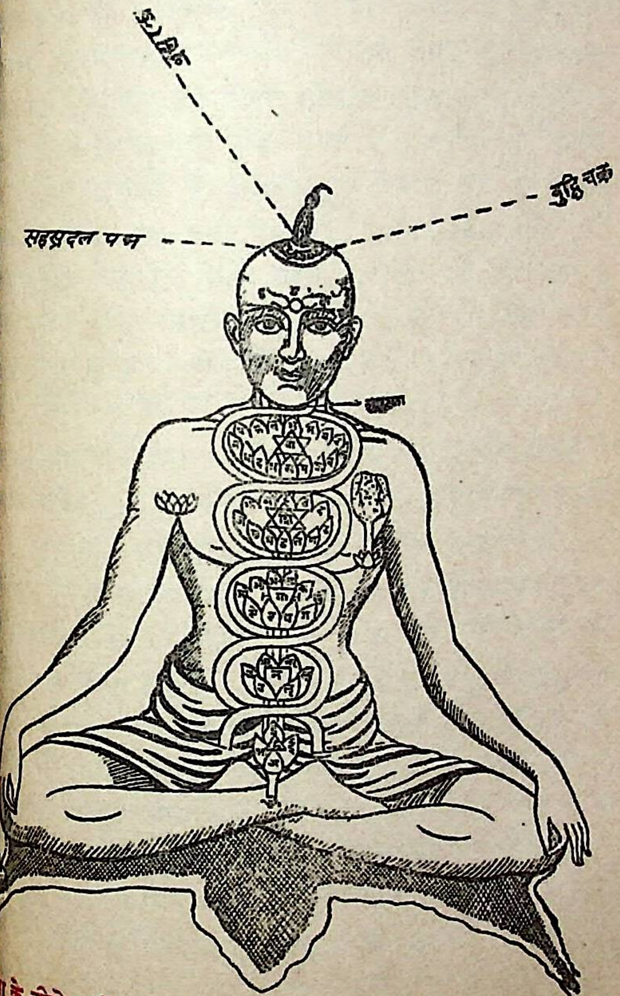
ब्रह्मरन्ध्र
बुद्धि चक्र
सहस्रदल पद्म

के नीचे बुद्धिचक्र है और उसके ही समीप ब्रह्मरन्ध्र है।

[पृष्ठ ४५१

त्री मन्त्र से अपनी बुद्धि एवं मेधा को जागृत करने के लिये ान् सूर्य को उपासना करते हैं और उनसे बुद्धि का दान ते हैं। पाश्चात्य विज्ञानवादियों ने उसे 'Sun is the first se of life' कह कर जीवन शक्ति का मूल कारण स्वीकार ा है। उस सूर्यांश भूता बुद्धि तथा प्राण-शक्ति को जागृत े के लिए ऋषियों ने बुद्धि-केन्द्र मस्तिष्क पर गोखुर के बर बालों का एक गुच्छा रखने का विधान किया है। बालों यह गुच्छा जिसे हम शिखा कहते हैं काले रंग का होने के रण सूर्य से मेधा प्रकाशिनी शक्ति का विशेष आकर्षण करके र्वाभिमुखी बुद्धि को और भी उन्नत करने में सहायक होता है में किसी को सन्देह का कोई स्थान ही नहीं।

(२) सामने के चित्र को ध्यानपूर्वक देखिये, इसे देखने से को विदित होगा कि ठीक शिखा स्थान के नीचे मज्जा तन्तुओं ा निर्मित बुद्धि चक्र और उसके ही समीप ब्रह्मरन्ध्र हैं, इन ों के ऊपर सहस्रदल कमल में अमृत-रूपी ब्रह्मा का अधिष्ठान । शास्त्रविधि से जब मनुष्य उस परम पुरुष परमात्मा का ान करता है या वेदादि स्वाध्याय करता है तब इनके अनुष्ठान मुत्पन्न अमृत तत्त्व वायुवेग से इस सहस्र दल कर्णिका में िष्ट हो जाता है। यह अमृततत्त्व यहीं नहीं रुकता किन्तु ने केन्द्र स्वरूप भगवान् सूर्य में लीन होने के लिये शिर से भी हर निकलने का प्रयत्न करता है। शिखा ग्रन्थि से टकरा कर विद्युत् प्रवाह स्वरूप अमृत वापिस लौट कर सहस्रदल कर्णिका में रह जाता है। कदाचित् शिखा खुली हो या न हो तो वह ा उप द्वार से निकलकर अल्पवेग वाला होने के कारण सूर्य को मिल नहीं पाता किंतु अन्तरिक्ष में ही विलीन हो जाता है।

इसलिए मन्वादि धर्म शास्त्रकारों ने स्नान संध्या जप हो स्वाध्याय दान आदि कर्मों के समय शिखा में ग्रन्थी लगाकर इन कार्यों के करने का विधान किया है, यथा—

स्नाने दाने जपे होमे, संध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत् ॥

(मनु संहिता,

इसी अमृत तत्त्व को कुछ विचारकों ने 'ओरा' शक्ति के न से स्मरण किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इसी शक्तिको मिस्टोरि फोर्स (Mystirion force) के नाम से स्मरण करते हैं।

सम्पूर्ण प्रकृति मंडल में फैली हुई एक दूसरी शक्ति और जिसे हम सतत चिन्तन या ध्यान शक्ति द्वारा अपने शरीर प्रविष्ट कर सबल तथा मेधावी बन सकते हैं, इसे ओज शक्ति (Vrillic Power) नाम से स्मरण किया जाता है। दुनिया के सभी सन्त महात्माओं और आध्यात्मिक पुरुषोंमें निरन्तर ध्याना वस्था में रहने से इसी अदृश्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाया करता है जिसके बल पर वे सहस्रों मनुष्यों के मन पर अपना अद्भु प्रभाव डालने में समर्थ हो जाते हैं। शिखा बांधकर पूर्वोक्त का का अनुष्ठान करते हुए हम ऐसी दशा में आ जाते हैं कि हमारे शरीर में विद्यमान शक्ति–जो रोमों द्वारा बाहर निकलते हु क्रमशः क्षीण होती जाती है–क्षीण न हो और हम प्रकृति मंडल के अन्य शक्ति का आकर्षण सुगमता पूर्वक कर सकें। बहुधा आपने ऐसे अनेक पात्र देखे होंगे कि जिनको उल्टा कर देने पर भी उनमें पड़ा हुआ जलादि तरल पदार्थ बाहर नहीं आता किन्तु उसमें और जल खप सकता है। स्कूलों में बालकों के पास ऐसी चोर दवा

ः देखने को मिल सकती हैं । शिखाबद्ध मानव की भी यही ा समझनी चाहिये ।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक एवं वेद भाष्यकार मैक्समूलर शिखा द्वारा प्राप्त होने वाली इसी शक्ति पर विचार करते हुए संहार में लिखा है—

The concentrations of mind upwords sends a sh of this power through the top of the head.

अर्थात् —शिखा के द्वारा मानव मस्तिष्क अतीव सुगमता से (Vrillic power) शक्तिके प्रवाह को धारण कर सकता है।

इसी तथ्य की पुष्टि में स्वामी दयानन्दजी महाराज ने अपने र्म विज्ञान' में पाश्चात्य जगत् के सुप्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता टर ई० क्रोमर (Victor E. Cromir) लिखित पुस्तक से न उद्धरण दिया है—

In meditation one receives the vrillic influx. hile concentrating one pours it out. If one wever, concentrates one's mind upon God ere is an outgoing and an inflowing process set . The concentration of the mind upwords sen- a rush of this force through the top of the head d the respone comes as a fine rain of soft ma- etism. These two forces cause a beautiful dis- y of colour to the higher vision, The out po- ing from above is beautiful beyond description.

(Vril Kalpaka)

अर्थात्—ध्यान के समय ओजः शक्ति प्रकट होती है। वस्तु पर चिन्तन एकाग्र करने से ओज शक्ति उसकी ओर है। यदि परमात्मा पर चित्त एकाग्र किया जाय तो मस्त ऊपर शिखा के रास्ते ओजः शक्ति प्रकट होती है। परमात् शक्ति उसी पथ से अपने भीतर आया करती है। सूक्ष्म सम्पन्न योगी इन दोनों शक्तियों के सुन्दर रंग को भी दे हैं। जो शक्ति परमात्मा से अपने भीतर आती है उसकी तु नहीं की जा सकती।

(३) [illegible] है। [illegible] विज्ञान के अनुसार जिस स्थान पर शि रखी जाती है उसे पिनल ज्वैंड (Pinal jwend) कहा जात इसके नीचे एक विशेष प्रकार की ग्रन्थी होती है जो पि (Pituetry) कहलाती है। इस ग्रन्थी में एक विशेष प्रका रस बनता है जो स्नायुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो शरीर को बढ़ाता और बलशाली बनाता है। शिखा द्वारा ग्रन्थियों को अपना कार्य करने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है वे चिरकाल तक अपना कार्य करती रहती हैं। इससे मनुष् केवल दीर्घकाल तक स्वस्थ रह कर जीवन यापन करता है कि उसकी ज्ञान शक्ति भी अक्षुण्ण बनी रहती है।

विगत वर्षों में इस सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने खोज की है और वे जिस परिणाम पर पहुंचे हैं उसका आभास उनके लेखों से अनूदित निम्न उद्धरणों से अच्छी त मिल सकता है।

सर चार्ल ल्यूक्स—

'शिखा का जिस्म के उस जरूरी अंग से बहुत सम्बन्ध

?—

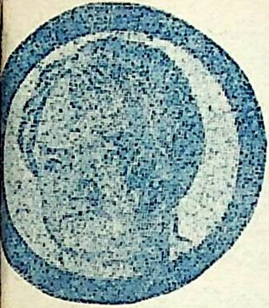

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन

महाकवि शेक्सपीयर

ऋग्वेदभाष्यकार डा० ग्रोटोलिंग जर्मनी

बालों का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है ? पृष्ठ [४५४]

क्यों ?—

गोस्वामी तुलसीदास

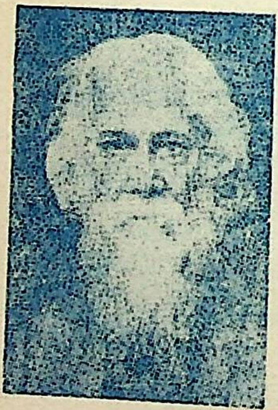

विश्वकवि टैगोर

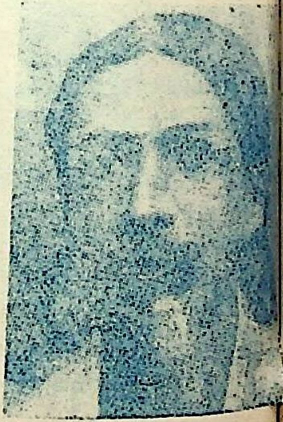

योगीराज अरविन्द

बालों का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है ?

पृष्ठ [४५५

जिससे ज्ञान वृद्धि और तमाम अंगों का संचालन होता है। जब से मैंने इस विज्ञान की खोजकी है तबसे मैं खुद चोटी रखता हूं।

डा० हाब्समन—

"मैंने कई वर्ष भारत में रहकर भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया है। यहां के निवासी बहुत काल से शिर पर चोटी रखते हैं जिसका जिक्र वेदों में भी पाया ज्ञाता है। दक्षिण में तो आवे सिर पर 'गोखुर' के समान चोटी रखते हैं। उनकी बुद्धिको विलक्षणता देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं। अवश्य ही बौद्धिक विकाश में चोटी बड़ी सहायता देती है। शिर पर चोटी या बाल रखने बड़े लाभदायक हैं। मेरा तो हिन्दू धर्म में अगाध विश्वास है। मैं खुद भी चोटी रखने का कायल हो गया हूं।

(गार्ड मैगजीन नं० २५८, पृष्ठ १२२, सन १८९९)

उपर्युक्त वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्ण परिचित होने के कारण ही न केवल भारतीय, किन्तु पाश्चात्य जगत् के भी प्रायः सभी वैज्ञानिक, विचारक, संभ्रान्त लेखक एवं कवि शिर पर शिखा ही नही रखते थे किन्तु उनके समस्त शिर पर आपको जटा सदृश लम्बे बाल ही दिखाई देंगे। स्मृतिकारों के शब्दों में हम इन्हें 'पंच शिखी' कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। पाठकों के अवलोकनार्थ हम कतिपय पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के चित्र दे रहे हैं जिन्हें देखकर पाठकों को यह जानने में देर न लगेगी कि बालों का समुन्नत होना बौद्धिक जीवन के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखता है।

(४) कुछ भारतीय विचारकों के मतानुसार सम्पूर्ण मानव शरीर में व्याप्त एक मुख्य नाड़ी है जिसे सुषुम्ना कहते हैं। प्रस्तुत चित्र में लाल रग वाली नाड़ी को ध्यान से देखिये, यही सम्पूर्ण

शरीर में व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी है जो मस्तिष्क में जाकर समा होती है। इसके उत्कृष्ट रन्ध्र भाग शिखा स्थल के ठीक नी खुलते हैं जैसा कि चित्र में भलीभांति देखा जा सकता है। य स्थान ब्रह्मरन्ध्र है और बुद्धितत्त्व का केन्द्र है। कहा जाता है कि साधारण दशा में जबकि हमारे शरीर के अन्य रोम पसीने आदि द्वारा शारीरिक ऊष्मा को बाहर फैंकते हैं सुषुम्ना केन्द्र के वाल द्वारा तेजो निःसरण होता है। उसी को रोकने के लिए शिखा मे ग्रन्थी का विधान है जिससे वह तेज शरीर में ही रुक कर म शरीर व मस्तिष्क को अधिक उन्नत कर सके। इस विचार क अनुमोदन भी कतिपय पाश्चात्य दार्शनिकों ने किया है, यथा—

सुप्रसिद्ध डा० आई० ई० क्लार्क एम० ए० डी० ने लिखा है—

'जब मैं चीन भ्रमण करने गया, वहाँ मैंने देखा कि चीनी लोग भी हिन्दुस्तानियों की तरह आधे शिर से ज्यादा बाल रखते हैं। मैंने जब से इस विज्ञान की खोज की है तब से मुझे विश्वास हो गया है कि हिन्दुओं का हर एक नियम विज्ञान से भरा पड़ा है। चोटी रखना हिंदुओं का धर्म ही नहीं सुषुम्ना के केंद्रों की रक्षा के लिए ऋषि मुनियों की खोज का विलक्षण चमत्कार है'।

इसी प्रकार मि० अर्ल थामन साहेब ने अलार्म मैगजीन के १९२१ के वार्षिकांक में पृष्ठ १९९४ पर लिखा है—

"'सुषुम्ना की रक्षा हिन्दू लोग चोटी रखाकर करते हैं जबकि अन्य देशों में लोग शिर पर लम्बे बाल रखकर या हैट लगाकर इसकी रक्षा का प्रयत्न करते हैं। इन सब में चोटी रखना सबसे मुफीद है। किसी भी प्रकार हो सुषुम्ना की रक्षा करना ही सबसे जरूरी है।'

क्यों ?—

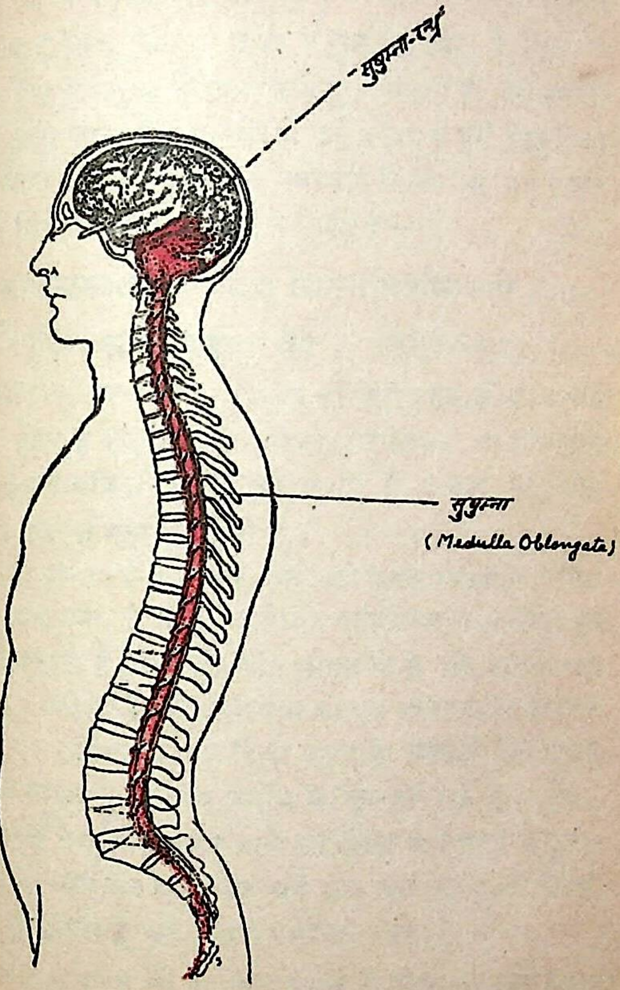
सुषुम्ना-रन्ध्र
सुषुम्ना
(Medulla Oblongata)

लाल रंग वाली नाड़ी सुषुम्ना है जो मस्तिष्क में शिखा स्थान के नीचे जाकर समाप्त होती है। [पृ० ४५६]

(५) मानव शरीर को प्रकृति नें यद्यपि इतना सबल बनाया है कि वह बड़े से बड़े आघात चोट आदि को सहन करके भी जीवित रह जाता है किन्तु फिर भी शरीर में कुछ ऐसे स्थान हैं, जिन पर आघात होने से मनुष्य को तत्काल मृत्यु हो सकती है। ऐसे स्थानों को मर्म कहा जाता है। आयुर्वेद में कई प्रकार के मर्म स्थानों का वर्णन किया गया है। शिखा के अधोभाग में भी एक मर्म स्थान होता है जिसके लिए सुश्रुतकार ने लिखा है:—

मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् शिरासंधिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिस्तत्रापि सद्योमरणम् । (सुश्रुत ६।७१)

अर्थात्—मस्तक के भीतर ऊपर को जहां पर बालों का आवर्त (भंवर) होता है वहां सम्पूर्ण नाड़ियों और संधियों का सन्निपात (मेल) है उसे अधिपति मर्म कहा जाता है। यहां पर चोट लगने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

शिखा इस अत्यन्त कोमल तथा सद्योमारक मर्मस्थान के लिए प्रकृति प्रदत्तकवच है जो कि न केवल आकस्मिक आघातों से इस मर्म को बचाती है किन्तु उग्र शीत आतपादि से भी इसकी रक्षा करती है। विदेशों में इसी मर्मस्थान को उग्र शीततापादि से बचने के लिए टोप (Hat) धारण किया जाता है जिसकी कि नकल आजकल भारत के नवसभ्य समाज में खूब हो रही है। किन्तु प्रकृति प्रदत्त चन्द तोले वजन वाले इस शिखा रूपी त्राण के मुकाबले लगभग आधासेर वजन का व्यर्थ भार सिर पर उठाये फिरना कितनी बुद्धिमत्ता है इसे स्वयं समझा जा सकता है।

आप प्रश्न करेंगे कि हैट के मुकाबले में शिखा का क्या महत्व हो सकता है ? किन्तु वस्तु विज्ञान की दृष्टि से देखें तो शिखा में

हैट से कुछ कम गुण न मिलेंगे। इस बात को आप चन्द उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं। ऊन को प्रायः सभी व्यक्ति जानते और पहचानते हैं। ऊन क्या है—भेड़ के शरीर के बाल हो तो—ऐसे हो बाल जैसे हमारे या आपके सिर पर होते हैं। इसलिए इन दोनों में गुणों की समता होना कोई आश्चर्य नहीं है। सांसारिक व्यवहार में ऊन का खूब प्रयोग होता है और उसकी विशेषताओं से सारा संसार परिचित है। अतः इन्हें जान लेने पर हम सहज ही शिखा को विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

(क) ऊन की प्रथम विशेषता है बाह्य शीत आदि से रक्षा। उदाहरणतया—पशुओं को लीजिए, प्रकृति ने पशुओं के शरीर पर इसलिये घने बाल दिये हैं कि वे सर्दी से अपनी रक्षा कर सकें। बर्फीले पहाड़ों पर होने वाले रीछ आदि प्राणियों की रक्षा उनके बालों के ही कारण होतो है अन्यथा उनकी मृत्यु निश्चित है।

(ख) सर्दी की तरह यह बाह्य गर्मी से भी शरीर को बचाता है—आपने देखा होगा बर्फ को गर्मी से बचाने के लिये ऊन के कम्बल या बोरी में लपेट दिया जाता है जिससे वह पिघल न जाय, ऊनी वस्त्र में लपटने से बाहर की गर्मी उस पर असर नहीं करती और वह वैसा ही बना रहता है।

(ग) ऊन बिजलो के प्रवाह को बाहर से अन्दर और अन्दर से बाहर नहीं आने देता। इसोलिये यदि किसी आदमी को बिजली पकड़ ले तो उसे ऊनो कम्बल डालकर छुड़ाया जा सकता है क्योंकि उसको स्पर्श करके विद्युत् प्रवाह बाहर ही रुक जाता है। बिजलो के तार तथा अन्य यन्त्रों में इसीलिये ऊनी तथा रेशमी धागों का प्रयोग किया जाता है।

जब शरीर से वियुक्त हुए बालों में (ऊन) में भी यह गुण सर्वदा विद्यमान रहते हैं तब शरीरस्थ बालों का इन गुणों से युक्त होना कोई आश्चर्यप्रद नहीं। फलतः यह कहना अत्युक्ति नहीं समझनी चाहिये कि शिखा द्वारा अधिपति मर्म की रक्षा सम्भव है।

(६) शिखा आर्यजाति का एक पवित्र सामाजिक चिह्न है, जिसने सैकड़ों सम्प्रदाय जाति उपजाति आदि भेदों में विभक्त हुई भी इस जाति की एकता को अक्षुण्ण रखने में प्रमुख भाग लिया है। जिसने भूमण्डल के लाखों वर्ग मोल में फैले हुए विशाल हिन्दू समाज को सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता के सूत्र में पिरोकर एक बनाकर रखा है। यों तो सभी सभा सोसाइटियों ने अपने सदस्यों के लिये विभिन्न प्रकार के चिह्न निश्चित किये हुए हैं जिनके द्वारा तत्तत् समाज या पार्टी के मेम्बरों को सर्वत्र पहचाना जा सकता है, और उनमें परस्पर प्रेम तथा एकत्व की भावना का संचार होता है। जैसे मुसलमानों की तुर्की टोपी, ईसाइयों का क्रास, सिक्खों के केश तथा कृपाण, आर्य समाजियों की 'ओम्' वाली टोपियें, राजनैतिक आधार पर संगठित हुए समाजों में जैसे—कांग्रेसियों की गांधी टोपी, राष्ट्रीय स्वयंसेवकसङ्घवालों की काली टोपी और नेकर खाकसारों की हरी बर्दी, आदि चिन्ह उक्त पार्टियों या समाज के सदस्यों के परिचायक चिन्ह हैं।

किन्तु जरा ध्यान से विचार करें—यह सब चिन्ह कृत्रिम होने के कारण जहां व्यय साध्य हैं वहां साथ ही साथ इनके खोये जाने का भी भय रहता है। एक समय ऐसा भी हो सकता है जब पुरुष अनिच्छा से ही कहीं पहुँच जाए और इन चिन्हों को साथ ले जाना भूल जाय। ऐसी दशा में जब तक वह उस समाज में अपनी

सदस्यता का कोई निश्चित प्रमाण न दे सके, तब तक आदर क पात्र नहीं हो सकता। किंतु शिखा आर्य जाति के लिए ऐसा सस्ता सरल प्राकृतिक चिन्ह है जिसकी न सम्भाल की चिन्ता न खोये जाने का डर। जो सर्वदा शरीर के साथ रह कर जह जीवन काल में आर्यत्व की परिचायक बन कर मनुष्य को सामाजिक स्नेह और सहानुभूति की प्राप्ति कराती रहती है, वहां यदि किसी कारण से अज्ञात स्थान या अज्ञातावस्था में मृत्यु भी हो जाए तो शव की पहचान कराकर उसे दुर्गत होने से बचाकर अग्नि के समर्पण करवा सकती है।

१९४७ के भारतीय गृह विप्लव ने हिन्दू जाति की आंखों पर पड़े हुए परदे को हटाकर स्पष्ट दिखलाया कि शिखा जैसे सामाजिक चिह्न का क्या महत्व है। इससे पहले पाश्चात्य शिक्षादीक्षित हिंदूसमुदाय ने इसे व्यर्थ समझकर नाई की भेंट चढ़ा दिया था। चोटी के चन्द वालों का वह गौरवमय उज्जवल इतिहास, केवल चोटी के प्रश्न पर अपने अमूल्य जीवन की आहुति देने वाले हकीकत जोरावरसिंह और फतेहसिंह के वंशधरों की आंखों से ओझल होता जा रहा था। सदियों तक चलती हुई यवनों की दुधारी तलवारों के बीच भी जो बाल अक्षुण्ण रहे, उन्हे शिक्षित नामधारी हिन्दू स्वयं कटवा कर यवनों की नैतिक विजय की घोषणा करने लगे थे।

ऐसे समय में भारत में अचानक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ और गोरे शासक सदा के लिये यहां से विदा हो गये, किंतु उन्होंने देशमें साम्प्रदायिकताकी जो चिनगारी वर्षों से सुलगा रखी थी वह ज्वालामुखी बनकर फट पड़ी। भारत और पाकिस्तान–हिंदू एवं मुस्लिम आदर्शों के दो विभिन्न राष्ट्र! काफिरों और मोमिनों की दो बस्तियां? मिस्टर जिन्ना के चिर

आकांक्षित स्वप्न का सत्य और सुनहला प्रतिरूप पाकिस्तान ! फिर वहां हिन्दुओं के लिये क्या गुंजाइश, फलतः एक ऐसा भीषण गृह विप्लव हुआ जिसे आज का मानव कभी नहीं भूल सकता। ऐसे समय में हमने देखा चोटी और जनेऊ यह दो ही ऐसे चिह्न थे जिनके द्वारा शत्रु मित्र की पहिचान होती थी। उस समय पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल की उस रक्त रंजित भूमि में इन दोनों चिह्नों के बिना किसी व्यक्ति का बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं था। प्रतिहिंसा पूर्ण हिन्दु जब चुन २ कर अपने शत्रुओं से प्रतिशोध ले रहे थे, तब चोटी और जनेऊ ही थे जो संदिग्ध व्यक्तियों को जान बचाने में समर्थ होते थे।

हमने देखा दफ्तरों के वे फैशनेबल बाबू और कालेजियेट छात्र जिन्होंने चोटी को ओल्ड फैशन की निशानी कह कर अलविदा कह दी थी—अपने अनादृत उपेक्षित सामाजिक चिन्ह को उस समय पुनः अपना रहे थे। इस प्रकार अन्य किसी दृष्टिकोण से न सही, एक सामाजिक चिह्न के नाते ही सही, शिखा रखना प्रत्येक हिन्दू का परम कर्तव्य है।

शिखा और संसार की विभिन्न जातियें

शिखा रखने की प्रथा का यद्यपि आज ह्रास होगया है और हिन्दुजाति के अतिरिक्त अन्य जाति के पुरुष शिखा विज्ञान की अनभिज्ञता के कारण शिखाहीन हो गये हैं किन्तु एक समय था जब कि सभी देशों में और सभी जातियों में शिखा रखने की प्रथा विद्यमान थी, ईसाइयोंके धर्मशास्त्र 'बाइबिल'में सामसन् एगोनसदिस् (Samson Agonostis) के सम्बन्ध में एक कथा आती है कि वह बड़ा प्रतापी राजा था। उसके शत्रुओं ने उसे पराजित

करने के लिये सभी प्रकार के उपाय किये किन्तु वे सफल न हो सके। अन्त में उन्हें मालूम हुआ कि उसने अपने शिर पर शिखा धारण की हुई है जिसके कारण वह अजेय है (At last they discovered that all his power lay on account of the tuft on his head) उन लोगों ने चालाकी से प्रसुप्त दशा में उसकी शिखा कटवादी जिससे वह पराजित हो गया। इस कथा से पता चलता है कि ईसाइयों में भी एक समय शिखा को बुद्धि बल का कारण समझा जाता रहा है।

पीछे दिये गये डा० आई० ई० क्लार्क के उद्धरण से चीन में शिखा धारण करने की रीति का भलीप्रकार पता चल जाता है।

हिब्रू जाति के मान्य ग्रन्थ (तलमड्) में इस प्रकार के कई वर्णन हैं जिनसे विदित होता है कि उस जाति में भी शिखा रखने की पद्धति प्रचलित थी।

मुसलमानों ने शिर से चोटी को उड़ाया, किन्तु वे उससे पीछा न छुड़ा सके, यह उनकी टोपी फाड़कर बाहर निकल आई है। उनकी टोपीको देखिये काले २ रेशमी धागों का चोटी सदृश गुच्छा आपको उनकी टोपी के ऊपर लटकता हुआ अवश्य दिखाई देगा। यह शिखा की नैतिक विजय नहीं तो क्या है ?

इस प्रकार धार्मिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक किसी भी दृष्टिसे विचार करने पर 'शिखा' का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान ठहरता है। आर्य जाति को तो लाखों वर्षों की परम्पराओं का इतिहास इसके साथ जुड़ा हुआ है। वीर शिवा गुरु गोविन्दसिंह हकीकत आदि की उज्ज्वल वीरताका इतिहास शिखा-सूत्र का इतिहास है। वीर बालक जोरावरसिंह और फतेहसिंह ने इसी की रक्षा के लिये दीवारों में चुने जाकर हंसते २ मृत्यु का आलिंगन किया किन्तु शिखा-सूत्र को नहीं छोड़ा। इस

प्रकार के महत्त्वपूर्ण चिन्ह की ओर हमारी आज की उपेक्षा शोचनीय है, जिसका शीघ्र ही परिहार होना चाहिये और प्रत्येक हिन्दू को चाहे वह किसी जाति का क्यों न हो—इससे भी अधिक हम तो कहेंगे प्रत्येक मनुष्य को—बल आयु तेज एवं बुद्धि की वृद्धि के लिये शिखा अवश्य धारण करनी चाहिये।

उपनयन संस्कार विचार

वैदिक स्वरूप

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रिस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभियन्ति देवाः ॥
(अथर्व० ११ । ५ । ७)

अर्थ—आचार्य बालक का उपनयन संस्कार करके उसे ब्रह्मचर्य व्रत का आदेश देकर अपने पास रखता है। यह ब्रह्मचारी तीन रात्रि गुरु के पास रहता है और फिर जब वह द्विजत्व रूप दूसरा जन्म ग्रहण कर उत्पन्न होता है, तब उसे देखने के लिये देवता भी एकत्रित होते हैं।

आठवां संस्कार उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार है जिसकी महत्ता पूर्वोक्त सभी संस्कारों से अधिक है और आज के इस गये गुजरे जमाने में जब कि लोग प्रायः संस्कारों को भूल बैठे हैं, यह संस्कार आज भी किसी न किसी रूप में सर्वत्र देखने को मिल सकता है। यही क्यों प्रगतिवाद के इस नये युग में इस संस्कार का जितना प्रचार एवंप्रसार हुआ है, उसको देखकर प्रत्येक वेदाभिमानी

का हृदय रोने लग जाता है। इस संस्कार का जितना प्रचार बनाम छीछालीदर वर्तमान समय में हुई उसकी सम्भावना शायद पूज्यपाद महर्षियों ने कभी की भी न होगी।

धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के लिए इसका विधान किया था, दुःख है कि वे तो इसकी महिमा को भूलते जा रहे हैं किन्तु द्विजेतर दूसरी जातियोंको जनेऊ क्या मिला एक जादू का डोरा मिल गया जिसे पहन कर वे एक ही क्षण में ब्राह्मण और न जाने उनसे भी ऊपर क्या से क्या बन जाते हैं। न किसी तप की आवश्यकता न संयम की! फूंक मारते ही सृष्टि परिवर्तन! इस प्रकार के प्रचार से कितना अनर्थ हो रहा है। इसका अनुमान सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ के निम्न उद्धरण से भलीभांति लगाया जा सकता है:—

'सहस्रों अन्त्यजों को पकड़ पकड़ कर उनके गले में यज्ञोपवीत डाले जा रहे हैं पर करोड़ों ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के बालक यज्ञोपवीत के बिना ही शूद्र हुए जाते हैं, उनको यज्ञोपवीत देने की किसी को चिन्ता ही नहीं। इनकी शिक्षा दीक्षा की किसीको परवाह नहीं है। अधिकारी अनधिकारी का ध्यान नहीं, पात्र अपात्र का विचार नहीं। न जाने क्या हो रहा है और न जाने क्या होकर रहेगा। और रोग यह हो गया है कि यज्ञोपवीत के गले में पड़ते ही ये लोग अपनी जाति आदि को पूछने पर भी ठीक ठीक नहीं बताते। इस प्रकार सब संकट हो रहा है। उद्धार चाहने वाले उपाय सोचते हैं पर अपाय नहीं सोचते।'

(आर्यसमाज इतिहास प्रथम भाग)

यज्ञोपवीत के अधिकारी अनधिकारी प्रश्न पर तो हम आगे विचार करेंगे, प्रकृत में हमारे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि

ज्ञोपवीत संस्कार बड़ा महत्वपूर्ण एवं आवश्यक संस्कार है और सीलिए लोग इसकी ओर इतने अन्धाधुन्ध आकर्षित हो रहे हैं। इस संस्कार को महर्षियों ने 'द्विजत्व' साधक के स्थान पर ठाकर अन्य संस्कारों की अपेक्षा इसका विशेष गौरव प्रदर्शित या है इसके बिना ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय क्षत्रिय नहीं र वैश्य वैश्य नहीं। द्विज माता पिता के शरीर से जन्म हण करने के बाद भी द्विज सम्बन्धी शास्त्रीय अधिकार प्राप्त रने के लिए इस संस्कार की अपेक्षा रहती है। जब तक यह स्कार न हो जाय तब तक—

'न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जीबन्धनात्।

(मनु २-१७१)

अर्थात्—यज्ञोपवीत संस्कार हुए बिना द्विज किसी कर्म का धिकारी नहीं'—मनु के इस वचन के अनुसार न उसे सन्ध्या न्दनादि किसी कर्म में अधिकार है और नांही उसे द्विज श्रेणी परिगणित किया जा सकता है। एक प्रकार से यह आचार्य वं वेद माता गायत्री के सहयोग से होने वाला दूसरा जन्म है। र क्योंकि इस जन्म द्वारा, उपनीत बालक को विनश्वर स्थूल रीर की अपेक्षा अविनाशी ज्ञानमय शरीर प्राप्त होता है इस- ए इस द्वितीय जन्म का महत्त्व पहिले जन्म की अपेक्षा अधिक है। यथा—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
त्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

(मनु २-१७०)

अर्थात्—मौञ्जी बन्धन संस्कार (यज्ञोपवीत) ब्रह्मत्वाधायक न्म है जिसमें गायत्री माता और आचार्य पितृस्थानीय होता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर पाञ्चभौतिक स्थूल शरी दाता माता पिता की अपेक्षा वेद रूपी अक्षुण्ण शरीर देक मुक्तिपथ की ओर अग्रेसर करने वाले सावित्री एवं आचार्य रू माता पिता का गौरव स्पष्ट ही है। 'गरीयान् ब्रह्मद: पित कह कर मनुजी महाराज ने आचार्य का जो अभिनन्दन किय है उसे युक्तियुक्त ही कहा जा सकता है।

किन्तु दुःख है ऐसे महत्वपूर्ण संस्कार का जो दुरुपयोग औ उपेक्षा आज हो रही है उसे लिखते हुए लेखनी सहम जाती है हृदय रोने लगता है और विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं सभ्यतम आर्य जाति का नैतिक अधःपतन शतसहस्रमुखी बन कर आंखों सामने छा जाता है। हिन्दू जाति ने शिखा और सूत्र के सहा ही अपने को जीवित रक्खा है। उसका सम्पूर्ण विगत इतिहा शिखा और सूत्र का ही इतिहास है। सभ्यताओं के उस संघ काल में आर्य जाति, इन्हीं पावन प्रतीकों के साथ आगे बढ़ी। विधर्मियों ने सर्वदा अपने आक्रमणों का लक्ष्य शिखा-सूत्र ही बनाया—यह बात इतिहास के परिचित पाठकों से छिपी हु नहीं है। बौद्ध नरेशों के राज्य काल में यज्ञोपवीत सर्वदा उनक क्रूर दृष्टि का लक्ष्य रहा और मुगल बादशाहों ने तो शिखा-सूत्र के विरुद्ध जो जिहाद बोला वह इतिहास की चिरस्मरणी दुर्घटना रहेगी। १। मन यज्ञोपवीत प्रति दिन उतरवाक ही भोजन करने वाले मुगल शासक जीवन भर यज्ञोपवीत विरुद्ध लड़ते रहे किन्तु आर्य-जाति ने उसे न छोड़ा। चमक दुधारों के बीच भी सूत के ये चन्द धागे जिस दृढ़ता से आर्यजा को बचाते रहे वह कुछ कम गौरवास्पद नहीं है, किन्तु आज सृष्टि के प्रारम्भ से आर्य शरीर की शोभा बढ़ाने वाला यज्ञोपवीत आज कहाँ है? हमारी ऐतिहासिक विजयों का प्रती

है यज्ञोपवीत आज हमसे विदा हो गया ! हमने स्वयं उसे तुच्छ ौर व्यर्थ समझकर निकाल फेंका। आज जब कि अन्य जातियाँ ने सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय चिन्हों को खोज खोजकर उन्हें नः अपना रही हैं तब हम ही ऐसे बुद्धु हैं जो लाखों वर्ष पुराने ने इस संस्कार को और इसके प्रतीक यज्ञोपवीत को उतार ने पर तुले हुए हैं। जो लोग यज्ञोपवीत धारण करते भी उनमें आज ऐसे कितने हैं जो इसे स्वयं तैय्यार करते हैं। ाना चर्खा चला कर अपने काते हुए सूत के ही वस्त्र पहिरने व्रत लेने वाले कथित देश सेवक हिन्दू भी दो निचली धागे यज्ञोपवीत के लिए व्यय नहीं कर सकते। आज अन्य बाजारू ों की तरह जनेऊ भी आपको बाजार में बिकते हुए मिल ते हैं। अधिकांश सज्जन शास्त्र विश्वासी होते हुए भी ादवश इसे पहिरने पर बाध्य होते हैं। इन्हें हम तीन या छः र के धागों का समूह मात्र ही कह सकते हैं जनेऊ नहीं। न के निर्माण में विधि का विचार है न पवित्रता का खयाल। त्रों से प्रतिष्ठा की तो चर्चा ही क्या ?

यज्ञोपवीत धारण करने वालों में आधी से अधिक संख्या न लोगों की है जो इसे किसी खास लौकिक मतलब से ही पहि- ते हैं। उन्हें न उसके धारण से उत्पन्न कर्तव्य भार का ध्यान न उसके नियमोपनियमों का। उनके लिए तो यज्ञोपवीत वक्त गले में पड़ा रहने वाला एक ऐसा सूत का डोरा है जो ीय आज्ञा पालन के साथ २ उनके ट्रंक, सन्दूकों की चाबियों सुविधापूर्वक सुरक्षित रखने के काम आता है। कविवर थिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

यज्ञोपवीत देख उनका धन्य भाग्य सराहिए।
पर चाबियों के बांधने को डोर भी तो चाहिए।

यह उनकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अच्छा खासा साधन है। ऐसे ही लोगों पर व्यंग्य कसते हुए कवि शिरोमणि शूद्रक ने अपने नाटक में शर्विलक नामक चोर के मुख से कहलाया है—

"यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुकरणद्रव्यम् विशेषतो ऽस्मद्विधस्य चोरस्य कुत—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्।
एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्॥
उद्घाटनं भवति यन्त्रदृढे कपाटे।
दंष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च॥

(मृच्छ अं ३, १६)

अर्थात्—जनेऊ ब्राह्मण के बड़े काम की चीज है और खास कर मुझ जैसे चोर के लिये, क्योंकि यह सेंध लगाने के समय दीवार नापने के लिए फीते का काम देता है। सोती हुई स्त्रियों और बच्चों के कसे हुए आभूषण इसकी सहायता से ढीले करके निकाले जा सकते हैं। बंद तालों को खोलने में तो यह खूब ही काम देता है (क्योंकि अनेक प्रकार की चाबियों को सुरक्षित रखता है) और यदि कहीं कोई कीड़ा सांप बिच्छु आदि काट जाय तो इसको लपेट कर विष को फैलने से रोका जा सकता है।"

क्या यज्ञोपवीत धारण काम्य है ?

यज्ञोपवीत के विषय में आज अनेक भ्रान्तियां भी जन-

साधारण में फैली हुई हैं। भगवान मनु के आदेशानुसार जबकि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बालकों का उपनयन ८,११,१२ वर्ष की अवस्था में ही होना चाहिए था तब वह आज बीस पच्चीस वर्ष की अवस्था तक भी अनुपवीत फिरते रहते हैं। कुछ लोगों में विवाह के समय ही यज्ञोपवीत करने का विधान है, कुछ महानुभाव रक्षा-बन्धन या अनन्त के डोरे की भांति इसे किसी खास २ मौके पर पहिनने की वस्तु माने हुए हैं। कितनों को तो यह कहते सुना गया है कि हमारे यहाँ तो अमुक तीर्थ स्थान पर जाकर अपने पुरोहित जी से जनेऊ लेने का रिवाज है, उनकी दृष्टि में मानो यह भी तीर्थ यात्रा की एक निशानी ही है। आर्य-समाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द ने तो इसे विद्या चिन्ह कहकर मिडल पास कराने का सर्टिफिकेट ही करार दे दिया है। उनका मतलब है कि पढ़े लिखे लोगों को ही इसे धारण करना चाहिए, वे चाहे अंग्रेजी मात्र ही पढ़े हों और संध्या का एक मन्त्र भी न जानते हों फिर भी इसे धारण कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि कोई द्विज कम पढ़ा लिखा है मुश्किल से सन्ध्या जानता है तो स्वामी जी के कथनानुसार उस बेचारे विद्याविहीन को इस विद्याचिन्ह को धारण करने का कोई अधिकार नहीं—कितनी विचित्र बात है! थोड़ी देर के लिये मान लीजिए यह विद्या-चिन्ह ही हो परन्तु स्वामी जी ने जो मनुस्मृति के अनुसार ही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य बालकों का ८, ११, १२ वें वर्ष में उपनयन का विधान स्वीकार किया है—उस की संगति कैसे बैठ सकती है? बालक ने अभी पढ़ना शुरू भी नहीं किया है उसे अभी गुरुकुल भेजने की तैय्यारी हो रही है और मजा यह है कि स्वामी जी बिना विद्या पढ़े ही उसके गले में विद्या का चिन्ह सर्टिफिकेट लटका देने का विधान कर रहे हैं, यह भी एक ही रही।

देखा जाता है कि सैकड़ों उपनीत ब्राह्मणादि वर्णं भी
पानी पाण्डेय हैं और उन्हें द्विज ही कहा जाता है किन्तु बहुत
अनुपनीत शूद्रादि भी विद्वान् हैं पर द्विज नहीं। इसलिए य
पवीत को विद्या चिन्ह मानना अज्ञान और कपोल कल्पना
सिवाय और क्या हो सकता है ?

इसी प्रकार जो लोग इसे केवल हिन्दुत्व का चिन्ह मानते
वह भी भूल पर हैं। सभी अन्त्यज बिना यज्ञोपवीत के हिन्दु हैं
इसमें किसी को क्या सन्देह हो सकता है ? कहा जाता है एक
महात्मा गांधी गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर गये थे। गांधी
के गले में यज्ञोपवीत न था। इससे वहाँ के उपाध्याय व
महात्मा गांधी से इसका कारण पूछा। गांधी जी ने कहा
मुझे इन चीजों के रखने के फायदे समझाइये। उन्होंने
यह दोनों हिन्दुत्व के चिन्ह हैं। कहा जाता है इस पर महा
गांधी ने हँसते हुए कहा—तब तो मुझे इन की कोई आवश्य
नहीं है क्योंकि इन चिन्हों के बिना भी सारा भारतवर्ष मुझे
जानता और मानता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि
केवल हिन्दुत्वज्ञापक चिन्ह मान बैठना भी उन महर्षियों
विज्ञान-सम्मत सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष उपहास से कुछ कम नहीं
इन्हीं सब पूर्वोक्त भ्रान्त धारणाओं का ही परिणाम है कि
में यज्ञोपवीत के प्रति आस्था नहीं रही और उन्होंने इसकी
शुरु कर दी। आज हम देखते हैं पुलिस या सेना में कार्य
वाला एक क्षत्रिय युवक वैशाख ज्येष्ठ की गर्मी में पसीने से
और गर्मी से व्याकुल होते हुए भी अपनी वर्दी (Unifor
को तो लादे फिरता है किन्तु डेढ़ तोले का यज्ञोपवीत उसे
मालूम देता है। यही दशा उन लोगों की है जो गले में चमड़े

पेटियें डालकर फिरने में न तो भार अनुभव करते न शर्म, किन्तु यज्ञोपवीत उनकी शान में बट्टा लगाने वाला बन जाता है।

हिन्दु संस्कृति के इस पुनरुदय काल में हमें इन सब बातों पर गौर करना होगा। पहिले किसी भी धार्मिक विषय में प्रश्न करने पर लोग कहा करते थे कि हम भारतीय आज दास हैं, दासों का क्या धर्म? किन्तु भगवान् के अनुग्रह से आज हम पुनः स्वतन्त्र हैं तो क्या लाखों वर्षों से चली आने वाली उस संस्कृति को–जिसने सभी प्रकार के संक्रमण काल में आर्य जाति को जीवित रक्खा–हमें न अपनाना चाहिए? स्वतन्त्रता के इस प्रभात में हमें अपनी इन सब विशृंखल प्रवृत्तियों को शृंखलाबद्ध करके वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम पूज्य महार्षियों द्वारा प्रचलित सिद्धांतों की वैज्ञानिक एवं तथ्य व्याख्या जनता के सामने प्रस्तुत करें और उनके सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं का निराकरण हो।

यों तो यज्ञोपवीत के विषय में इतनी 'क्यों' उपस्थित हैं और जन साधारण के मस्तिष्क को तंग किया करती हैं कि यदि उन पर विशद विचार किया जाय तो एक वृहद् कार्य स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है किन्तु हम इससे सम्बन्ध रखने वाले प्रमुख प्रश्नों पर ही विचार करेंगे, यथा—यज्ञोपवीत बांयें कंधे पर ही क्यों? पितृ कार्य के समय दाहिने कंधे पर क्यों? शौचादि के समय कान पर क्यों? इसमें तीन ही तार क्यों? ब्रह्मग्रन्थी क्यों? निर्माण की विशेष प्रक्रिया क्यों? ब्रह्मणादि का अमुक २ समय में हो यज्ञोपवीत क्यों? आदि २।

यह सब इस प्रकार की क्यों हैं जिनको समझे बिना वास्तव में यज्ञोपवीत की महत्ता नहीं जानी जा सकती और जबतक किसी

वस्तु के तथ्य का हमें ज्ञान नहीं हो जाय—उसके महत्त्व को हम समझ न लें तब तक उस वस्तु के प्रति हमारी श्रद्धा हो भी कैसे सकती है, अगर होगी भी तो वह स्थायी नहीं हो सकती इसलिए अब हम इस विषय पर विशेष विचार प्रारम्भ करते हैं।

यज्ञोपवीत क्या है ?

यज्ञोपवीत शब्द 'यज्ञ' और 'उपवीत' इन दो शब्दों के संयोग से बना हुआ एक समस्त शब्द है जिस का अर्थ है—यज्ञ को प्राप्त कराने वाला। वेद में—

यज्ञो वै विष्णुः—(शतपथ १।१।१।२)

—कह कर समस्त चराचर में व्याप्त सगुण परमात्मा को यज्ञ शब्द से ही स्मरण किया गया है। इसलिए यज्ञोपवीत का शब्दार्थ 'परमात्मा को प्राप्त कराने वाला' है। स्मृतिसार में यज्ञोपवीत शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—

यज्ञाख्यः परमात्मा य उच्यते चैव होतृभिः।
उपवीतं ततोऽस्येदं—तस्माद् यज्ञोपवीतकम्॥

इसके अतिरिक्त **'यज्ञेन संस्कृतमुपवीतं'** इस मध्यम-पदलोपी समास द्वारा यज्ञोपवीत शब्द का दूसरा अर्थ 'यज्ञ से पवित्र किया हुआ उपवीत=‘सूत्र’ होता है। चूंकि यह संस्कार यज्ञ पूर्वक होता है इसलिए द्वितीय अर्थ भी संगत हो जाता है। उपनयन भी इसी संस्कार का दूसरा पर्यायवाचक शब्द है जिसका अर्थ होता है-ऐसा संस्कार जिसके द्वारा बालक गुरु के समीप ले जाया जाय। कुछ व्याख्याकारों के मतानुसार **'यज्ञार्थ-उपवीतम्**

यज्ञोपवीतम्=यज्ञ के लिए जो सूत्र धारण किया जाय अर्थात् जिसके धारण करने पर मनुष्य को सर्वविध यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त हो उसे यज्ञोपवीत कहा जाता है।

इस विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि उपरोक्त विग्रह से निष्पन्न यज्ञोपवीत शब्द का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि जैसे आजकल के सभ्य पुरुष सभा सोसायटी आदि में जाते समय शोभा के लिए गले में दुपट्टा दुशाला या चादर आदि डाल लेते हैं और फिर उसे उतार कर रख लेते हैं इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी केवल यज्ञादि के समय पहिनने के काम आता है। स्मृतिकारों ने—**"सदोपवीतिना भाव्यं सदावद्धशिखेन च"** कह कर—उसे सदा धारण किये रहने का विधान किया है। जिस से इस प्रकार की भ्रान्ति का भली भांति निराकरण हो जाता है। पिछले दिनों हमें ऐसे ही किन्हीं "भैरवदत्त शर्मा गौड़' नामक भ्रान्त विद्वान् की 'वैदिक रहस्य' नामक पुस्तक देखने को मिली है, जो वैदिक मर्मज्ञों की श्रेणी में परिगणित होने का लोभ संवरण न कर सके और व्यर्थ की बातें लिखकर अर्थ का अनर्थ कर बैठे हैं। आपने जो कुछ लिखा है उसका सार यही है–"कि प्राचीन काल में यज्ञादि के लिए दीक्षित करते समय दीक्षित पुरुष को पीले लाल या सफेद रंग का एक वस्त्र कन्धे से लेकर कटि पर्यन्त लपेटने के लिए दिया जाता था जो बाद में प्रमाद तथा लोभवश वस्त्र के स्थान में डोरा रूप हो गया। यज्ञोपवीत कोई संस्कार नहीं और नांही चतु:संहिता में उसके पहिनने का कोई मन्त्र ही विद्यमान है। यज्ञोपवीत का कोई मुहूर्त नहीं मिलता। उपनयन=विद्याध्ययनार्थ गुरु गृहगमन–के समय यज्ञोपवीत धारण गृह्यसूत्रों की मर्यादा से बाहर है। हो सकता है यज्ञोपवीत का वर्तमान रूप जैनियों के संसर्ग से हम लोगों में

आ गया है। जैनेऊ, जिनेऊ, जनेऊ यह नामकरण ही इस बा का अच्छा परिचायक है।" इत्यादि

उपर्युक्त बातों में कितना सार है पाठक इसे विना विशे विवेचना के ही समझ सकते हैं। महाशय जी ने इसी पुस्तक अन्यत्र आर्यसमाजियों द्वारा 'आश्वमेधिक' मन्त्रों पर किये आक्षेपों का समाधान भी किया है जिससे आपके सनातन धर्मा नुयायी होने में कुछ सन्देह नहीं रह जाता। ऐसी दशा में आप केवल चार संहिताओं को ही 'वेद' मानकर बालू की नींव प अपने अपूर्वमत का जो दृढ़ प्राचीर खड़ा करने का प्रयास कि है वह कहां तक न्यायसंगत है? क्या चतुः संहिता के अतिरि ब्राह्मण, उपनिषद् आदि वेद नहीं हैं? यदि हैं तो फिर उनमें **'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं'** आदि दो दो मन्त्र विद्यमान हैं-स्वा दयानन्द को भी अगत्या जिनकी शरण लेनी पड़ी और आज चारों संहिताओं को ही वेद मानने वाले आर्यसमाजी भी जि मन्त्रों से लोगों को जनेऊ पहिराते हैं–तब चतुः संहिता का इतना आग्रह क्यों?

यदि उपनयन काल में यज्ञोपवीत धारण गृह्य सूत्रकारों मर्यादा से बाहर होता और यज्ञोपवीत केवल वस्त्र स्थानीय होता तो कात्यायन गृह्यसूत्र के परिशिष्ट में **'अथातो यज्ञोपवी-क्रियां व्याख्यास्यामः'** आदि से प्रारम्भ करके, **'इत्याह भगवा बौधायनः'** तक के लम्बे सूत्र में यज्ञोपवीत निर्माण प्रकार पाय जाता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यज्ञोपवीत धार गृह्य सूत्रकारों की मर्यादा से बाहर है। यदि गृह्य सूत्रों में यज्ञोपवीत न हो तो फिर होगा कहाँ? केवल लोक प्रसिद्ध 'जनेऊ

शब्दसाम्य मात्र देखकर यज्ञोपवीत को जैनियों के संसर्ग से उत्पन्न हुआ अनुमान कर लेना भी हेत्वाभास पूर्ण होने से परास्त हो जाता है। जैन संप्रदाय में 'जनेऊ' नाम का कोई सूत्र धारण भी नहीं किया जाता है। वस्तुतः 'यज्ञ' शब्द का ही अपर पर्याय 'यजन' है, सो पकार छोड़कर 'जन' और उपवीत के 'उ' मात्र जोड़ने से 'जनेऊ' शब्द–यज्ञोपवीत का ही संक्षिप्त संस्करण है ! जैसे पर्वतीय देशों में पण्डित शब्द का संक्षिप्त संस्करण 'पंत' आज भी प्रचलित है। इस प्रकार तो कल को कोई कहने लगेगा कि शिखा भी हिन्दुओं में सिक्खों के संसर्ग से ही आई है क्योंकि सिक्ख और शिखा में काफी श्रुतिसाम्य है। यज्ञोपवीत के मुहूर्त वाला आक्षेप भी ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि मुहूर्त ग्रन्थों में सर्वत्र विवाह संस्कार का मुहूर्त तो मिलता है परन्तु सप्तपदी का मुहूर्त कहीं भी नहीं मिलता। जब यज्ञोपवीत धारण उपनयन संस्कार का ही एक अंग है तब उसके लिए पृथक् मुहूर्त की क्या आवश्यकता ? तात्पर्य यह है कि यज्ञोपवीत शब्द के "यज्ञ के लिये धारण किये जाने वाला उपवीत (सूत्र)" इस अर्थ से किसी को भी भ्रान्त नहीं होता चाहिए।

ब्रह्म सूत्र शब्द यज्ञोपवीत का ही वाचक है जिसकी व्याख्या करते हुए स्मृति प्रकाश में लिखा है—

सूचनाद्ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात् ।
तत्सूत्रमुपवीतत्वाद् ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम् ॥

अर्थात्—चूंकि यह सूत्र द्विजाति को ब्रह्मतत्त्व तथा वेदज्ञान की सूचना देता है इसलिए इसे ब्रह्मसूत्र कहा जाता है !

साकार परमात्मा को यज्ञ और निराकार परमात्मा को ब्रह्म कहा जाता है, दोनों को प्राप्त कराने वाला होने के कारण इसे यज्ञोपवीत या ब्रह्मसूत्र इन दोनों नामों से पुकारा जा सकता

है। इसी प्रकार यज्ञसूत्र सावित्री-सूत्र आदि भी इसी के ना समझने चाहियें।

संस्कार का संक्षिप्त स्वरूप

इस संस्कार को उपनयन, यज्ञोपवीत, व्रतबन्ध मौञ्जीबंध आदि किसी भी नाम से यथेच्छ पुकारा जा सकता है। यह स नाम यों ही नहीं पड़ गये हैं, किन्तु इस संस्कार के समय होने वाली तत्तत् क्रियाओं के कारण अन्वर्थ हैं। उपनयन का अर्थ है—गुरु के समीप प्राप्त कराना अर्थात् प्राचीन समय में य संस्कार करके बालक को विद्याध्ययन के लिए गुरु के सुपुर्द कर दिया जाता था। उसे सब प्रकार की उपयोगी शिक्षा देकर-राष्ट्र के लिए सदाचारी सभ्य एवं सुशिक्षित नागरिक बना देना गुरु का कार्य होता था। वह बालक को जहाँ स्नेह पूर्वक पढ़ाता था वहाँ उसके सदाचार का भी पूर्ण ध्यान रखता था, फलतः गुरुओं के आश्रमों से बालक पूर्ण सदाचारी एवं विद्वान् बनकर निकलते थे। बालक को विद्याध्ययन के लिए भेजने के समय जब कि यह संस्कार होता था अच्छा खासा समारोह मनाया जाता था। आज भी जिन घरों में इस संस्कार का प्रचलन है वहां इसका समारोह विवाह से कुछ कम नहीं होता। आगन्तुक इष्ट मित्र परिजन एवं निमन्त्रित सज्जनों के हर्षोल्लास में, विविध वस्त्राभरणालंकृत कुल-वधुओं के मंगल गान तथा तपःपूत ब्राह्मणों के घन-गम्भीर वेदपाठ के बीच सम्पन्न होने वाले इस पावन संस्कार को होते हुए जिन लोगों ने देखा है वे ही इस समारोह के विस्मयकारी प्रभाव को जान सकते हैं।

यह सब समारोह और उत्सव मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। आज भारतवर्ष में जब बालक प्रथम बार स्कूल में पढ़ने भेजे जाते हैं, तो वे ऐसे घबराते हैं जैसे पशु बाड़े में जाते हुए या

पराधी जेल जाते हुए। मास्टर जी की शक्ल में उन्हें हौवे का रूप दिखाई देता है किन्तु मनोविज्ञानवेत्ता उन महर्षियों ने लक के हृदय में विद्याध्ययन का चाव भरने, गुरु से भय की पेक्षा प्रेम भाव हृदय में रखने, एक शब्द में कहें तो रोते झींकते नहीं किन्तु हंसते २ पाठशाला में जाने के लिए ही इस संस्कार का प्रचलन किया था। विविध प्रकार के समारोहों के बीच होने वाली इस संस्कार की विभिन्न क्रियाओं से बालक के हृदय में विद्याध्ययन के लिए रुचि उत्पन्न होती थी और तब उसके खेल कूद के साथियों की ही तरह गुरु, बालक के दाहिने कन्धे पर हाथ रखकर प्रेमपूर्वक उसे—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

अर्थात्—हे बालक ! मैं तेरे हृदय को ग्रहण करता हूँ। तुम अपने चित्त को सदा मेरे अनुकूल बनाना। मेरी वाणी को एकाग्र होकर श्रवण करना, देवगुरु बृहस्पति तुझे मुझ से संयुक्त करें।

—इत्यादि स्नेहभरी बातें कहता था तो बालक का अनायास ही गुरु से परिचय हो जाता था और वह उसे हौवा न समझ कर अपना अभिभावक समझने लग जाता था। इसके बाद आचार्य बालक को उस सप्रणव गायत्री मन्त्र का उपदेश देता है जिसकी उपासना से उसने अपने ब्रह्मचर्य जीवन को सफल बनाना है। हम पीछे कह आए हैं इस अवस्था में गायत्री ही उसकी माता होती है जिसकी अंगुली पकड़ कर वह चलना सीखता है और जिसके ज्ञान विज्ञान रूपी दोनों स्तनों का पान करके वह बलवान् और ज्ञानवान् हो जाता है।

आचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के बाद ब्रह्मचारी भिक्षा के

लिए भेजा जाता है। यह क्रिया यद्यपि आज नाटक के तौर पर पूरी कर दी जाती है किन्तु महर्षियों ने इसे वैज्ञानिक दृष्टि से ही इस संस्कार में सम्मिलित किया था। वैसे तो आजकल के भी सभी स्कूल, कालेज—चाहे वे डी० ए० वी० कालेज हों या फिर गांधी मैमोरियल कालेज–भिक्षा द्वारा उपार्जित धन से ही संचालित होते हैं, जिसे आज की सभ्य भाषा में चन्दा (Subscription) कहा जाता है और जिस भिक्षा के लिए आज छात्रों को नहीं, किन्तु उनके अभिभावकों, संस्था के ट्रस्टी सदस्यों और दूसरे लोगों को घर घर 'नारायण हरि' करना पड़ता है, या फिर ऐसी भिक्षा को जनता से बलात् वसूल किया जाता है और उससे ऐसी संस्थाओं को चलाया जाता है। कुछ भी हो आज के वैज्ञानिक युग में भी नामान्तर से हम इसी भिक्षावृत्ति से ही संस्थाओं को चलता हुआ पाते हैं, परन्तु चूंकि इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों से फीस भी ली जाती है इसलिए वे अर्ध भिक्षार्जित स्कूल कहे जा सकते हैं। पूर्वकाल की संस्थाएँ-गुरुकुल ऋषिकुल —इससे कुछ भिन्न प्रणाली पर चलते थे। उनका संचालन मुख्यतः जनता से प्राप्त भिक्षान्न पर ही होता था, उनमें गरीब, अमीर, राजा, रंक सभी बालक बिना किसी भेद भाव के बिना किसी फीस के-शिक्षा पाते थे। आचार्य सबको समान दृष्टि से देखते थे और उनमें भी परस्पर प्रगाढ़ प्रेम होता था। आदर्श मित्र कृष्ण और सुदामा ऐसे ही किसी आश्रम केस हाध्यायी थे, उनकी मित्रता का नवांकुर ऐसे आश्रम की छाया में ही उगा और वृद्धि को प्राप्त हुआ। ऐसे आश्रमों में शिक्षा पाने वाले छात्र अपनी उस शिक्षा का—जो उन्होंने राष्ट्र धन से प्राप्त की हुई होती थी—देश के लिए अधिक से अधिक उपयोग करते थे। राष्ट्र के इस ऋण को वे कम से कम पारिश्रमिक लेकर लोक सेवा

रके चुकाना अपना कर्तव्य समझते थे। इन्हीं आश्रमों से शिक्षा प्त स्नातक सफलता पूर्वक राज्यतंत्रों का संचालन तक करते किन्तु उस समय भी उनके हृदय में यह भाव जागरूक रहता ा कि मैंने यह सब शिक्षा जनता के अन्न से ही तो प्राप्त की है अतएव वह जनता के कर से इकट्ठे हुए राष्ट्र धन का उपयोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति और मौज मजा लूटने में नहीं करता था वह न महलों में रहता था न हजारों रुपये मासिक का व्यर्थ बोझ राष्ट्र पर ही डालता था।

आप आइये हमारे साथ और पुरातन भारत की एक झांकी देखिये। हम आपको दिखायेंगे, प्राचीन भारत में आश्रमों से निकलने वाले स्नातक बड़े २ राज्यतन्त्रों का सञ्चालन करते हुए भी किस तरह रहते थे, कितना व्यय वे राष्ट्र का अपने निजी खर्च के लिए करते थे। हम आपको दूर नहीं ले जायेंगे—न सत्ययुग कालीन लोमश के पास ले चलेंगे जो कि सर्वाधिक दीर्घायु होते हुए भी अपने लिये झोंपड़ी का झंझट मोल लेना व्यर्थ समझते हैं, अधिक धूप या वर्षा के समय एक पलाश पत्र मात्र ही शिर पर रखकर आयु बिता देते हैं, न हम त्रेता कालीन वशिष्ठ और विश्वामित्र के पर्ण कुटीर तक ही लेजाने की इच्छा रखते हैं, द्वापर कालीन सान्दीपन के आश्रम तक भी नहीं ले जाते किन्तु केवल दो सहस्र वर्ष पूर्ववर्ती एक ऐसे तपोधन के दर्शन कराते हैं जो भ्रू भंग मात्र से बद्धमूल नन्द-साम्राज्य को धूल में मिलाकर एक नगण्य बालक को भारत का समृद्ध सम्राट् बनाने की शक्ति रखते हैं।

हां सचमुच यह वन ही है—नगर से दूर—पर इतना दूर नहीं कि यहां सर्वसाधारण पहुँच न सके। यह सामने आप पर्णकुटी देख

रहे हैं न, यही है सम्राट् चन्द्रगुप्त के महामात्य आचार्य चाणक्य का निवास-स्थान–जहां से वे सम्पूर्ण–भारत की राजनीति का संचालन करते हैं। यह सामने आचार्य ही तो बैठे हैं, कौपीन धारण किये हुए कुशा के आसन पर। कुटिया में क्या है ? हां सचमुच यह तो देखा ही नहीं, कभी आजकल की भांति बाहर से कुटी हो और अन्दर भोग-विलास एवं ऐश्वर्य के सभी साधन हो। नहीं ऐसा नहीं है, अन्दर क्या है, यह देखिये कविवर भारतेन्दु के शब्दों में—

कहुँ परे गोमय शुष्क, कहुं सिल परी शोभा दै रही।
कहुं तिल, कहूं जवरासि लागी बटुन जो भिक्षा लही॥
कहुं कुस परे कहुं समिध सूखत भारसों ताके नयो।
यह लखो, छप्पर महा जरजर होई कैसो झुकि गयो॥
(मुद्राराक्षस तृतीय अंक)

अस्तु यह तो है अपने सामान्य भ्रूभङ्ग से अनेक राष्ट्रों के भाग्य निर्णय कर देने वाले ऋषि आश्रमों में भिक्षार्जित अन्न से शिक्षा प्राप्त महामात्य चाणक्य का घर और आज अर्धभिक्षार्जित स्कूल कालेजों एवं विश्वविद्यालयों से निकलने वाले इसी स्तर के किसी 'जनसेवक' की विदेशी ठाठ-बाट से पटी-कुटी बखूबी नई दिल्ली में आकर देखने का प्रयत्न कीजिये। शायद किसी पूर्व जन्म के पुण्य से आपको दर्शन हो सके। अस्तु,

उपनयन संस्कार का अन्तिम किंतु महत्त्वपूर्ण भाग वे शिक्षाएं हैं जो बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व दी जाती हैं और जो न केवल उसके विद्यार्थी जीवन को सफल बनाने में सहायता

ढ़ होती हैं अपितु इन्हीं महत्त्वपूर्ण नियमों के दृढ़ स्तम्भों के पर उसके अशेष जीवन का उच्च प्रासाद खड़ा होता है। आज द्यार्थी जीवन प्रारम्भ करने वाले बालक को यह शिक्षाएँ कौन ता है और तत्परता से इनका पालन कौन करवाता है। इसका रिणाम स्पष्ट है : आज के स्कूल कालेजों में पलने वाली राष्ट्र की ई पौध अपनी सदाचार विहीन विश्रृंखल प्रवृत्तियों के कारण काल में ही मुर्झा जाती है। कंघा शीशा तो आजकल हर वक्त द्यार्थियों की जेब में रहता है। स्कूल में भी पुस्तकों के साथ ाता है और जब तक दिन में दो-चार बार बाल न संवार लिये ायं तब तक उन्हें सबर ही नहीं आता। जेबों में रक्खे हुए अभि-त्रियों के चित्र और फिल्मी गानों की पुस्तकों की जबतक एक-ो बार झांकी न ले लें तब तक रोटी हजम नहीं होती। तरह-रह के कुव्यसनों में फंसकर अपने स्वास्थ्य और माता-पिता की ाढ़ी कमाई का सर्वनाश करके स्वच्छन्द घूमने वाले राष्ट्र के उन ावी कर्णधारों के आन्तरिक जीवन के चित्र देखकर हमें इन िक्षाओं के महत्त्व का ज्ञान होता है जो इस संस्कार के अवसर र आचार्य देता है।

“विद्यार्थी मधु मांस का सेवन न करे, नदी आदि के अगाध वाह वाले जल में घुसकर स्नान न करे, अष्टविध मैथुन का याग करे, स्वांग, तमाशे, नाटक आदि न देखे। सुगन्धित पाउ-र, सुरमा, सुगन्धित तेल आदि न लगावे। दुर्व्यसनों (ताश ौपड़ आदि) से सदैव दूर रहे। निन्दा-स्तुति, व्यर्थ बकवास, थ्या भाषणादि से अपने को अलग रखे।”

उपरोक्त नियमों की यदि पृथक् व्याख्या हो और इनकी लापरवाही के जो परिणाम आज स्कूल और कालेजों में देखने में

आते हैं—यदि जनता के सामने रक्खे जायँ तो एक स्वतन्
पुस्तक तैयार हो सकती है। इसलिए हमने सक्षेप में इन नियमों
का दिग्दर्शन कराकर इस प्रकरण को यहीं समाप्त किया है।

यज्ञोपवीत कब से ?

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और प्रचलन का ऐतिहासिक निर्धार
मानव-बुद्धि से परे की वस्तु है क्योंकि यह कोई सौ दो सौ
हजार दो हजार वर्ष से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु नहीं है
आज के इतिहास के पण्डित इस पर अधिकारपूर्वक अपनी लेख
उठा सकें। इसका सम्बन्ध तो उस काल से है जबकि प्रलय
गर्भ में अनन्तकाल से प्रसुप्त मानव सृष्टि धीरे-धीरे जागने ल
थी, मानव में नव-चेतना का प्रकाश हुआ था और ज्ञान
प्रथम रश्मि से उसका हृदय आलोकित हो उठा था। सृष्टि
उस नवोदयकाल में आदिमानवों=महर्षियों के मानस-पटल प
उद्भूत हुआ वह ईश्वरीय ज्ञान ही आज 'वेद' नाम से पुका
जाता है। यज्ञोपवीत की उत्पत्ति इस ईश्वरीय ज्ञान के साक्षात्कार से भी पूर्व हुई समझनी चाहिये, क्योंकि वेद में भी इ
संस्कार के माहात्म्य के दर्शन होते हैं। हम इस प्रकरण
प्रारम्भ में कतिपय वैदिक मन्त्र दे आये हैं जिनसे हमारे इ
कथन का भली-भांति समर्थन हो जाता है।

यज्ञोपवीत धारण के पावन मन्त्र में भी यज्ञोपवीत की उत्पत्ति
का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन विद्यमान है जिससे हमें इसके का
निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। वह मन्त्र है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः

इस मन्त्र को यज्ञोपवीत धारण करने के समय प्रायः सभी लोग बोला करते हैं किन्तु इसके अर्थ गाम्भीर्य पर कदाचित् ही किसी ने ध्यान दिया होगा।

हम पीछे कह आए हैं कि यज्ञोपवीत संस्कार हुए बिना किसी को भी वेद पाठ या गायत्री जाप का अधिकार नहीं है।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। (मनु–२–१७३)

—भगवान् मनु के इस आदेशानुसार इस संस्कार के बाद ही मनुष्य को श्रुति स्वाध्याय का अधिकार मिलता है। यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि सृष्टि के आदि प्रवर्तक श्री ब्रह्मा जी महाराज हैं। महाप्रलय के उस भीषणकाल में जबकि यह समस्त ब्रह्माण्ड जलप्लुत होता है, चारों ओर जल के अतिरिक्त कोई वस्तु प्रयत्न करने पर भी नहीं दिखाई देता तब **‘ब्रह्म ब्रह्माऽभवत्स्वयम्’’** के अनुसार साक्षात् परब्रह्म ही श्री ब्रह्माजी महाराज के रूप में प्रादुर्भूत होकर पूर्व कल्पानुरूप वैदिक ज्ञान के सहारे ही सृष्टि का विस्तार करते हैं। वेद के सर्वप्रथम ज्ञाता प्रवक्ता और उपदेष्टा भी यही हैं। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि बिना यज्ञोपवीत संस्कार हुए ब्रह्मा को वेद ज्ञान और प्रवचन का अधिकार कैसे मिला ? उनका यज्ञोपवीत संस्कार किसने सम्पन्न कराया ? क्या बिना यज्ञोपवीत के ही उन्होंने वेद का स्वाध्याय और प्रवचन किया ? अगर ऐसा ही हो तो इसका तो अर्थ हुआ कि यज्ञोपवीत बाद के ऋषियों द्वारा आविष्कृत कोई सामाजिक या विद्या-सम्बन्धी चिन्ह मात्र ही है।

नहीं, वास्तव में ऐसी बात नहीं है, यज्ञोपवीत धारण में विनियुक्त इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में इन सब प्रश्नों का बड़ी सरलता से

सुस्पष्ट उत्तर दिया गया है। श्रुति कहती है—'यज्ञोपवीत परम पवित्र है, यह सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी के साथ ही उत्पन्न हुआ है। यह आयु तेज बल को देने वाला है इसीलिए इसे धारण करना चाहिए।"

मन्त्रार्थ से सुस्पष्ट है कि सृष्टिनायक श्री ब्रह्माजी महाराज यज्ञोपवीत धारण किए हुए ही प्रादुर्भूत हुए थे, इसीलिये उन्हें मर्यादानुसार स्वाध्याय का अधिकार प्राप्त हुआ और उसी वेदज्ञान के बल पर वे 'यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार सृष्टि रचना में समर्थ हो सके। इससे यह भी सुस्पष्ट हो गया कि यज्ञोपवीत वेद की ही भांति अनादि है उसका प्रारम्भ परवर्ती महर्षियों ने नहीं किया और नाहीं कभी सामाजिक या विद्या-चिह्न के रूप में उसका आविष्कार हुआ है।

आधुनिक गवेषकों के दृष्टिकोण से—

हमने पीछे कहा था, कि यज्ञोपवीत की उत्पत्ति और उसके प्रचलन का ऐतिहासिक निर्धारण मानव बुद्धि से परे की वस्तु है किन्तु फिर भी कुछ आधुनिक विचारकों ने इस दिशा में कुछ निर्णय करने की जो उपहासास्पद चेष्टा की है और भांति-भांति की कल्पनाओं की उड़ान भरी है, उसका कुछ आभास स्वर्गीय श्री लोकमान्य तिलक के नीचे लिखे विचारों में भली-भांति मिल सकता है। यह विचार केवल लोकमान्य के ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृति के विषय में नवीन दृष्टिकोण से विचार करनेवाले पौरस्त्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों के विचारों का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। तिलक जी ने लिखा है—

"मृगशीर्ष नक्षत्र को वैदिक शब्दों में प्रजापति और यज्ञ कहते हैं। किसी समय (तिलक के मत से लगभग ६००० ईसा

पूर्व) इस नक्षत्र से वर्ष का आरम्भ माना जाता था इसीलिये संस्कृत में इस मास को 'अग्रहायण' भी कहते हैं। वर्ष के आरम्भ से अन्त तक नाना प्रकार के यज्ञ किये जाते थे। मृगशीर्ष नामक नक्षत्र मण्डल में कुछ तारिकाओं की स्थिति मेखला के आकार की है। मृगशीर्ष, या प्रजापति, या यज्ञ की इस मेखला को देखकर प्राचीन आर्यों ने मेखला तथा यज्ञोपवीत धारण करना आरम्भ किया था, पट्टा डोरी या कपड़े का एक टुकड़ा जो यज्ञ के समय कमर बन्द के रूप में कमर पर बांधा जाता था यही यज्ञोपवीत कहलाता था।" (ओरायन)

उपर्युक्त कल्पना में कितना तथ्य है इसे पाठक अनायास ही समझ सकते हैं। हम नहीं पूछना चाहते कि आकाश में चमकने वाले सूर्य चन्द्र आदि अन्य ग्रहों की नकल करके आर्यों ने तत्सदृश अन्य चिह्न भी क्यों न धारण किये? प्रजापति तो वेदों में सूर्य को भी कहा गया है और बार-बार कहा गया है, यथा—

प्रजापतिर्वै सविता (बृहदारण्यक)

—इसके अतिरिक्त यज्ञ यागादि प्रायः दिन में ही सम्पन्न होते हैं तब सूर्य के अनुकरण पर उन लोगों ने कोई चिह्न क्यों न धारण किया? हम यह भी नहीं पूछना चाहते कि यज्ञ-यागादि का विधान करने वाले शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रस्तुत कल्पना की कोई झलक क्यों नहीं मिलती? यदि यज्ञोपवीत उन नक्षत्रावलियों का अनुकरण मात्र ही था तो इसके निर्माण के लिए पृथक् विधि-विधान की क्या आवश्यकता थी। उन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में—जिनके अनुसार वर्ष के आरम्भ से अन्त तक यज्ञादि हुआ करते थे—यज्ञोपवीत निर्माण का एक विशेष प्रकार

मिलता है जो स्पष्टतया इस बात का प्रतिपादक है कि यज्ञोपवीत किसी वस्तु का अनुकरणात्मक चिह्न नहीं किन्तु द्विजाति के उन सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों, कर्तव्यभारों एवं उदात्त भावनाओं का प्रतीक है जो ईश्वर ने उसे सौंपे हैं। इसलिये ऐसी कोई भी कल्पना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई मूल्य नहीं रखती और सर्वथा हास्यास्पद ही है।

यज्ञोपवीत की व्यापकता

यज्ञोपवीत के सदृश ही सूत्रनिर्मित चिह्न विशेष प्रायः सभी देशों और सभी जातियों में पाये जाते हैं जो इस बात के सूचक हैं कि एक समय सभी जातियें आर्य-जाति का अभिन्न अंग थीं, किन्तु कालान्तर में अशिक्षावश अथवा देश-विदेशों में प्रसार आदि के कारण वे आर्यत्व से पतित हो गईं किन्तु बहुत से रीति-रिवाज धार्मिक चिह्न आज भी भग्नावशेष अवस्था में उन लोगों में प्रचलित है। इनका क्या रहस्य है इस बात को तो वे लोग नहीं जानते, किन्तु रूढ़ि रूप में इन्हें धारण अवश्य करते हैं।

मुसलमान

मुसलमानों में सूत्रात्मक यज्ञोपवीत की तरह गण्डे का प्रचलन है, जिसे मौलवी आयु-बल आदि की सिद्धि के लिये उन्हें पहिरने को देते हैं। इसके अतिरिक्त ताजियों के वक्त—जो कि एक प्रकार से मृतक श्राद्ध का ही विकृत रूप है—बांये कन्धे पर लाल कपड़े का एक टुकड़ा या डोरा, जिसे हम उपवस्त्र कह सकते हैं—रखना आवश्यक माना जाता है और ऐसा करना उन मृतात्माओं की सद्गति का हेतु समझा जाता है। यह हिन्दुओं के श्राद्धकालीन यज्ञोपवीत के अपसव्य का ही अनुकरण है। इसी

प्रकार हज्ज यात्रा के समय भी सफेद रंग का वस्त्र-खण्ड गले में बांधे रखना हाजी के लिये अनिवार्य है ।

ईसाई

रोमन कैथोलिक ईसाई यज्ञोपवीत की ही भांति ऊन का बना हुआ एक सूत्र-विशेष हरवक्त अपनी कमर में बांधे रहते हैं, जिसमें यज्ञोपवीत की भांति तीन ही ग्रन्थी लगाई जाती हैं। वे लोग इसकी पवित्रता का विशेष ध्यान रखते हैं और प्रोटेस्टैन्ट ईसाई पादरी भी कमर में रस्सी बांधना धार्मिक अनुष्ठान मानते हैं। इङ्गलैण्ड की वर्तमान प्रथा के अनुसार वहां का राजा ही 'धर्माचार्य' भी होता है, तदनुसार 'धर्माचार्य' के रूप में वर्तमान इङ्गलैण्ड के किसी भी बादशाह के चित्र में तादृश रस्सी के दर्शन किये जा सकते हैं ।

पारसी

पारसी लोग मन्त्र पाठपूर्वक सूत्रनिर्मित एक डोरा अपनी कमर में पहिनते हैं और उसे अपने धर्म का मुख्य अंग समझते हैं। भारतीयों की भांति उनके यज्ञोपवीत धारण का भी एक विशेष मन्त्र है । वह है—

फ्राते मजदा ओवरत् पौखनिम् आयम्य ओं धनेम्
स्तेहर पाए संघेम् मैन्यु–तस्तेम् बंधुहिम् दा एनम् भज
यास्निम् ।।

अर्थात्—मजदा या सनिन धर्म के चिह्न, हे तारका मण्डित कुश्ला ! तुझे पुराने काल में मजदा ने धारण किया है ।

सिक्ख

अंग्रेजों की कूटनीति के शिकार और वर्तमान में राजनैतिक अधिकारों की लिप्सा से मोहान्ध सिक्ख भाई आज चाहे यज्ञो वीत धारण नहीं करते किन्तु सिक्ख सम्प्रदाय प्रवर्तक श्री नानक से गुरु गोविन्दसिंह तक के सभी गुरु शास्त्रीय विधि यज्ञोपवीत धारण करते रहे हैं। यह बात उनके जीवन चरि से बिलकुल प्रमाणित हो जाती है; यथा—

गुरु नानक

(क) असविध श्री नानक गतिदानी।
उपदेशन की उच्चरत बानी॥
वदन वदन विप्रन वरि आई।
यज्ञोपवीत दियो पहिराई॥(ना० प्र०

छठे गुरु हरि गोविन्दसिंह

(ख) गुरु निदेश सुन विप्र तब शुभ जञ्जु कर धार,
कर पूजा गुरु पुत्र गर लागो प्रोहित डार।
हरि गोविन्द कह्यो हम गरे जञ्जु हरि अस पाई
कुल प्रोहित कुलरीति कहि पाइओ गर हर्षाई॥
(गु. वि. पा. अध्याय ५ अंक ६)

९वें गुरु तेग बहादुर

तिलक जञ्जु राखा प्रभु ताका, कीनों बड़ो कलू मही साका
(दशम ग्रन्थ विचित्र नाटक अ. ५

१०वें गुरु गोविन्दसिंह

पन्थ प्रकाश में गुरु गोविन्दसिंह का विवाह कालिक शरीर सौन्दर्य वर्णन करते हुए लिखा है—

पीत पुनीत उपरना धोती जोती रवि नब छाजै ।
पीत जनेऊ मनो वदन शशि पै विजरी विजुरी भ्राजै ॥

बौद्ध

बुद्ध गया के प्रसिद्ध मन्दिर में सुप्रतिष्ठित बुद्ध प्रतिमा को ध्यानपूर्वक देखने से भली-भांति जाना जा सकता है कि चतुर शिल्पी ने जहां पाषाण को टांककर शिरके वालों के गुच्छक और शरीर पर ओढ़ा हुवा महीन उत्तरीय वस्त्र दिखाने का प्रयत्न किया है वहां उत्तरीय वस्त्र में झलकता हुवा सव्य यज्ञोपवीत भी कलापूर्ण ढंग से दिखाया है। लामा लोगों की कमर में अनिवार्य रूपेण बन्धा ऊर्णामय रस्सा भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

उपनयन कब ?

स्मृतिकारों ने उपनयन के लिये वर्णों के आधार पर पृथक्-पृथक् समय का निर्देश किया है, यथा—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥(मनु २-३६)

अर्थात्–ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ११वें वर्ष और वैश्य का बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना

चाहिये । यदि किसी विशेष कारण से उपरोक्त समय में न किया जा सके तो उससे दुगने अर्थात्–ब्राह्मण बालकका १६, क्षत्रिय का २२ और वैश्य का २४ वर्ष की अवस्था तक यह संस्कार सम्पन्न हो सकता है, जैसा कि मनुजी ने कहा है—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ।।(मनु२०

इसके बाद भी यदि यह संस्कार न हो तो फिर द्विज व्रात हो जाता है, अर्थात् सावित्री पतित हो जाने के कारण संस्कारा-नहं हो जाता है

उपरोक्त अवस्थाओं के साथ-साथ गृह्यसूत्रकारों ने उपनयन के लिये प्रत्येक वर्ण के लिये ऋतु विशेष का भी निर्धारण किया है, यथा—

वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम् ।।

अर्थात्—ब्राह्मण बालक का वसन्त ऋतु में क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में, और वैश्य का शरद ऋतु में होना चाहिए ।

काल विभाग क्यों

यह प्रश्न सुसम्भव है कि जब काल एक है अखण्ड है दिन रात, चैत्र वैशाख, घड़ी प्रहर आदि सब व्यवहार सिद्धि के लिये मनुष्य कल्पित वस्तुएँ हैं, तब उपनयन के लिये आयु एवं ऋतुभेद की क्या आवश्यकता ? शुभ कार्य–फिर उपनयन जैसा शुभ कार्य तो—'**यस्मिन्कस्मिन्दिने मर्त्यो श्रद्धाभक्तिसमन्वितः**' के अनुसार किसी भी दिन क्यों न कर लिया जाय ?

निःसन्देह देशकाल की एकता और अखण्डता अमान्य नहीं सकती परन्तु 'देशकाल वैचित्र्यवाद' के अनुसार समस्त विश्व याप्त प्रकृति के उन अगणित चमत्कारों की ओर से भी वादी था आंख नहीं मूंद सकता जिनके कारण एक ही भूमण्डल-र बंजर, जलमय और शुष्क, समतल और ऊबड़-खाबड़ आदि क विभागों में और एक ही काल दिन-रात, सर्दी-गर्मी वर्षा दि विविध भागों में स्वयमेव विभक्त हो जाता है। विदेशों की चर्चा छोड़िये जहां साइबेरिया के वर्कहोयान्सक (Verkyansk) नामक स्थान में तापक्रम, शून्य से भी ९५ अंश तक हो जाता है और इस अंश पर पहुंचकर पारा भी जम जाता । भारत को ही देखिए, ज्येष्ठ और वैशाख के झुलसते दिनों में जहां लिहाफों व कम्बलों में सोना पड़ता है ऐसे शिमला दि ठण्डे प्रदेश और पौष तथा माघ के ठिठुरते महीनों में भी ं एक साधारण चादर में आनन्द से सोया जा सकता है ऐसे स आदि गर्म प्रदेश इसी भारत-भूमि पर विद्यमान हैं। भूस्वर्ग मीर जैसा रमणीय हरा-भरा प्रदेश—जहां आत्म-सौंदर्य में ओर प्रकृति उन्मत्त सुन्दरी की भांति खिल-खिलाकर हंसती रहती है इसी भारत में है और राजपूताने का वह शुष्क स्तान—जहां मीलों तक सिवाय रेत के और कोई चीज ाई ही नहीं देती—भी यहीं है। यदि अंगूरों का बाग लगाने ला व्यापारी भूमण्डल की एकता के इसी सिद्धान्त से ही पटा रहे और मारवाड़ में बाग लगवाए तो उससे वह कितना एगा यह अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसी से मिलती-ती बात काल के सम्बन्ध में भी है, प्रत्येक वस्तु के विकास लिये एक काल-विशेष प्रकृति की ओर से निर्धारित है जिसके

आने पर तत्तद् वस्तुएँ स्वभावतः ही विकसित हो उठतीं
यही इनका मौसम कहलाता है। आमों की बहार आषाढ़
श्रावण में ही होती है, नारंगी और सन्तरों की पौष माघ में
गेहूं की फसल चैत्र वैशाख में ही पककर तैय्यार होती है आ
कार्तिक में कदापि नहीं। यद्यपि काल तो एक ही रहता है कि
प्रकृति उसमें कितना महान् अन्तर डाल देती है। यह सब
अमुक-अमुक देश-काल विशेष की महत्ता की निर्णायक हैं। इ
पूर्ण ज्ञान तत्तत् विषय के विशेषज्ञों को ही होता है सर्वसाधा
को नहीं।

धार्मिक विधि-विधानों में समय-विशेष का महत्त्व प्रायः स
सम्प्रदायों और मतों में मान्य है। स्वामी दयानन्द ने संस्का
विधि में—

"जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उ
दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे"

—कहकर मुहूर्त के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया है
मुसलमान शुक्रवार को पाक मानते हैं और ईसाई रविवार को
ही परमात्मा का विश्राम दिन होने के कारण पवित्र समझते हैं
जैन और बौद्ध अष्टमी एवं चतुर्दशी तिथि में विशेष प्रेम रखते हैं
इसीलिये अशोक के समय में चतुर्दशी के दिन किसी भी प्रका
की हिंसा नहीं हो सकती थी।

उपनयन के लिये भी क्रान्तद्रष्टा महर्षियों ने अमुक २ वर्ण के
लिये आयु एवं ऋतु आदि का जो क्रम निर्धारित किया है वह
कोरा धार्मिक विधानमात्र नहीं है किंतु सर्वथा प्राकृतिक विज्ञा
पर आधारित रहस्यमय तथ्य है। यही वह समय है जिसमें कि
हुआ कर्म अनन्त गुण फलदायक हो सकता है। पाठक नीचे दि

हेतुओं का ध्यान पूर्वक मनन करेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि य महर्षियों ने कितनी गहराई में बैठकर उन तत्त्वों की खोज है जिनका मानवशक्ति के विकास के साथ गहन सम्बन्ध है।

१—बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने महर्षि कल्य के प्रति ३३ देवता गिनाते हुए कहा है—

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रि ꣳ शत्त्वेव देवा ति। कतमे ते त्रयस्त्रि ꣳ शदित्यष्टौ वसव एकादश द्रा द्वादशादित्या एकत्रि ꣳ शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च यस्त्रि ꣳ शाविति ॥ (बृहदारण्यकोपनि० ६-२)

अर्थात्—तेंतीस देवता कौन से हैं ? ८ वसु, ११ रुद्र, १२ दित्य, इन्द्र और प्रजापति। देवताओं में वसु ब्राह्मण स्वरूप रुद्र क्षत्रिय स्वरूप और आदित्य वैश्य स्वरूप। वसुओं में सर्व म अग्नि की उत्पत्ति हुई है जैसा कि—"**अग्निः प्रथमो वसुभि-यात्**" इस श्रुति से स्पष्ट ज्ञात होता है। अग्नि का ब्राह्मण ों के साथ कई प्रकार का सम्बन्ध है '**ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्**' था '**मुखादग्निरजायत**' इन दोनों श्रुति वचनों में विराट् के मुख ब्राह्मण और अग्नि इन दोनों को उत्पत्ति का वर्णन किया ा है, इसलिये यह दोनों सहोदर भाई हैं। "**गुरुरग्निर्द्विजातीनाम्**' कर स्मृतिकारों ने अग्नि को द्विजाति का गुरु माना है और निषदों में उसे ब्राह्मण वर्ण का उपास्य देवता भी माना गया तात्पर्य यह है कि अष्ट वसुओं का ब्राह्मण के साथ सजातीय म्बन्ध है। ब्राह्मण दैवराज्य में इन अष्ट वसुओं के साथ मिलकर शक्ति संचय करता है इसलिये आठ वर्ष की अवस्था में ही ह्मण बालक का यज्ञोपवीत उचित है।

रुद्र ग्यारह हैं। क्षत्रिय की भांति ये भी रजोगुण प्रधान
प्रकृतियुक्त देवता हैं और उपनिषदों में इन्हें क्षत्रिय जाति
उपास्यदेव बतलाया गया है इसलिये शक्ति सञ्चयार्थ
जाने वाला यह संस्कार क्षत्रिय बालक का ११वें वर्ष में जि
उपयुक्त हो सकता है उतना अन्य वर्षों में नहीं।

आदित्य १२ हैं। वैश्य की भांति इनका कार्य अपनी सं
समृद्धि से संसार का पोषण करना है। संसार के सम्पूर्ण
धान्य इन्हीं की कृपा से फूलते फलते और पकते हैं, और है
ये वैश्य वर्ण के उपास्य ही, इसलिये उपास्य देव के अनुकूल
वें वर्ष में वैश्य बालक का यह मेधा-जनन संस्कार सम्पन्न हो
उसके लिए कितना हितप्रद न होगा ?

२—पारस्कर गृह्य सूत्रकार ने छन्दों से सृष्टि विस्तार
प्रकरण लिखते हुए लिखा है—

**गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यं
जगत्या वैश्यम्।**

अर्थात्—गायत्री छन्द से ब्राह्मण की सृष्टि हुई, त्रिष्टुभ
क्षत्रिय की और जगती छन्द के योग से वैश्य की।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इन गायत्री आदि छन्दों की वि
चना करते हुए बतलाया गया है—

अष्टाक्षरꣳ हवा एक गायत्र्यै पदम्। (बृ०उ०५-१४-

अर्थात्—गायत्री छन्द का एक पाद आठ अक्षर का होता
सुतरां ब्राह्मण बालक के उपनयन के लिये आठवें वर्ष से उपयु

मय दूसरा कौन हो सकता है ? जब गायत्री अष्टाक्षरपदा है ब उसे ग्रहण करनेवाला बालक भी क्यों न आठ वर्ष का ही हो ?

त्रिष्टुभ छन्द के प्रत्येक पाद में ११ अक्षर होते हैं, उससे उत्पन्न त्रिय का उपनयन ११वें वर्ष में ही सम्यक् प्रतीत होता है।

इसी प्रकार जगती छन्द का प्रत्येक चरण १२ अक्षर का ता है इसलिये शास्त्रकारों ने वैश्य बालक के उपनयन के लिए हरवां वर्ष ही उपयुक्त समझा है।

३—उपनयन काल में ऋतु निर्धारण भी तत्तद् वर्णों की कृति के साथ सामञ्जस्य रखने के विचार से ही रक्खा गया है।

ब्राह्मण स्वभाव से ही शांत होता है उसमें क्रोध नहीं होता किन आत्म गौरव की उष्णता अवश्य होती है और वसन्त ऋतु ? वह भी ब्राह्मण की तरह शांत ही, न उसमें पौष माघ सा प्राणियों को सुन्न बना देने वाला भयंकर शीत और न ष्ठ आषाढ़ की प्राण पीड़क गर्मी। ब्राह्मण प्रकृति के साथ तना सुन्दर समन्वय ! ऐसे समय में ब्राह्मण बालक का उप- यन करने पर उसमें द्विगुणित शक्ति का विकास होना स्वा- विक है।

ग्रीष्म ऋतु ताप प्रधान है और क्षत्रिय बालक में भी वह प-पराक्रम एवं तेज स्वाभाविक रूप से निहित होता है। ग्रीष्म- तु जैसी अनुकूल परिस्थितियों में उसका विकास स्वभाव सिद्ध है, इसलिए क्षत्रिय बालक का उपनयन ग्रीष्म में ही होना हिए।

धन धान्य परिपूर्ण शरद् ऋतु में वैश्य प्रकृति का प्रतिबिम्ब ष्ट झलकता है। व्यापार के लिये भी यही ऋतु सर्व श्रेष्ठ । फलतः वैश्य बालक में विद्यमान इन गुणों के विकास के ए शास्त्रकारों ने इसी ऋतु में उसके उपनयन का विधान या है।

उपनीत के लिए आवश्यक नियम

संसार में प्रत्येक वस्तु की सफलता का रहस्य उसके निय पालन पर ही निर्भर है। इसके बिना इस वस्तु से लाभ न हो यह तो सुसम्भव है ही किन्तु कभी २ तो वह इतनी विपरीत फलदायक हो जाती है कि जिसकी हम कल्पना भी नहीं क सकते। नियम का यह प्रतिबंध—जिसे उग्र शब्दों में 'अड़ंगा' कहा जाता है—मनुष्य के लिए सर्वथा अपरिहार्य है। आप चाहे स्वस्थ हैं या बीमार, नियम की परिधि से बच नहीं सकते। बीमार होकर डाक्टर के पास जाइये, बीमारी की दवा के साथ २ वह आपको अनुपान के नियम, पथ्य परहेज आदि भी अवश्य बता-एगा। अगर इस अनुपान आदि को रोगी बेकार समझे और उसका पालन न करे तो वह चाहे मकरध्वज भी खाये तो भी उसके के लिये हितकारी नहीं हो सकता। यज्ञोपवीत के लिए भी शास्त्रकारों ने इसी प्रकार कुछ नियम स्थिर किये हैं. जिनका पालन उपवीतधारी के लिए आवश्यक है। आज लोग आक्षेप करते हैं कि आर्य जाति के सम्पूर्ण धार्मिक विधान एवं वेद शास्त्र सब अर्थहीन हो गए हैं। जिस यज्ञोपवीत के विषय में श्रुति डिंडिम घोष के साथ कहती है कि—"यह बल आयु तथा तेज का देने वाला है इसे धारण करो" किन्तु उसके धारण करने वालों में आज कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो पूर्णायु बलिष्ठ और तेजस्वी हों? उन विदेशी राष्ट्रों के मुकाबले में जहाँ कि लोग यज्ञोपवीत का नाम भी नहीं जानते, भारतवर्ष—जहां कि यज्ञोपवीत का प्रचार है, स्वास्थ्य आयु आदि सभी दृष्टि से गिरा हुआ है। तब— **"यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः"** का पाठ क्या कोरा पुण्य पाठ नहीं है? इस प्रकार के आक्षेप करने वाले व्यक्ति इस

ात को भूल जाते है कि उपवीत धारण करने वालों में आज े कितने व्यक्ति हैं, जो यज्ञोपवीत धारण के साथ उसके नियमों े पालन के ऊपर भी तत्परता पूर्वक ध्यान देते हैं ? जब तत्पता एवं सावधानी पूर्वक नियमों का पालन ही नहीं होता तो आयु एवं तेज की वृद्धि कैसे हो ? जब अनुपान और पथ्य र ध्यान नहीं तो दवा के गुणों पर सन्देह क्यों ? इसलिए ल्याणाभिलाषी सज्जनों को नियम पालन का पूरा ध्यान ना चाहिए, तब वे देखेंगे कि महर्षियों के वचन तथा श्रुति ा वह डिण्डिम घोष असत्य नहीं ।

(१) शुद्ध स्वदेशी एवं हाथ के बने हों—

यज्ञोपवीत के लिए शास्त्रकारों का पहिला नियम है कि वह वदेशी सूत से अपने हाथ से शास्त्रीय विधि पूर्वक बनाया हुआ ो। उसका सूत भी—अधिक अच्छा तो यही है कि स्वयं कातकर यार किया हो किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो ब्राह्मण की कन्या सौभाग्यवती ब्राह्मण स्त्री द्वारा काता हुआ होना चाहिये, ा—

ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या
ाह्मण्या वा कृतं सूत्रमादाय (कात्यायन-परिशिष्ट)

यह नियम उपवीत धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में ावलम्ब की भावना पैदा करने वाला एवं स्वदेशी वस्तुओं के त अनुराग का सञ्चार करने वाला है। महर्षियों ने यज्ञोपीत को बाजारू चीज नहीं बनाया कि कोई भी रल्ली छल्ली रीद कर उसे गले में डाल ले। बाजारू वस्तु में उस विधि का ौर उन पवित्र भावनाओं का विचार कौन रखता है। जिस

प्रकार पिछले दिनों जब खद्दरधारियों की बाढ़ सी आगई कांग्रेस के रचनात्मक प्रोग्राम के अनुसार सूत कातने वालों संख्या कम हो गई तो महात्मा गांधी ने यह नियम बना दि था—जो कि कल तक भी खद्दर भण्डारों में चलता रहा है- खद्दर पहिनने का अधिकार केवल उसे है जो चर्खा कातकर लिए सूत तैयार कर सके, इसी प्रकार यज्ञोपवीत का अधि स्वयं तैयार करके पहिनने वाले द्विज को ही दिया गया है।

(२) सदोपवीतिना भाव्यम्

हम पीछे कह आये हैं 'उपवीत' कोई ऐसी वस्तु नहीं किसी खास अवसर पर धारण करें और शेष समय में वह के डुपट्टे की भांति खूंटी या ट्रंक की शोभा बढ़ाता रहे। वह संस्कार के दिन से लेकर मृत्यु पर्यन्त शरीर से अलग न हो चाहिये। चिता में भी वह शरीर के साथ ही रहता धर्मशास्त्रकारों ने केवल एक अवस्था ऐसी रक्खी है जिस उपनीत द्विज अपने यज्ञोपवीत को स्वयं उतार देता है और फिर कभी धारण नहीं करता। वह है स्मार्त सन्यासाश्रम- ऐसी परिस्थिति जब मनुय–'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' के नित्य सिद्धा की ओर अग्रेसर होता है। उसकी आत्मा देश एवं काल परिधि को भेदकर शाश्वत् ब्रह्म में लय होने के लिए प्र होती है, केवल उसी दशा में शास्त्रकारों ने यज्ञोपवीत शिखा का परित्याग कहा है। अन्यथा तो द्विज को सर्वदा य पवीतधारी ही होना चाहिए। आज इस नियम की ओर से लोग उदासीन से हैं। कभी मिल गया तो पहिन लिया नहीं नहीं सही। कभी वह बाबूजी के कमीज के साथ धोबी को दिया जाता है और कभी खूंटी की ही शोभा बढ़ाता है।

ण्डित अर्थात् टूटा हुआ ही गले में पड़ा रहता है। घर में सूतक तक भी हो जाता है फिर भी वही पुराना यज्ञोपवीत गले में ड़ा रहता है यही सब ऐसी बातें हैं जिनके कारण यज्ञोपवीत ो हम सूत का डोरा मात्र बना देते है, इसलिये इन बुराइयों से वना चाहिए। टूट जाने पर, घर में किसी का जन्म या मृत्यु ो जाने पर, रजस्वला, चाण्डाल, शव आदि से स्पर्श हो जाने र, श्रावणी, सूर्य चन्द्र ग्रहणादि के अनन्तर, यज्ञोपवीत को वश्य बदल लेना चाहिये, यथा:—

(क) **सूतके मृतके क्षौरे चाण्डालस्पर्शने तथा।**
रजस्वलाशवस्पर्शे धार्यमन्यन्नवं तदा (नारा० संग्रह)

(ख) **मलमूत्रं त्यजेद्विप्रो विस्मृत्यैवोपवीतधृक्।**
उपवीतं तदुत्सृज्य धार्यमन्यन्नवं तदा॥ (सायण)

शौचादि के समय कान पर क्यों ?

गृह्यसूत्रकारों ने शौच लघुशंका आदि के समय यज्ञोपवीत ो कान पर लपेटने का विधान किया है, जैसा कि—

दिवासन्ध्यासु कर्णस्थो ब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः॥

—इत्यादि शास्त्रीय वचनों से स्पष्टतया प्रतीत होता है। ास्त्र के इस विज्ञान पूर्ण विधान के विषय में प्रायः अनेक कार की शंकायें आस्तिक जन के हृदय में भी विद्यमान रहती । प्रायः कहा जाता है कि यज्ञोपवीत कान पर ही क्यों लपेटा ाय-और वह भी दाहिने पर ही क्यों ? क्यों न उसे शिर पर ल लिया जाय या कन्धे पर इस प्रकार डाल लिया जाय कि सके अपवित्र होने का यदि कोई भय है तो वह भी दूर हो

इसलिए हम इस विषय पर कुछ पंक्तियें लिखना आवश्य समझते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से

यों तो मानव शरीर का ऊपरी भाग शिर आदि ज्ञान का होने के कारण परम पावन माना जाता है किन्तु उसमें भी दा कान को शास्त्रकारों ने विशेष महत्त्व दिया है, जैसा कि—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति देवताः॥

—इत्यादि अनेक उक्तियों द्वारा दाहिने कानमें आदित्य रुद्र आदि देवताओंका निवास स्थान बतलाया गया है। इस दाहिने कान की पवित्रता तथा महत्ता के अभिप्राय से ही महर्षियों ने यज्ञोपवीत को उस दशा में जब कि सम्पूर्ण शरीर अपावन होता है पवित्रता के सबसे महान केन्द्र कान पर र का विधान किया है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से

शास्त्र विहित नियम प्रायः अनेक दृष्टिकोणों को अपने सा समन्वित करके चलते हैं इसलिए इस नियम को हम शारी शास्त्र (Physiology) दृष्टि से परखना चाहते हैं। मान शरीर को ध्यान से देखिए। मध्य में वीर्यकोष है, यहां से च वाली लाल रंग की नाड़ी—जिसे आयुर्वेद में लोहिति या रक्तवाहिनी कहा जाता है—दाहिने कान से हो

मनुष्य के मल-मूत्रद्वार तक पहुंचती है। यों तो मनुष्य शरीर के नवों दर्वाजों से अनेक प्रकार का मल निकलता रहता है किन्तु वीर्यरूपी मल जो कि शरीर रूपी भवन की नींव के समान है—मल या मूत्रद्वार से ही क्षरित हुआ करता है। प्रायः शौच के समय जोर लगाने से या लघुशङ्का के साथ वीर्य अज्ञात रूप से स्खलित होने लगता है और ध्यान न देने पर यह एक भयङ्कर रोग का रूप धारण कर लेता है जिससे शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट होकर मनुष्य जीवित ही मृतवत् हो जाता है, यदि इस नाड़ी को किसी प्रकार ध दिया जाय या उसके प्रवाह को किसी भांति रोक दिया जाय तो फिर वीर्य के स्खलित होने का किसी प्रकार का भय नहीं रहता। क्रान्तदर्शी महर्षियों ने इन सब बातों का प्रत्यक्ष अनुभव करके इस नाड़ी के भेदन के लिए जहां एक ओर कर्ण-वेध की रीति प्रचलित की थी, वहां यज्ञोपवीत द्वारा उस नाड़ी को बांधने का स्वास्थ्यकर नियम भी प्रचलित किया था। इसके कारण वे वीर्यरक्षा में तो समर्थ होते ही थे किन्तु यज्ञोपवीत की पवित्रता को भी अक्षुण्ण रखते थे।

लौकिक दृष्टि से

लौकिक दृष्टि से कान पर यज्ञोपवीत का होना, मनुष्य के पवित्र हाथ पांव होने का एक चिन्ह है—जिसे देखकर दर्शक से ही समझ सकता है कि अमुक व्यक्ति जब तक मिट्टी आदि हाथ मांज कर शुद्धि आदि न कर ले तबतक वह अस्पृश्य है। कल नयी सभ्यता में पले हुए महानुभाव शौचोपरान्त शुद्धि ख्याल नहीं रखते जिससे हाथों में समाये मल के कीटाणु क प्रकार के रोगों के कारण बनते हैं। यज्ञोपवीत ऐसी दशा

में शुद्धि करने की प्रेरणा प्रदान करता है उसका यह मोटा लाभ है जिसे सर्व साधारण समझ सकते हैं।

यज्ञोपवीत निर्माण विधि–

यज्ञोपवीत है तो सूत के धागों से बना हुआ नौ तार का एक डोरा ही,—परन्तु यह नौतार एक विशेष विधि से बने हुए होने चाहिएँ, मनमाने तरीके से सूत के कुछ धागों को बटकर यज्ञोपवीत नहीं बनाया जा सकता—वह तो सूत का डोरा मात्र होगा—यज्ञोपवीत नहीं।

विशेष विधि क्यों ?

हमने पीछे बतलाया है कि यज्ञोपवीत द्विजाति के उन सम्पूर्ण उत्तरदायित्व, कर्तव्य भार, एवं उदात्त भावनाओं का प्रतीक है जो ईश्वर ने उसे सौंपी हैं। इसका सीधा अर्थ है कि यज्ञोपवीत महज एक सूत का डोरा नहीं किन्तु भावना सम्बन्धी अंश से व्याप्त एक ऐसा सूत्र है, जो हमारे जीवन को श्रुति-स्मृत्यनुमोदित मार्ग से भटकने से रोकता है। यदि उसके भावना सम्बन्धी अंश को हम सर्वथा भुलादें तो वह यज्ञोपवीत नहीं किन्तु सूत के चन्द धागों के अतिरिक्त कुछ न होगा। इन भावनाओं की जागृति के लिए ही शास्त्रकारों ने यज्ञोपवीत निर्माण की विधि निर्धारित की है और साथ ही यह भी व्यवस्था दी है कि प्रत्येक यज्ञोपवीत धारी स्वयं अपने हाथ के परिमाण से यज्ञोपवीत का निर्माण करे। जब हम स्वयं अपने हाथ से निर्माण करेंगे तभी उस विधि में होनेवाली तत्तद् क्रियाओं के प्रति हमारे हृदय में जिज्ञासा पैदा होगी जिसका समाधान हम आचार्य या कुल-गुरुओं की सेवा में प्राप्त कर सकेंगे। इससे हमारे हृदय का अज्ञान ही दूर

होगा अपितु यज्ञोपवीत धारण से हम कितना गुरुतर भार अपने कन्धों पर उठाने को प्रस्तुत हो रहे हैं, कितनी भारी जुम्मेदारी हमारे ऊपर आपड़ी है यह सब बातें भी हमें भली भांति ज्ञात होंगी। यदि विना परिश्रम या बिना किसी विशेष विधान के हम सूत से यज्ञोपवीत तैय्यार करें या बाजार से खरीदें तो इन सब भावनाओं की ओर हमारा ध्यान जाना सर्वथा असंभव है।

वह कौन २ भावनायें हैं ? इसका विवेचन तो हम आगे करेंगे पहिले संक्षिप्त में यज्ञोपवीत निर्माण विधि का वर्णन करना अनुचित न होगा। महर्षि कात्यायन कहते हैं—

अथातो यज्ञोपवीतनिर्माणप्रकारं वक्ष्यामः। ग्रामाद्बहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वाऽनध्यायवर्जितपूर्वाह्ने कृतसंध्याष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथाशक्ति गायत्रीं जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या वा कृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमां षण्णवतीं मिनोति, भुवरिति द्वितीयां, स्वरिति तृतीयां मीत्वा, पृथक् पलाशपत्रे संस्थाप्य, आपोहिष्ठेति तिसृभिः, शन्नो देवीत्यनेन सावित्र्याचाभिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रिः संताड्य, व्याहृतिभिस्त्रिवलितं कृत्वा, पुनस्ताभिस्त्रिगुणितं कृत्वा, पुनस्त्रिवृतं कृत्वा प्रणवेन ग्रन्थिं कृत्वोङ्कारमग्निं नागान् यमपितॄन् प्रजापतिं वायुं सूर्यं विश्वान् देवान् नवतन्तुषु क्रमेण विन्यस्य संपूजयेद्। देवस्येत्युपवीतमादाय, उद्वयं तमसस्परीत्यादित्याय दर्शयित्वा यज्ञोपवीतमित्यनेन

धारयेदित्याह भगवान्कात्यायनः ।

(कात्यायन परिशिष्ट)

अर्थात्—अब हम यज्ञोपवीत बनाने की विधि कहते हैं। यज्ञोपवीत बनाने वाले को चाहिए गांव से बाहर किसी तीर्थ-स्थान मन्दिर या गोशाला में जाकर अनध्याय रहित किसी भी दिन संध्यावन्दनादि नित्यकर्म तथा यथाशक्ति गायत्री जप करके ऐसे सूत से यज्ञोपवीत बनावे जो किसी ब्राह्मण द्वारा या ब्राह्मण-कुमारी द्वारा अथवा सधवा ब्राह्मणी द्वारा बनाया हुआ हो। इस सूत को 'भूः' इस मन्त्र का उच्चारण कर ९६ अंगुष्ठ सहित चारों अंगुलियों के मूल पर लपेटे और उसे उतार कर किसी ढाक के पत्ते पर रख दे। इसी प्रकार 'भुवः' इस शब्द का उच्चारण कर दूसरी बार, और 'स्वः' इस शब्द का उच्चारण कर तीसरी वार हाथ पर लपेटे। अनन्तर **'आपोहिष्ठा' 'शन्नोदेवी' 'तत्सवितुः'** इत्यादि तीन मन्त्रों से उन्हें जल से भिगोकर बांये हाथ में रखकर तीन बार फटकारे। फिर तीन व्याहृतियों से उसे एक बटा देकर एक रूप बनाले। फिर उन्हीं मन्त्रों से उसे त्रिगुणित करे और बटकर एक रूप बना ले उसको फिर त्रिगुणित करके प्रणव से उसमें ब्रह्मग्रन्थी लगावे। उसके ९ तन्तुओं में ॐकार अग्नि आदि देवताओं का क्रमशः आवाहन और स्थापन करे। **'उद्वयं तमसस्परि'** इत्यादि मन्त्र से सूर्य के सन्मुख करके **'यज्ञोपवीतं'** इस मन्त्र से धारण कर ले।

कात्यायन से मिलती जुलती निर्माण विधि ही अन्य गृह्यसूत्रों में भी मिलती है। महर्षि देवल आदि स्मृतिकारों ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। इस विधि को पढ़कर साधारण व्यक्ति एक बारगी चकित रह जाता है, वह समझता है यह

व्यर्थ का गारख धन्धा है जो श्रद्धालु जनता को भरमाने के लिए बनाया गया है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उपरोक्त सभी क्रियाएँ वैज्ञानिक एवं गूढ़ अभिप्रायपूर्ण हैं जिनको समझ लेने पर हमें उन मेधावी महर्षियों की बुद्धि का कायल होना पड़ता है जिन्होंने आज से लाखों वर्ष पूर्व इन तत्त्वों का प्रत्यक्ष अनुभव करके उससे मानव जातिको कृतकृत्य किया।

९६ चप्पे क्यों ?

सब से प्रधान प्रश्न यह है कि यज्ञोपवीत का परिमाण ९६ चप्पे ही क्यों है ? ९५ या ९७ क्यों नहीं, एकाध ज्यादा या कम हो गया तो उससे क्या हानि ? कम से शायद कुछ हानि हो सकती है किन्तु **'अधिकस्याधिकं फलम्'** तो होना चाहिये।

वादी का उपरोक्त प्रश्न ठीक है, किन्तु क्या सांसारिक व्यवहार में हम ऐसे उदाहरण नहीं देखते जहां एक निश्चित परिमाण ही कार्य की सफलता का कारण माना जाता है। उससे कम या उससे अधिक परिमाण से उसका फल सर्वदा विपरीत हो जाया करता है। रासायनिक विज्ञान (Chemistry) के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं कि उसमें एक निश्चित परिमाण में अमुक वस्तुओं का संयोग ही पदार्थान्तर की उत्पत्ति का कारण बन जाया करता है।

उदाहरणतया—कार्बन के अणुओं में एक निश्चित पृथक् २ क्रम और ताप उत्पन्न करके उसे हीरा, काला सीसा (Graphite) और चारकोल में परिवर्तित कर दिया जाता है। यह तो प्रायः सभी जानते हैं कि यदि दो दो तोले शहद और मक्खन मिला लिया जाय तो वह विष बन जाता है, कम या अधिक को मिलाने से कुछ नहीं बनता। इस प्रकार हम लोक में देखते हैं कि एक

निश्चित परिमाण ही कार्य सिद्धि का निमित्त होता है। फलतः यज्ञोपवीत में ९६ चप्पों के परिमाण का सिद्धिदायक होना कोई लोक विरुद्ध बात नहीं है यह तो हुआ कम या अधिक को सम्मिलित करने के विषय पर विचार। अब ९६ ही क्यों ग्रहण कि जायें इस विषय में शास्त्र सम्मत नीचे लिखे हेतुओं का अनुशीलन कीजिए।

(१) हमने पीछे कहा है गायत्री वेदमाता है। समस्त वेदों में वह इसी प्रकार व्याप्त है जैसे माता पृथक् होते हुए भी मांस रक्त मज्जा आदि धातुओं के रूप से पुत्रों के शरीर में सर्वदा व्याप्त रहती है*। गायत्री के चौबीस अक्षर होते हैं, चारों वेदों में व्याप्त गायत्री छन्द के सम्पूर्ण मिलाकर २४×४=९६ अक्षर हो जाते हैं। चूंकि यज्ञोपवीत एक ऐसा संस्कार है जिसमें द्विज बालक को गायत्री एवं वेद दोनों का अधिकार प्राप्त होता है इसलिये इस संख्या को दृष्टि में रखते हुए श्रुति ने ९६ चप्पे वाले यज्ञोपवीत को ही धारण करने का विधान किया है। निम्नलिखित कारिका में आचार्यों ने इसी भावको व्यक्त किया है-

चतुर्वेदेषु गायत्री चतुर्विंशतिकाक्षरी।
तस्माच्चतुर्गुणं कृत्वा ब्रह्मतन्तुमुदीरयेत्॥ (शिष्टस्मृति)

(२) हमारा शरीर २५ तत्त्वों से बना हुआ है, सत्वरजस्तम इन

---

*टिप्पणी—आयुर्वेद के मतानुसार मानव शरीर में विद्यमान पदार्थों में से वीर्य, अस्थि ओज शिरा स्नायु आदि की उत्पत्ति पिता के शुक्र से होती है और रक्त मज्जा मांस मेद की उत्पत्ति माता के रज से। वीर्य एवं रजगत सभी गुण दोष सर्वदा मनुष्य शरीर के मूल में विद्यमान रहते हैं और इसी से कुल परम्परागत रोग एक से दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाया करते हैं। (सुश्रुत ३–३६)।

गुणत्रय से यह सर्वदा व्याप्त रहता है। फलतः २८ संख्यात्मक-समुदाय वाला यह शरीर तिथि, नक्षत्रादि विविध भागों में विभक्त अनेक मानव संवत्सर पर्यन्त, इस संसार में जीवन धारण करता है। यह जीवन लक्ष्यहीन नहीं है। 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' आज के सभ्य तथा प्रगतिशील मानव समाज का सिंहनाद भले ही हो किन्तु जीवन के एक २ क्षण को प्रभु का अमित वरदान समझने वाले महर्षियों ने इसका सर्वात्मना सदुपयोग किया और ईश्वरीय ज्ञान वेद का अवलम्बन करके ब्रह्म प्राप्ति का शाश्वत् लक्ष्य मनुष्य के सामने रक्खा। अब यदि उपरोक्त सभी पदार्थों की संख्या का समन्वित योग किया जाय तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि यह भी ९६ ही होता है, यथा—

तत्त्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३, मास १२, इन सब का जोड़ ९६ हुआ।

सामवेद छान्दोग्य परिशिष्ट में इसी अभिप्राय को लेकर '९६ चप्पे क्यों' के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

तिथिवारञ्च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्।
कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्॥

(३) **'लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षमेकं तु भारतम्'** इस आप्त वचन में वैदिक ऋचाओं की संख्या एक लाख बताई गई है। श्री भगवान् पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में वेद मन्त्रों की संख्या एक लाख बतलाई है। इन एक लाख मन्त्रों में ८०००० मन्त्र कर्मकाण्ड सम्बन्धी हैं, १६०० उपासना काण्ड सम्बन्धी और ४००० ज्ञान काण्डसम्बन्धी। ब्रह्मचर्यावस्था—अर्थात् उपवीत होने के

अनन्तर वानप्रस्थ पर्यन्त प्रत्येक द्विजाति कर्म और उपासना का अधिकारी होता है और चतुर्थाश्रम—सन्यास में चले जाने पर उसे ज्ञान का अधिकार मिलता है। वेद की उपर्युक्त मर्यादा के अनुसार चूंकि उपनीत होने वाले व्यक्ति को ९६ हजार ऋचाओं का ही अधिकार प्राप्त होता है इसलिए उस उपवीत का परिमाण भी ९६ चप्पे होना युक्तिसंगत ही है। शेष ४००० ऋचाओं के स्वाध्यायादि का जब अधिकार प्राप्त होगा तब यज्ञोपवीत की—जो प्रवृत्ति मार्ग के प्राणियों के लिए ही है कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए स्मार्त सन्यास धारण करने के समय उस मार्ग पर प्रस्तुत होने वाले व्यक्ति की शिखा और सूत्र दोनों वस्तुएं दूर कर दी जाती हैं।

यज्ञोपवीत की लम्बाई मोटाई के विषय में धर्मशास्त्रकारों की व्यवस्था है—

पृष्ठवंशे च नाभ्याञ्च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥
सिद्धार्थफलमानेन धार्यं स्यादुपवीतकम्।
यशोहरमतिस्थूलमतिसूक्ष्मं धनापहम्॥

अर्थात्—द्विजाति को ऐसा यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये जो कन्धे के ऊपर से आता हुआ और नाभि का स्पर्श करता हुआ कटि तक ही पहुँचे, न इससे नीचे और न ऊपर। उसकी मोटाई सरसों की फली की तरह होनी चाहिये यदि उससे अधिक मोटा होगा तो वह यश नाशक होगा और पतला धन नाशक। यह व्यवस्था ९६ चप्पे का यज्ञोपवीत होने पर ही ठीक बैठती

है। ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार की वैदिक प्रयोगशाला में जब इस सिद्धान्त का इसी दृष्टि से परीक्षण किया गया तो यह देखकर आश्चर्य की सीमा न रही कि ९६ चप्पेवाला यज्ञोपवीत बिलकुल कटि पर्यन्त ही पहुँचा जब कि अन्य परिमाण वाले यज्ञोपवीत इस कसौटी पर पूरे न उतरे। उसकी मोटाई आदि के बारे में जो कुछ कहा गया है वह कोई रहस्यमय उक्ति नहीं है। सभी लोग जानते हैं कि यज्ञोपवीत का इस परिमाण से अधिक मोटा होना अपने फूहड़पन तथा अयोग्यता का निर्देशक होने के कारण जहाँ स्पष्ट ही यश का नाशक है, वहाँ बहुत पतला यज्ञोपवीत बार २ टूट जाने के कारण धन नाशक होगा ही।

(५) सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार मानव शरीर का आयाम ८४ अंगुल से लेकर १०८ अंगुल तक होता है जिसका कि मध्यमान ९६ ही होता है। इस दृष्टि से यज्ञोपवीत के ९६ चप्पे होने ही उपयुक्त हैं।

तात्पर्य यह है कि विभिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से परखे गये उपरोक्त समाधानों का अनुशीलन करने के बाद प्रत्येक विचारशील पाठक इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि श्रुतिविहित स्मृत्यनुमोदित एवं मेधावी महर्षियों द्वारा समर्थित यज्ञोपवीत मान सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा सोच समझकर ही निर्धारित किया गया है।

तीन सूत और त्रिवृत क्यों ?

तीन की संख्या ऐहलौकिक और पारलौकिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक सभी क्षेत्रों में अपना विशेष स्थान रखती है। ऋग् यजु, साम–वेद तीन; पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु,–लोक तीन;

सत्त्व, रजः तम–गुण तीन; ब्रह्मा, विष्णु महेश–प्रधान देवता तीन; गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण–अग्नि तीन, और यज्ञोपवीत के अधिकारी भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–तीन ही। ऐसी दशा में यज्ञोपवीत के निर्माण में भी तीन सूत का उपयोग सर्वथा सुसंगत ही है। जब यह समस्त विश्व ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अभिन्न निमित्तोपादान कारण से निर्मित है, इसके प्रत्येक कण में त्रिगुण ओतप्रोत है तब यज्ञोपवीत का त्रिगुणात्मक तन्तुओं से निर्माण और त्रिवृतकरण कोई समझ में न आने लायक बात नहीं है।

इसका अभिप्राय यह भी है कि इसे ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ तीन आश्रमों में रहते हुए धारण किया जाता है। चतुर्थाश्रम में पहुँचने पर जब मनुष्य स्मार्त ज्ञान मार्ग की ओर अग्रेसर होता है तब यज्ञोपवीत से उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता।

चूंकि यज्ञोपवीत के धारण से मनुष्य देवत्व की ओर अग्रेसर होता है—मृत्युलोक से ऊपर उठता है, इसलिये उन तीन सूतों को महाव्याहृति मन्त्रों से ऊपर को ही ऐंठा जाता है यह क्रिया मानों उसे ऊर्ध्व गमन की प्रेरणा देती है।

तीन सूत्र से निर्मित यह उपवीत उपरोक्त विधि से निर्मित होने पर अब नव तन्तुमय सूत्र बन जाता है। यह नवों तन्तु साधारण तन्तु नहीं किन्तु विभिन्न देवताओं के आवास स्थान होते हैं। गृह्य सूत्रकारों ने लिखा है कि यज्ञोपवीत तय्यार हो जाने पर उसके नव तन्तुओं में विधिवत् निम्नलिखित देवताओं का आवाहन प्रतिष्ठापन करे। अमुक २ देवताओं का यह आवाहन और प्रतिष्ठापन 'भावनावाद' के अनुसार हमारे हृदय में तत्तद् देवताओं के विशेष गुणों का सञ्चार करेगा।—'मैंने तेज धृति शुचि आदि विविध गुण परिपूर्ण देवताओं से अध्यासित

उपवीत को धारण किया है। मैं तेजस्वी हूँ, मैं धृतिमान हूँ, मैं शुद्ध हूँ' आदि भावनाएँ हमारे चारित्रिक एवं नैतिक विकास में कितनी उपयोगी सिद्ध होती हैं इसे प्रत्येक विचारशील पाठक सहज ही अनुभव कर सकता है।

इन देवताओं की विद्यमानता से मनुष्य की मानसिक वृत्तियें विपथगामी न होकर शास्त्र निर्दिष्ट श्रेय मार्ग के प्रति प्रवृत्त होती हैं, कलुषित विचारों का दमन होता है और शुभ विचारों का उदय। जिस प्रकार राजा के सान्निध्य में मनुष्य दुराचरण में प्रवृत्त होते हुए भयभीत होते हैं इसी प्रकार इन देवताओं के सानिध्य से भी उसका मन पाप की ओर प्रवृत्त होने में भय का अनुभव करता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा भली भांति देखी जा सकती है कि जब मनुष्य विपथगामी होने लगता है तो सब से पहिले वह यज्ञोपवीत को ढोंग समझकर बाहर फेंक देता है। इससे उसका स्वच्छन्द मन भारमुक्त हो जाता है। जिन देवताओं के सान्निध्य से पाप करते हुए उसका हृदय कांपता था, उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों में बाधा पड़ती थी उन्हें दूर करके ही उसका अज्ञ हृदय प्रसन्नता अनुभव करने लग जाता है। अब उसके सामने भक्ष्याभक्ष्य और कार्याकार्य का कोई बन्धन नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञोपवीत में ऐसी कोई शक्ति अवश्य थी जो बार-बार उसके हृदय को टोकती थी और उसे पापाचरण में प्रवृत्त होते समय रोकती थी।

यह ९ देवता कौन-कौन हैं इसके लिए सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट में लिखा है—

ॐ कारोऽग्निश्च नागश्च सोमः पितृप्रजापती ।
वायुः सूर्यश्च सर्वश्च तन्तुदेवा अमी नव ॥

ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च ।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता ॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः ।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च ॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः ॥

निम्नलिखित कोष्ठक से आहवनीय देवताओं और उनके गु
विशेष का परिचय मिल सकता है ।

नाम तन्तु	अधिष्ठाता	गुण
१	ॐकार	ब्रह्मलाभ
२	अग्नि	तेजस्विता
३	अनन्त	धैर्य
४	चन्द्र	आह्लादकत्व
५	पितृगण	स्नेह
६	प्रजापति	प्रजापालन
७	वायु	शुचित्व
८	सूर्य	प्राणत्व
९	सर्वदेव	सर्वगुण

ब्रह्मग्रन्थि क्यों ?

यज्ञोपवीत निर्माण विधि में पीछे बतलाया गया है कि यज्ञ-सूत्र के तैय्यार हो जाने पर उसमें प्रणव रूपी महामन्त्र का उच्चारण करता हुआ ब्रह्मग्रंथी लगावे । यह ब्रह्मग्रंथी ब्रह्मसूचक ग्रंथी होने के कारण ही ब्रह्मग्रन्थी कहलाती है । यह समस्त विश्व ब्रह्म

से प्रादुर्भूत हुआ है और अन्त में उसी में लय हो जायेगा। 'हरिरेव जगद् जगदेव हरिः' के अनुसार यह समस्त संसार ब्रह्म की ही छाया माया है और उससे भिन्न संसार में कुछ भी नहीं है। मनुष्य इस महान् तत्त्व को भुलाकर ही काम-क्रोध लोभ-मोहादि सांसारिक प्रपंचोंमें लिप्त हो जाता है। इस सर्वदा स्मरणीय तत्त्वको प्रतिक्षण ध्यान में रखने के अभिप्राय से ही यज्ञोपवीत अन्त में ब्रह्मग्रन्थी पर समाप्त होता है। संसार में प्रायः यह परिपाटी प्रसिद्ध है कि जब हम किसी वस्तु को विशेषरूप से स्मरण रखना चाहते हैं तो उसके लिए कपड़े में एक गांठ लगा लिया करते हैं। 'गांठ बांध लेना' ऐसे ही अर्थ में एक सुप्रसिद्ध लोकोक्ति तक बन गई है। फलतः ब्रह्मप्राप्ति रूप चरम लक्ष्य की स्मारक ही यह ग्रंथी 'ब्रह्मग्रन्थी' कहलाती है। प्रणव रूपी महामन्त्र स्वयं समस्त वेद राशिका संक्षिप्ततम रूप है। उसमें विद्यमान अ+उ+म् यह तीनों वर्ण सत्त्वरजस्तम तथा ब्रह्मा विष्णु रुद्ररूपी ब्रह्माण्ड-नियामक तीनों शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक वाङ्मय मूलाधारभूत प्रणव से उस उपवीत में ग्रन्थी बन्धन प्रणव जप द्वारा ब्रह्म में लय होने की शास्त्रीय पद्धति का कितना सुन्दर निदर्शन है—यह अनायास ही समझा जा सकता है।

ब्रह्मग्रन्थी के ऊपर अपने-अपने गोत्र प्रवरादि के भेद से १, ३ या ५ गांठ लगाने के शास्त्रीय विधान का तात्पर्य अपनी कुल-परम्परा से आती हुई शास्त्र मर्यादा की रक्षा है और है उन पुण्यात्माओं पूर्वपुरुषों का स्मरण जिनके हम उत्तराधिकारी हैं, जिनकी सुदीर्घ तपश्चर्या अटूट परिश्रम और सत्यनिष्ठा के कारण आज हम सम्मान के साथ जीवित हैं।

दो यज्ञोपवीत क्यों ?

(क) ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातकस्य द्वे बहूनि वा।
(आश्वलायन गृह्यसूत्र)
(ख) यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि।
तृतीयमुत्तरार्थे च वस्त्राभावे तदिष्यते॥
(हेमाद्रि)

अर्थात्—(क) ब्रह्मचारी का एक यज्ञोपवीत होना चाहिए, स्नातक के दो या उससे अधिक। (ख) श्रौत स्मार्त कर्मों की निष्पत्ति के लिए दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहियें, यदि उत्तरीय वस्त्र न हो तो तीसरा धारण किया जा सकता है।

धर्मशास्त्रकारों की उपर्युक्त व्यवस्था सम्बन्धी 'क्यों' का उत्तर (ख) भागोल्लिखित श्लोक में ही दे दिया गया है। ब्रह्मचर्यावस्थामें द्विज बालकका कार्य केवल अग्नि परिचर्या और गुरु शुश्रूषापूर्वक विद्याध्ययन है। कर्मकाण्ड के अन्य जटिल जंजाल से उस बटुक को शास्त्रों ने सर्वथा दूर रक्खा है क्योंकि ऐसा न करने से उसके अध्ययन में विघ्न पड़ने की पूरी सम्भावना है जैसा कि आजकल भी विद्यार्थियों को सब प्रकार के राजनैतिक संघर्षों से दूर रखने का प्रयत्न किया जाता है। चूंकि उस बालक को ब्रह्मचर्य्यावस्था में रहते हुए गृहस्थाश्रम में होने वाले काम्यकर्मादि नहीं करने पड़ते, इसलिए गृह्य सूत्रकारोंने उसे यज्ञवेदी पर एक ही यज्ञोपवीत धारण करने का विधान किया है। स्नातक हो जाने के उपरान्त मनुष्य को सभी प्रकार के श्रौत और स्मार्त कर्मों के करने की आवश्यकता पड़ती है इसलिए उभयविध कर्मों के प्रतिनिधि स्वरूप दो यज्ञोपवीत धारण करने

का शास्त्रीय नियम सुसंगत होता है। लोग कहा करते हैं कि दूसरा यज्ञोपवीत स्त्री के हिस्से का है। उनके इस कथन का तात्पर्य इतना ही हो सकता है कि चूंकि स्त्री के आ जाने पर–समावर्तनानन्तर गृहस्थमें प्रवेश कर लेने पर–ही यह दूसरा यज्ञोपवीत धारण किया जाता है अतः लक्षणा से स्त्रीमूलक होने के कारण इस यज्ञोपवीत को स्त्री के हिस्से का कहना अनुपयुक्त नहीं। इसके अतिरिक्त सगुण और निर्गुण भेद से उभयविध ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले होने के कारण दो ही ब्रह्मसूत्र धारण करने चाहियें।

स्त्री शूद्रोपनयन विचार

सभ्यता संस्कृति एवं विभिन्न विचारों के इस संघर्षमय युग का विषाक्त प्रभाव सभी दिशाओं में पड़ा है और उससे मानव हृदय में अनन्तकाल से विद्यमान श्रद्धा एवं विश्वासमयी भावनाओं की सुदृढ़ नींव भी एकबारगी हिल उठी है। लोग शास्त्रवाद से, तर्क–अनैकान्तिक तर्कवाद की ओर आ रहे हैं और प्राचीन समय से चली आने वाली सभी व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न करके मन-माना आचरण ही आज का धर्म हो गया है। जन-कल्याण-विधायिनी श्रुति माता ने, क्रान्तदर्शी महर्षियों तथा स्मृतिकारों ने त्रैवर्णिक पुरुषों को यज्ञोपवीत धारण करने का आदेश दिया था उन्हें तो वह व्यर्थ भार प्रतीत हो रहा है और जिनको श्रुति ने उपनयन के कठिन नियमों से मुक्त कर सरल पद्धति से कल्याण का अधिकारी बनाया वे स्त्री शूद्रादि, आज यज्ञोपवीत धारण करने के लिये उतावले दिखाई पड़ते हैं।

उनके उपनयन और वेदाध्ययन को सिद्ध करने के लिये जहाँ एक ओर हृदयग्राही रोचक तर्कों का आश्रय लिया जाता है वहाँ

साथ ही वेद धर्मशास्त्र स्मृति-पुराण का आलोडन करके-उसमें लम्बी-चौड़ी डुबकियें लगाकर तत्सम्बन्धी प्रमाणों की पड़ताल करने में भी आकाश-पाताल एक किया जा रहा है।

हमारे विचार में यदि उपनयन सम्बन्धी इस निबन्ध में उपरोक्त विषय पर प्रकाश न डाला जाय तो यह अधूरा ही रहेगा एतदर्थ इस पर भी लगे हाथों कुछ विचार व्यक्त करना अप्रासंगिक न होगा।

आज के प्रगतिशील कहे जाने वाले सुधारकों की ओर से कहा जाता है कि जब भगवान् की प्रत्येक वस्तु मनुष्यमात्र के लिये बनाई गई है, यथा—सूर्य, चन्द्र, तारागण, वायु, जल, जंगल, पहाड़, पशु-पक्षी इत्यादि, तब वेद से या वेदप्रोक्त उपनयनादि संस्कारों से जिनमें मनुष्यमात्र का कल्याण निहित है-स्त्री एवं शूद्रों को क्यों वंचित रखा जाता है ? ज्ञान पर ताला लगाना या उसे किसी की बपौती समझकर दूसरों को उसे प्राप्त करने से रोकना कहाँ तक उचित है ? इस प्रकार की कल्याणमयी पद्धतियों पर और संस्कारों पर मनुष्यमात्र का समान अधिकार होना चाहिए। ऐसा न करना जहां एक ओर स्त्री शूद्रों के प्रति घोर अन्याय है, वहाँ साथ ही वेद की उस आज्ञा का प्रत्यक्ष विरोध भी, जिसके द्वारा उसने मनुष्यमात्र के लिए ज्ञान के द्वार खोल रखे हैं। **'यथेमां वाचं कल्याणीं'** आदि अनेकों मन्त्र और ऐतिहासिक साक्षियें इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं कि प्राचीनकाल में प्रत्येक पुरुष को समान रूप से उपनयन वेदपाठ आदि का अधिकार था आदि-आदि।

उपरोक्त तर्कों को सुनने और पढ़ने का अवसर हमें प्रायः मिलता ही रहता है। इधर सं० २००२ में जबकि हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के धर्मविज्ञान विभागके प्रोफेसरों द्वारा विश्व-

विद्यालय के फारसी के प्रोफेसर मु० महेशप्रसाद जी एम० ए० 'मौलवी फाजिल' की कन्या कल्याणीदेवी को वेद पढ़ाना अस्वीकार कर दिया गया तबसे इस विषय की ओर लोगों का अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ। इस घटना ने शांत वातावरण में एक क्रान्ति-सी पैदा कर दी, सुधारकों और नवशिक्षित वेदज्ञाभिमानियों ने अखबार के कालम के कालम रंग डाले। तरह-तरह की पुस्तकें प्रकाशित की गईं जिनका एकमात्र उद्देश्य उसके वेदाधिकार का समर्थन था।

इस आन्दोलन में हमें दो प्रकार के व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं। एक वे जो वेद धर्मशास्त्र आदि के नाम पर ऐसा करना चाहते हैं, दूसरे वे जो वेद शास्त्रादि को कोई प्रामाण्य न देते हुए तर्क के बल पर ही आरूढ़ हैं। पहिलों का कथन है कि वेद में कोई इस प्रकार का वचन नहीं है जिससे स्त्री शूद्रों के उपनयन या वेदाध्ययन का निषेध हो, यह तो रूढ़िवादियों द्वारा प्रचलित संकुचित मनोवृत्तिपूर्ण सिद्धान्त है—जिसका कि किसी आर्षग्रन्थ से समर्थन नहीं होता। तदनुसार हम प्रथम इस प्रकार के प्रमाण उपस्थित करेंगे जिनसे विदित होता है कि वेद से लेकर तदुपबृंहण रूप स्मृति, सूत्र, पुराणादि सभी ग्रंथों में कितने स्पष्ट शब्दों में स्त्री शूद्र के उपनयनदि का निषेध समुपलब्ध होता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि उपनयन तथा वेदाध्ययन इनका परस्पर आश्रयाश्रयी भाव सम्बन्ध है। यज्ञोपवीत या ब्रह्मसूत्र की परिणति यज्ञ और ब्रह्म—अर्थात् वेद के अध्ययन में है। सीधे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि यज्ञोपवीत इसलिए किया जाता है कि उपनीत व्यक्ति को यज्ञ और वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो सके। यज्ञोपवीत और ब्रह्मसूत्र इन दोनों शब्दों से स्वयं ही यह अर्थ ध्वनित हो रहा है। इसी प्रकार यज्ञ

और ब्रह्म=वेद की सार्थकता भी यज्ञोपवीत से ही है। बिना यज्ञोपवीत के न यज्ञ किया जा सकता है न वेद-पाठ। किम्बहुना, यज्ञोपवीत, यज्ञ और वेद यह तीनों परस्पर समाश्लिष्ट हैं और एक-दूसरे के लिये सापेक्ष्य भी। इसलिए इनमें से एक वस्तु का भी विधान तीनों का विधान है और एक का निषेध तीनों का निषेध। इसलिये अधोलिखित निषेध वचनों में किसी एक का विधान या निषेध देखने पर इस प्रकार का संशय व्यर्थ है कि अन्यों का तो विधान या निषेध है ही नहीं।

निषेध परक प्रमाण

(क) स्तुता मया वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। (अथर्व० १९।७१।१)

(ख) सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति, तस्मात्सर्वथा नाचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति।

(अथर्व०, नृसिंह पू० ता० १।३)

(ग) स्त्रीणां शूद्रांधपंगूनां वधिराः पतिताश्च ये।
क्लीबानां नैव काणानां वेदविद्याधिकारिता॥

(अस्यवामीय सूक्त आत्मानन्द भाष्य)

(घ) आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः

(अथर्व० ११।५।३)

(ङ) ब्रह्मचारी एति समिधासमिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। (अथर्व० ११।५।६)

(च) वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥
(मनु० १।६७)

(छ) न वै देवाः सर्वेणैव संवदन्ते ब्राह्मणेनैव राजन्येन वा वैश्येन वा ते हि यज्ञीयाः ।

(ज) नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥
(मनु० ११।३९)

(झ) तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ।
(याज्ञ० शिक्षा १।२।१३)

(ञ) तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ।
(मीमांसादर्शन ६।१।२४)

(ट) सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति, शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन कृतत्वात् । (१।३।३४)

(ठ) अयं स होता यो द्विजन्मा । (ऋ० १।१४९।५)

(ड) तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः । (ऋ०. १।१४९।५)

(ढ) 'अपि तत्रभवान् वृषलं याजयति' अहो अन्याय्यमेतत् । 'कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत् । यच्च यत्र वा तत्रभवान् वृषलं याजयेद्, गर्हामहे

अन्याय्यमेतत् ।

(स्वा० दयानन्द लकारार्थ प्रक्रि० पृ० २६२, ६३, ६

(ण) स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । (श्रीमद्भ

(त) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला...

(संस्कार विधि पृ० २३

अर्थात्—(क) द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य को पवित्र कर वाली वेदरूपी माता मेरे द्वारा स्तुत होकर मुझे (ज्ञान की प्रेरणा करे। (ख) गायत्री मन्त्र, ॐकार, यजुर्वेदोपलक्षित यज्ञादि का अधिकार स्त्री शूद्र के लिए अभीष्ट नहीं, यदि वे हठात् इनको ग्रहण करें तो मरने पर नरक को प्राप्त होते हैं। यदि आचार्य उन्हें इनका उपदेश दे तो वह भी नरक को प्राप्त हो। (ग) स्त्री शूद्र, अंधा, लँगड़ा, बहरा, पतित, नपुंसक और काणा-इन्हें वेद का अधिकार नहीं। (घ) आचार्य ब्रह्मचारी को (ब्रह्मचारिणी को नहीं) उपनीत करके तीन रात्रिपर्यन्त अपने पास रखता है और फिर वह जब ज्ञानी बनकर बाहर आता है तब देवता भी उसके दर्शन के लिए लालायित होते हैं। (ङ) मृगचर्म मेखला-धारी दीर्घ श्मश्रुवाला ब्रह्मचारी (क्या स्त्री मेखला कौपीन धारण पूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करती है और मूछ दाढ़ी वाली होती है?) यज्ञ के लिए समिधा लेकर आता है। (च) स्त्रियों का विवाह ही उनके यज्ञोपवीत संस्कार के समान है, पति-सेवा गुरुगृहवास स्थानीय है, और घर का काम-काज—भोजनादि बनाना ही अग्न्याधान है। (छ) देवता सभी से हवि ग्रहण नहीं करते, वे तो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य से दी हुई ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि इनका ही यज्ञ में अधिकार है। (ज) कन्या, युवति स्त्री, थोड़ा पढ़ा हुआ, मूर्ख, बीमार, संस्कारहीन को अग्निहोत्र में 'होता'

हीं बनाया जा सकता । (झ) विवाह को छोड़कर स्त्रियों के ेष सभी संस्कार विना मन्त्र के ही होते हैं। (ञ) स्त्री, पुरुष के ुल्य नहीं हो सकती क्योंकि वह ब्रह्मचर्य आदि कई बातों में उससे भिन्न है। (ट) केवल 'उसमें ऐसा करने की ताकत है' इतनेमात्र से किसी को अधिकार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि ास्त्रीय विषय में तो शास्त्रीय शक्ति की ही आवश्यकता है। स्त्रियों की शास्त्रीय सामर्थ्य तो यज्ञोपवीत के न होने से ही उनमें न रही फिर उनका यज्ञ में अधिकार कैसा ? (ठ) जो, द्विज माता-पिता से उत्पन्न है वही 'होता' हो सकता है। (ड) इसलिए शूद्र का यज्ञ में अधिकार नहीं। (ड) क्या तुम शूद्र को ज्ञ करवाते हो, यह तो बड़ा अन्याय है। आप शूद्रों को यज्ञ से करवाओगे। आप जहाँ कहीं शूद्रों को यज्ञ करायेंगे हम सकी निन्दा करेंगे, यह बड़ा अन्याय है। (ण) स्त्री शूद्र और तित द्विजों को वेदत्रयी का अधिकार नहीं।

श्रुति स्मृति पुराण प्रतिपादित शतशः प्रमाणों में से उद्धृत न कतिपय प्रमाणों को देखकर पाठक स्वयं सत्यासत्य का र्णय कर सकते हैं, कि स्त्री शूद्रों का वेदाऽनध्यन तथा उपनयनाभाव रूढ़िमात्र पर अवलम्बित है या शास्त्रीय प्रमाणों र ? इन डेढ़ दर्जन प्रमाणों की उपस्थिति में इस प्रकार की क्तियें बालविजृम्भित ही नहीं किन्तु आर्ष साहित्य के प्रति पनी अज्ञता का स्पष्ट प्रदर्शन भी हैं।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कुछ और भी बातें चारणीय हैं जिनसे इस दिशा में काफी प्रकाश पड़ता है।

(१) जैसा कि हम पीछे कह आये हैं उपनयन काल के संबंध श्रुति की व्यवस्था है कि—'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्, ग्रीष्मे राज-म्, शरदि वैश्यम्'। भगवान् कृष्ण ने—'ऋतूनां कुसुमाकरः' कह

कर वसन्त को अपनी विभूति बतलाया है, अतः दैव सम्पत्ति ब्राह्मण बालक के उपनयन के लिए वसन्त ऋतु का, निदाघ उत्तप्त सूर्य के सदृश प्रखर तेजस्वी क्षत्रिय बालक के लिए ग्री का और शरद् ऋतु की पोषक शक्ति के अनुरूप वैश्य पुत्र के लि शरद् ऋतु का विधान तो शास्त्रकारों ने कर दिया किन्तु शूद्रों लिये उन्हें अनुकूल ऋतु ही नहीं मिली इसलिए उसके लिए विधान नहीं किया गया। यदि आज उनका यज्ञोपवीत किया तो वह किस ऋतु में हो और क्यों ? श्री स्वामी दयानन्द महाराज भी—जिन्होंने शायद स्त्री शूद्रों के उपवीत के लि प्रथम वकालत की है उनके लिए किसी ऋतु का निर्धारण न कर सके हैं और संस्कार विधि में—

'ब्राह्मण पदाधिकारी बालकका वसन्त, क्षत्रिय पदाधि कारी का ग्रीष्म, और वैश्य पदाधिकारी बालक का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करे।' (सं० वि० पृष्ठ ३१

—केवल ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का ही यज्ञोपवीत कह रह गये हैं।

(२) इसी प्रकार—'**अष्टमेऽब्दे ब्राह्मणम्, गर्भैकादशे राजन्य गर्भाद् द्वादशे वैश्यम्**' इस श्रुति द्वारा ब्राह्मणादि तीनों वर्णों उपनयन कालिक अवस्था का विधान है, जिस पर स्वामी दया-नन्द जी भी एकमत हैं। इसमें भी शूद्र बालक की अवस्था कोई चर्चा नहीं, तब यदि उसका यज्ञोपवीत हो तो किस अवस्था में हो और उसी में क्यों ? यह प्रश्न भी असमाधेय ही है।

(३) श्रुति के आदेशानुसार उपवीत होने वाले व्यक्ति को

डन कराकर गुरु के सन्मुख यज्ञवेदी पर उपस्थित होना पड़ता जहाँ आचार्य उसे ब्रह्मसूत्र पहिनाता है। उसके पुराने वस्त्रों को तारकर उसे कौपीन दण्ड मेखला आदि ब्रह्मचर्याश्रम के चिन्ह रण करने को दिये जाते हैं। तब आचार्य उसे अपने सान्निध्य ले लेता है और शास्त्रादेशानुसार ब्रह्मचर्य समाप्ति पर्यन्त उसे गृहमें रहकर विद्याध्ययन करना पड़ता है। श्रीस्वा० दयानन्द ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है—जिस दिन उपनयन रना हो उस दिन प्रातःकाल बालक को स्नानादि कराके ····· सन पर पूर्वाभिमुख बिठाये"। अब यहां प्रश्न होता है कि क्या ति प्रतिपादित एवं स्वामी दयानन्द जी से समर्थित यह क्षौर-ण्डनादि कन्याओं का भी कराया जायगा। वे भी कौपीन मेखला ण्ड आदि धारण कर गुरुगृह में रहेंगी या उन्हें इस नियम से क्त कर दिया जायगा। यदि प्रथम वस्तु हो तो वह कहां तक म्भव है। यदि दूसरी रीति का अवलम्बन करें तो उसके ग्रहण रने का शास्त्रीय वचन भी तो चाहिए। कदाचित् कहा जा कता है कि—इन अंगभूत कर्मों के अनुष्ठान किये बिना भी ज्ञोपवीत पहिनाया जा सकता है—किन्तु किसी प्रमाणभूत स्त्रीय वचन के अभाव में ऐसी व्यवस्था जहां कपोलकल्पित ने के नाते अमान्य है वहां साथ ही कर्म-वैगुण्य सम्पादक भी सकती है। ऐसी दशा में किया हुआ कर्म फिर उपनयन नहीं वह तो उपनयन का नाटक मात्र ही हुआ और विधिहीन ने के कारण तामस् ही कहा जायगा।

(४) लौकिक दृष्टि से देखने पर भी स्त्रियों के उपनयन और दाध्ययन का अनौचित्य स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, क्योंकि स्त्री स्त्रीत्व उन्हें प्रायः अपवित्र दशा में रहने को बाध्य करता है

जिससे यज्ञोपवीत के नियमों का पालन उसके लिए कठिन बन है। प्रतिमास रजस्वला होने पर, प्रसवकाल में, तथा बालकों मलमूत्र आदि में ही स्त्री का समय व्यतीत होता है। स्त्री के वक्षःस्थल पर ब्रह्मसूत्र लटकाना चाहते हैं वह तो धूलि धूस मलमूत्र दिग्धांग नवजात शिशु का दिन रात स्तनपान के स क्रीड़ा स्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरी के साथ कुतू से कल्लोल करेगा? तब—'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्' कहां रहा

(५) प्रकृति ने स्त्री को अबला बनाया है। उसका कारण है, कि पिता के थोड़े शुक्र तथा माता के अधिक रज से कन्या शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु होती है और रज तृतीय। पह सौम्य है दूसरा आग्नेय, अतः शुक्र की अपेक्षा रज सर्वदा निर्ब होता है। शुक्र से अस्थि आदि कठोर तथा शरीर को स बनाने वाली वस्तुएँ बनती हैं कन्या के शरीर में अस्थि आ कठोर वस्तुओं की गौणता होती है और रजोमूलक कोम वस्तुओं की अधिकता। अतः स्त्री प्रकृति से ही पुरुष की अपे निर्बल है। उसका शरीर अत्यन्त परिश्रम साध्य वेदाध्यय और २५ वर्षपर्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य के सर्वथा अनुपयुक्त है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—शुक्र निरोध। कन्याओं में शुक्र स्थानीय र होता है किन्तु उसका निरोध स्त्री के वस की बात नहीं। वह १२ वर्ष के बाद प्रतिमास प्राकृतिक नियमानुसार अवश्य क्षरि होता है। जब वह मुख्यार्थ में ब्रह्मचारी भी नहीं हुई, ऐसी द में ब्रह्मचर्याश्रम मूलक उपनयन तथा वेद में भी उसका अधिका कदापि नहीं हो सकता। रज को पुष्प कहा जाता है, उसके प्रकट होने का तात्पर्य प्रकृति के इस इंगित की ओर है कि उसे अ फलवती होना चाहिये। प्रकृति का इंगित उसके विवाह में है १२ वर्ष के बाद विद्याध्ययनार्थ गुरुकुल भेजने में नहीं। यदि

यदि कदाचित् स्त्री को वेदाध्ययन में प्रवृत्त किया भी जाय तो उस परिश्रम से उसके वे शारीरिक मज्जातन्तु—जिनकी सहायता से वह सन्तान प्रसव करती है निर्बल पड़ जाते हैं, जिसका परिणाम भावी सन्तान को भुगतना पड़ता है।

स्मृतिकारों ने जैसे अन्तिम वर्ण के अधिकार में सेवा का काम सौंपा था तथा उसे वेदाध्ययन और यज्ञोपवीत रूप कठोर व्रत से मुक्त कर दिया था। वैसे ही स्त्री को भी पति, उसके परिवार एवं सन्तति की सेवा का भार सौंपकर इस कर्तव्य पालन से ही उसे यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययनजन्य फलप्राप्ति का अधिकार दे दिया था, इसी सेवा से वह परलोक सुधार के साथ सामाजिक सुधार भी करती थी।

(६) उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि भेद से मन्त्रों का ठीक-ठीक उच्चारण शारीरिक तथा कण्ठ सम्पूर्णता विना सम्भव नहीं। वेदाध्ययनाधिकार में इस तथ्य का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है—'**स्त्रीणां शूद्रान्धपंगूनां**'—इत्यादि वचनानुसार जिनमें यह सम्पूर्णता जरा भी व्याहत दिखलाई पड़ी उन्हें वेदाधिकार से वञ्चित रक्खा गया है। श्रुति में उच्चारण शुद्धता का पूर्ण ध्यान रखना अत्यावश्यक है अन्यथा—'**स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति**' इस महाभाष्योक्ति के अनुसार उसका जरा-सा भी अशुद्ध उच्चारण लाभप्रद होने की बजाय प्रत्यवायजनक बन जाता है। अनेक पीढ़ियों से वेदोच्चारण में अभ्यस्त द्विज बालकों के कण्ठ में जो सम्पूर्णता विद्यमान है वह शूद्र बालकों के कण्ठ में नहीं। बड़े पढ़े-लिखे अंग्रेज हिन्दी का पर्याप्त अभ्यास करने पर भी मूर्धन्य अक्षरों का उच्चारण नहीं कर पाते। उनका—'बोलते हो' के स्थान में—'बोलटे हो' उच्चारण प्रायः प्रसिद्ध है। यही बात अन्य भाषाओं के विषय में भी है। अंग्रेजी और अरबी का

जितना शुद्ध निर्विकार उच्चारण एक अंग्रेज और अरब सकता है उतना हम लोगों से सम्भव नहीं । फलतः शूद्र वा से विशुद्ध और निर्विकार वेदोच्चारण की आशा करना शृंगायित है ।

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवाः शेषाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥

अर्थात्—उदात्त में निषाद गान्धार स्वर आते हैं, अनु में ऋषभ धैवत और शेष षड्ज मध्यम पञ्चम–ये तीन स्व के अन्तर्गत होते हैं । ऐसी दशा में कोकिलकण्ठी नारियों ऋषभ धैवत स्वर कैसे निकलेंगे और असंस्कृत शूद्र इनका प्रयोग कर सकता है ? इसलिए दूरदर्शी महर्षियों ने उनके वैदिकी व्यवस्था न कर पौराणिकी व्यवस्था ही की है, यह उनकी वंचना नहीं, किन्तु महती कृपा ही समझनी चाहि

इस विषय पर इतना अधिक लिखा जा सकता है कि स्वतन्त्र ग्रंथ तैय्यार हो जाय किन्तु विषय विस्तार भयात् अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही इस पर विचार करने के लिए वि हैं । इस प्रकार प्रामाण्य और बुद्धिवाद द्वारा इस विषय विचार करने के अनन्तर हम उन प्रमाणों, नहीं नहीं प्रमा भासों का भी परीक्षण करना चाहते हैं जिनको वेदवेत्ता का झूठा दावा करने वाले आधुनिक ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध पाश्चा शिक्षा-प्रभावित भारतीय आलोचक जनता के समक्ष उप करके उसे पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया करते हैं । आश्चर्य है कि इस प्रकार के बुद्धिवादी, प्रामाण्यवाद में कोई विश्वास रखते हुए अपना मतलब सिद्ध करने के लिए जहाँ वेद, पुरा ग्रंथों के अनेक प्रमाण उपस्थित करते हैं वहाँ उन ही प्रमा

ग्रंथों को 'प्रक्षिप्त' 'बीसवीं सदी के अयोग्य' आदि-आदि अनेकों सर्टिफिकेट देने में भी देर नहीं लगाते। श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री के शब्दों में 'अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए ये लोग कभी किसी अप्रसिद्ध ग्रन्थ की टीका तक भी मान लिया करते हैं तो कभी प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक मूल ग्रन्थ को भी मानने से इन्कार कर दिया करते हैं। यदि ऋग्विधान, भूत-प्रेतादि का वर्णन कर दे तो इनके मत में वह अप्रमाण हो जाता है और यदि कहीं स्त्री को जप-विशेष लिख दे प्रमाण हो जाता है', अस्तु अब पाठक उन प्रमाणाभासों का परीक्षण करें।

प्रमाणाभास-निरास

(क) यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय चारणाय च ॥
(यजुः २६।२)

(दयानन्द भाष्यानुसारी अर्थ) हे मनुष्यो ! जैसे मैं ईश्वर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अपने स्त्री सेवकादि और उत्तम लक्षण युक्त अन्त्यजादि के लिए भी संसार में प्रकट की हुई चार वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार का उपदेश करें।

दयानन्द सरस्वती कृत उपरोक्त अर्थ को जब हम आलोचना की कसौटी पर कसते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि या तो वे अपनी वेदानभिज्ञता के कारण इस अर्थ के करने में पर्वतायमान भूल कर गये हैं या उन्होंने वेदों का 'मुताअला' करने वाले अंग्रेजीदां बाबुओं को बहकाने के लिये जान-बूझकर अर्थ का अनर्थ कर डाला है। यह अर्थ न केवल उनके उर्वर (?) मस्तिष्क

की नवीन कल्पनामात्र ही है किन्तु विरुद्धार्थता असम्भवता, पुनरुक्ति, वदतोव्याघात, आदि समस्त दोषों का एकत्र संग्रह भी इसमें बखूबी देखा जा सकता है। वेद जैसे प्रामाणिक ग्रन्थ का भाष्य करते हुए भी वे उसमें अपनी ओर से नये पद जोड़कर अर्थ विकृत करने में नहीं चूके। इस मन्त्र में 'हे मनुष्यो !' 'मैं ईश्वर' **'स्त्री सेवकादि' 'उत्तम लक्षण युक्त अन्त्यजादि'** 'इस संसार में प्रकट की हुई चार वेदरूपी वाणी को' 'वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें' यह सभी शब्द स्वामी जी के अपने ही हैं, इन अर्थों को बतलाने वाले शब्द प्रकृत मन्त्र में कोई भी नहीं है। इस विषय में सबसे मजे की बात यह है कि स्त्री शूद्रों के वेदाध्ययन के समर्थन में उपस्थित किया जाने वाला यह मन्त्र आधा है। पूरा मन्त्र उपस्थित करने पर कहीं इस अर्थ की कलई न खुल जाय इसलिए इसे इतना ही उपस्थित किया जाया करता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्। अयं मे कामः समृध्यताम्। उपमा अदो नमतु। (यजुः २६।२)

पूरे मन्त्र का अनुशीलन करने पर पता चलता है कि न तो इस मन्त्र का वक्ता ईश्वर है और नांही इसमें सबको वेद का समान अधिकार देने की गन्ध ही। किसी मन्त्र के वास्तविक अर्थ को समझने की कसौटी है उस मन्त्र के ऋषि देवता और विनियोग का ज्ञान। इन तीनों वस्तुओं को जाने बिना मन्त्र का वास्तविक अर्थ नहीं जाना जा सकता। प्रकृत मन्त्र का देवतादि निर्णय करते हुए स्वामीजीने अपने भाष्य में लिखा है-

यथेमां इत्यस्य लौगाक्षी ऋषि ईश्वरो देवता।' इससे हमें पता चला कि इस मन्त्र का साक्षात्कार करने वाला ऋषि लौगाक्षी है और देवता ईश्वर। देवता का क्या अर्थ होता है यह भी समझ लेना चाहिये । **"या उच्यते सा देवता"** या **"यत्कामं ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"**—इस निरुक्त वचनानुसार वेद मन्त्र में प्रतिपाद्य विषय अथवा स्तोतव्य या सम्बोध्यमान देव का नाम ही देवता होगा। जो प्रतिपादक अथवा सम्बोधयिता होगा वह ऋषि होगा। सीधे शब्दों में वर्णन करने वाला ऋषि और जिसका वर्णन हो वह देवता।

जब 'यथेमाँ' मन्त्र का देवता 'ईश्वर' है तो वह प्रतिपाद्य होगा प्रतिपादक नहीं, ऋषि से स्तोतव्य होगा स्वयं स्तोता नहीं, ऋषि द्वारा उक्त होगा स्वयं वक्ता नहीं। जब वह वक्ता नहीं तब —'मनुष्यो ! जैसे मैं ईश्वर……'इत्यादि स्वामी दयानन्द कृत अर्थ कैसे संघटित हुआ। ऐसा अर्थ करने से तो ईश्वर इस मन्त्र का वक्ता अर्थात् ऋषि बन गया, देवता कहां रहा ? और फिर मन्त्र के उत्तरार्ध में विद्यमान—**'प्रियो देवानां भूयासम्'**—देवताओं का प्यारा बनूं, **'अयं मे कामः समृध्यताम्'**—यह मेरी कामना पूरी हो, **'माम् अद उपनमतु'**—वह फल मुझे प्राप्त हो यह सब कामनाएं क्या आप्तकाम ईश्वर करता है ? और किस के प्रति ? कितना आश्चर्य है कि यह मामूली बात भी स्वामीजी और उनके अनुयायियों की विशाल बुद्धि में न समा सकी।

इस बात का स्पष्टीकरण इससे अगले मन्त्र से और भी अच्छी तरह हो जाता है। **'यथेमां वाचं'** यह यजु के २६वें अध्याय का दूसरा मन्त्र है। इससे अगला मन्त्र है-**'बृहस्पते अतियदर्यो…**

तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (यजुः २६।३) इस मन्त्र का देवता स्वामीजी ने ईश्वर को ही माना है। इसलिए दोनों मन्त्रों में समान रूप से या तो ईश्वर वाच्य होना चाहिए या वक्ता। यह कदापि सम्भव नहीं, कि एक मन्त्र में तो ईश्वर स्वयं वक्ता हो और अगले में वर्ण्य या स्तुत्य हो। इस मन्त्र में स्पष्ट ही ईश्वर से ऋषि प्रार्थना कर रहा है कि 'हे बृहस्पते मुझे धन दे।' क्या कोई इसका यह अर्थ करने का साहस कर सकता है कि 'हे बृहस्पति ! मैं ईश्वर तुझ से धन की याचना करता हूँ'—जैसा कि पूर्व मन्त्र में किया है।

तात्पर्य यह है कि '**यथेमां वाचं**' मन्त्र के वक्ता चूंकि स्वामीजी के मतानुसार लौगाक्षी ऋषि हैं इसलिए इस मन्त्र में पठित **आवदानि**=कहूँ-क्रिया के कर्ता भी वही हैं। इस 'आवदानि' क्रिया का कर्म '**वाचं**=वाणी है। फलतः वह लौगाक्षी कर्तृक वाणी हुई न कि ईश्वर कर्तृक चारों वेद रूपी वाणी। जब इस मन्त्र में वेद रूपी वाणी की चर्चा ही नहीं रही तब इससे सबको वेदाधिकार मिलने का स्वप्न देखना कितना अविचारपूर्ण है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। इस मन्त्र का अर्थ करने की धुन में स्वामीजी ऐसे भूले हैं कि उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि वे तो ईश्वर को निराकार मानते हैं फिर उसके स्त्री सेवक नौकर चाकर आदि कहां से आयेंगे जो कि इस मन्त्र के भाष्य में उन्होंने लिख मारे हैं।

संक्षेप में—यह मन्त्र न ईश्वर प्रोक्त है और न सबके लिए वेदाध्ययन का ज्ञापक ही। वेद वाणी का तो यहां कोई प्रसंग ही नहीं, न ही अधिकारी अनधिकारी चर्चा का यह स्थल है क्योंकि ग्रन्थ के मध्य में इस चर्चा का क्या प्रसंग ? यहां तो ऋषि की ओर से परमात्मा के प्रति प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार मैं 'धी

ताम्, भुज्यताम्' यह जनहितकाहिणी वाणी, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र आदि को कहूं अर्थात्—'लीजिये खाइए' आदि कहने के योग्य बन सकूं (ऐसी आप कृपा करें)। आशा है इन कतिपय पंक्तियों से इस मन्त्र से वेदाधिकार सिद्ध करने वालों का समाधान हो जायेगा।

२)–(क) यज्ञं दधे सरस्वती।

ख) सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमानो।
सरस्वतीं सुकृतोऽह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वीर्यंधात् ॥

(ऋग् १०।१७।७)

उपरोक्त दोनों मन्त्रों में पठित सरस्वती शब्द का अर्थ सामान्य मानुषी स्त्री करके इस मन्त्र से उन्हें यज्ञ में बुलाना सिद्ध की जाने की चेष्टा की जाती है किन्तु यहां पठित सरस्वती शब्द 'वागधिष्ठात्री' देवता का अपर पर्याय है और उनका ही आवाहन विवक्षित है, मानुषी स्त्री का नहीं। वही यजमान के लिए वीर्य=पराक्रम देने वाली है।

३—तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवा पुत्रैर्भ्रात्रैरुत वा हिरण्यैः।

इस मन्त्र में पत्नी के साथ यज्ञ में जाने का विधान किया गया है जो सर्वथैव मान्य है। अवश्य ही उसे साथ लेकर यज्ञ करना चाहिए किन्तु इसमें वेदाध्ययन का तो कोई प्रसंग ही नहीं। मन्त्र में तो सोना पासे आदि भी पठित हैं क्या वे भी वेद पढ़ते हैं।

४—अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः

का समाधान भी पूर्ववत् है और सनातन धर्म की दृष्टि से पत्नीशून्य यज्ञ अयज्ञ ही है। तभी श्री रामचन्द्र जी ने स्वर्ण की

प्रतिमा सीता को पत्नी की प्रतिनिधि बनाकर यज्ञ को पूरा किया था।

५—प्रावृतां यज्ञोपवीतनीम् (गोभिल २।१।१

कहा जाता है गोभिल के इस सूत्र में स्त्री को यज्ञोपवीत वाली बताया गया है जिससे उसका यज्ञोपवीत सिद्ध होता है किन्तु वस्तुतः इसका अर्थ है 'वस्त्र को यज्ञोपवीतकी भांति पहिनी हुई।' यह विवाह का प्रसंग है। वर ने कन्या को एक वस्त्र दिया है जिसे उसे यज्ञोपवीत की तरह डाल लेना चाहिए। तभी श्री स्वामीजी ने इस की व्याख्या में लिखा है—'ॐ या अकृन्त अवयत्' इस मन्त्र को बोलकर वधू को वर उपवस्त्र देवे, वह (वधू) उस वस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे।' यहां वास्तविक यज्ञोपवीत की कोई कथा नहीं है।

६—निर्मन्त्रास्तु क्रियाः सर्वा विवाहस्तु समन्त्रकः। (मनु

कहा जाता है इस श्लोकमें स्त्रियों के विवाह के समय मन्त्र पाठ पूर्वक संस्कृत होने का विधान है। वादी के इस कथन से हम सहमत हैं परन्तु कतिपय मंत्र विशेष के बोल लेने मात्र से उन्हें सम्पूर्ण वेद का अधिकारी समझ लेना भूल है। इस प्रकार के मंत्र तो यज्ञोपवीत हुए बिना यदि किसी बालक का पिता मर जाय तो उससे भी प्रेत कर्म में बुलवाने का विधान है। क्या एतावता यह मान लें कि यज्ञोपवीत के बिना भी वेद पढ़ा जा सकता है?

७—स होत्रं स्म पुरा नारी समनं वावगच्छति।

कहा जाता है इस मन्त्र में स्त्रियों को पुरुषों के समान यज्ञ में जाने का विधान किया गया है, परन्तु वास्तव में यह मन्त्र इन्द्राणी

के विषय में है। नारी का अर्थ यहां इन्द्राणी से ही है, यह बात इसके उत्तरार्ध को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है, यथा—**वेधा ऋतस्य वीरिणी इन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः’** स्पष्ट ही इस मन्त्र में इन्द्र और उसकी पत्नी का वर्णन है।

८—अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
आनेकशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥
(ऋ० ८। ३३। १९)

तथाकथित सुधारक अर्थ—जो स्त्रियां विद्याभ्यास करके उद्धृत नहीं होती जो अपने घुटने को ढककर चलती हैं और अपने पैर ऊंचा नीचा देखकर रखती हैं……वे योग्य आचरण वाली ब्रह्मा तक बन सकती हैं’ यह अर्थ कितना संगत है इसे साधारण लघुकौमुदी पढ़ा लिखा छात्र भी समझ सकता है। ‘पश्यस्व’ का अर्थ ‘देखती है’ किस व्याकरण के अनुसार शुद्ध हो सकता है यह वे ही जानें। यह अर्थ कपोल कल्पित है और ‘तरुतारम्’ से तार विद्या सिद्ध करने के समान है। इसका वास्तविक अर्थ है—तू नीचे देख, ऊपर न देख, पैरों को ठीक रख, तेरे अंग न दीखें, आत्मा ही तुझ में स्त्री रूप में प्रकट हुआ है।’ यह स्त्री को शिक्षा दी जा रही है न कि उसे ब्रह्मा बनाया जा रहा है।

९—भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता (ऋ० १०। १०९। ४)

यहां जाया और उपनीता इन दो शब्दों को देख लोग भ्रम में पड़ जाते हैं, वे नहीं सोचते कि यहां जाया शब्द के साथ ‘भीमा’ अर्थात् भयङ्कर विशेषण भी तो है उसकी क्या संगति होगी? यज्ञोपवीत धारण करके ब्राह्मण की पत्नी भयङ्कर सबला बन

जाती है' इस अनर्थ से तो उपवीत बड़ी विचित्र वस्तु ठहरी जिसे धारण करते ही सौम्य भी पत्नी भयंकर बन गई और परमात्मा का शुकर करो कि यह तो ब्राह्मण की पत्नी थी जो उपवीत की करामात से भयंकर ही बनकर रह गई, यदि क्षत्रि और वैश्य की होती तो शायद राक्षसी बन जाती ! बलिहारी ऐसे अर्थ की !!

१०—ततः शैलवरः सोऽपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम् ।
कारयामास सोत्साहं वेदमन्त्रैः शिवस्य च ॥(शि.पु.

कहा जाता कि यह श्लोक प्रमाणित करता है कि शिव और पार्वती का यज्ञोपवीत हुआ था ।

यह श्लोक पार्वती के विवाह प्रसंग का है तो क्या उनका विवाह में यज्ञोपवीत हुआ था । यज्ञोपवीत विवाह में हुआ करता है या ब्रह्मचर्याश्रम में ? यदि विवाह में, तो वह स्त्री घरके काम करेगी या गुरुकुल में पढ़ेगी ? इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि दुर्गोपवीत नामक एक कर्म विशेष है जो शिव का हुआ था पार्वती का नहीं ।

११—यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी ।
सा पृथिव्यां पृथुश्रोणी पपात प्रियदर्शिनी ॥
(वा० रा० ६ । ८१)

वाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त श्लोक में श्री रामचन्द्र जी के सामने रावण द्वारा मायामयी सीता का वध करने का उल्लेख है। वादीका कथन है 'उस समय सीता को यज्ञोपवीत के समीपसे काट दिया' किन्तु वास्तव में सीता के गले में यज्ञोपवीत की कोई चर्चा नहीं । इसका तात्पर्य है कि मायवी रावण ने सीता के

शरीर को बांये कंधे से लेकर दाहिनी कोख तक अर्थात् जैसे यज्ञोपवीत पहिना जाता है उस ढंग से अपने खड्ग से दो टुकड़े कर दिया। यहां सीताके सूत्रमय यज्ञोपवीत आदि का कोई प्रसंग नहीं।

१२–सन्ध्याकालमना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।
नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी ॥ (वा. रा.)

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए सभी टीकाकारों ने सीता को सन्ध्याकाल के समय किए जाने वाले कृत्य—स्नान भगवद्ध्यान आदि के लिए ही उस सुन्दर नदी पर आने की सम्भावना परक अर्थ किया है। यह प्रातःकाल के समय की बात है। सीतान्वेषण रत हनुमान जी सुन्दर जलवाली नदी को देखकर विचार कर रहे हैं, कि अगर सीता लंका में है तो अवश्य ही स्नानादिके लिए इस सरिता पर आएगी ही। सन्ध्या शब्द यौगिक है जिस का सीधा अर्थ है भगवान् की सम्यक् प्रकार से ध्यान करने की कोई भी पद्धति। सो इससे सीता का वेदाध्ययन कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

३–अग्निं जुहोतिस्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला ।(वा०रा०)

इस श्लोक में 'जुहोतिस्म-हवन करती थी' इस पद को देखकर कुछ लोगों में बड़ा भ्रम हो जाता है। श्री वाल्मीकि जी महाराज ने मूलमें ही इस भ्रमका निराकरण कर दिया है जिसका ज्ञान पूर्वापर प्रसंग देखने से भली भांति हो जाता है। यह प्रसंग श्री रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक समारम्भ समय का है जिसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए कौशल्या ने ऋत्विजों को बुलाकर हवन कराया। इस श्लोक में कहा गया है कि 'जब श्री रामचन्द्रजी

माता के पास पहुँचे तो उन्होंने उसे हवन करवाती हुई देखा' जैसा कि अगले श्लोक के 'हावयन्तीं हुताशनम्' से महर्षि ने स्पष्ट कर दिया है। प्रकृत श्लोक में भी अन्तर्भावितण्यर्थ 'हु' धातु का प्रयोग समझना चाहिए तब भ्रम का कोई कारण नहीं रह जाता।

१४—कुछ लोग गार्गी मैत्रेयी आदि ब्रह्मवादिनी एवं वेदों का साक्षात्कार करने वाली ऋषिकाओं के उदाहरण देकर अपने इस पक्ष की पुष्ट करना चाहा करते हैं किन्तु इस प्रकार के अपवादों से सामान्य नियम का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। अपनी पूर्वजन्मोपार्जित अलौकिक प्रतिभा एवं मेधा के कारण यदि किन्हीं स्त्रियों के हृदय में वेद का साक्षात्कार होगया हो तो एतावता क्या उनका गुरु सम्प्रदाय द्वारा विधिवत् वेदपाठ स्वीकार कर लिया जाय ? जहां तक मन्त्र साक्षात्कार का प्रश्न है तो अनेकों ऋचाओं का साक्षात्कार कबूतर कुत्ती आदि को भी हुआ है। वेदमें 'कपोत सूक्त' 'सरमा सूक्त' आदि ऐसे ही सूक्त हैं, क्या इनसे हम समझलें कि कबूतर और देवताओं की कुत्ती 'सरमा' ने गुरु चरणों में विधिवत् बैठकर वेद का स्वाध्याय किया था ऐसा कहना महाभूल होगी। यह तो पूर्वजन्मार्जित अलौकिक मेधा के परिस्फुरण का ही प्रभाव था कि उनके हृदय में भी मन्त्रों का साक्षात्कार हो सका। यह सर्वत्र सम्भव नहीं, इसलिए ऐसे उदाहरणों द्वारा स्त्री सामान्य को वेदाधिकारिणी ठहरा देना कहां तक संगत है इसे पाठक सहज ही समझ सकते हैं।

इस प्रकार हम यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन के विषय में सांगोपांग विवेचन करने के अनन्तर इस प्रकरण को यहीं समाप्त करते हैं।

* * *

समावर्तन संस्कार विचार

वैदिक-स्वरूप

वा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥
(ऋ० ३ । ८ । ४)

जब पुरुष यज्ञोपवीत के अनन्तर पूर्ण ब्रह्मचर्य से युक्त होकर युवावस्था प्राप्त कर (समावर्तित हो जाने पर) सुन्दर वस्त्र धारण कर के गृहस्थाश्रम में आता है इस नवजन्म को प्राप्त करके वह कल्याणयुक्त हो जाता है और धैर्यशाली विद्वान् पुरुष उसे उन्नति की ओर ले जाते हैं ।

गुरुगृह या शिक्षालय में रहते हुए यथाविधि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करके शिक्षा सम्पूर्ण कर लेने पर शास्त्रकारों ने समावर्तन संस्कार का विधान किया है । यह आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है जिसे कन्वोकेशन (Convocation) या दीक्षान्त समारोह के नाम से स्मरण किया जाता है, किन्तु इसके वैदिक और वर्तमान-कालिक रूप में आकाश पाताल का अन्तर है । आज इस अवसर पर दिये जाने वाले भाषणोंमें स्नातक युवकों के लिए [illegible] न कोई संयमित जीवन की शिक्षा न आदर्श-जीवन का कोई चित्रण ही ! यही कारण है कि आधुनिक शिक्षणालयों–जिन्हें दूसरे शब्दों में विलासिता तथा व्यसनों का केन्द्र भी कहा जा सकता है—से निकलने वाला साक्षरवर्ग अपने चरित्र-दौर्बल्यके लिए काफी बदनाम है । आधुनिक शिक्षाके ये केन्द्र

चरित्रगठन ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षा के सर्वथा अभाव के कारण देश के लिए बलशाली नागरिक उत्पन्न करने में सर्वथा अक्षम है। इनसे निकलने वाले अधिकांश युवक युवावस्था में ही जर्जर त अस्थि पंजर मात्रावशिष्ट देह यष्टि को पतलून और कोट के आवरण में छिपाए देश में क्षयवृद्धि के कारण बन रहे हैं।

गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो क्षय का मूल कारण संस्कार परम्पराओं के लुप्त होने में ही है। ब्रह्मचर्य एवं तपोबल सम्पन्न महर्षियों के आश्रमों का स्थान आज स्कूल और कालेजों ने लिया हुआ है। इनमें शिक्षा देने वाले रसिक एवं सहृदय अध्यापक तथा प्रोफेसर महानुभाव ही जब स्वयं विषय वासनाओंके दास होते हैं और सिनेमा नाच गाने आदि मनोरंजक अवसरों पर बढ़ चढ़ कर अपनी रसिकता का परिचय देते हैं तब उनके शिष्यों में ब्रह्मचर्य की भावना के स्वप्न देखना निरी मूर्खता ही तो है। फलतः स्कूल एवं कालेजों के विषाक्त वातावरण में पले हुए वे युवक जब शिक्षा समाप्त कर बाहर आते हैं तब अबाधगति से विषय भोग में प्रवृत्त होकर क्षय को निमंत्रण देते हैं। पुरातनकाल में समावर्तन संस्कार के अवसर पर जहां स्नातक को एक सभ्य नागरिक बनने के लिए उपयुक्त शिक्षायें दी जाती थीं वहां **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** का अनुपम आदर्श उसके सामने रखकर उसे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति देते हुए भी संयम का पुनीत पाठ सिखाया जाता था।

इस संस्कार के अवसर पर निम्नलिखित क्रियाओं का विधान शास्त्रकारों ने किया है यथा—गृहयज्ञ, ८ घटों द्वारा दीक्षान्तस्नान, वस्त्रालंकार धारण एवं दीक्षान्त उपदेश, यह सभी क्रियाएं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण हैं और अत्यन्त महत्वशाली हैं।

ग्रह पूजनादि के विषय में हम पिछले अध्यायोंमें पर्याप्त वर्णन कर आए हैं और बतला आए हैं कि हमारे इस मानव जगत् से दूर रहते हुए भी सूर्य चन्द्रादि ग्रह किस प्रकार इस पर अपना प्रभाव डालते हैं आदि २।

आठ घटों द्वारा जलाभिषेक—

आठ घटों द्वारा जलाभिषेक इस संस्कार का मुख्य अंग है। यह आठों घट पूर्वादि आठों दिशाओं में क्रम से रख दिये जाते हैं और अभिमन्त्रित जल से समावर्तन कराने वाले ब्रह्मचारी को स्नान करना पड़ता है। वेदमन्त्रों से अभिमन्त्रित यह जल आध्यात्मिक शक्ति से पूरित होने के कारण स्नातक को शक्ति-सम्पन्न तो बनाता ही है साथ ही उसको भावि गृहस्थ जीवन में भी उन आठ मैथुनों से सावधान रहने की प्रेरणा देता है जो (अष्ट मैथुन) ब्रह्मचर्याश्रम में उसके लिए सर्वथा त्याज्य थे। यद्यपि इस अवसर पर स्नातक, अपनी ब्रह्मचर्यावस्था के सम्पूर्ण कठोर नियमों को समाप्त कर गृहस्थ में प्रवेश का अधिकारी बन रहा होता है, कोट कमीज, जूता, छतरी, अलंकार, सुगन्धित तैल पुष्पमाला आदि वे सभी वस्तुयें जो उसके लिए अभी तक सर्वथा त्याज्य थीं स्वयं गुरु द्वारा उसे धारण करवाई जा रही हैं किन्तु एतावता यह न समझ लेना चाहिये कि अब उसे सब बातों की खुली छुट्टी दी जारही है कि वह चाहे कुछ करे और अपने उस जीवन को 'सद्गृहस्थ' बनाने में लगाने की बजाय विषय-लम्पट और आवारा बनाने में लगादे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी उसे पर-स्त्री ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन आलिंगन, एकान्त वास और समागम रूप आठ मैथुनों से सर्वदा इसी प्रकार बचना

चाहिए, जैसे कि वह ब्रह्मचर्यावस्था में बचता रहा है। इस महत्वपूर्ण शिक्षा को हृदयगम्य कराने के लिए ही शास्त्र ने ८ घटों के जल से स्नान करने का विधान किया है जिससे ८ की संख्या हृदय में सर्वदा स्मरण रहे और युवकवर्ग उसं बचता हुआ अपने गृहस्थ को सुखमय बना सके।

इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा से बेखबर रह जाने के कारण आधुनिक युवकों का गृहस्थ जीवन दुःखमय बन जाता है। विवाह के वाद घर में आनेवाली भोली भाली पत्नी को जब मालूम पड़ता है कि पतिदेव को तो कालेज की जिन्दगी से ही 'ताक-झांक' का चस्का है और उसके घर में होने पर भी न जाने किसके विरह के गीत गुनगुनाते रहते हैं तो उसके हृदय पर वज्र-पात हो जाता है। इससे ऊपर की यदि किसी घटना का उसे भान हो जाय तो फिर उसका हृदय इस गृहस्थी से फट जाता है घर में क्लेश रहने लगता है और अन्त में 'तू तू मैं मैं' होने के बाद तलाक की नौबत आती है।

इस शिक्षा पर समुचित ध्यान न देने का दूसरा परिणाम यह होता है कि स्त्रियों के निरन्तर चिन्तन कथा सम्भाषण दर्शनादि विकारों से युवकवर्ग का चारित्रिक पतन हो जाता है और वह तरह २ की बीमारियों का ग्रास बन जाता है इसलिए इस आठ की संख्या पर सर्वदा ध्यान रहे यही इस क्रिया का उद्देश्य है।

वस्त्रालङ्कार-धारण

मानव जीवन में वस्त्र अलङ्कारादि का उत्कृष्ट स्थान है। गर्मी वर्षा आदि से शरीर को बचाकर यह उसके विकास में ही सहायक नहीं होते अपितु उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि में भी

सहायक सिद्ध होते हैं। उत्तम-वस्त्र उत्तम जीवन स्तर के सूचक समझे जाते हैं और उनमें मनुष्य के विचारों, उसकी आर्थिक स्थिति आदि की पर्याप्त झलक देखने को मिल जाती है यह सुन्दर भाव किसी कवि ने—

'वासः प्रधानं खलु योग्यतायाः'

आदि प्रसिद्ध पद्य में व्यक्त किया है कि वस्त्रों से मनुष्य की परिस्थिति तथा योग्यता को पहिचाना जाता है और उसी से मनुष्य का आदर होता है। समुद्रने भगवान् विष्णु को तो सुन्दर पीताम्बरधारी देखकर अपनी पुत्री लक्ष्मी समर्पित की और भगवान् शंकर को दिगम्बरत्व (वस्त्ररहित) के कारण हलाहल विष !

उपरोक्त सूक्ति में कवि ने उत्प्रेक्षा द्वारा वस्त्रालंकारादि के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। ब्रह्मचर्यावस्था के दश बारह वर्षों में स्नातक को धोती कौपीन गाती आदि साधारण वस्त्रों में ही रखा गया है। पुष्पमाला, अलंकार, तेल, साबुन, अंजन, दर्पण आदि वस्तुओं से उसका सख्त परहेज था। बारह वर्ष के दीर्घकालिक अभ्यासवश यदि स्नातक इन वस्तुओं के प्रति उपेक्षा तथा अरुचि का भाव रखने लग जाए तो यह कोई आश्चर्य नहीं होगा। किन्तु जिस जीवन में अब वह पदार्पण कर रहा है उस जीवन में ये वस्तुएँ उसके लिए हेय नहीं किन्तु ग्राह्य हैं। इनके बिना एक सीमा तक अब वह अपने समस्तर समाज में आदर का अधिकारी नहीं बन सकता, साथ ही उनके प्रयोग से होने वाले लाभ से वंचित रहकर वह अपने शरीर की सुरक्षा को भी खतरे में डाल देता है इसलिए उस संस्कार के अवसर पर आचार्य स्नातक को विधिवत् मन्त्र पाठपूर्वक वस्त्रादि धारण

करवा मानो अपने शिष्य को भावि गार्हस्थ्य जीवन में इ
वस्तुओं के प्रति अरुचि न रखने की शिक्षा दे रहा है।

इस अवसर पर पढ़े जाने वाले सभी मन्त्रों में अमुक अमु
वस्तुओं के गुणों का पर्याप्त वर्णन मिलता है जिससे उनके महत्
को भली प्रकार समझा जा सके।

दीक्षान्त उपदेश—

यों तो आचार्य निरन्तर ही शिष्य को उपदेश देते रहे हैं किन्तु इस अवसर का उनका उपदेश अत्यधिक महत्वपूर्ण और गम्भीर है। उनके एक एक वाक्य में समस्त जीवन के अनुभव का निचोड़ निहित है और उनके द्वारा दिया गया उपदेश चाहे हमें साधारण सी बातें मालूम पड़े किन्तु इन साधारण सी शिक्षाओं में मनुष्य जीवन को बनाने और बिगाड़ने की अतुल शक्ति विद्यमान है। आचार्य का यह सदुपदेश जो कि शिक्षा के रूप में शायद अन्तिम वार दिया जा रहा है केवल इसी अभिप्राय से दिया जाता है कि स्नातक के हृदय में सर्वदा स्मरण रहे और जीवन में वह उसका उपयोग करे।

हम ग्रन्थ विस्तार भयात् इस उपदेश को उद्धृत करना उचित नहीं समझते, पाठक संस्कार पद्धतियों में इसे देख सकते हैं।

विवाह संस्कार विचार

वैदिक-स्वरूप

(क) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ (अथर्व १४।१।५०)

(ख) ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः । मया पत्या प्रजावति, संजीव शरदः शतम् ।। (अथर्व०)

अर्थात्—(क) हे शोभने मैं ऐश्वर्य की वृद्धिके लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, तू मेरे साथ वृद्धावस्था तक सुख पूर्वक निवास कर। भग अर्यमा सूर्य इन्द्र आदि देवताओं ने तुझे गृहस्थ धर्मके लिए मुझे दिया है। (ख) यह पत्नी मेरे द्वारा पोषणीया बने। हे शुभे! देवगुरु बृहस्पति ने तुझे मुझे दिया है। हे प्रजावति, तुम मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक कल्याणपूर्वक जीवित रहो।

षोडश संस्कारों में सब से मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण संस्कार 'विवाह' है। यह संस्कार न केवल सम्पूर्ण आश्रमों और वर्णों का मूल आधार है किन्तु समस्त सृष्टि का ही मूल कारण है। विशद दृष्टिकोण से देखने पर हम कह सकते हैं कि विवाह= स्त्रीत्व पुरुषत्वयुक्त दो विभिन्न पदार्थों का संयोग—एक प्राकृतिक संस्कार है जिसकी प्रक्रिया समस्त भूमण्डल में नैसर्गिक रूप से विस्तृत है। जगत् के छोटे से छोटे अणु से लेकर बड़े से बड़े पदार्थ का उद्भव इसी प्रक्रिया द्वारा होता है। मानव, पशु, पक्षी, आदि की चर्चा ही क्या, वनस्पति ओषधि लता आदि उद्भिज्जों का जन्म भी इसी स्त्री पुरुष संयोगात्मक प्रक्रिया से ही होता है। मानव पशु पक्षी आदि स्थूल प्राणधारियों का संयोग तो प्रसिद्ध ही है किन्तु बहुत कम व्यक्ति इस बात से परिचित होंगे कि सभी प्रकार के फल, अनाज, धान्य, फूल औषधि आदि भी स्त्री पुरुष वनस्पतियों के विवाह अर्थात् संयोग के ही परिणाम हैं। वृक्ष पौधे आदि भी स्त्री और पुरुष भेद से दो प्रकार के होते हैं। रज वीर्य की तरह इनके पराग या पुष्परेणु भिन्न २ प्रकार के होते हैं।

ऋतुकाल में प्रकृति वायु द्वारा या मक्खियों भ्रमरों आदि द्वारा उन विभिन्न परमाणुओं को संयुक्त कर गर्भाधान करती है और तब आगे फलादि उत्पन्न होते हैं। बहुत से पौधों में एक में ही दोनों शक्तियों का पृथक् २ निवास होता है और वायु के संचालन से उनका सम्मिलन हो जाता है और इस प्रकार वे फलादि देने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि यह सम्पूर्ण भूमण्डल ही वैवाहिक भाव पर अवलम्बित है। जहां तक मानव जाति का सम्बन्ध है हम कह सकते हैं कि यह संस्कार शिक्षित से शिक्षित और असभ्य से असभ्य सभी जातियों में भिन्न २ प्रकार के रीति रस्मों के बीच सम्पन्न होता है। इस अवसर पर सभी देशों में समान उल्लास और प्रसन्नता देखने को मिलती है। प्रत्येक देश ने अपनी धारणा के अनुसार कुछ ऐसी क्रियाओं और रिवाजों का निर्धारण किया हुआ है जिसे विवाह कहा जाता है किन्तु यह क्रियाएं और रीतियां वैज्ञानिक भित्ति पर स्थिर न होने के कारण अध्यात्मभाव की शून्यता के कारण न केवल दम्पति को विवाह के वास्तविक लाभ से ही वंचित रखती हैं किन्तु उनमें परस्पर अनेक प्रकार की कलह तथा विरोध की सृष्टि करके गार्हस्थ्य जीवन को दु:खमय भी बना देती हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों ६० प्रतिशत विवाह सम्बन्ध असफल रहते हैं और वहां के गृहस्थ जीवन को शान्ति एवं सुख के स्थान पर संघर्ष, पारस्परिक कलह तथा दु:ख का ही सामना करना पड़ता है।

आर्य जाति के अतिरिक्त दूसरी जातियों में इस बात को शायद कल्पना भी न की जासके कि विवाह का सांसारिक सुख के अतिरिक्त अन्य कोई आध्यात्मिक उद्देश्य भी हो सकता है। वहां तो विवाह का एक ही उद्देश्य समझा जाता है वह है केवल

सांसारिक भोगविलास और उसकी सिद्धि के लिए स्त्री पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध=इन्द्रियतृप्ति पर्यन्त दो प्राणियोंका स्वल्पकालिक लौकिक सम्बन्ध मात्र ही समझती है। परन्तु भारतीय ऋषियों ने इस संस्कार द्वारा न केवल दो शरीरों का ही सम्मिलन चाहा है किन्तु दम्पति के आत्मा, मन, प्राण, शरीर सभी का एकीभाव ही वैदिक विवाह संस्कार की अपनी विशेषता है। इसका उद्देश्य इन्द्रिय-तृप्ति जैसी तुच्छ वस्तु नहीं, किन्तु आदर्श गार्हस्थ्य धर्म द्वारा मोक्षलाभ करना ही है। आर्य दम्पति समझते हैं कि उन दोनों का (स्त्री पुरुष का) केवल इस जन्म का ही नाता नहीं है किन्तु वे जन्म-जन्मान्तर से एक दूसरे के संगी हैं और सर्वदा रहेंगे। यही,—केवल यही भावना है जिसने अनन्तकाल से आर्य गृहस्थ को सुदृढ़ और सुखी बनाया है। इसी भावना के वश होकर दो अपरिचित प्राणी—जिन्होंने कभी एक दूसरे को देखा भी नहीं होता इस पुनीत संस्कार के संपन्न हो जाने के अनन्तर एक दूसरे को सदा के लिए आत्म समर्पण कर देते हैं। उनकी आत्माएं प्रथम मिलन में ही एक दूसरे को इतना स्नेह करने लगती है मानो उनका जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। संक्षेप में महर्षियों की दृष्टि में विवाह, सांसारिक सुख प्राप्ति के लिए इस जन्म में किया जाने वाला स्त्री पुरुष का (Contract) ठेका नहीं और न ही सौदा हो, यह तो आत्म-त्याग संयम और आध्यात्मिक भावों का उज्ज्वल आदर्श है।

विवाह की विभिन्न रीतियां—

हमने पीछे कहा है कि यह संस्कार भिन्न २ देशों में भिन्न २ रीति रस्मों के बीच सम्पन्न होता है। पाठकों के अवलोकनार्थ

हम भिन्न २ देश, जातियों और मतों में होने वाली एतत्कालीन रीतियों का संक्षेप दिग्दर्शन कराना उचित समझते हैं—

विलायत:—में ईसाई वर वधू इस अवसर पर किसी चर्च में उपस्थित होते हैं। पादरी के समक्ष वे अपने रूमाल अंगूठी आदि बदलते हैं और उससे बाईबिल सुनते हैं जीवन पर्यन्त भलाई बुराई, अमीरी गरीबी बीमारी और तन्दुरुस्ती में एक दूसरे से मिला रहने, एक दूसरे को प्यार करने और एक दूसरे की खबरगिरी रखने की कसमें खाते हैं। स्त्री के बांए हाथ की अनामिका अंगुली में छल्ला पहिनाते हुए वर कहता है—'इस छल्ला से तुझे व्याहता हूं औद अपना 'दुनियावी माल' तुझे देता हूं, बाप बेटे और रूह उलकुद्स के नाम से'। और इस प्रकार उनकी शादी की रस्म सम्पन्न हो जाती है।

आस्ट्रेलिया:—में वैवाहिक रस्मों में वधू का भाई जलता हुआ मशाल लेकर वर के घर जाता है और वर का भाई वधू के के घर पर। इसके अनन्तर उनका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

बापर द्वीप:—में शादी के लिए आवश्यक है कि वर, घने अन्धकारावृत कमरे में छिपी हुई वधू को ढूंढ निकाले। निश्चित समय के अन्दर यदि वह ढूंढ निकाले तो शादी हो जाती है अन्यथा नहीं होती।

बलगेरिया:—में दूल्हा और दुलहिन शादी से पूर्व एक सप्ताह तक अन्धेरे कमरे में बन्द कर दिए जाते हैं। इसके बाद दोनों की सम्मति से विवाह सम्पन्न हो जाता है।

जेरुसलम:—में इस अवसर पर वधू की आंखों में पट्टी

ध दी जाती है और जब तक विवाह की सब रस्में पूरी नहीं जातीं तब तक नहीं खोली जातीं ।

जापान:---में स्त्रियों का सफेद कपड़ा पहिनना अच्छा हीं समझा जाता, परन्तु शादी के अवसर पर वहां दुलहिन को फेद वस्त्रों में सजाया जाता है। इन कपड़ों का मतलब होता कि लड़की अब परकीया हो चुकी है।

मिश्र:---में विवाह की रस्म पूरी होने तक वर वधू एक रे को बिलकुल नहीं देख सकते। इस नियम को पालन करने में वहां अत्यन्त कठोरता बरती जाती है।

कोर्यक और शबर:---नाम की जातियों में विवाह की म वधू द्वारा बेंत की छड़ी से खूब पीटकर पूर्ण की जाती है। मारको वर, विवाहानन्तर सुखकी आशा में खुशी २ सहते हैं।

तिब्बत:---में इस अवसर पर वधू को वर का जूठा दूध लाया जाता है। उस देश में विवाह का यही मुख्य नियम झा जाता है।

महाशयों में विवाह संस्कार की मिट्टी पलीद

विवाह के इस आलोचनात्मक प्रसंग में आर्यसामाजिक वाह प्रणाली पर दो शब्द लिखना अप्रासंगिक न होगा।

पिछले दिनों हमें अपने एक मित्र की कन्या के विवाह में स्थित होना पड़ा। मित्र महाशय उदारधर्मी थे किसी विशेष र्म के प्रति उनका आग्रह न था परन्तु वर पक्ष वाले कट्टर माजी विचारों के थे फलतः आर्यसमाजी विधि से ही विवाह ना निश्चित हुआ। विवाह कार्य प्रारम्भ हो गया। वरपूजन,

मधुपर्क-प्राशन गोदान कन्यादानादि सभी विधियें सामने आईं वे ही मन्त्र थे और लगभग वही सब कुछ जैसा कि सना पद्धतियोंमें देखता आ रहा था। रह-रहकर हृदय में य विचार उठ रहा था कि गणेश पूजनादि आध्यात्मिक अंश निकाल देने के अतिरिक्त आर्यसामाजिक पद्धति में अ क्या विशेषता ? स्वामीजीने प्रत्येक दिशा में अपनी डेढ़ चावल खिचड़ी रांधने का प्रयत्न क्यों किया ? तभी आर्यसमाज पुरोहि ने किन्हीं मस्तराम जी को ऊंची आवाज से पुकारा और आ आने के लिए कहा। मैंने देखा एक लट्ठधारी हट्टा कट्टा नौजवा बड़ी शीघ्रता से वेदी की ओर लपका जा रहा है। विचारों सरणी टूटी; मन यह जानने को उत्सुक हो उठा कि इस सु शान्तिमय मांगलिक वातावरण में अचानक क्या उपद्रव उठ ख हुआ जो ये महाशय लट्ठ लिए भीड़ को चीरते हुए आगे जा र हैं। मैं उत्सुकतावश खड़ा हो गया कोई विशेष बात नहीं थी, फे की तैयारी हो रही थी। रंग विरंगे वस्त्रों में सजी कन्या आ खड़ी थी वर उसके पीछे, और इन दोनों के पीछे कन्धे पर पा का घड़ा संभाले लट्ठधारी मस्तराम। इस दृश्य से हृदय में ब कुतूहल-सा हुआ और तब तो मेरे अचम्भेका ठिकाना न रहा ज मैंने देखा कि मस्तराम तो साथ २ फेरे भी ले रहा है। विवा पढ़ाने वाले आर्यपुरोहितने जो कि आरम्भ से ही समस्त वैवाहि विधियों की व्याख्या करके उपस्थित जनता को स्वामी दयान का भक्त बना डालने का शिरतोड़ प्रयत्न कर रहे थे-लट्ठधा मस्तराम के संबन्ध में भी कहना आरम्भ किया—

'सज्जनो ! श्रीस्वामीजी महाराजने यह विधि सुरक्षाको ध्या में रखकर बनाई है। जैसे राजा महाराजाओं के अङ्गरक्षक हो

इसीप्रकार दूल्हा भी चूंकि बारात का राजा होता है इसलिए के साथ भी एक दृढ़ांग–लट्ठधारी पुरुष, संरक्षक होना चाहिए विवाह में उपद्रव करने वालों का दमन कर सके। कदाचित् की अग्नि वस्त्रादि में न लग जाय, इसी कारण यह पानी घड़ा साथ उठा रखा है जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसे या जा सके। इसीलिए तो इसका नाम 'दृढ़ पुरुष' रखा गया है' वर का राजा होना और लठ्ठधारो जवान अङ्गरक्षक होना अंश तक समझ में आगया किन्तु राजा साहब के अपने ःपुर में एकान्त सेवन के समय भी 'बाडी गार्ड' महाशय का भात में मूसलचन्द बन जाने को प्रस्तुत होना तो समझ रे की बात थी।

आग के भय को वात भी खूब कही गई! यदि वास्तव में को अग्नि भड़क ही उठे और ईश्वर न करे मण्डप और मयाने को छू जाए तो फिर उन लठ्ठधारी महाशय का एक सा पानी का घड़ा उसे कहां तक बुझा पायेगा? हमारा व है कि इसके लिए तो आर्यसमाजी भाइयों को पहले ही से माशकी तैनात रखने चाहिएँ तथा म्युनिसपल कमेटी में सूचना दमकल (Fire Brigade) को तैयार रहने का प्रबन्ध कर ा चाहिए जिससे समय पर अग्नि दुर्घटना से रक्षा हो सके। ह में उपद्रव मचानेवाले दल को दबाने के लिए भी एकमात्र रा मस्तराम कहांतक सफल हो पाएगा, इसके निमित्त तो से ही कोतवाली में 'नुकसेअमन' की रिपोर्ट करके पुलिस का सशस्त्र दल तैयार रखना चाहिए था। मस्तरात के बाडी-होने और उसके लठ्ठ तथा पानी का घड़ा उठाने की तुक तो पुरोहित ने मिला दी परन्तु यह दोनों काम तो एक जगह

तैनात मस्तराम भी आवश्यकता पड़ने पर कर सकता था,पर भांवरी (फेंरे) लेने के समय भी वर के साथ २ उसके अग्नि प क्रमा करने से तो आर्यसमाज में एक कन्या का दो व्यक्तियों विवाहा जाना सिद्ध हो रहा है इस अनर्थ का भी कुछ समाध है ? हो सकता है आर्यसमाज में नियोग की प्रथा का विधान अतः भावि उम्मीदवार पति का स्वत्व स्थापन करने के लि पूर्व से ही यह उपक्रम किया जाता हो !

विवाह कितने हैं ?

विवाह विधि पर विचार करते हुए भगवान् मनु ने भिन्न जातियों एवं देशों में होने वाले विवाहों को अष्टविध विवाहों अन्तर्गत परिगणित किया है । उनके नाम क्रम से ये हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ (मनु ३।२१

अर्थात्—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्ष और पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह हैं ।

उपरोक्त आठों विवाहों में ब्राह्मादि पहिले चार विवाह-जिन कि सदाचारी गुणसम्पन्न वर को आदरपूर्वक बुलाकर गृहस्थ धर्म पालन के लिए कन्या प्रदान की जाती है—श्रेष्ठ माने ग हैं । इसके अतिरिक्त आसुर आदि चार विवाह सर्वथा लो निन्दित और निकृष्ट ही हैं ।

खेद का विषय है, कि भारतेतर अन्य देशों की भांति आ भारत में भी असुरादि अन्तिम चार प्रकार के विवाहों का प्रच दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है । मनु के—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥

—के अनुसार पंजाबादि कुछ प्रान्तों में जहां एक ओर वर पक्ष वालों से हजारों रुपयों की रकम ऐंठकर—'कन्या विक्रय' द्वारा इस आसुर विवाह को पर्याप्त प्रोत्साहन मिल रहा है, वहां बंगाल विहार आदि दूसरे प्रान्तों में टीके और दहेज के रूप में अच्छीखासी रकम कन्यापक्ष वालों से ऐंठने का उद्योग करके 'पुत्र-विक्रय' की एक नई सामाजिक कुप्रथा को पनपने दिया जा रहा है। यह बुराई धीरे २ सम्पूर्ण देश में फैल रही है। और अन्य स्थानों पर भी लोग देखा देखी ऐसा करने लगे हैं। परिणाम स्पष्ट है; आये दिन न जाने कितनी मूक कन्याएं इस टीके और दहेज की वेदी पर बलि हो जाती हैं। इस सौदेबाजी का दूसरा परिणाम यह है कि एक ओर योग्य किन्तु गरीब युवक पांच हजार की रकम न होने के कारण सुशिक्षित और सभ्य पत्नी नहीं प्राप्त कर पाते, दूसरी ओर सुशिक्षित कुलीन एवं गुण सम्पन्न कन्याएं भी पांच हजार की रकम का टीका न दे सकने के कारण अयोग्य पात्रों को सौंप दी जाती हैं, जहां वे जीवन्मृत दशा में चार २ आंसू रो रोकर इस आसुरी सामाजिक कुप्रथा के कारण हिन्दू समाज को कोसती हुई अपना जीवन पूरा करती हैं। आज के समय की सबसे बड़ी पुकार है कि, न केवल भारतमें ही किन्तु सम्पूर्ण संसार में ही ब्राह्म विवाह का प्रचलन होना चाहिए जिसके लिए मनु के अनुसार न किसी विशेष रुपए पैसे की आवश्यकता है, न किसी अन्य आडम्बर की। चाहिए केवल एक विशुद्ध खद्दर का वस्त्र, तथा वन से अनायास ही प्राप्त हो सकने वाली पुष्प जल गन्ध आदि पूजन सामग्री। वर को

मांगलिक वस्त्र पहिनाकर उसका विधिवत् पूजन सम्मान हो और उसे कन्यादान दे दिया जाए। यथा—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥(मनु०)

यह है भारतीय विवाह का आदर्श और एक ऐसी प्रणाली जिसे अमीर और गरीब सब भली प्रकार निभा सकते हैं।

ब्राह्म विवाह बनाम प्रेम विवाह

आधुनिक काल में प्रेम विवाह (Love Marriage) या मनु के शब्दों में 'गन्धर्व विवाह' का वर्णन किए बिना यह प्रकरण अधूरा ही समझा जाएगा। आज सम्पूर्ण नवशिक्षित समाज में यही 'गन्धर्व विवाह' लोकप्रियता को प्राप्त हो रहा है। अनेक प्रकार के उपन्यास कथा कहानी तथा ९० प्रतिशत चलचित्रों (Films) द्वारा इसकी महत्ता प्रदर्शित की जारही है और जनता को यह समझाने की कोशिश की जा रही है कि उचित या अनुचित किसी भी रीति से यदि किन्हीं स्त्री पुरुषों का आपस में प्रेम—वासनामय आसक्ति, हो जाय तो उनका परस्पर विवाह सम्बन्ध न होने देना सामाजिक अत्याचार है। इस आशय को प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार की काल्पनिक रोमाञ्चकारी कथाओं द्वारा इस प्रेम विवाह का समर्थन किया जाता है। यही नहीं किन्तु आजके पढ़े लिखे लोगों की धारणा हो चली है कि विवाह से पूर्व ही भावी दम्पतियों का आपस प्रेम सम्बन्ध होना आवश्यक है और तभी उनका विवाह होना चाहिए जब वे एक दूसरे को प्रेम करने लगें। संक्षेप में आज के जड़ जगत् का यह वैवाहिक सूत्र बन गया है,

ूंकि अमुक का अमुक से प्रेम होगया है फ़िर चाहे वह वासना-य और क्षणिक ही क्यों न हो—अतः उन दोनों का विवाह हो ाना चाहिए ।' परन्तु आध्यात्म-प्रधान आर्य जाति का वैवाहिक त्र सदा से यह चलता आ रहा है—'क्योंकि अमुक कन्या का मुक वर के साथ अनुभवी अभिभावकों की अनुमति से विवाह बन्ध स्थिर हो गया है अतः अब इन दोनों को जीवन भर एक सरे से स्थायी प्रेम करना चाहिए ।' संक्षेपतः विदेशी जिसे चाहते उसे व्याहते हैं जबकि भारतीय जिसे व्याहते हैं उसे चाहते हैं।

'जहां प्रेम वहां विवाह' धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है और ह्य सौन्दर्य पर आश्रित होने के कारण स्थायी भी नहीं है। णिक शारीरिक सौंदर्य या इसी प्रकार के अन्य गुणों की नींव र खड़ा होने वाला यह गार्हस्थ्य रूपी प्रासाद स्थायी नहीं हो कता । तथा परिस्थिति-वशात् उत्पन्न होनेवाला एक हल्का सा रिवर्तन ही इसे धूलिसात् करने के लिए बस है । जिन विदेशों अन्धाधुन्ध अनुकरण पर आज प्रेम विवाह, उन्मुक्त प्रेम आदि माज विरोधी तत्त्वोंका प्रसार हो रहा है इनके कारण उन देशों ा गृहस्थ जीवन कितना कष्टमय वन गया है इसे हम देखकर भी हीं देख पाते । इस प्रकार के संयम तथा आदर्शहीन क्षणिक प्रेम म्बन्धों ने वहां विवाहको एक खेल बना दिया है–गुड्डा गुड़िया ा खेल, जो आज है कल नहीं । पतिदेव को बाहर काम पर जाने र हर घड़ी यह सन्देह बना ही रहता है कि दफ्तर से लौटने पर वी मिलेगी भी या नहीं । इस प्रेमविवाह या उन्मुक्त प्रेम से जो यङ्कर परिणाम निकलते हैं और समाज में जिस अव्यवस्था का सार होता है उसका अनुमान करना भी कठिन है । इस प्रकार पाशविक प्रेम के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए मोलकुस

(Molkus) महोदय ने 'लिटरेरी डाइजेस्ट' में एक लम
लेख लिखा है। वे रूस के विषय में लिखते हैं :—

"यदि स्त्री पुरुष शादी करना चाहें तो बस 'इच्छा'
कानून के लिए काफी है। वे चाहें तो उसे रजिस्टर में दर्ज करा
चाहे न कराएँ यह भी इच्छा पर निर्भर है। सोमवार को शा
होती है तो मंगल को तलाक। १९२६ में १,००,००० स्त्रियों
उनके पति छोड़ गए, ९०,००० स्त्रियोंके बच्चों को 'अपना' स्वी
कार करनेवाला कोई नहीं मिला; १८,००० स्त्रियों ने अदालत
दरख्वास्त दी कि उन्हें अपने पतियों से बच्चों के भरण पोषण
लिए खर्चा दिलवाया जाय। इस प्रकार २,०८,००० स्त्रियों का कु
ठिकाना नहीं मालूम पड़ता। ये अंक सरकारी कागजों के हैं औ
जो संख्या सरकारी कागजों में आने से रह गई है उसका हिसा
ही नहीं। दो लाख आठ हजार स्त्रियों की संतान का भरण पोष
कौन करेगा? रूस में लावारिस बच्चे—जो इस प्रकार
सोमवार को शादी और मंगलवार के तलाक से पैदा हुए हैं,
लाख की संख्या में मौजूद हैं। (लिटरेरी डाइ० ६ अगस्त १९३

अभी हाल में ही रूस की एक युवती ने १ घंटे में दो वा
विधवा होकर संसार के सामने एक नया रिकार्ड रक्खा है औ
भारतेतर देशों की गार्हस्थ्य जीवन की अवस्था को नग्न रू
संसार के सामने उपस्थित कर दिया है। यथा—

एक घंटे में दो बार विधवा

'लेनिनग्राड १३ जनवरी ५०

यहां की एक युवती ने १ घंटे में दो बार विधवा हो

दुनियामें एक नया रिकार्ड कायम किया है। कहा जाता है उसका सैनिक पति बन्दीगृह में था। युवती को सूचना मिली, कि बन्दी सैनिक छोड़ दिये गए हैं और उसका पति घर लौट रहा है। वह स्टेशन जाने को तैय्यार थी, तभी तार मिला कि उसके पति की मृत्यु होगई है। उस युवती ने तुरन्त अपने दूसरे प्रेमी से शादी कर ली, तभी किसी से पता चला कि वह सकुशल वापिस लौट रहा है। युवती अपने नये प्रेमी को छोड़ उसे लेने स्टेशन पर गई जहां जाने पर उसने देखा कि वास्तव में उसका पति मर गया है और उसी नाम का दूसरा बन्दी सैनिक उन मुक्त बन्दियों में विद्यमान है। वह घर लौटी तो देखा कि उसके निराश प्रेमी ने फांसी द्वारा आत्महत्या कर ली है।

(दैनिक 'अमरभारत' दिल्ली १५-६-५०)

सभ्य राष्ट्रों की सामाजिक दशा के उपरोक्त दयनीय चित्र हमारी आंखें खोल देने के लिए पर्याप्त हैं। इनसे हमें शिक्षा लेनी चाहिए और विदेशी आदर्शों के अन्धाधुन्ध अनुकरण की दुष्प्रवृत्ति का परित्याग करना चाहिए। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि इस प्रकार के विचारों को बढ़ावा देने वाले उपन्यास नाटकों और सिनेमा चित्रों को सर्वथा रोका जाय और सर्वत्र विवाह के ब्राह्मरूप का ही प्रचार होना चाहिए। आर्य जाति ने दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि प्रेम मूलक विवाह न होकर विवाह मूलक प्रेम ही श्रेयस्कर है। महाभारत रामायणादि ग्रन्थ इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं क्योंकि क्षत्रियों में प्रचलित स्वयम्वर प्रथा से होने वाले सभी विवाहों का परिणाम अन्तमें बुरा ही निकला। शकुन्तला दुष्यन्त, नल दमयन्ती की कौन कहे, सीता और द्रौपदी के स्वयम्वरों का परि-

णाम महायुद्ध के रूप में जन-संहारक ही सिद्ध हुआ। संयोगिता के स्वयंवर का कुपरिणाम तो जयचन्द और पृथ्वीराज के पारस्परिक विरोध की सीमा लांघकर समस्त भारत को अन्यून एक सहस्त्र वर्ष तक विदेशी दासता के अभिशाप रूपमें भोगना पड़ा।

विवाह कब ?

विवाह की अवस्था के विषय में आज संसार में एक विचित्र हास्यास्पद स्थिति दिखलाई देती है। एक ओर हमें इस प्रकार के विवाह देखने को मिलते हैं जिनमें वर वधू की अवस्था इतनी छोटी होती है कि उन्हें उस विवाह में सिवाय चहल पहल, सुन्दर भोजन और कुतूहल-जनक तमाशे के अन्य कुछ ज्ञात नहीं होता। दूसरी ओर विलंबित विवाह की प्रवृत्ति जोरों पर है जिसके अनुसार लड़कियों को बीस-पच्चीस वर्ष की अवस्था तक बलात् कौमार्य में रक्खा जाता है और उनके अभिभावक आंखों पर ठीकरी रखकर समय की गतिविधि से विल्कुल आँखें मूंदकर उन निष्पाप कन्याओं को दुराचरण के अन्धकूप में स्वयं धक्का दे देते हैं। हमारी नम्र सम्मति में यह दोनों ही प्रथाएँ शास्त्र-विरुद्ध होने के कारण समाज के लिए घातक ही नहीं सर्वथा विनाशकारी हैं। लेखक को जब अपने गांवों में अक्षिशित ग्रामीणों के यहाँ दुधमुंहे बच्चे-बच्चियों का विवाह देखने का अवसर पड़ता है, मुहावरे की रीति से 'दुधमुंहे' नहीं किन्तु वास्तव में ही चार-पांच साल की दुधमुंही कन्याओं को गोद में लेकर भांवरें पढ़ते, या इससे भी छोटी अवस्था की होने पर लड़की के स्थान पर गुड़ की भेली से ही वर को भांवरें लेते देखकर उसके हृदय में जो अपार क्षोभ होता है उसकी सीमा का उस समय कोई पारावार नहीं रहता

जब उसे आधुनिक शिक्षित और सभ्य घरों में यूरोप के शीत-प्रधान देशों के अनुकरण पर बीस-पच्चीस वर्ष की कुंआरी कन्याओं को देखने का अवसर पड़ता है, या जब उसे समाचार पत्रों में ऐसे विलम्बित विवाहोंसे उत्पन्न होने वाली दुराचारपूर्ण घटनाओं के सम्बन्ध में समाचार पढ़ने को मिलते हैं।

प्रथम-कोटि के विवाह जहां बचपन में अर्थात् समय से पूर्व ही बालकोंमें कामभावको उदय करके उन्हें तथा उनकी भावीसंतान को निर्बल बनाने के कारण बनते हैं, वहां दूसरी प्रकार के विवाह भी लड़के-लड़कियों में समय पर कामभाव की प्राकृतिक प्रेरणाके उदय होने पर उसकी पूर्ति के वैध साधनाभाव में अवैध व्यभिचार को प्रोत्साहन देकर समाज को खोखला बनाने में कम सहायक नहीं सिद्ध होते। इसलिए यह आवश्यक है कि वैवाहिक अवस्था पर भी इस प्रघट्ट में कुछ प्रकाश डाला जाय।

हम पीछे कह आए हैं कि विवाह एक प्राकृतिक संस्कार है और स्त्रीत्व पुंस्त्व नामक दो तत्त्वों के संमिश्रण से सृष्टि विस्तार ही इसका फल। इसलिये हमें विवाह काल के निर्णय में प्रकृति को ही प्रधानता देनी चाहिए। इस बात को दृष्टि में रखकर अगर हम विवाह काल पर विचार करें तो सर्व प्रथम हमें देखना होगा कि लोक में स्त्रीत्व या पुरुषत्व का विकाश किस अवस्था में पूर्णरूप से हो जाता है। भिन्न २ देशों के जलवायु एवं वातावरण के अध्ययन से पता चलता है कि इस विकास का काल सर्वत्र एक नहीं है। शीत प्रधान देशों में स्त्रीत्व विकाश १२ से १६ साल की अवस्था के अन्दर होता है तो उष्ण प्रधान देशों में १० से १४ साल की अवस्था में। प्रायः सभी व्यक्ति जानते हैं कि स्त्रीत्व के विकसित होने पर शरीर में लावण्य वृद्धि, स्तनों का प्रादुर्भाव, हाव

भावों का उदय, इत्यादि लक्षणों के अतिरिक्त रजोधर्म का भी प्रारम्भ हो जाता है। मुख्य रूप से यह उसके गर्भधारण सामर्थ्य का सूचक चिन्ह है और प्रकृति की ओर से होने वाला एक ऐसा विचित्र परिवर्तन है जो उसे बचपन के आनन्दपूर्ण निश्चिन्त जगत् से बरबस खेंचकर चिन्ता हर्ष शोक से परिपूर्ण यौवन के मधुर द्वार पर ला खड़ा कर देता है। इस समय उसकी स्त्रीत्व-भावात्मक चैतन्यशक्ति जागृत हो जाती है। सांसारिक विषयों के सम्बन्ध में उसके हृदय में ज्ञानोदय होने लगता है। मादक अभिलाषाएं धीरे २ उसके सामने एक रंगीन दुनिया का नक्शा खेंच देती हैं और तब स्त्री चाहती है एक ऐसे पुरुष का संसर्ग—जो उसकी अभिलाषाओं को साकार रूप प्रदान करे। कामशास्त्र में लिखा है—

रजस्वला च या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने ।
पीड़िता कामबाणेन ततः पुरुषमीहते ॥

अर्थात्—ऋतुस्नाता नारी पांचवे दिन काम पीड़ित होकर पुरुष सम्बन्ध को चाहती है।

यह तो हुई स्त्रीभाव के विकास की चर्चा। पुरुषत्व विकास १८ वर्ष से प्रारम्भ होता है और लगभग २५ वर्ष की अवस्था में पूर्ण होता है। किशोरावस्था की समाप्ति और यौवन के प्रारम्भ के तीन चार वर्षों में युवकवर्ग की वही स्थिति होती है जो नवयौवना कन्याओं की। अवस्था का यह परिवर्तन जिसे हम कोई विशेष महत्त्व नहीं देते—बालकों के जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नीतिकारों का कहना है कि इस समय बालकों का हृदय दूध की प्रथम उफानी अवस्था में से गुजरता है और जिस

कार उस उफनते हुए दूध को उस समय यदि सावधानी पूर्वक ोई न सम्भाले तो उसका बिखर जाना अस्वाभाविक न होगा, से ही यदि उस समय बालकों के सदाचार पर कठोर नियन्त्रण हो तो उनका उत्पथगामी बनकर किसी कुसंगति में फंस जाना श्चर्यजनक न होगा ।

स्त्रीत्व और पुंस्त्व विकास की इन अवस्थाओं को समझने उपरान्त विचार का विषय यह है कि विवाह इस शारीरिक कास के बाद किया जाय या पूर्व में ही ।

गहराई से इस प्रश्न को देखने पर हमें ज्ञात होगा कि न्याओं के लिए विवाह की अवस्था 'रजोदर्शन' से तुरन्त पूर्वकी समुचित है, न इससे बहुत पहिले की और न बहुत बाद की । पुरुष की आयु यथेच्छ युवा हो और ब्रह्मचर्य पूर्ण कर चुका । इस प्रकार के विवाह से जहां पति पत्नी में आयु भर प्रेम हेगा वहां उनसे होने वाली सन्तान भी बलवान् हृष्ट पुष्ट और र्घजीवी होगी ।

महर्षि सुश्रुत ने, जो कि शारीरिक विज्ञान के प्रमुख चार्य हैं इस विषय का विचार करते हुए लिखा है:—

**अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीयां पत्नीमा-
हेत् ।** (सुश्रुत शारीरस्थान १०, सू०५८)

अर्थात्—पच्चीस वर्ष के पुरुष को बारह वर्ष की कन्या के थ विवाह करना चाहिये ।

हमें यहां इस बात को भली भांति समझ लेना चाहिए कि वाह और गर्भाधान दो पृथक् २ संस्कार हैं और पृथक् २ वस्थाओं में ही किए जाते हैं । सुश्रुत आदि महर्षियों ने जहां

विवाह के लिए कन्या की उपयुक्त आयु १२ वर्ष स्वीकार की वहां गर्भाधान के लिए १६ वर्ष की। उपर्युक्त उद्धरण से अनु अगले ही सूत्र में महर्षि कहते हैं:—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

(सुश्रुत शारीरस्थान, १०, ५९-६

अर्थात्—यदि पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष सो वर्ष से कम आयु की स्त्री में गर्भाधान करे तो वह गर्भ में ही मर जाता है। यदि किसी प्रकार सन्तान उत्पन्न भी हो जा तो वह देर तक जीवित नहीं रहती, यदि जीवित रह भी जाय वह सदा दुर्बल ही रहेगी। इसलिए इससे कम अवस्था की में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिए।

आज लोग अज्ञान के कारण इस भेद को भूल गए हैं। उन विचार में विवाह मानों इस ग्राम्य व्यवहार के लिए पूरी स्वतन्त्र मिलने का ही दूसरा नाम है। जो आलोचक 'शीघ्र विवाह' कारण स्मृति-प्रणेता महर्षियोंकी कटु आलोचना करते नहीं थ उन्हें भी इस बात का पूरा ज्ञान नहीं कि महर्षियों को 'शीघ्र-वि ही अभिमत है 'शीघ्र गर्भाधान' नहीं, यही एक रहस्य है कि जि तक सर्वसाधारण की पहुँच नहीं। जरा विचार कीजिए कि सभी स्मृतिकार और सुश्रुत सरीखे शरीर शास्त्रके महान् ज्ञा आचार्य, एक स्वर से विवाह के लिए दश बारह वर्ष की छो

आयु का ही समर्थन करते हैं और गर्भाधान के लिये १६ वर्ष से अधिक अवस्था का ? क्या कारण है कि रजस्वला होने से पूर्व विवाह न करने की दशा में महर्षि ने :—

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ॥
(यम संहिता)

—कहकर पिता को कन्या के रज:पान जैसे घृणित पाप का भागी कहने में भी हिचकिचाहट नहीं अनुभव की और विवाह के अनन्तर गर्भाधान के लिये १६ वर्ष से पूर्व की आज्ञा भी नहीं दी !

वस्तुत: बात यह है कि ऋतु दर्शन होनेके वाद स्त्रीके हृदय में काम वासना का उन्मेष होने लगता है, उसका मन पुरुष समागम के लिये उत्कण्ठित हो उठता है। ऐसी दशा में आवश्यकता इस बात की है कि उसकी इन मानसिक प्रवृत्तियों को एक केन्द्र पर स्थिर किया जाय, वे इधर उधर न भटककर एक ही केन्द्र पर अवलम्बित रहें। यह तभी सम्भव है जब पहिले से उसका विवाह सम्पन्न हो चुके क्योंकि उस दशा में स्त्री के हृदय की सम्पूर्ण वासनाएं और आकांक्षाएं उसके पति पर ही आश्रित होंगी। उसकी प्राप्ति की आशा में ही वह अन्य चिन्तन छोड़ सकेगी। ऐसा न होने पर उसकी नैसर्गिक काम भावना एक अवलम्बन न पाकर जहांतहां भटककर उसके पातिव्रत्य में हानिकारक सिद्ध हो सकती है। यदि जीवन की उस प्रारम्भिक दशा में वह अपने मार्ग से च्युत होगई तो फिर सम्पूर्ण जन्म में उसका सुधार होना बड़ा कठिन है। यही सब सोच समझकर महर्षियों ने रजोदर्शन से

तुरन्त पूर्व ही विवाह की आज्ञा दी है। विवाह के अनन्तर स्त्रं अपने पिता के घर ही रहे और फिर उचित अवस्था आने पर उ पति के घर भेज दिया जाय इसलिए द्विरागमन या गौने क प्रथा आज भी बहुत से देशों में प्रचलित है जो कि इस वैज्ञानि दृष्टिकोण के सर्वथा उपयुक्त है।

आज जिस अवस्था में कुमारियों का विवाह किया जाता है उस अवस्था तक पहुंचते २ उनकी पातिव्रत्य की पवित्र मानसि पृष्ठभूमि प्रायः मलिन हो चुकी होती है। उसपर न जाने कित चित्र बन और बिगड़ चुके होते हैं ऐसी दशा में उनमें पातिव्र की सम्भावना करना व्यर्थ ही है। जब किसी भवन की नींव ह डगमगा जावे तब उसपर खड़ा होनेवाला भवन—चाहे व चट्टानों से ही क्यों न तैय्यार किया गया हो—अवश्य ही पतनोन्मुख रहेगा।

संसार के सभी विचारशील पुरुष फिर चाहे वे भारतीय हों या वैदेशिक, विवाह की इस अवस्था के विषय में एकमत हैं। भारतीय आचार्यों की सम्मति उद्धृत करने के बाद प्रकृत प्रसं में कतिपय विदेशी विद्वानों की सम्मति उद्धृत करना अनुपयु न होगा।

'It is not good for a man or woman to liv alone. Our tendency of the times is the appare ntly increasing avoidance of marriage or it postponement until an age when the adaptati on of one individual of the couple to the other is difficult. Because habits have became fixed so firmly that their adjustment is a difficult or at laet, an annoying process· Oboviously, there fore, it seems to me that early marriages should be encouragad. (Thomas A. Edison)

श्री एडीसनमहोदय—जिनसे संसार 'ग्रामोफोन' मशीन के आविष्कारक के रूप में भली भांति परिचित है लिखते हैं—"स्त्री या पुरुष के लिए अकेला अर्थात् अविवाहित रहना अच्छा नहीं है। आज के समय में लोगों की प्रवृत्ति होती जा रही है कि विवाह बिल्कुल ही न किया जाय या देर में किया जाय–इतनी देर में कि वर-वधू की प्रकृति का सामञ्जस्य ही न हो सके। यह सब अनुचित है क्योंकि बड़ी अवस्थाओं में पहुंचने तक उनकी आदतें इतनी मजबूत हो जाती हैं कि बाद में उनमें परिवर्तन करना कठिन ही हो जाता है। इसलिए मुझे यही अच्छा मालूम होता है कि शीघ्र विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिए।

इसी प्रकार मिस्टर लेकी साहब ने अपने 'यूरोपीय आचार का इतिहास' नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है—

The nearly universal practice of the custom of early marriages among the Irish peasantry has alone rendered possible that high standerd of female chastity that intence and jealous sensitiveness respecting female honour, for which among many failings and some vices, the Irish poor have long been pre-eminen in Europe.

अर्थात्—आयर्लैण्ड के गरीब किसानों में होने वाली 'शीघ्र-विवाह' प्रथा ने वहां की स्त्रियों में उच्चतम पातिव्रत्य और उसके

प्रति आदरभाव को बना रक्खा है अनेक दोषयुक्त होने पर भी आयरिश लोग वर्षों तक यूरोप में सम्मान भाजन रहे हैं।'

इसी प्रकार अन्य भी बहुत से पाश्चात्य विचारकों ने विवा की आयु के विषय में भारतीय शास्त्रकारों की दूरदर्शिता स्वीकार किया है और माना है कि वास्तव में यदि गृहस्थजीव में हम सच्चा प्रेम, सच्ची सुख शान्ति चाहते हैं तो हमें प्रणाली का आश्रय लेना चाहिए।

विवाह क्यों ?

विवाह वह पुनीत और महत्त्वपूर्ण संस्कार है जिसने मान पशु को सच्चे अर्थों में 'मानव' बनानेमें महत्वपूर्ण भाग लिया विवाह संस्था अत्यन्त प्राचीन है और हम निर्विवाद रूप से सकते हैं कि सभ्यता और संस्कृति के प्रथमोदय काल में मानव वंशधरों ने सामाजिक जीवन का सूत्रपात किया तभी विवा प्रणाली का प्रारम्भ हुआ होगा। यह प्रणाली जिस राष्ट्र में जितनी ही विकसित और उत्कृष्ट रूप में अपनाई गई, वह राष्ट्र उतना सभ्य सुसंस्कृत तथा उन्नत बनता गया। विवाह संस्था के अभाव में मनुष्य, पशु से भी वदतर होता, न उसकी कोई पत्नी होती मां न बहिन न बेटी। अपनी भोगलिप्सा को पूरा करने के वह कुत्तों की तरह स्त्री मात्र की तलाश में भटकता फिरता, बला त्कार करता, छीना झपटी करता, गुर्राता, लड़ता और बुद्धिमा खूंखार जानवर से कहीं अधिक अपनी सारी बुद्धि का उपयो विनाश के उपाय सोचने में करता। उसके इस प्रकार के व्यभिचा से उत्पन्न मानव-पिल्ले गली २ ठोकरें खाते फिरते न उनका होता न दर न स्कूल न कालेज ! शिक्षा, सभ्यता, सँस्कृति,

विज्ञान से सर्वथा शून्य एक पशु-राष्ट्र ही हमारे मामने होता ! यह विवाह ही तो है जिसने मनुष्य को परिवार दिया, घर बसानेकी प्रेरणा दी, परिवार के भरण पोषणार्थ विविध कार्यों व पेशों को जन्म दिया और आज का हमारा यह सँसार बनपाया।

विवाह सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन का अँगमात्र नहीं है किन्तु इसका उद्देश्य इससे भी कहीं अधिक महान् गहन और दिव्य भावपूर्ण है। उसकी इस महत्ता और गम्भीरता तक पाश्चात्य जगत् पहुंचे या न पहुचे किन्तु आर्य महर्षियों और दार्शनिकों ने भारतीय जनता के सामने जो उद्देश्य रक्खे हैं उनकी प्रतिष्ठा सर्वथा लोकोत्तर आदर्शों पर की है।

विवाह के पांच उद्देश्य—

१—विवाह का प्रथम उद्देश्य सृष्टि विस्तार के लिए स्त्रीत्व और पुरुषत्व धारा का सम्मेलन है। हमने पीछे कहा है कि प्रकृति के अणु २ में उपरोक्त दोनों शक्तियें विद्यमान रहती हैं और सृष्टि विस्तार के लिए इन दोनों का सम्मेलन प्राकृतिक प्रेरणा से होता है। यह सम्मेलन ही सृष्टि का कारण है और प्रवाहरूप से सँसार को अनन्तकाल तक जीवित रखता आया है।

२—चौरासी लाख पशु पक्षी कीट पतँगादि योनि भोगकर ही मानवदेह प्राप्त होती है। इस योनि में यद्यपि परमात्मा ने मनुष्य को दया करके सदसद्विवेकिनी बुद्धि प्रदान की है किन्तु अनेक योनियों में पड़ा हुआ पशु सँस्कार उससे छूटता नहीं है, जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति स्वच्छन्द आहार विहार की ओर स्वभावतया झुकी रहती है। प्रत्येक पुरुष के हृदय में सँसार भर की स्त्रियों के लिए और स्त्रियों में सभी पुरुषों के लिए भोग भावना प्राकृतिक

रूप से विद्यमान रहती है। जब कभी उसे अवसर मिलता है वह अपनी इस पशु प्रवृत्ति को चरितार्थ करने में नहीं चूकता। इतिहास के पाठक जानते हैं कि यवन राजाओं ने अपने समय में सैकड़ों की तादाद में सुन्दर स्त्रियों का अपहरण करके अपने हरमों को भर लिया था। अभी पिछले दिनों भारतीय गृह-विप्लव के समय कामान्ध नर-पशु ने स्त्री जाति पर बलात्कार अपहरण प्रधर्षणादि जो बर्बर अत्याचार किये हैं वे मानव-व्याप्त पशुता के नंगे उदाहरण हैं। नर नारियों की इस पशु सदृश स्वच्छन्द तथा निर्बाध काम भावना को एक स्त्री व एक पुरुष में बांध देना और अनेक प्रकार के शास्त्रीय नियमों द्वारा धीरे २ इसे निवृत्ति की ओर ले जाना ही विवाह का दूसरा उद्देश्य है।

३—विवाह का तीसरा उद्देश्य है प्रजोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति तथा वंश रक्षा! पीछे लिखा जा चुका है कि विवाह का उद्देश्य भोग विलास नहीं किन्तु—'**प्रजायै गृहमेधिनाम्**' के अनुसार सन्तानोत्पत्ति ही उसका प्रयोजन है, प्रारम्भ में दिये गए वैदिक उद्धरण में—'**मया पत्या प्रजावती**' कहकर वेद ने प्रजोत्पादन ही विवाह का लक्ष्य माना है। शास्त्रदृष्ट्या मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं १. देवऋण २. ऋषिऋण ३. पितृऋण। इनमें से यज्ञ याग देवपूजनादि द्वारा देवऋण से, शास्त्रों एवं वेदों के स्वाध्याय से ऋषिऋण से मनुष्य मुक्त हो जाता है, शेष पितृऋण से मुक्ति प्रजोत्पादन द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त चूंकि आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु का ही अंश है इसलिए सत् चित् आनन्द रूप तीनों गुणों की ओर उसकी प्रवृत्ति स्वभावतः ही होती है। इनमें से सत् का ही प्रकृत विषय से सम्बन्ध है। सत् का अर्थ है सत्ता। मनुष्य अपनी सत्ता को सर्वदा अक्षुण्ण रखना चाहताहै

उसकी इस अभिलाषा का फल ही सन्तान है जिसे उत्पन्न करके वह सन्तोष अनुभव करता है। पुत्र उसका अपना ही रूप है और उसकी उपस्थिति से वह अपनी 'सत्' भावना को सफल समझता है। यही प्रवृत्ति विवाहमूलक वंश परम्परा को जन्म देती है, जिसकी रक्षा के लिए—अनेक प्रकार के यज्ञानुष्ठानादि का आश्रय लेकर भी—मनुष्य सतत प्रयत्नशील रहता है।

४—मनुष्य स्वार्थी प्राणी है। अपने शरीर में उसकी जितनी मोह ममता होती है उतनी और किसी वस्तु में नहीं। विवाह द्वारा मनुष्य के इस ममत्व क्षेत्र को विस्तार मिलता है अब तक उसका जो प्रेम और मोह अपने शरीर मात्र में था, वह क्रमशः पत्नी पुत्र कन्या सगे सम्बन्धी आदि परिवार में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यह स्वार्थ परक प्रेम पहिले घर की चार दीवारी से प्रारम्भ होकर मुहल्ला, गली, नगर, प्रान्त, देश और समस्त विश्व में व्याप्त होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पुनीत आदर्श का व्यावहारिक रूप धारण कर लेता है। विश्वप्रेम ममत्व की अन्तिम श्रेणी है और इस पर पहुँचकर मनुष्य—'**यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति**' के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। इसलिए स्वार्थपरक प्रेम को विस्तृत कर उसका मुक्ति में पर्यवसान ही विवाह का चौथा उद्देश्य है।

५—त्याग क्षमा धैर्य सन्तोषादि गुणों का संग्रह तथा अभ्यास विवाह का पांचवां उद्देश्य है। गृहस्थ में रहते हुए दम्पती को एक दूसरे के हित के लिए स्वार्थत्याग, स्व-प्रतिकूल व्यवहार में क्षमा, अत्यन्त कष्ट में भी धैर्य आदि गुणों का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यही गुण विकसित होकर मनुष्य को सामाजिक क्षेत्र में विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। गृहस्थ को

इस पाठशाला में त्याग प्रेम आदि का पूर्ण अभ्यास कर जब दम्पती इनका प्रयोग ईश्वर प्राप्ति के अध्यात्म मार्ग में करते हैं तो वे भगवत्प्राप्ति के अत्यन्त सन्निकट पहुंच जाते हैं। यही उनके जीवन का लक्ष्य है।

विवाह संस्कार की रूपरेखा

कन्या के लिये योग्य सुशील स्वस्थ सुन्दर एवं शिक्षित वर का निश्चय करने के उपरान्त शास्त्रीय विधि से उसका वरण होता है उसे वाग्दान (सगाई) कहा जाता है। इसके अनन्तर गुरु शुक्रास्तवर्जित मुहूर्त शास्त्र की दृष्टि से शुभयोग में विवाह का दिन निश्चित किया जाता है (मुहूर्तादि के विषय में इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाश डाला जा रहा है) इसकी सूचना वर पक्षवालों को दे दी जाती है और तब दोनों घरों में तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। विवाह से पूर्व तदङ्गभूत कुछ शास्त्र मूलात्मक और कुछ देशाचार तथा कुलाचार मूलक कृत्य किए जाते हैं यद्यपि उनका स्वरूप अनेक रूप में पाया जाता है अनेकता के कारण सब रूपों पर प्रकाश डालना असम्भव है तथापि बहुजन सम्मत विधियों की कुछ रूपरेखा लाभप्रद समझकर यहां प्रकट की जाती है।

हाथ

सात निर्गर्भा सुहागिन स्त्रियें मंगलगान के बीच विवाह का वस्तु-संग्रहात्मक प्राथमिक कृत्य प्रारम्भ करती हैं जिसे हाथ कहा जाता है। यह प्रथा विवाहार्थ अन्नादि संग्रह का प्रतीक है और अभिभावकों को विवाह की सब प्रकार की तैय्यारी के लिए प्रेरणा करती है। चूंकि स्त्री विधाता की विषम प्रकृति का रूप है अतः विषम संख्याक स्त्रियां संगठित रूप से एकत्रित होकर इस महान्

ार्य का आरम्भ करती हैं। निर्गर्भा स्त्रियें इसलिए विशेष रूप चुनी जाती हैं कि विवाह की तैयारी में खूब परिश्रम कर सकें ौर थकें नहीं। सुहागिन इसलिए कि खूब प्रसन्नता पूर्वक इस ार्य में योग दे सकें। विधवा आदि का ऐसे कृत्यों के समय अपने र्व सुखादि के संस्मरण से और भी विक्षुब्ध हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

हरिद्रा-हस्त (हलधात)

यह विवाह की पूर्ववर्ती मांगलिक क्रियाओं का अंग है, इसका द्देश्य पितृगणों की वन्दना और नृत्य गीतादि के द्वारा मांगकता की अभिवृद्धि करना है। इस अवसर पर घर में विधिवत् तृगणों की स्थापना की जाती है जिसे थापा कहते हैं। सब रिवारिक और सजातीय बन्धु बान्धव इस अवसर पर एक दिन कर पितृ अर्चना करते हैं। यह एक प्रकार से उन दिवंगत महान् त्माओं का आभार प्रदर्शन है जिनके उत्तराधिकारी बनकर वे ग संसार में सम्मान के साथ जीवन यापन कर रहे हैं। पितृना के अतिरिक्त इस दिन रात्रि भर जागरण का कार्य चलता और स्त्रियों को इस जागरण में आमोद प्रमोद का पर्याप्त सर मिल जाता हैं।

बान (तेल)

यह क्रिया एक तरह से वर या कन्या के शारीरिक सौन्दर्या- न के उद्देश्य से की जाती है। पहिले ही की तरह सात सौभाती स्त्रियां जौं हल्दी आदि पीसकर स्वयं उससे उबटन तैयार ती हैं। दही तेल दूर्वा-इन तीनों वस्तुओं से वे वर कन्या का

सातबार अभिषेक करती हैं अर्थात् यह तीनों पदार्थ उसके शरीर पर लगाए जाते हैं। दही, शीतल हृद्य और शान्तिकारक है; तेल स्निह्य और कान्तिप्रद है। दही के साथ मिलकर वह प्रत्येक रोम में प्रवेश करके खुश्की ताप अथवा त्वचा सम्बन्धी सभी दोषों के लिए रामबाण औषधि का कार्य करता है। जिस हरी दूर्वा से यह वस्तुएं उसके शरीर पर लगाई जाती हैं, वह स्मृति शक्तिप्रद और नेत्र-ज्योतिवर्धक है; तेल में संयुक्त करने से उसके गुण तेल में आजाते हैं। इस प्रकार दहीआदि के द्वारा उनके शरीर को तरोताजा बनाने के बाद शारीरिक स्वच्छता के लिए उबटन का प्रयोग करते हैं। यह उबटन शरीर में निर्मलता कोमलता तथा स्निग्ध कान्ति के लिए अपूर्व वस्तु है। साबुन की तरह खुश्की तथा रूक्षता से कोसों दूर है। वर वधू के शरीर में स्थायो कान्ति (नूर) लाने के लिए इससे बढ़कर कोई पदार्थ नहीं।

स्नान के अनन्तर वर वधू के पांव में रखड़ी अथवा रक्षासूत्र पहिनाने की प्रथा प्रायः सभी प्रान्तों में हैं। यह रक्षासूत्र कौड़ी सुपारी, पीली सरसों, लोहे का छल्ला आदि वस्तुओं से निर्मित होता है। वस्तु विज्ञान के अनुसार यह सब वस्तुएं अदृश्य वातावरण जन्य हानियों से भावि-दम्पतियों की रक्षा के साथ उनकी विशेष स्थिति की परिचायक होती हैं। इसमें आबद्ध होने के बाद उन्हें कठिन परिश्रम साध्य कार्यों से छुट्टी दे दी जानी चाहिए जिससे उनके शरीर में अचानक कोई रोग या कष्ट न उत्पन्न हो जाय और व्यर्थ ही 'विवाह में बीज का लेखा' खड़ा हो। ज्योतिःशास्त्रोक्त रीति से ५, ७ बार बान=सौन्दर्याधान के सम्पन्न हो जाने पर एक अपूर्व सौन्दर्य से उनका शरीर चमक उठता है। इस स्नान की अन्तिम क्रिया विशेष महत्त्व की है, बान का अन्तिम

नान जिस जल से होता है वह साधारण जल नहीं होता । यद्यपि स अवसर पर घर में पानी की कोई कमी नहीं होती, परन्तु फर भी वर वधू के भाई एवं भावज दोनों उनके स्नानार्थ कूएँ जल खींचकर लाते हैं और तब स्त्रियें एक छलनी में से उस ल को छानती हुई उन्हें स्नान कराती हैं ।

स्पष्ट है कि यह जलाहरण-क्रिया छोटे भाई बहिनों के प्रति येष्ठ भ्राता के प्रेम, कष्ट सहन एवं सद्भावना की प्रतीक है, कन्तु अभी लाये हुए जल को पुनः छानने का क्या तात्पर्य ? ास्तव में यह क्रिया भाई भावज के लिये एक शिक्षा है । आज क बड़े भाई के साथ वह कुमार या कुमारी जिस प्रकार रहते हे हैं उसने चाहे उन्हें प्रेम से रक्खा है या उपेक्षा से, अच्छा खलाया या बुरा इस बात को किसी ने नहीं छाना । किन्तु इस मय वे कुमार कुमारी अपने पावों पर खड़े होने जा रहे हैं; हराज्य में अब वे बराबर के भागीदार बनने जा रहे हैं ऐसी ा में बड़े भाई द्वारा कष्ट उठाकर लाये हुए विशुद्ध जल को छलनी द्वारा छानकर मानों समाज उसे चेतावनी दे रहा है भविष्य में उसका प्रत्येक व्यवहार लोगों की बौद्धिक छलनी रा छनकर ही पवित्र समझा जायेगा । छोटे भाई बहिन के आज से उसका जो विशेष उत्तरदायित्व बढ़ गया है का उसे सदैव ध्यान रखना चाहिए ।

मंडप पूजन (मंढा)

मंढा या मण्डप पूजन की प्रथा थोड़े बहुत भेद से प्रायः ी प्रान्तों में पाई जाती है, कहीं काष्ठस्तम्भ निर्माण के रूप कहीं शामियाना आदि आदि लगाकर मण्डप निर्माण के रूप और कहीं केले आदि से मण्डप निर्माण के रूप में । परंतु इन

में सबसे अधिक वैदिक-विज्ञानपूर्ण एवं भावनाभरित प्रथा का प्रचलन भारत के आर्यावर्त ब्रह्मावर्तादि भाग में पाया जाता है जहां मंढे का निर्माण चार सच्छिद्र शकोरों (मिट्टी के बरवों) द्वारा होता है। ये चारों पात्र एक विशेष विधि से एक सूत्र में पिरोये जाते हैं और वे विवाह वेदी स्थान के ठीक ऊपर लटका दिये जाते हैं। इनका क्रम है—प्रथम पात्र अधोमुख, दूसरा ऊर्ध्वमुख–मिष्टान्न, दूर्वा, अक्षत तथा द्रव्य प्रपूर्ण। तीसरा अधोमुख उसे ढकता हुआ, और चौथा ऊर्ध्वमुख। तीन दिशाओं में बंधी हुई तीन रस्सियों के सहारे ये वेदी पर लटके रहते हैं।

आज भी प्रायः प्रत्येक विवाह में मंढा होता है और पाधाजी इसे पूर्वोक्त रीति से बंधवा भी देते हैं किंतु इसका क्या रहस्य है इसे बहुत कम व्यक्ति जान पाते हैं। रस्मी तौर पर यह सब क्रिया समाप्त कर दी जाती है। वास्तव में यह चारों मृण्मय पात्र चारों आश्रमों के प्रतीक हैं जिनको मानव जीवनरूपी एक सूत्र में पिरोया जाता है। अधोमुखी प्रथम पात्र ब्रह्मचर्य का प्रतीक है जिसमें ब्रह्मचारी की संसार से विवक्तावस्था, ज्ञान प्राप्ति के लिये उसका नम्रीभाव आदि का सुन्दर निदर्शन है। उसके ऊपर ऊर्ध्वाधोमुख रूप से संयुक्त रक्खे हुए दोनों पात्र उन गृहस्थ और वानप्रस्थ के प्रतीक है जिनमें दम्पति ने संयुक्तावस्था में रहना है, किन्तु सावधान! उनकी यह संयुक्तावस्था खोखली=सारविहीन न होनी चाहिये; अन्यथा गृहस्थ जीवन नितान्त दुःखमय हो जायगा, उसमें अन्न धन की पूर्णता होनी चाहिए, यह बात उसमें डाले जाने वाले खाद्य पदार्थ और द्रव्य से प्रदर्शित की जाती है, और अन्त में होता है चौथा पात्र—ऊर्ध्वाभिमुख, शून्य, संन्यास का प्रतीक!—जिसमें कि पुरुष संसार की ओर पीठ

कर ऊर्ध्वाभिमुख, अपरिग्रहशील और एकाकी बनकर ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। इन चारों आश्रमों के समूह रूप मानव जीवन का सम्बन्ध जिन रश्मियों—डोरों से होता है वे हैं ऋग् यजु साम लक्षण डोरें-जो वेद-त्रयी के नाम से मानव जीवन में अभिव्याप्त हैं।

मण्डप स्थापना के बाद कुमार कुमारी के हाथ में उपाध्याय कंगना—रक्षा कंकरण पहनाता है और सात स्त्रियें इसमें एक एक ग्रन्थी लगाकर इसे और भी दृढ़ बना देती हैं। एक व्यक्ति भी सात गांठ लगा सकता था, परन्तु ऐसा न करके सात भिन्न २ स्त्रियों द्वारा बन्धन सूचित करता है कि वे उनकी रक्षा, देखभाल का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रही हैं। इन सात ग्रन्थियों द्वारा वर कन्या को भी सावधान किया जाता है कि वे गर्भाधान संस्कार से पूर्व तक शरीर की सातों धातुओं का बलपूर्वक निग्रह करें एक २ ग्रन्थी एक एक धातु के संयम=बंधन की प्रदर्शक हैं।

घुड़चढ़ी

मातुल गृह से समागत वैवाहिक वस्त्रों से सुसज्जित वर शिर पर एक विलक्षण मुकुट धारण करता है जिसमें लोहे की एक सुई भी रक्खी जाती है, पर यह क्यों ? इस मुकुट में यह सुई ! हां सचमुच लोहे की सुई ही तो है कितनी तीखी और बींधनेवाली। हां, भई यह भी आवश्यक है, यह फूलों का सेहरा और यह रंग-बिरंगा आभामय मुकुट केवल सुख और आह्लाद से भरा हुआ ही नहीं। गृहस्थ की जो जिम्मेवारी जो भार मुकुट द्वारा युवक के शिर पर रखा जा रहा है उसके अन्तर में तो न जाने ऐसी कितनी सुइयें छिपी हुई हैं, इसी दायित्व का प्रतीक यह कण्टकाकीर्ण ताज है। यह बात उस तीखी सुई द्वारा ही तो ज्ञात होती है।

घुड़चढ़ी को प्रस्थान करने से पूर्व कई प्रान्तों में घोड़े की बाग बहनोई के हाथ में पकड़ाने की प्रथा है। यह शायद इसलिए कि इस अनुभवहीन सवार के लिए लिए उनसे अधिक उपयुक्त पथ-प्रदर्शक कोई नहीं मिल सकता। बहनोई और साले का सम्बन्ध स्वभावतः ही मधुरतापूर्ण होता है। इस रस्म से मानों वे कुमार को गार्हस्थ्य के इस नवीन मार्ग पर सुखेन चलने की उपयुक्त शिक्षा देने का उत्तर दायित्व स्वीकार करते हैं।

प्रस्थान काल में बहिनें अपने आंचल की हवा से भाई के ऊपर आने वाली समस्त भावि बाधाओं को उड़ा देना चाहती हैं, अक्षतों की वर्षा द्वारा उसकी मंगलकामना करती हैं और इस प्रकार मंगलगान के बीच युवक अपनी मातृभूमि की परिक्रमा करता है, मन्दिरमें इष्टदेव की वन्दना करने जाता है और ग्राम देवता की अभ्यर्चना कर विवाह यात्रा के लिए प्रस्थान करता है। यही घुड़चढ़ी है।

द्वाराचार (ढुकाव)

आज रात में विवाह होना है किन्तु उससे पूर्व वर को अभी कई परीक्षाओं में से गुजरना है। ढुकाव या द्वाराचार इसी परीक्षा का ही दूसरा रूप है। वाग्दान से पहिले पिता या भाई ने ही तो वर को देखा था, लड़की के परिवार वालों ने–गली मुहल्ले वालों ने भी तो अभी उसे देखना है। बिना उनके देखे और परखे पाणिग्रहण नहीं हो सकता। विवाह जीवन भर का सौदा है इस लिए इसे बड़ी परीक्षा के बाद ही तय करना पड़ता है।

घोड़ी आई, वर महाशय इसी पर चढ़ कर श्वसुर-गृह जायेंगे। आज तो नाई या दूसरे लोग वर को गोदी में भरकर

घोड़ी पर बैठा देते हैं, जिसका परिणाम स्पष्ट है कि शारीरिक दृष्टि से अयोग्य और निर्बल युवकों की कौन कहे अबोध बालकों और खूसट बूढ़ों तक की भी शादियें कर दी जाती हैं। इससे एक ओर तो व्यभिचार को बढ़ावा मिलता है और दूसरी ओर उनसे होने वाली निर्बल सन्तान राष्ट्रीय निर्बलता का कारण बनती है। जिस समय इस प्रथा का सूत्र-पात हुआ था उस वक्त ऐसा न था। इस अवसर के लिए रथ, पालकी, बग्घी तांगा या अन्य कोई सवारी बखूबी मिल सकती थी लेकिन नहीं, वर को घोड़ी पर ही जाना चाहिए। पूर्व काल में प्रत्येक नगर गांव में पंचायत की ओर से ऐसी घोड़ियें पाली जाती थीं, जो सदा तो किसी अन्धकार पूर्ण स्थान में बंधी रहती थीं केवल ढुकाव के समय वर की परीक्षा के लिए ही उस चंचल घोड़ी का प्रयोग होता था। कुछ तो स्वभावतः ही घोड़े की चंचलता प्रख्यात है इतने पर भी नानाविध बाजे गाजे बजाकर उसे अधिकाधिक चमका दिया जाता था और तब उस घोड़ी पर बैठकर वर को श्वसुर गृह जाना होता था। इस प्रथा से वर की वैवाहिक अवस्था का परीक्षण हो जाता था कि वह पूर्ण युवा हो चुका है? अभी बालक या निर्बल तो नहीं है? यदि वह उस घोड़ी के उठते हुए वेग को, उसके अवस्थाजनित मद को, अपने पुरुषत्व से दबाकर उसे अपने नियंत्रण में रख सका तो वह उत्तीर्ण हो गया। तब देखनेवालों को निश्चय हो गया कि उसके घर जाकर लड़की गृहस्थ का सच्चा सुखोपभोग कर सकेगी।

घोड़ी पर चढ़कर वर ने वधू-गृह की ओर प्रस्थान किया, इस अवसर पर वह अकेला नहीं जाता सभी वरयात्री उसके साथ होते हैं अच्छा खासा जलूस बन जाता है और नगर के प्रधान २ मार्गों से होता हुआ जलूस आगे बढ़ता इस प्रकार की यात्रा

का उद्देश्य जहां शोभा की अभिवृद्धि है वहां आगत महानुभावों और वर को नगर के उत्तमोत्तम बाजारों, सड़कों एवं स्थानों को दिखला देना भी है।

अब द्वाराचार की रस्म शुरू हुई। द्वार पर पहिले से ही एक चौकी रखी हुई है वर के खड़े होने के लिए, जिससे वह ऊंचाई पर होने के कारण सब को दीख सके। चौकी पर चढ़ने के बाद उसके मुख पर पड़ा हुआ सेहरा हटा दिया गया। स्त्रियें बड़ी उत्सुकता से उसके रूप को देखने लगीं। एक सुभगा आगे बढ़ी उसके हाथ में एक थाल है जिसमें प्रज्वलित दीप रखा हुआ है। स्त्रियों के मंगलगान के बीच उसने वर की आरती की; कदाचित् अन्धकार के कारण सब ने वर को अच्छी तरह न देखा हो तो वह इस प्रकाश में अच्छी तरह दीख गया। उसके मस्तक पर तिलक किया उसे कुछ खाने को दिया और अन्त में सात सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा तैय्यार किये गये रंग विरंगे सूत्र (सतनाले) से कन्या पक्ष की निकटतम सम्बन्धिनी सुभगा ने वर को मिनना अर्थात् उसकी नाप तोल शुरू की। आज के विवाहों में तो वह क्रिया भी रूढ़िमात्र रह गई है और उस सतनाले को सातवार वर के शरीर से स्पर्शमात्र कराके इसे पूरा कर दिया जाता है। किन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य था वर की वक्षःस्थल की चौड़ाई, उस के परिणाह और कन्धों के उन्नतत्व आदि का विधिवत् नापलेना जिससे उसकी गार्हस्थ्य योग्यता का ठीक ज्ञान हो सके। कहना न होगा कि इस सतनाले में कन्याके नाप तौल के अनुसार सात ग्रन्थी पहिले से बान्धी जाती थीं, जिससे वर कन्या के नाप तौल का साम्य करके इस युगल जोड़ी का सामंजस्य स्थिर किया जा सके। आज के युग में जो ठिगने वरों के साथ उन्नत शरीर वाली

कन्याओं का, या फिर अत्युन्नत वरों के साथ छोटे कद की कन्याओं का विवाह करके 'ऊंटके गले में टल्ली' वाली कहावत को चरितार्थ किया जाता है उसी वैषम्य का परिणाम दम्पति को जीवन भर भुगतना पड़ता है।

ढुकाव या द्वाराचार की यह प्रथा विवाह का अत्यन्त आवश्यक अंग है। यदि वर में कोई ऐसा दोष हो जिसके कारण लड़की के जीवन नष्ट होने का खतरा हो तो विवाह रोक दिया जा सकता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं कि बारात लड़की के नगर में पहुँच जाने पर भी द्वाराचार के परीक्षण के समय वर के असफल होने के कारण वापस लौट आई।

विवाह-संस्कार

विवाह संस्कार के मुख्यतया ४ अंग हैं (१) वर-पूजन (२) कन्यादान, (३) लाजा होम भांवरें और (४) सप्तपदी।

श्रोत्रिय उपाध्याय द्वारा मंढे के नीचे विवाह संस्कारार्थ दो वेदियों का निर्माण होता है—एक ग्रहवेदी और दूसरी यज्ञवेदी। उनके समीप ही पूर्वाभिमुख वरादि के लिए स्थान कल्पित होता है। पूर्वादि दिशा के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। प्रारम्भिक पूजनादि के अनन्तर प्रथम वर का समन्त्रक पूजन किया जाता है। वधू-पिता वर के चरण प्रक्षालन करता है, बैठने के लिए आसन देता है अर्घ्य प्रदान करता है और तब दही मक्खन तथा मधु को संयुक्त कर तैयार किया हुआ पदार्थ—जिसे वैदिकी भाषा में 'मधुपर्क' कहा जाता है—उसे पीने को दिया जाता है। यह सब क्रियायें युक्तिसंगत ही हैं और

किसी अभ्यागत के आने पर उसके सत्कार के लिए की ही जाया करती हैं इसलिए इनके विषय में कुछ वक्तव्य नहीं है।

कन्यादान

कन्यादान का ऊंचा आदर्श केवल भारतवर्ष में ही है अन्यत्र नहीं, भारतेतर देशों में या तो कन्या विक्रय होता है या स्वयंवरण। कन्यादान में पिता या अन्य अभिभावक एक शङ्ख में दूर्वा जल अक्षत पुष्पादि डालकर सङ्कल्प करता है। दोनों ओर के उपाध्याय उपस्थित जन समुदाय के सामने वर एवं कन्या के गोत्र, प्रवर शाखा एवं तीन पीढ़ियों के क्रमिक व्यक्तियों का तारस्वरेण नामोच्चारण करते हुवे परिचय देते हैं। इस प्रकार का परिचय वे एक बार नहीं किन्तु तीन बार दोहराते हैं जिसका अभिप्राय यही है कि यदि उन दोनों के कुल गोत्रादि के सम्बन्ध में किसी को कोई सन्देह हो तो वह व्यक्ति अब भी आपत्ति कर सकता है और विवाह रोका जा सकता है।

इस शाखोच्चार के अनन्तर संकल्प पूरा हो गया। प्रदाता ने कन्या का दक्षिण अंगूठा वर के हाथ में अर्पित करते हुए शङ्खस्थ जलादि की धारा उसके ऊपर डाल दी मानों इस क्रिया के द्वारा उसने उस पाणि-पीड़न को और भी दृढ़ कर दिया। शंखादि सभी पदार्थ मांगलिक होने के साथ वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से अपनी २ विशेषताओं से भरपूर हैं। शंख के सम्बन्ध में हमने अगले अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला है, यहां इतना ही समझ लेना चाहिए कि वह असंक्रमणशील परमाणुओं से बना हुआ पदार्थ है। उसमें डाली वस्तु उसी रूप में विद्यमान रहती है और वस्त्वन्तर से प्रभावित नहीं होती। कन्यादान के जिस पवित्र भाव से

उसमें जल डाल गया है उसका प्रभाव वर वधू के भावि दाम्पत्य-जीवन पर पड़ेगा और उनका प्रेम उसी शङ्खस्थ जल की धारा के समान सर्वदा निर्मल रहेगा । वनस्पति की दृष्टि से दूर्वा की अपनी कुछ विशेषताएं हैं । एक स्थान पर उत्पन्न होने पर वह निरन्तर फैलती ही चली जाती है, उसे कितना भी काटो फिर हरी हो जाती है । उन दम्पतियों के प्रेम में भी यही विशेषता होनी चाहिये । वह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो और सदा हरे-भरे ही रहें—इस विचार दृढ़ता के लिये उसका सान्निध्य नितान्त उपयोगी है । जल का तो कार्य ही वियुक्त वस्तुओं का एकीकरण है । बिखरे हुए मिट्टी के भिन्न-भिन्न परमाणुओं को संयुक्त कर जल विशाल भवनों का रूप दे देता है । शरीर में विद्यमान मन जलीय अंश से ही उत्पन्न है अतः जल के माध्यम से ही कन्याप्रदाता अपनी हृद्गत भावना को वर के मन में दृढ़ करता है ।

लाजा होम, भांवरें

कन्यादान के अनन्तर वर द्वारा साधारण होम होता है और तब कन्या अपने भाई की सहायता से शमी के पत्तों से मिली हुई खीलों से हवन करती है । इस अवसर पर पढ़े जाने वाले सभी मंत्र और सभी क्रियाएँ अतिशय भावात्मक और अर्थपूर्ण हैं । कन्या जब अंजलि में चरु लेकर पवित्र मन से अग्नि से प्रार्थना करती है कि—

"हे अग्ने ! आप मुझे पितृगृह से वियुक्त होने की शक्ति प्रदान करें और पतिगृह में दृढ़ बनाएँ ।" एवं जब वह—

'आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ।'

—कहकर अपने पति के दीर्घ जीवन की मंगल कामना के साथ

अपने माता-पिता भ्राता आदि की वृद्धि के लिए आशीर्वाद मांगती है तो वहाँ एक स्वर्गीय दृश्य उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार वर जब अग्नि के समक्ष उसका पाणिग्रहण करते हुए कहता है—

(१) सौभाग्य हित पाणि-ग्रहण करता तुम्हारा मैं यहाँ,
तुम मुझ दयित के साथ हो, जैसे बने वैसे यहाँ॥
वृद्धत्व तक संसार-सुख, भोगो सदा मम साथ हो।
भग अर्यमा सविता पुरन्दर साक्ष्य यहाँ यथार्थ हो॥
गार्हस्थ्य धर्मों की यहाँ नित पालना के हेतु वे।
तुझको मुझे हैं सौंपते सब सुखों के सेतु वे॥
(२) पति मैं तुम्हारा हूँ शुभे ! पत्नी हुई तुम मम यहाँ।
मैं प्रेम पूर्वक हूँ तुझे स्वीकार करता तुम वहां॥
कर प्रेम से स्वीकार मुझको प्रीति का आगार हो।
मैं साम हूँ, ऋक् तू हुई, गृह धर्म का आधार हो॥
तुम हो धरा आकाश हूँ मैं, हम करें परिणय विमल।
फिर साथ मिलकर वीर्य भी धारण करें अति ही अमल
उत्तम प्रजा उत्पन्न कर निज राष्ट्र को करदें सुखी।
वृद्धत्व तक साथी रहें होवें सुखी नहिं हों दुःखी॥
हम हों परस्पर प्रेमयुत रुचियुक्त फिर मन से भले।
सौ वर्ष तक देखें सुनें जीवें सुखी हो निर्मले॥

मूल मन्त्र—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय'''शृणुयाम शरदः शतम्।'

—तो उपस्थित सभ्य मण्डल के समने भारतीय विवाह के ऊंचे आदर्श की प्रेममयी मूर्ति आलोकित हो उठती है।

शमि-पत्र मिश्रित लाजाओं से हवन भी विशेषाभिप्राय से ही किया जाता है। शमी के गुणों का विचार करते हुए भावप्रकाशकार ने लिखा है—

शमी तिक्ता कटू शीता काषाया रोचनी लघु।
कफकासभ्रमिश्वासकुष्ठार्शकृमिजित्स्मृता॥

अर्थात्—शमी–कटु, चरपरी, शीतल, कषैली, रुचिकारक हल्की होती है और कफ, खांसी, श्वास, कोढ़, **बवासीर** के कृमियों की विनाशक है। इसीप्रकार खील, मधुर शीतल अग्निदीपक और रूक्ष है। पित्त, कफ, अतिसार, रुधिर विकार, प्रमेह, मेद रोग और प्यास को दूर करने वाली है। हम पीछे हवन के प्रकरण में सिद्ध कर आये हैं कि अग्नि में हुत होने पर प्रत्येक वस्तु का गुण लक्षगुणा हो जाता है। महर्षियों नें इसी अभिप्राय से इनको इस यज्ञ में स्थान दिया है कि कदाचित् वर कन्या में से किसी को इनमें से कोई रोग हो तो वह इसकी धूनि से अच्छा हो सके और वातावरण में फैले हुए रोगों के कीटाणु भी सर्वथा नष्ट हो जाएं।

इस के अतिरिक्त वनस्पति विज्ञान की दृष्टि से शमी में स्वभाव से अग्नितत्त्व प्रबल होता है। कविकुल गुरु कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में **'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्'**–कहकर इसी तथ्य का काव्य भाषा में वर्णन किया है। इसलिए प्राचीनकाल में यज्ञ यागादि में अश्वत्थ-रूढ़-शमी निर्मित अरणी से अग्नि उत्पन्न की जाती थी। सो चूंकि विवाह-संस्कार अग्नि के समक्ष हो रहा है इसलिये शमी की सहायता से उस अग्नि को

सुचारु रूप से प्रज्वलित रखना भी इसका प्रयोजन कहा ज सकता है।

लाजाहुति के अनन्तर वर वधू को एक सुस्थापित पत्थर के टुकड़े पर पांव रखने के लिए कहता है और वह उस पर अप दाहिना पांव रखती है। इस क्रिया का अभिप्राय इस काल पढ़े जाने वाले मन्त्र में ही सुस्पष्ट कर दिया गया है कि-'भद्रे तुम इस पाषाण की हो भांति गृहस्थाश्रम में दढ़ रहना, वि लित न होना आदि।'

तदनन्तर वर, वधू को आगे करके तीन बार इसी प्रकार ला होम सहित अग्नि-प्रदक्षिणा करता है इसी को भांवरे या फे कहा जाता है, चूंकि शास्त्रीय दृष्टि से विवाह का उद्देश्य ध अर्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति है, अतः विवाह के समय चार ही प्रदक्षिणायें की जाती हैं। इनमें धर्म अर्थ ए काम की पूर्ति का मुख्य साधन चूंकि स्त्री ही होती है, अतः उ ही आगे करके यह प्रदक्षिणाएँ सम्पन्न होती हैं। किसी भी का के निर्माण के लिये साधन पहिले प्रस्तुत किये जाते हैं और का बाद में। गृहस्थाश्रम में किये जाने वाले यज्ञ याग, अतिथि सुश्रूषा, तीर्थ व्रतादि गृहधर्मों में स्त्री की उपस्थिति अनिवार्य होती है। विज्ञ पाठकों से भगवान् राम का वह उपाख्यान छिपा हुआ नहीं है कि जनकनन्दिनी भगवती सीता के अभाव में भगवान् रामने उनकी सुवर्ण-प्रतिमा को साथ लेकर ही यज्ञ सम्पन्न किया था। तात्पर्य यह है कि स्त्री गृहधर्म का अनिवार्य साधन है।

अर्थप्राप्ति का साधन भी स्त्री है, यदि पुरुष हजारों रुपये रोज भी कमावे, किन्तु उसे सम्भालने वाली स्त्री न हो तो वह सब धन शीघ्र ही दुर्व्यसनों या प्रकारान्तर से नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार यदि घर में सुघड़ गृहिणी हो तो परिमित आय को भी इस रूप में व्यय करती है कि मनुष्य को कभी अर्थ कष्ट नहीं भोगना पड़ता इसलिये अर्थप्राप्ति का साधन भी स्त्री हुई।

काम के विषय में तो कहना ही व्यर्थ है, उसका प्रमुख साधन तो स्त्री है ही। अतः शास्त्रकारों ने स्त्री को आगे करके धर्मार्थ काम सम्बन्धिनी तीन प्रदक्षिणायें करने का विधान किया है, अर्थात् इन विषयों में स्त्री को पुरुष का नेता स्वीकार किया है। वैसे भी स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक धार्मिक भावना श्रद्धादि, अधिक अर्थतृष्णा एवं **'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः'** के अनुसार अधिक कामशक्ति होती है।

चौथी प्रदक्षिणा मोक्ष सम्बन्धी है। इह विषय में स्त्री पुरुष का मार्ग-प्रदर्शन नहीं कर सकती किन्तु वह तो इस मार्ग में पुरुष के लिये यत्किंचित् विघ्नकर ही है। मोक्षमार्ग के पथिक बड़े-बड़े ऋषि महर्षि उसकी मनोहर छवि अनुपम रूप-लावण्य और मोहमयी मूर्ति को देखकर ऐसे भूले कि अपने लक्ष्य से कोसों दूर जा गिरे, इसीलिये मोक्षमार्गी के लिये कहा गया है—

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥

मुमुक्षु भिक्षु का कर्तव्य है, कि चरण से भी काष्ठमयी भी युवति का स्पर्श न करे। हाथी जिस प्रकार हथिनी के अङ्गसंसर्ग मात्र से बन्धन को प्राप्त करता है, मुमुक्षु भी इसी प्रकार स्त्री को स्पर्श करने से सांसारिक बन्धनों में फिर जकड़ा जायगा। फलतः चतुर्थ प्रदक्षिणा में अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रस्थान के समय पुरुष स्वयं नेता बनता हैं और स्त्री उसके पदचिह्नों का

अनुगमन करती है और इस प्रकार हिन्दू विवाह की परिणति मोक्ष में ही होती है। इन चारों प्रदक्षिणाओं द्वारा मानों स्त्री-पुरुष अग्नि के समक्ष उपरोक्त पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर प्रस्थान करने का व्रत ग्रहण करते हैं।

सप्तपदी

विवाह-संस्कारका चतुर्थ अंग सप्तपदी है। सप्तपदीका अर्थ है सात कदम तक चलना, अथवा स्त्री को सात पद=स्थानों की अधिकारिणी बनाना। 'वह ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित है' वाक्य में जिस प्रकार पद शब्द व्यक्ति विशेष के स्थान का सूचक है इसी प्रकार यहां भी पद शब्द का अर्थ गृहस्थ के साधनभूत उन स्थानों से है जिनकी रक्षा एवं उत्तरदायित्व स्त्री ने वहन करना है।

यों तो अन्न सम्पूर्ण संसार के ही जीवन का साधन है किन्तु गृहस्थ का तो वह मुख्य अंग है। गृहस्थी को जहां अपना और बाल-बच्चों का पेट भरना है वहां अतिथि अभ्यागत साधु ब्रह्मचारी सभी उसकी अन्न की मुट्ठी के सहारे ही तो संसार यात्रा निर्वाह करते हैं। इन सबका पालन भी तो गृहस्थी का कर्तव्य ही है। इसलिये वर-वधू को सर्व प्रथम अन्न की रक्षा, उसके संग्रहादि के लिये गृहस्थ की ओर चलने को प्रस्तुत करता है। शास्त्र कहता है—

'एकमिषे विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—हे सुभगे ! विष्णु भगवान् तुझे अन्न (की रक्षादि) के लिये (गृहस्थ के) प्रथम स्थान को प्राप्त करायें। वधू इस कर्तव्यभार को सहर्ष स्वीकार करती है किन्तु वह स्पष्ट कर देना चाहती है कि इस भारको वह तभी स्वीकार कर सकती है जबकि

(पुरुष) उसे अपने घर के अन्न धनादि का एकाधिपत्य दे, इस लिए वह कहती है:—

धनधान्यञ्च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद् गृहे ।
मदधीनश्च कर्तव्यं वधूराद्ये पदेऽब्रवीत् ॥

अर्थात्—आपके घर में जो धनधान्य शाक व्यञ्जनादि विविध खाद्य पदार्थ हैं उन्हें आप यदि मेरे आधीन करना स्वी-ार करें तो मैं इस भार को ग्रहण करने को तैयार हूँ, अस्तु,

(२) गृहस्थ का दूसरा साधन बल है । बल-वीर्य-सम्पन्न म्पती ही गृहस्थ का सच्चा आनन्द उठा सकते हैं और राष्ट्र को वस्थ सन्तान देकर उसे बलशाली बना सकते हैं। इसलिए गृहस्थ ी ओर दूसरा कदम बढ़ाने की प्रेरणा देता हुआ वर कहता है—

'द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—हे सुभगे ! विष्णु तुझे बल प्राप्ति के लिए गृहस्थ दूसरे स्थान को प्राप्त करायें । इस पर कन्या अपनी स्वीकृति ती हुई कहती है—

कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी ।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद्वचः ॥

अर्थात्—मैं आपके कुटुम्ब की रक्षा करूंगी । सर्वदा मीठी ाणी बोलूंगी दुःख में धैर्यशीला और आपके सुख में सुखी हूंगी ।

(३) गृहस्थ का तीसरा साधन धन है जिसके बिना गृह-ीवन बिल्कुल फीका हो जाता है और मनुष्य उससे उद्विग्न हो उठता है । हम पीछे कह चुके हैं कि स्त्री के बिना पुरुष के कमाये ए धन का उचित उपयोग नहीं हो सकता इसीलिए शास्त्रकारों

ने स्त्री को साक्षात् लक्ष्मी रूपा ही समझा है। तदनुसार गृहस्थ के तीसरे साधन धन की ओर स्त्री को प्रेरित करता हुआ वर कहता है:—

'त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—विष्णु भगवान् तुम्हें धन के लिए तृतीय स्थान को प्राप्त करायें, इसपर भी वधू अपनी स्वीकृति देती है और उसके धन का सदुपयोग करते हुए पति-भक्त रहने का आश्वासन देती है।

(४) चतुर्थ पदाक्रमण का उद्देश्य गृहस्थ सम्बन्धी सुख प्राप्ति है। संसार के सभी प्राणियों का उद्देश्य सुख ही है, इसी सुख के लिए नाना प्रकार के दुःख उठाये जाते हैं। किन्तु गृहस्थ का सुख विलक्षण है और प्राकृतिक प्रेरणा से उचित समय पर उस सुख की अभिलाषा का जागृत होना अनिवार्य है इसलिए शास्त्र कहता है—

'चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—सांसारिक सुख प्राप्ति के लिए विष्णु तुम्हें गृहस्थ के चतुर्थ स्थान को प्राप्त करायें। इस पर वधू एक पांव और आगे रखती हुई अपनी स्वीकृति प्रदान करती है और विश्वास दिलाती है कि—

लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदेऽवदत्॥

अर्थात—मैं गन्ध माल्य, विविध प्रकार के वस्त्राभूषणादि द्वारा समुचित शृङ्गार करके आपका ही आराधन करूंगी।

(५) वधू के पांचवे पदाक्रमण का उद्देश्य पशु-रक्षा है। गाय

भैंस, घोड़ा आदिपशु किसानों के तो परमोपकारक हैं ही किन्तु गोपालन तो प्रत्येक गृहस्थ के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारत का आज का गृहस्थ गाय के ही अभाव के कारण सर्वथा निर्बल क्षीण और संतप्त है। विशुद्ध दुग्ध घृत के सर्वथा अभाव से भारत की वर्तमान सन्तति कितनी निर्बल हो रही है यह किसी से छुपा नहीं है। इसलिए शास्त्र ने गृहस्थ के इस पशु रूप साधन की ओर भी ध्यान दिया है। वर कहता है—

'पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु'

अर्थात्—पशुओं की रक्षा के लिए विष्णु तुझे गृहस्थ के पांचवे स्थान को प्राप्त करायें। वधू पांचवे पग को आगे बढ़ाती हुई इसे स्वीकार करती हैं।

(६) प्रत्येक ऋतु का विभिन्न प्रकार का आहार विहार होता है उस सबको समझकर तदनुकूल आचरण करने से ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। यह ऋतुज्ञान ही स्वास्थ्य की कुंजी है। अपने सम्बन्ध में तो मनुष्य सावधान रह सकता है किन्तु बच्चों आदि के स्वास्थ्य के लिए ऋतुचर्या का भार स्त्री पर ही होता है। अतएव गृहस्थ के छठे साधन=ऋतुचर्या की ओर अग्रसर करता हुआ वर कहता है—

'षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु।'

अर्थात्—छहों ऋतुओं की अनुकूल चर्या की प्राप्ति के लिए विष्णु तुझे गृहधर्म के छठे स्थान को प्राप्त करायें। स्त्री इसके लिए भी अपनी स्वीकृति प्रदान करती है।

(७) इस प्रकार गृहधर्म के छहों स्थानों की अधिकारिणी हो जाने पर स्त्री पुरुष की पूर्ण रूप से अर्धाङ्गिनी बन जाती है—

घर में बराबर की अधिकारिणी और पुरुष की श्रेष्ठतम सखा, दासी नहीं। जो लोग हिन्दू धर्म में स्त्री की स्थिति के बारे में तरह २ के आक्षेप करते हैं और समझते हैं कि हिन्दू धर्म में स्त्री का पद दासी या पुरुष की वशवर्तिनो निकृष्ट नौकरानी का सा है उन्हें वेद के इस मन्त्र को आंख खोलकर पढ़ना चाहिए। सातवें पदाक्रमण के लिए प्रेरित करता हुआ वर कहता है—

'सखे ! सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु

अर्थात्—हे सखे ! अब तुम सखित्व की प्राप्ति के लिए सातवां पग आगे बढ़ाओ, तुम सर्वदा मेरे अनुकूल रहो। विष्णु तुम्हें इस मित्र रूप सातवें स्थान को प्राप्त करायें। और तब वधू अपना सातवां कदम आगे बढ़ाती हुई पुरुष की सहधर्मिणी सहचारिणी एवं अभिन्न आत्मा बन जाती है।

विवाह संस्कार का अन्त वधू की सिन्दूर से मांग भरने और उसे पुरुष के वामांग में बैठाने की क्रिया द्वारा होता है। स्त्री अब पुरुष की अर्धाङ्गिनी बन चुकी है। मस्तक में सौभाग्य सूचक मांगलिक सिन्दूर की रेखा डालता हुआ वर, उपस्थित देवताओं विद्वानों एवं गुरुजनों से उसके सौभाग्य के लिए आशीर्वाद की याचना करता है और वे सब हृदय से उसे आशीर्वाद देते हैं।

पति पत्नी दोनों खूब प्रेम पूर्वक गृहस्थाश्रम में स्थिर रह सकें अतः इस अवसर पर उन्हें विशेष रूप से ध्रुव दर्शन कराया जाता है। ध्रुव संसार में स्थिरता का प्रतीक है—अपने कर्त्तव्य और निश्चय पर सर्वदा अडिग रहनेवाला ! वर वधू इस समय ध्रुव दर्शन करते हुए अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ़ रहने का पावन सन्देश प्राप्त करते हैं।

छन

संस्कार पूर्ण हो चुका है। अब वर को छन कहने के लिये न्दर जाना है। यह 'छन' क्या है ? क्यों है ? यह सब प्रश्न त्येक जिज्ञासु के मन में उठते हैं। वास्तव में 'छन' छन्द शब्द का पभ्रंश है जिसका तात्पर्य कविता या पद्य से है। इस प्रथा का गणेश वर के साथ पारस्परिक परिचय के उद्देश्य से हुआ है। रिवारिक नवयुवतियें कुमारियें आदि हास्य का द्वार खोलने से वं वर की झिझक को मिटाने के लिए एवं सबके साथ उसके रिचय के लिए के लिये छन्द श्रवण की रीति का आश्रय लेती और उसे 'छन' सुनाने के लिए विवश करती हैं। यह एक कार से वर की वाणी और ज्ञान की परीक्षा है। यदि वह क्षित है तो उसे कुछ कविताएं, सूक्तियें अथवा छन्द तो श्य ही स्मरण होंगे ? इस धारणा पर इसका जन्म हुआ । आज उसका रूढ़ी रूप है और इस अवसर पर कुछ-न-कुछ ाने के लिये सभी लोग एक-दो दोहे आदि कण्ठस्थ कर लेते । अतः रूढ़िरूप में भी यह लाभप्रद ही है और पारस्परिक रिचय का अच्छा साधन कहा जा सकता है। इसी प्रकार वधू-ह पर वर के लिए और भी कई अवसर ऐसे आते हैं जिनमें स्य के साथ उसके बुद्धिकौशल, ज्ञान एवं स्वभाव की परख जाती है। उदाहरणतया—वधू का कंकण मोचन करने के मय उसे एक ही हाथ से कंगना खोलना पड़ता है। यह कोई स्त्रीय विधान नहीं है किन्तु उसको बुद्धि की परीक्षा के लिये ऐसा किया जाता है।

धान्य वर्षण

वधू-गृह पर विवाह संस्कार की अन्तिम क्रिया धान्यवर्षण है।

इसके साथ ही लगभग विवाह समाप्त हो जाता है और कन्या पतिगृह के लिए विदा हो जाती है। यह विवाह का उपसंहारात्मक दृश्य है और दर्शक के हृदय को प्रेम, करुणा, आह्लाद और दुःख की विचित्र भावभंगियों से आपूर कर देता है। वर्षों तक जिस घर में पाली-पोसी गई, बड़ी हुई, जिन गलियों में सहेलियों के साथ खेलते-खेलते बचपन बीता और यौवन आया, उन सबको सदा के लिये छोड़कर लड़की आज पराई बनकर एक अपरिचित देश में जा रही है यह दृश्य किसके हृदय को द्रवित नहीं कर देता। उमड़ते हुए आंसुओं को रोककर उपस्थित जनसमूह रुंधे हुए कंठ से विदाई के गीतों के बीच धान्यवर्षण की रीति को पूरा करता है। यह शास्त्रीय प्रथा है और इसका उद्देश्य है उपस्थित गुरुजनों और अभिभावकों की ओर से वर-वधू के प्रति मंगल-कामना और शुभाशीर्वाद का प्रदर्शन। भारत कृषि-प्रधान देश है इसीलिये यहाँ की प्रथाओं में धान्य आदि का सुन्दर समावेश मिलता है। किसी राजा-महाराजा का अत्यन्त स्वागत एवं सत्कार करने के अवसर पर धान और खीलों का वर्षण यहाँ की पुरानी और शास्त्रीय प्रथा है। चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप के वन में प्रस्थान करने पर लताओं से हुई पुष्प-वृष्टि को महाकवि कालिदास ने—

'आचारलाजैरिव पौरकन्या'

—कहकर भारत की इसी प्रथा की ओर संकेत किया है। चूंकि प्राणिमात्र का जीवन अन्न पर ही निर्भर है इसलिये ऐसे अवसरों पर धान्यवर्षण करके यह शुभकामना प्रकट की जाती है कि इन दोनों का गृहस्थ सदा अन्न धन से भरपूर रहे और सदा इसी भांति धान्यवृष्टि होती रहे। यह भाव वाणीमात्र से प्रकट किया

ने पर इतना प्रभाव-पूर्ण कभी न हो सकता था जितना कि यात्मक रूप में जनता के समक्ष प्रदर्शित करने पर होता है।

इसके अतिरिक्त शास्त्र-दृष्टि से यह वर-वधू का पूजन है, भी उपस्थित जन परिक्रमा के साथ धान्यवृष्टि करते हुए उनके रणों में मस्तक झुकाकर इस शास्त्र की रीति का पालन करते । प्रत्येक बड़ा-छोटा—यहाँ तक कन्या के माता-पिता भी–इस वसर पर इन दोनों की चरण-वन्दना करना अपना अहोभाग्य मझते हैं। क्यों न हो इस संस्कार के समय वे दोनों साधारण नव-प्राणी नहीं किन्तु लक्ष्मी एवं नारायण की युगल मूर्ति हैं, कृति एवं पुरुष की सजीव प्रतिमा, विशुद्ध एवं निष्पाप ! तब यों न उनका अभिवादन किया जाय। इस प्रकार हम देखते हैं न्यवर्षण उपरोक्त दोनों ही दृष्टिकोणों से विवाह का आव-क अंग है और उपस्थित समाज के मनोभावों के प्रदर्शन का दर तरीका है।

गृह-प्रवेश

बारात सकुशल वापिस लौट आई, नव-वधू ने पति के नगर पदार्पण किया और उसके स्वागत का समारोह होने लगा। त्रयों ने मिलकर वधू को गाड़ी से उतारा और अपने हृदय में मड़ने वाले आनन्द को गीतों में प्रकट करती हुई उसे घर ले लीं। उसके शिर पर पीपल की हरी टहनी और नेता (बिलौनी रस्सी) से युक्त जलपूर्ण कलश रखकर द्वार पर लाया जाता जहाँ उसका स्वागत एवं अभिनन्दन होता है। द्वार पर प्रथम पित ऊंची चौकी पर खड़ा कर मां अपने वस्त्र के आंचल से मिनती है। शिर पर स्थित कलश के जल को उसके ऊपर रकर स्वयं पान करती है। कुछ जल पी चुकने के बाद

लाडला बेटा मां को सम्पूर्ण जल पीने से रोकता है। इस रस्म के अनन्तर दम्पती घरमें प्रवेश करना हो चाहते हैं, किन्तु बहिनें आगे आकर उनका द्वार रोक लेती है। समुचित दक्षिणा मिलने पर उन्हें घर में प्रवेश करने की अनुमति मिलती है। यह सब प्रथाएँ यद्यपि आज देखने सुनने में हमें गोरखधन्धा-सी मालूम होती हैं, परन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी समय ये बड़े महत्त्व की रही होंगी।

वधू शिरस्थ कलश, स्वास्थ्य, प्रेम, समृद्धि और मर्यादा का प्रतीक (Symbol) हैं। सभी परिजनों की यह कामना होती है कि नवागत-वधू जो कि प्रथम बार इस घर में प्रवेश कर रही है अपने साथ स्वास्थ्य प्रेम आदि को लेकर आये। आक्सीजन या प्राणप्रद तत्त्वों से परिपूर्ण पीपल की हरी डाली स्वास्थ्य एवं बल की प्रतीक है। जल स्निग्ध पदार्थ है, बिखरे हुए कणों को एक रूप कर देना उसका कार्य है। यह वधू के उस प्रेम का प्रतीक है जिसके द्वारा उसने बिखरे परिवार को संयुक्त कर रखना है। नेत्ता, पारिवारिक समृद्धि का सूचक है क्योंकि वह उसी घर में होता है जो दूध दही से भरपूर हो और वह पात्र जिसने प्रेमरूपी जल को धारण किया है मर्यादा का सूचक है। एक आदर्श भारतीय गृहस्थ को स्वास्थ्य, प्रेम, समृद्धि और मर्यादा इन्हीं चार वस्तुओं की आवश्यकता होती है, सो प्रतीक-वाद का आश्रय लेकर परिजनादि, वधू से इन्हीं चार वस्तुओं की कामना करते हैं और वधू भी मस्तक पर इन्हें धारण कर प्रवेश करती हुई इस शुभ कामना का अभिनन्दन करती है। इस अवसर पर वहिन द्वारा द्वारावरोध ननद और भौजाई के पारस्परिक परिचय का साधन है अनेकों स्त्रियों में मिली हुई ननद का इस रस्म द्वारा सबसे भिन्न रूप में परिचय हो जाता है तथा वह दाय भाग भी प्राप्त कर लेती है।

ग्राम परिक्रमादि

विवाहान्त में वर, वधू को साथ लेकर देव दर्शनार्थ सम्पूर्ण न्दिरों की यात्रा करता है। इस प्रथा का उद्देश्य देवदर्शन के थ २ ग्राम के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थानों का निरीक्षण तथा स्त ग्राम समाज में विवाह विज्ञापन भी है। इसी प्रकार इस मय में सम्पन्न होनेवाली शिरगुन्दी आदि प्रथा का अभिप्राय भी गुण परीक्षण ही है। अड़ौस पड़ौस से एकत्र हुआ स्त्रीसमाज रगुन्दी के बहाने वधू के गुणों की परीक्षा करता है। उसके ीत तथा नृत्य को देखकर ललित कलाओं के प्रति उसकी रुचि ा योग्यता को जांचा जाता है। इस रीति के साथ आनन्द र उल्लासपूर्ण यह संस्कार समाप्त हो जाता है।

वानप्रस्थ विचार

मनुष्य का जन्म केवल कोल्हू के बैल की भांति सदैव घर गृहस्थी जुते २ मर जाने के लिए नहीं हुआ है, किन्तु शास्त्र आयु को र भागों में बांटकर यथासमय सभी मानव कर्तव्यों के पालन आदेश करता है। आयु का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य पूर्वक पठन-ठन में व्यतीत होना चाहिए और पूर्ण युवा हो जाने पर गृहस्थ कर आदर्श सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए—यह दूसरा भाग में रहते भी विषयों से ग्लानि प्राप्त करने का साधन है। इन नों आश्रमों का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं, अब क्रम प्राप्त यु का तीसरा भाग देशसेवा, जातिसेवा और आत्म-कल्याण धना में व्यतीत होना चाहिए इसे 'वानप्रस्थ' कहते हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
(अथर्व० १९।४१।१)

(ख) गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् । (मनु०६।२

अर्थात्—(क) स्वर्ग सुख के वेत्ता तत्त्वज्ञ ऋषि, आत्म-कल्याण की इच्छा रखते हुए अनादिकाल से तपश्चर्या की दीक्षा में निरत हुए । (ख) गृहस्थ पुरुष जब अपने देह की चमड़ी ढीली हुई तथा सफेद बाल देखे और घर में पुत्र का भी पुत्र अर्थात् पौत्र उत्पन्न हो जाए तब वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे ।

वानप्रस्थ क्यों ?

आज का मानव जीवन इलाहाबादी कवि अकबर के शब्दोंमें-'बी. ए. किया, नौकर हुए, पैन्शन मिली और मर गये'—केवल इतना ही शेष रह गया है । पाश्चात्य देशों में तो इससे भी अधिक दयनीय दशा है, जहां होस्टल, होटल और होस्पीटल इन तीन स्थानों को छोड़कर चौथे स्थान की कल्पना भी नहीं की जा सकती । धनी, रंक सभी होटल में खाते हैं और होस्पीटल में मर जाते हैं । परन्तु हमारे पूर्व पुरुषों ने केवल पेट भरने मात्रकी पाशविक प्रवृत्ति से ऊपर उठकर मानव जीवन के चरमलक्ष्य भगवत् प्राप्ति की साधना का भी स्वर्णिम पुरोगम बनाया था। यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश आज हम लोग भी इस आश्रम के महत्त्व को भूलकर अनेक दुःखों के भाजन बन रहे हैं, संसार की भेड़ोंके

गल्ले में सम्मिलित होकर 'भें-भें' करने लगे हैं तथापि अन्य देशों की अपेक्षा इस गए बीते समय में भी प्राचीन मुनियों का स्मरण दिलानेवाले कुछ न कुछ आदर्श वानप्रस्थियों के भी दर्शन किये जा सकते हैं। मानव जीवन को सफल बनाने की साधना के निमित्त एकान्तवास कितना उपयोगी है यह बात अनवरत जन-संघट्ट-संकुल संकीर्ण नगरों में रहने वाले, विषकृमि-न्याय से तथैव जीवन बिताने के अभ्यासी लोगों की समझ में नहीं आ सकती, परन्तु संसार के कटु अनुभवों के तमाचों से आकुलित अनेक धनी मानी सम्राटोंको—पाश्चात्य देशों के भौतिक साधन-सम्पन्न अनेक धनकुबेरों तक को, गृहस्थ की विषम वागुरा के बन्धन से उन्मुक्त होकर हिमालय की गुफाओं की ओर भागते हुए देखते हैं तो वानप्रस्थ आश्रम की महत्ता का कुछ धुंधला आभास अवश्य मिलता है। इसलिए वन प्रस्थान की प्रवृत्ति मनुष्य की व्याकुलित आत्मा की अन्तर्ध्वनि है उसे अनसुनी करके आमरण गृहपङ्क में ही धंसे रहना जीवन की विडम्बना है।

संन्यास आश्रम विचार

आयुष्य का चौथा भाग सब झंझटों को छोड़कर आत्म-कल्याण और केवल आत्मकल्याण की साधना में व्ययित करना ही संन्यास आश्रम का आदर्श है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।
(ख) चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्-मनु·

अर्थात्—(क) जिसदिन भी वैराग्य हो जाए, उसी दिन संन्यास ग्रहण करे (ख) आयु का चौथा भाग—सब कुछ छोड़कर संन्यास में बिताना चाहिए।

संन्यास क्यों ?

वानप्रस्थ आश्रम की विवेचना करते हुए गत पंक्तियों में हम बतला चुके हैं कि संसार से ग्लान्त होकर सब कुछ छोड़ एकान्त सेवन की भावना मनुष्य की स्वाभाविकी अन्तर्ध्वनि है। वानप्रस्थ और संन्यास में केवल इतना ही अन्तर है कि वानप्रस्थ जहां कुछ छोड़ने के आदर्श को अपनाता है वहां सन्यास सर्वस्व त्याग की पुनीत शिक्षा देता है, वास्तव में दीर्घकाल तक संग्रहमय जीवन बितानेवाले गृहस्थ का एकदम सर्वथा त्यागी बन जाना मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं हो सकता। अतः सर्वसंग्रही को सर्वत्यागी बनाने के लिए वानप्रस्थ का माध्यस्थ आवश्यक है, उसके सम्पन्न हो जाने पर संन्यास का विधान सर्वथा युक्तियुक्त है।

मृत्यु-सज्जा-विचार

हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं, आज के संसार में मनुष्यों को जीना तो आता ही नहीं, परन्तु शोक तो यह है कि उन्हें मरना भी नहीं आता। जीते हैं तो पशुओं की भांति हीन दीन दशा में, और मरते हैं तो रोते झींकते, करुणा क्रंदन करते और अपने किए अकृत्यों पर पश्चात्ताप करते। न जीते चैन न मरे चैन! परन्तु हमारे पूर्वज आज से सर्वथा विपरीत जीते थे तो आन और शान के साथ प्रज्वलित अग्नि की भांति चमकते हुए जीते थे, और मरते थे तो सर्वथा तैयार होकर सजधज और

हंसी खुशी के साथ । जीवन में अभ्युदय उनके चरण चूमता था और मरने पर निःश्रेयस हाथ बांधे आगे खड़ा मिलता था ।

हमने इस ग्रन्थ में जीवन को सार्थक बनाने के कुछ नियमों का दिग्दर्शन यत्र तत्र लिखा है परन्तु इस प्रघट्ट में हम उस मृत्यु विधि विधान को क्यों की कसौटी कसकर खरा २ दिखा देना चाहते हैं जिसका कि खरीदार चाहते या न चाहते प्रत्येक प्राणी को बनना ही पड़ता है ।

शास्त्रीय स्वरूप

गोमयोदकेन भूमिमुपलिप्य, कुशैराच्छाद्य, कृष्णतिलान् विकीर्य उत्तराशाशिरस्कं भूमौ उत्तानशायिनं महा-प्रयाणपथिकं विदध्यात् । शनैः गङ्गोदकतुलसीदलमाचामयेद् यथाशक्ति आतुरदानं दीपदानञ्च कारयेत् । समुपस्थिता हरिस्मरणं हरिनामकीर्तनञ्च कुर्युः ।

अर्थात्—गोमय जल से भूमि को लेपकर कुशाग्रों से अच्छादित करे, और काले तिलों को विकीर्ण करके । उस भूमि पर मुमूर्षू मनुष्य को उत्तर की ओर शिर करके सीधा लिटा दे । गङ्गाजल तुलसीपत्र सहित शनैः २ मुख में डाले यथाशक्ति आतुरकालीन दान और दीपक दान करवाया जाय । उपस्थित कुटुम्बी हरिस्मरण और हरिनाम कीर्तन करें ।

गोबर से लेपन क्यों ?

'मरना कैसे चाहिये ?'—इस प्रश्न का सीधा और संक्षिप्त उत्तर यह है कि मनुष्य के शरीर में जो—गुदा, लिंग, मुख, दो

कर्ण, दो नासिका, और दो नेत्र, ये नौ छिद्र प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं इनके अतिरिक्त कपाल में एक गुप्त दशम द्वार भी है। इनमें उत्तरोत्तर ऊपर के द्वार से प्राणों का उत्क्रमण हो-यही एक प्रयत्न मृत्युकालीन समस्त विधियों का मूलभूत उद्देश्य है। मरने के बाद जीव की क्या दशा होगी, अर्थात् उसकी सद्गति होगी या दुर्गति ? इस परोक्ष रहस्य को इदमित्थं तो स्वयं भगवान् या त्रिकालदर्शी महात्मा ही जान सकते हैं, परन्तु मरण कालीन प्राणों के उत्क्रमण का मनन करने से इस विषय में प्रत्येक व्यसनी बुद्धिमान् को कुछ आभास अवश्य मिल जाता है।

यदि किसी भाग्यशाली मनुष्य के प्राण स्वयमेव कपाल का भेदन करके प्रयाण करते हैं तो वह सर्वोत्तम मोक्षगति को प्राप्त हुआ है—चौरासी के चक्कर से छूट गया है अब वह **'न स पुनरावर्त्तते'** का अधिकारी बन गया है।

उत्तरोत्तर ऊंचे द्वार से प्राण प्रयाण से सद्गति क्यों होती है ? यह बात अनुपद आगे की पंक्तियों में प्रकट की जाएगी, परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि मृत्युकालीन सब विधियें केवल इसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये की जाती हैं। सो भूमि पर चित्त लिटाने की दशा में मनुष्य के मलद्वार का भूमि से स्पृष्ट रहना अनिवार्य है और भूमि का आकर्षण सर्वथा अशक्त हुवे प्राणों को चुम्बक की भांति खींचकर गुप्तद्वार से निकलने के लिये बाध्य करे यह स्वाभाविक है, अतः इस दुर्गति से बचने के लिए मुमुर्षु मनुष्य के शरीर और भूमि दोनों के मध्य में मध्य में कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिए जो कि—'शुचि' असंक्रामक=नानकन्डक्टर (Nonconductor) हो। सो सभी वैज्ञानिक गोवर को शुचि द्रव्यों में अन्यतम स्वीकार करते हैं, अर्थात्—बिजली का करण्ट

उसे पार करके दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतः हमारे शास्त्रों में गरीब अमीर सबको सर्वत्र सुलभ गोवर को ही भूमि लेपन के लिये उपयुक्त माना गया है। गोवर की विद्युत्-निरोध-कारिणी शक्ति लोक में प्रायः प्रसिद्ध है, अनेक स्थानों में आकाश से गिरने वाली बिजली गोबर के ढेर पर गिरने की दशा में वहीं समा जाती है—यह लोकप्रवाद प्रत्यक्षदर्शी अनेक व्यक्तियों द्वारा समर्थित है। गोवर के ढेर में से मिलने वाला लोह धातु के मूसले जैसा तैजस् पदार्थ अग्नि के संयोग से पुनरपि उड़ जाता है यह किंवदन्ती भी निर्मूल नहीं।

इसके अतिरिक्त रोगीके स्थान में कई दिनों तक अनेक विध मलों का संपर्क रहना स्वाभाविक है। कई प्रकार के संक्रामक रोगों के कीटाणुओं का विद्यमान होना भी अनिवार्य है, इसलिए मृत्यु समय उपस्थित रहनेवाले कुटुम्बी जनों की स्वास्थ्य संरक्षा के विचार से भी नानाविध कीटाणुओं को विनाश कर सकने की क्षमता रखने वाले तैजस् (फासफोरस) जैसे तत्त्वों से परिपूर्ण गाय के गोवर से चौंका लगाना बहुत आवश्यक है।

कुशा आस्तरण क्यों ?

पूर्वोक्त स्थापना के अनुसार मुमूर्षु मनुष्य के शरीर और भूमि के मध्य में शुचि पदार्थों का अन्तर होना चाहिए। इसके निमित्त जैसे गौवर का चौंका आवश्यक है, इसी प्रकार **'द्विबंद्धं सुबद्धं भवति'** के न्यायानुसार सर्वजन सुलभ **'दर्भ'** नामक घास को भी शुचि (असंक्रामक=नान कैन्डेक्टर) होने के कारण विस्तर के नीचे बिछाने का प्रयोग पूर्वोक्त भूमि आकर्षण की आशंका को सर्वथा निर्मूल करके अनेक लाभों को प्राप्त करना ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद (१९।३२।१–१०) में दर्भ के विशिष्ट गुणों का प्रतिपादन करने वाला पूरा सूक्त विद्यमान है जिसका कुछ दिग्दर्शन इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २०९ पर किया जा चुका है। तदनुसार दर्भ को दैवी गुणों से संयुक्त एक प्रकार का मणि स्वीकार किया गया है जैसे सुवर्ण अपनी भास्वर तैजस्विता के कारण संक्रामक कीटाणुओं का विनाशक माना गया है (परंतु सर्वजन सुलभ न होने के कारण बहु संख्यक रंक उससे कुछ लाभ नहीं उठा सकते) वैसे ही दर्भ कुशा नामक घास भी तादृश दिव्य तैजस गुणों का आगार होने के कारण और संक्रामक कोटाणुओं की समूल संहारक होने के कारण रोगी के नीचे बिछाने का सर्व सुलभ लाभदायक पदार्थ है।

कर्म विपाक के तारतम्य से रंक तो सम्राट् नहीं बनाए जा सकते परन्तु बड़े से बड़े धनी मानी सम्राटों को भी धार्मिक विधान में सर्व साधारण की भांति धर्मानुष्ठान करने के लिये बाध्य किया गया है जिससे कल्पित वैषम्य को मिटा कर स्वाभाविक साम्य का संरक्षण किया जा सके यही कारण है कि धार्मिक अनुष्ठानों में सोने के सिंहासन के स्थान में कुशासन और सुवर्ण निर्मित अंगूठियों के धारण स्थान में दर्भ निर्मित पवित्रियों के पहिनने का विधान किया गया है। मृत्यु के समय भी स्वर्ण निर्मित तख्त को त्याग कर कुशास्तरण का उल्लेख किया गया है। कहना न होगा यह दर्भ नामक घास सर्व साधारण गरीबों की स्वर्ण राशि है धर्मानुष्ठानों के समय बड़े से बड़े धन-कुबेरों को भी जीवन में अनन्त बार इसे वनों से ढूंढ २ कर लाना पड़ा है और आज मरते समय भी इसी के बिस्तर पर पांव फैलाने पर रहे हैं।

भूमि पर बिस्तर क्यों ?

कई अहिन्दू लोगों का कहना है कि "रोगी पुरुष निरन्तर कई दिन और महीनों तक मृत्यु शय्या पर पड़े २ वैसे ही निढाल हो जाता है, उसका एक २ अंग दुखने लगता है, मांस चर्बी सूख जाने के कारण गुदगुदा बिछौना भी उसकी उभरी हड्डियों में चुभने लगता है परन्तु ऐसी दशा में जब कि उसे अधिक से अधिक आराम पहुँचाने की आवश्यकता होती है हिन्दू लोग जमीन पर लिटा कर मुमूर्षु पर घोर अत्याचार करते हैं।" वास्तव में यह आक्षेप वही लोग करते हैं जो कि यह भी नहीं जानते कि दर असल मौत किस बला का नाम है। कहना न होगा कि आस्तिकों की दृष्टि में जड़ देह से चेतन अंश जीव=रुह का जुदा होना ही मृत्यु है, जीव की सत्ता न मानने वाले नास्तिक लोग भी कम से कम स्वास प्रस्वास की प्रगति बन्द हो जाने का नाम तो 'मृत्यु' अवश्य स्वीकार करेंगे। सो मृत्यु के समय अन्य सब गौण कष्टों को छोड़कर स्वाससंचार के सौविध्य पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। यदि क्षणमात्र भी नासिका और मुख को बन्द कर दिया जाए तो जितनी वेदना इससे अनुभव होगी उतनी अन्य किसी अंग की पीड़ा से नहीं हो सकती। यही कारण है कि अंगों की पीड़ा को यथेच्छ सहन करता हुवा भी मनुष्य यथातथा जीता रहता है परन्तु स्वास नलिका के बन्द होते ही तत्काल मर जाता है। स्वास क्रिया के निरोध से कितना महा कष्ट होता है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि संसार में सब से बड़ा दण्ड फांसी पर झुला देना माना जाता है। सो निवार के पलंगों और गुदगुदे गदैलों पर प्राण प्रयाण के समय मुमूर्षु को लेटाए

रखना उसे फांसी के तख्ते पर चढ़ा देने के बराबर है क्योंकि मृत्यु के समय सर्वथा निढाल हुवे मनुष्य की रीढ़ की हड्डी जब तक सीधो तनी न रहेगी तब तक स्वास क्रिया के निरोध के कारण मुमूर्षु को असह्य वेदना का सामना करना पड़ेगा। समतल भूमि ही उस समय एक ऐसा बिस्तर हो सकता है कि जिस के आश्रय से उत्तानशायी मनुष्य की रीढ़ की हड्डी सर्वथा सीधी तनी रह सकती है। इस लिये बिना कष्ट उठाए प्राणोत्क्रमण संभव बनाने के लिये सद्यः मुमूर्षु मनुष्य को भूमिमाता की गोद में लिटा देना ही उसकी अन्तिम सेवा करना है। यही कारण है कि आर्य संस्कृति के पुजारी लोग रातों जागकर पहिरा देकर भी अपने बन्धु को चारपाई पर नहीं मरने देते, यदि किसी भी कारणवश ऐसा हो ही जाए तो इस पाप को दूर करने के लिये विशिष्ट धर्मानुष्ठान द्वारा प्रायश्चित्त करते हैं। इसलिये भूमि के बिस्तर पर ही प्राणोत्सर्ग होना चाहिए।

चौंकी तख्त क्यों नहीं ?

यदि रीढ़ की हड्डी को सीधी रखने के लिये ही भूमि का बिस्तर आवश्यक है तो यह लाभ तो चौंकी और तख्त पर लेटा देने से भी प्राप्त हो सकता है। बड़े लोगों के यहाँ ऐसी ही व्यवस्था क्यों न रहे ?

हम पीछे कह चुके हैं हमारे समस्त धर्मानुष्ठान मुष्टिमेय धनी मानियों को सामने रखकर नहीं निश्चित किये गये किन्तु बहुसंख्यक सर्व साधारण गरीबों की स्थिति को लक्ष्य में रखकर लिखे गये हैं, सो यदि शास्त्रों में चौंकी या तख्त पर लेटाने की विधि होती तो सर्व साधारण गरीबों को उन के जुटाने में

ही परेशानी उठानी पड़ती, फिर मृत्यु का कौन ठिकाना कब हां आ जाय ? सो चौबीसों घन्टे घर, वन, रण-क्षेत्र सभी ानों में चौंकी तख्त को पीठ से बांधे मनुष्य घूमा करे यह कहां क संभव है ! महामारी आदि विपत्तियों के समय तो चौंकी ख्त वाली विधि पर आचरण ही नहीं हो सकता, अतः शास्त्र सी अधूरी विधियें लिखने की भूल नहीं कर सकते। सो सर्वत्र वंजन-सुलभ पृथ्वीमाता की पवित्र गोद को छोड़ कर मरने के मय भी कृत्रिम बड़प्पन की शेखी बघारना मानवता का घोर पमान करना है।

इसके अतिरिक्त कई बार यह भी देखा जाता है कि कुटुम्बी न मुमूर्षु का पहरा देते हुवे भी ठीक मृत्यु के समय असावधान जाते हैं तब मुमूर्षु ही किसी तरह स्वयमेव चारपाई से नीचे तर कर भूमाता की गोद में सदा के लिये सो जाता है अतः ाकृतिक रीति से जमीन का बिस्तर ही अन्त में काम दे कता है, चौंकी तख्त आदि कृत्रिम साधन तो केवल विडम्बना ात्र हैं।

उत्तर दिशा को शिर क्यों ?

हम इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २६४ पर अहोरात्रचर्या अध्याय के ायन प्रकरण में यह सिद्ध कर चुके हैं कि 'जीवन काल में मनुष्य ो दक्षिण दिशा को पांव करके कभी नहीं सोना चाहिए'— रन्तु मृत्यु के समय इस के विपरीत दक्षिण दिशा की ओर ांव कर के ही मुमूर्षु को लेटाने की शास्त्रविधि है, और प्रायः ऐसा हो किया भी जाता है, इस का क्या हेतु है यह यहां प्रकट करते हैं।

हम पीछे कह आए हैं कि मरणकालीन सब विधियों के मूल सिद्धान्त यही है कि 'प्राणों का प्रयाण उपरितन दशम द्वार से हो—और यदि ऐसा न हो सके तो कम से कम नाभि से नीचे के भाग में होने वाले गुदा और लिंग के द्वार से तो न होने पाए। सो इसी बात की सिद्धि के लिये जहां पूर्वोक्त अन्यान्य प्रयत्न किये जाते हैं उन्हीं में से एक यह भी प्राकृत प्रयत्न है।

कहना न होगा कि उत्तर को शिर और दक्षिण को पांव करके मुमूर्षु को लेटाने की दशा में ध्रुवाकर्षण के कारण दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर निरन्तर चलने वाला विद्युत् प्रवाह कम्पास यन्त्र की सूई की भान्ति मनुष्य के निकलते हुवे प्राणों को नीचे के छिद्रों की ओर खींच लेजाने में सहायक सिद्ध होता है। इस तरह हम प्रकृति प्रवाह को मरण काल में अपना सहायक बनाने में सफल होते हैं और ध्रुवाकर्षण के दिव्य प्रवाह से लाभान्वित होते हैं, यही मुमूर्षु के उत्तर दिशा को शिर और दक्षिण दिशा की ओर पांव करने का अन्यतम हेतु है।

चित क्यों लेटाएँ ?

मुमूर्षु को बांई दांई किसी करवट न लिटा कर उत्तानशायी सीधा चित लेटाने का यह रहस्य तो जल्दी ही समझ में आ सकता है कि सीधा चित लेटने की दशा में रीढ़ की हड्डी सीधी तनी रहती है और इस तरह स्वास नलिका भी अन्त तक खुली रहती है, यह दोनों बातें प्राणोत्क्रम के समय मुमूर्षु को बिना किसी कष्ट के मरने में सहायक सिद्ध होती हैं, बांई करवट लेटाने से दांई नासिका से और दांई करवट लेटाने से बांई नासिका से श्वास प्रश्वास का संचार होता है यह कोई

जिज्ञासु स्वयं लेट कर अनुभव कर सकता है इस तरह सी भी करवट लेटने से चन्द्र या सूर्य दोनों स्वरों में से केवल क स्वर ही चल पाता है दूसरे का निरोध रहता है। स्वर ज्ञान के अनुसार चन्द्र से शीतता और सूर्य से उष्णता का ार होता है यह बात हम इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २८९ पर लिख ए हैं। सो मृत्यु काल में किसी एक स्वर का निरोध अथवा ीं या ठण्डक इन दोनों में से किसी एक का होना मुमूर्षु के ए लाभदायक नहीं उल्टा कष्ट-कारक है, परन्तु सीधा चित ाने की दशा में दोनों स्वरों में श्वास चलने की स्वतन्त्रता ा शीतोष्णसमता का अवकाश रहता है जोकि उस समय ेक्ष्य है इसलिए मुमूर्षु का उत्तान शयन–सीधा चित्त लेटाना उचित है।

शिर के नीचे घुटना क्यों ?

प्रायः सभी देशों में मुमूर्षु के शिर के नीचे उस का पुत्र र कारणवशात् उस के अनुपस्थित होने की दशा में अन्य ई निकट सम्बन्धी बांया घुटना उपबर्ह—सिरहाने—तकिये की ति रखता है इस प्रथा का आधार वेद का–'**आच्या जानु दक्षिणो निषद्य**' [यजु १९–६२] अर्थात् बांया घुटना झुका कर दांई र वैठे। यह मन्त्र हो सकता है। इससे मुमूर्षु के प्रति जहाँ मान और श्रद्धा का भाव व्यक्त होता है वहां अन्तिम समय श्वास के वेग के साथ बढ़ता हुवा कफ का जो वेग कण्ठ में चकर घुरघुरायमान होने लगता है और श्वास की स्वाभाविक ति में रुकावट होने लगती है—वह भी घुटने पर ऊंचे उठे र के कारण कुछ-न-कुछ शान्त होने लगता है। साथ ही

जब कण्ठवर्ती उदान वायु की शक्ति के प्रायः क्षीण हो जाने के कारण मुमूर्षु स्वयं अपने कफ को बाहिर निकाल सकने की क्षमता नहीं रखता तब अनन्यमनस्क समुपस्थित घुटने की टेक देने वाला व्यक्ति अपने हाथ से मुमूर्षु के मुख में पहुँच जानेवाले कफ को निकाल डालने की आवश्यक सेवा भी कर सकता है। जब मुमूर्षु की मृत्युकालीन करुणापूर्ण दशा को बार-बार देखता हुवा सहृदय पुत्र एकमात्र अवलम्ब सर्वार्तिहरणक्षम भगवान् के पवित्र नाम को उस समय अनन्यमनस्क होकर स्वयं कहता है तब बुझते हुवे दीपक की भान्ति मृत्यु से पहिले एक बार सर्वथा स्मृतिसम्पन्नता—जिसे लौकिक भाषा में 'संभाला लेना' कहते हैं—की दशा में मुमूर्षु को भी हरिस्मरण दिलाने का कल्याणमय कार्य करता है। यह सब बातें कार्यान्तर व्यापृत व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं किन्तु सब काम काज भूलकर मुमूर्षु संपृक्त व्यक्ति द्वारा ही सुसम्भव हैं। इसलिए शिर के नीचे घुटना देने का यह प्रथा अनेकविध लाभों से परिपूर्ण है। संसार में यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'क्या अमुक व्यक्ति मरने के समय मेरे शिर के नीचे गोड़ा देगा जो मैं उसके लिए इतना मरूं खपूं ?' कहना न होगा मुमुर्षु व्यक्ति शिर के नीचे घुटना देने वाले व्यक्ति को अतीव प्रियतम मानता है और एकमात्र इसी आशा से वह सौ अकृत्य करके भी सन्तान का पालन-पोषण करना अपना कर्तव्य बना लेता है। दुर्भाग्यवश मुमूर्षु की यह अन्तिम साध भी यदि पूरी न हो सके तो यह 'हतोऽपि निहतः पुनः'।

मुमूर्षु स्वयं अपना भला कर सकता है ?

अब तक प्रयाणकालीन जिन शास्त्रीय विधि विधानों का उल्लेख किया गया है वे सब के सब प्रायः कुटुम्बी जनों द्वारा सम्पादनीय ही हो सकते हैं, अर्थात्-भूमिलेपन, कुशास्तरण उत्तरशिरस्क उत्तान शयन और जानुप्रदान, आदि कृत्य मुमूर्षु स्वयं अपने लिए नहीं कर सकता ये सब बातें कुटुम्बी जनों की कृपा पर ही आश्रित हैं। दुर्भाग्यवश यदि वे न करना चाहें तो मुमूर्षु लाचार है ! विवश है ! दूसरों के हाथों में बिका है परन्तु शास्त्र जब किसी को विवशता पूर्ण जीवन बिताने का आदेश नहीं करता तो वह विवशतापूर्ण—मरने देने को भी बाध्य नहीं कर सकता। अतः शास्त्र में कुछ ऐसे विधि-विधान भी विद्यमान हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन की भान्ति अपने मरण को भी स्वयमेव सुतरां सुधार सकता है।

मृत्यु का मूल सिद्धान्त 'उपरितन द्वार से प्राणोत्सर्ग करना' हम कहते आ रहे हैं। इस एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कृत्य किये जाते हैं इनका भी किंचित् दिग्दर्शन हो चुका है परन्तु अपनी मृत्यु को स्वयं मनुष्य किन विधियों के आचरण से सुधार सकता है, अब प्रसंग प्राप्त इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है। हम इसी ग्रन्थ के 'सन्ध्या से पारलौकिक लाभ' प्रकरण पृष्ठ २१९ में लिख आये हैं कि सन्ध्यावन्दन प्राणायाम से जहां आयु बढ़ती है वहां इससे मरणकाल में दशम द्वार से प्राण निकाल सकने का भी अभ्यास बढ़ता है। इसीलिए वेद शास्त्र की आज्ञा है कि मृत्युकालीन उस कठिन घड़ी को सरल बनाने के लिए बाल्यकाल से ही हमें दशम द्वार का भेद जानने के लिए नित्य अधिकारानुसार सन्ध्यावन्दन प्राणायाम, और राम नाम जाप

करना चाहिये । जो व्यक्ति नित्य विधिवत् प्राणों का नियमन करता रहेगा बढ़ते २ उसका अभ्यास इतना परिपक्व हो जाएगा कि प्राण प्रयाण के समय भी बिना किसी भौतिक साधन के अपने प्राणों को सुगमता से खींच कर ब्रह्मरन्ध्र की ओर उत्क्रमण करने में समर्थ हो जाएगा । यह नित्य कर्म वैसा ही कृत्य समझना चाहिए जैसा कि प्रत्येक सैनिक असली युद्ध की तैय्यारी के लिए घर में, नित्य प्रति कवायद परेड, (कृत्रिम युद्ध) करता है । जो योद्धा नित्य परेड में मनोयोग नहीं देगा और इसे व्यर्थ समय अपव्यय समझेगा, वह वास्तविक संग्राम में विजयी नहीं हो सकेगा, सतत अभ्यास के बिना समय पर चौंकड़ी चूक जाएगा । ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रणायामादि नित्य कर्म निरन्तर न करेगा, इसे कोरा ढंकोसला बता कर उपेक्षा करेगा वही मृत्यु के समय दूसरों की कृपा का मोहताज अवश्य बनेगा । इसलिये अपनी मृत्यु को स्वयं सुधारने का अमोघ उपाय अधिकारानुसार नित्य प्रति सन्ध्या वन्दनादि कर्मों का विधिवत् सम्पादन करना समझना चाहिए ।

गंगाजल और तुलसीदल क्यों ?

जब रोगों का उपचार कर २ थक जाते हैं, और यह भान होने लगता है कि अब रोगी का शरीर न रहेगा तब सब बुद्धिमान् एक स्वर से यही कहने लगते हैं कि अब मुख में 'गंगाजल, और तुलसीदल डालो' ।

गंगाजल और तुलसीदल का यह अन्तिम उपचार धार्मिक और आयुर्वेदिक दोनों ही दृष्टियों से लाभप्रद है, आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से तुलसीदल त्रिदोषघ्न महौषधि है । इस में पारद

और सौवर्ण तत्त्वों का समावेश है, किसी भी रोग के शमन में इसका प्रयोग लाभदायक ही सिद्ध हो सकता है। गङ्गोदक के गुणों पर तो आज पाश्चात्य वैज्ञानिक आश्चर्य चकित हैं, वह चाहे अभी तक यह समझने में समर्थ नहीं हो सके कि अखिर समस्त रोगों के किटाणुवों का सद्य: विनाश कर सकने को क्षमता गङ्गोदक में क्यों है ? परन्तु वे अनेक बार प्रत्यक्ष अनुभव कर के इतनी बात मुक्तकण्ठ से कहने को तैय्यार हैं कि करण चाहे कुछ भी हो परन्तु गङ्गोदक में सर्व-रोग-कीटाणु-संहारिणी दिव्य शक्ति अवश्य है। अब तो फ्रांस अदि अनेक देशों के विशिष्ट होस्पिटलों में फिल्टर किया गङ्गोदक अनेक नामों से औषधियों की भांति बर्ता जाता है। सो उभय-दृष्टि से ही तुलसीदल और गङ्गाजल मुमूर्षु का परम कल्याण कारक है। यदि रोगी को अच्छा होना है तो इन दोनों वस्तुओं से बढ़कर अन्य कोई औषधि नहीं हो सकती और यदि आयु परिसमाप्त हो चुकी है तब भी इन दोनों वस्तुओं से बढ़कर अन्य कोई कल्याणकारिणी महौषधि नहीं हो सकती।

नाम स्मरण क्यों ?

श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में प्राण प्रयाण के समय ॐकार के जाप की बड़ी महिमा लिखी है यथा—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात्—ॐ यह एक अक्षर ब्रह्म है। जो इस का जाप करता हुवा तथ मेरा स्मरण करता हुवा देह त्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

गो० तुलसीदासजी आदि सन्तों ने तो नाम को नामी से भी बड़ा माना है। वस्तुत: नाम है भी ऐसा ही–यह बात कहने सुनने और ऊहापोह द्वारा सिद्ध करने की नहीं किन्तु एकबार स्वयं करके देखने की है। हमारा अनुभव है कि जब अन्य सब लौकिक उपाय छूछे पड़ जाते हैं और मनुष्य अपने आपको अनाथ, विवश निराश्रित सा पाता है, उस समय यदि सौभाग्यवश भगवन्नाम स्मरण की सुबुद्धि आजाए तो डूबते को थाह सी मिल जाती है। मृत्यु के समय भी मनुष्य अपने आप को सर्वथा अनाथ और विवश सा ही अनुभव करता है। पसीना गिरने की जगह खून बहाने वाले इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी सभी उस समय लाचार और निराश से दीख पड़ते हैं। ऐसे वक्त में सिवा भगवन्नाम-स्मरण के और क्या अवलम्ब हो सकता है ? नि:संदेह वे मनुष्य धन्य हैं जो उस समय असीम शोक सागर की उत्ताल तरंगों के थपेड़ों से मंझधार में डूबती हुई अपनी जीर्ण शीर्ण जीवन नैय्या को चतुर खिवैय्या बलदेव के भैय्या कन्हैया के हाथ में सौंप कर उसी के पवित्र नाम की रट लगाते हुवे हंसते २ प्रस्थान करते हैं।

ॐ—या राम नाम ?

कुछ लोग यह भी जिज्ञासा किया करते हैं कि गीता में ॐकार के जाप का विधान है परन्तु आज कल तो अधिकांश लोग राम नाम का ही जाप करते हैं इसका क्या रहस्य है ?

ॐकार की बहुत बड़ी महिमा है। इसका दिग्दर्नन हमारे 'ॐकार और शिवलिंग' नामक पुस्तक में हुवा है, यह वेदों का बीज भूत

महामन्त्र है, साक्षात् ब्रह्म है, परन्तु शास्त्र-रीत्या इस के जाप में अधिकारी अनधिकारी का भी विचार परमावश्यक है। शास्त्र में श्रद्धा रखने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसी तो कल्पना भी नहीं कर सकता है कि वह ॐकार की महिमा-सूचक श्रुतियों पर तो विश्वास करे और अधिकार विशेष प्रतिपादक वाक्यों की उपेक्षा करने लगे। अतः मृत्युकालीन स्थिति में मुमूर्षु पवित्र न रह सकेगा यह ध्यान में रखकर शास्त्रों ने सर्व साधारण के कल्याणार्थ ॐकार के समान फलदायक किन्तु अधिकार विशेष बंधन से सर्वंथा निर्मुक्त 'राम' नाम को अधिक महत्व दिया है।

कहना न होगा कि प्रयाण काल में ॐकार के उपांसु जाप का विधान इसलिये है कि 'ॐ ॐ' ऐसा उच्चारण करने मात्र से प्राणों की ऊर्ध्वगति स्वयमेव होने लगती है। इस तरह इस मंत्र के जाप से भी उपरितन द्वार से प्राण प्रयाण के मूल सिद्धांत का ही संरक्षण होता है, सो जैसे ओंकार का उच्चारण प्राणों की उर्ध्वगति करने की क्षमता रखता है वैसी ही बल्कि उससे भी कुछ अधिक तारक मन्त्र 'राम' नाम रखता है। शब्द स्फोट के सिद्धांतानुसार प्रत्येक अक्षर के उच्चारण से एक खास प्रकार का वातावरण उत्पन्न होता है। त्रिकालज्ञ महर्षियों ने अपनी 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा जब इस तत्त्व को अनुभव किया तो उन्होंने अधिकार विशेष की सीमा में आबद्ध ओंकार के स्थान में सर्व-जन-सुलभ, 'राम' नाम का प्रचार किया।

दीप दान क्यों ?

मृत्युकालीन दानों में दीप दान का बहुत महत्त्व है, अनेक शों में बड़ी तत्परता पूर्वक इस के करने की परिपाटी पाई ाती है यह क्यों ? इसका रहस्य बड़ा ही मननीय है।

विज्ञान का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि प्रत्येक अंश अपनी अंशी के पास पहुँच कर ही विश्राम लेता है। जैसे ऊपर को फेंका मिट्टी का ढेला पुनः भूमाता की गोद में बैठ जाता है और पानी का रेला अनवरत गति से प्रवाहित हो कर अपने उत्पत्ति-स्थान समुद्र में पहुँच कर ही विश्राम लेता है, इसी प्रकार अग्नि का शोला भी अबाध गति से चलता चलता अग्नि तत्त्व के एक मात्र उद्गम केन्द्र सूर्य पिण्ड तक पहुँच कर ही रुकता है। सो मरने वाले प्राणी का जीवात्मा वाग् आदि सत्रह तत्त्वों के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो कर अपने सद्यः त्यक्त शरीर से निराश हो कर जब लोकान्तर जाने को उद्यत हो जाता है, उस समय उस में मार्ग खोजने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। किधर जाऊं? कहाँ जाऊँ?—बार २ ऐसा सोचता है! सो उसकी इस प्रवृत्ति को कार्यान्वित करने के लिये तात्कालिक दीपदान बहुत सहायक सिद्ध होता है। दीपक में होने वाला पार्थिव तत्त्व बत्ती की भस्म या काजल के रूप में अवशिष्ट पड़ा रहता है और जलीय तत्त्व धूमशिखा बन कर बादलों में विलीन हो जाता है, परन्तु विशुद्ध आग्नेय तत्त्व मुमूर्षु के स्थान से चल कर सूर्य मण्डल पर्य्यन्त पहुँच कर ही शान्त होता है। इस तरह दीपदान से जीवात्मा को अभिमत प्रशस्त मार्ग की उपलब्धि होती है कर्मानुसार उसे जिस लोक में भी पहुँचना है यह अर्चि-मार्ग ब्रह्माण्डवर्ती उन सब लोक लोकान्तरों को लांघता हुवा सर्वोत्कृष्ट उपरिवर्ती द्युलोक पर्य्यन्त पहुँचता है। जीवात्मा इस के द्वारा कर्म्मानुसार यथेष्ट लोक को पहुँच जाता है। श्रीमद्-भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में अर्चिमार्ग की बहुत प्रशंसा की है,

हमारे शास्त्रों में सर्व साधारण व्यक्ति के लिये भी केवल टका भर गोघृत के व्यय से अपने घर से लेकर उद्दिष्ट स्थान पर्य्यन्त 'अर्चिमार्ग' बना देने की यह दोपदान-विधि कितनी सस्ती, कितनी सरल एवं कितनी महत्त्वपूर्ण है यह मनन किये ही बनती है।

अन्त्येष्टि संस्कार विचार

अन्यान्य अहिंदू मतों में जहाँ मृत शरीर को जमीन में दफना देने=गाड़ देने मात्र की प्रथा पाई जाती है वहाँ आर्य शास्त्रों में भूमि में गाड़ना, अग्नि में फूंकना, जल में वहाना और निर्जन वन में छोड़ देना—ये चार प्रकार की विधियें पाई जाती हैं। 'किस दशा में कौन विधि वर्ती जाए एतदर्थ भी शास्त्रों में सूक्ष्म विचार किया गया है। जैसे अजातदन्त बालकों, कुष्ठियों और वैखानस संन्यासियों के देह भूमि में दबा देने चाहिएं। शीतला आदि संक्रामक रोगों से मरने वाले व्यक्तियों के देह जलमें प्रवाहित कर देने चाहिएँ। परमहंस वर्णाश्रमातीत महात्माओं के देह को वन में विसर्जित कर देना चाहिए और सर्व साधारण के देह को अग्नि में भस्म कर देना चाहिए। वनों में विसर्जित करने वाली प्रथा तो केवल पारसी मत में दीख पड़ती है, अन्यान्य सभी प्रथाएँ नियमानुसार आज भी हिंदू जाति में यत्र तत्र सर्वत्र प्रायः देखने में आती हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

(क) भस्मान्तꣳ शरीरम् (यजुः४०।१५)

(ख) ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः (यजुः)

अर्थात्—(क) अन्त में भस्म हो जाने वाला यह शरीर है। (ख) जिन पितरों के देह गाड़े, बन में फैंके, आग में जलाए, और जल में बहाए गए हैं।

शव को जलाना ही क्यों चाहिये ?

मुसलमान सज्जन आक्षेप किया करते हैं कि हिंदू लोग अपने प्यारे कुटुम्बियों के देह को बड़ी बेरहमी के साथ आग में फूंक डालते हैं, इस्लाम ऐसी बेवफाई की इज़ाजत नहीं देता। मालूम होता है मौलाना साहिब को अपनी दफनाई हुई लाशों की अन्तिम दुर्गति का राज़ मालूम नहीं। हिन्दू तो शुद्ध पवित्र अग्नि की चिता में एक बार ही अपने सम्बन्धियों के देह को भस्मसात कर डालता है, परन्तु मुसलमान तो मिट्टी में दबे, गले, सड़े अगणित कीड़े पेड़ देहों को कण कण करके भयङ्कर कीड़ों की जाठराग्नि में—दोज़ख की आग में–जलाता है। कहना न होगा कि अन्त में हिन्दु और मुसलमान दोनों को अग्नि की ही शरण लेनी पड़ती है अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू विशुद्ध अग्नि में और मुसलमान कीड़ों की जाठराग्नि में अपने सम्बन्धियों के केलवरों को स्वाहा करता है। इसलिए सर्व साधारण व्यक्ति के देहों को गाड़ने के बजाए जलाना ही अधिक अच्छा है।

जलाने की प्रथा को अब तो दूसरे देशों के अहिन्दू विचारक भी महत्त्व देने लगे हैं, कई आधुनिक परलोक-विद्या-विशारदों का तो यहां तक कहना है, कि "जब तक मृत शरीर अविशष्ट रहेगा तब तक उस में से निकलने वाला जीवात्मा व्यामोह में वहीं

भटकता रहेगा—उसे तिल तिल गलता सड़ता देखकर देर तक असह्य कष्ट अनुभव करता रहेगा और लोकान्तर गमन का अपना भावि पुरोगम निश्चित न कर पाएगा। परन्तु जलाने की दशा में कुछ घन्टा मिनटों के अन्दर ही शरीर के भस्मसात् हो जाने पर एक बारगी ही 'आंख फूटी पीड़ भागी' के अनुसार निर्द्वन्द्व होकर लोकान्तर गमन का अगला प्रोग्राम निश्चित कर सकेगा। इसलिये मृतशरीर को ठिकाने लगाने वाली सब क्रियाओं में दाहकर्म ही सब से सस्ता, सरल और कल्याणकारी है।

लन्दन के सुप्रसिद्ध विचारक सर टोम्पसन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माडर्न क्रीमेशन-इट्स हिस्ट्री एण्ड प्रैक्टिस' में यह सिद्ध किया है, कि इटली आदि देशों में प्राचीन काल में शवदाह की प्रथा विद्यमान थी। इंग्लैंड के एक दूसरे महा-विद्वान् सर हर्बर्ट स्पेंसर ने तो मृत्यु से पूर्व अपने सम्बन्धियों को वसीयत की थी कि उनके मृत देह को जलाया जाए, ऐसा ही किया गया, जिस का भारी प्रभाव समस्त पाश्चात्य जगत् पर पड़ा। अब तो यह प्रथा यूरोपीय देशों में इतनी अधिक प्रचलित हो गई है कि खास लण्डन में ही कई सरकारी श्मशान बनाने पड़े हैं। इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध नाटककार महा कवि बर्नार्डशा ने-जिन का कि गत वर्ष देहान्त हुवा था—अपनी बसीयत में अपने शव का दाह करने की हिदायत की थी।

कबरों के कारण संसार की कितनी उपयोगी भूमि आज व्यर्थ हो रही है इस ओर यदि प्रगतिशील लोग ध्यान दें तो इससे मानव समाज का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। अकेले भारत की ही लाखों बीघा जमीन मुर्दे मियाओं के कलेवरों ने काबू कर

रखी है यदि इस गाड़ने की कुप्रथा का अति शीघ्र अन्त न किया गया तो एक दिन समस्त संसार ही कबरिस्तान के रूप में परिणत हो जाएगा । हर एक मरने वाले के लिये कम से कम तीन गज जमीन व्यर्थ बना डालें तो इसका अन्तिम परिणाम खेतों के अभाव में संसार का भूखों मरना और बेघर-बार हो कर समुद्र में डूब मरना ही हो सकता है ।

कपाल क्रिया क्यों ?

मृतक शरीर के इस हद्द तक जल जाने पर कि उसकी कपालास्थि परिपक्व होने लगे तब अर्थी के लम्बे डंडे से कपाल स्थान को तीन बार स्पर्श करते हुवे ब्रह्मरन्ध्र स्थान को अति चोट से फोड़ दिया जाता है जिसे 'कपाल क्रिया' कहते हैं । कई लोग इसमें में भी निष्ठुरता की गंध सूंघने का प्रयास करते हैं। परन्तु वास्तव में यह प्रथा पिता के संस्मरणीय वात्सल्य और पुत्र के अवश्य करणीय भावि कर्तव्य कर्मों का प्रणबद्ध निदर्शन है ।

हम अन्यत्र यह संकेत कर आए हैं कि मुमूर्षु मनुष्य अपने जीवन काल में स्वयमपि अपनी सद्गति की साधना में सफल प्रयत्न कर सकता है । उन प्रयत्नों में सर्वोत्तम और सर्वथा अमोघ प्रयत्न यह है कि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर अपना समस्त जीवन समाप्त करदे । निःसंदेह यह व्रत अन्त तक निभाना है तो बहुत कठिन ! परन्तु जो भाग्यशाली निभाने में कृतकार्य हो जाय वह बिना किसी उपायान्तर के, एक मात्र साधना के बल से मोक्ष का अधिकारी हो जाएगा । प्रायः दशवर्ष की अवस्था के बाद स्त्री शरीर में, सोलह वर्ष की अवस्था के बाद पुरुष शरीर में रजः और वीर्य का प्रादुर्भाव होने लगता है । (स्वाभाविक

मासिक ऋतुस्राव को छोड़कर) यदि सोहलवें वर्ष तक स्त्री और चौबीसवें वर्ष तक पुरुष अष्टविध मैथुन से बचकर उसे नष्ट न होने दें, तो वही वीर्य समस्त शरीर की पोली हड्डियों में भरपूर हो जाएगा। मलेरिया टी० बी० आदि घातक रोगों के जो कीटाणु आज वीर्य्यहीन खाली अस्थियों में अपने घोंसले बनाकर सदा के लिये डट जाते हैं, वही नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के वज्रसन्निभ शरीर में कहीं अणु मात्र भी खाली स्थान न मिलने पर निराश होकर लौट जाते हैं। कदाचित् यही अखण्ड ब्रह्मचर्य्य यदि जीवन भर बना रहे तो शरीरान्तर्वर्ती यह सातवीं धातु=शुक्र नामक पदार्थ 'ओज:' रूप में परिणत हो जाता है, जो ब्रह्मचारी की वाणी, नेत्र आकृति सब से अभिव्यक्त होने लगता है। इसी के बल से महात्माओं की वाणी से निकला हुवा एक साधारण शब्द भी अपनी ओजस्विता के कारण श्रोताओं में जीवन फूंक देता है। नेत्रों की तेजस्विता के सामने सिंह व्याघ्रादि हिंसक जंगली जानवरों की कौन कहे—यदि मूर्खतावश कोई हत्यारा मनुष्य भी प्राण लेने के इरादे से सामने आए तो वह भी स्वयमेव परास्त होकर पानी २ हो जाता है। अनेक संतप्त प्राणी केवल दर्शनमात्र करने से शान्ति अनुभव करने लगते हैं। इसी ओज: को अहिन्दू लोग 'जलाल' 'नूर' आदि नामों से स्मरण करते हैं। चित्रकार दिव्य चित्रों के मुख के चारों ओर कुण्डलाकृति प्रभा बनाकर इस तत्त्व को अभिव्यक्त करते हैं। सो ये ओज-सम्पन्न व्यक्ति प्राण प्रयाण के समय बिना किसी अन्य साधना के अपने प्राणों को कपाल फोड़कर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा निकालने में समर्थ होते हैं और अपने ही पुरुषार्थ द्वारा मोक्षभागी बन जाते हैं।

परन्तु साधारण घर गृहस्थी लोग 'पुत्रेण लोकाञ्जयति' इत्यादि शास्त्राज्ञाओं पर विश्वास रखते हुवे अपने उस अमूल्य रत्न वीर्य को सन्तानोत्पादन कृत्य में व्ययित कर देते हैं जिससे कि अन्त काल में कपाल फोड़कर प्राण निकाल डालने की वह योग्यता अपने हाथों खो बैठते हैं। अब जब पिता का देहान्त होता हैं तो पुत्र पिता के उस वात्सल्य भाव को स्मरण करके—जो कि उसने अपने मोक्ष को भी न्यौछावर करके पुत्र के उत्पादन में दिखाया था—बार २ विह्वल हो उठता है, इस असीम वात्सल्य का आना पाई कुछ भी मूल्य चुकाने लिए श्रद्धा का समुद्र ठाठे मारने लगता है तब वह हाथ में बांस उठाकर समागत समस्त बान्धवों के सामने पिता के कपाल को तीन बार छूता हुवा प्रतिज्ञा करता है कि—"पूज्य पितृदेव ! यदि आप मुझसे अयोग्य पुत्र के उत्पादन में अपना वीर्य्य न बहाकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते तो आज उस ब्रह्मचर्य्य के बल से तुम्हारे कपाल को स्वयं भेदनकर प्राण निकलते और आप मुक्त हो जाते। परन्तु वात्सल्यवश आपने मेरे उत्पादन के लिए अपनी मुक्ति को भी न्योछावर कर दिया, अब मैं भरी जनता में यह तीन बार प्रतिज्ञा करता हूँ कि शास्त्र विहित और्ध्वदेहिक कर्म्म कलाप द्वारा इस कमी को पूरा करूँगा! पूरा करूँगा!! पूरा करूँगा!!! यही कपाल क्रिया का वास्तविक भाव है।

सचैल स्नान क्यों ?

मृतक के साथ श्मशान भूमि तक जाने वाले सम्बन्धियों को वस्त्र प्रक्षालन पूर्वक स्नान अवश्य करना चाहिये। शास्त्र कहता है कि—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्धयति ।।
(मनु०–१०३)

अर्थात्—स्वजातीय अथवा विजातीय मृत व्यक्ति के साथ इच्छा से श्मशान तक जाकर पुरुष सचैल स्नान, अग्नि स्पर्श और घृत के प्राशन से विशुद्ध होता है।

मृतक को न जाने किन २ रोगों से क्लिष्ट होकर शरीर त्यागने के लिये विवश होना पड़ा है। उन अनेक संक्रामक रोगों के कीटाणु सर्वथा शरीर दग्ध हो जाने से पूर्व शव में संश्लिष्ट ही रहते हैं, अतः शव वहन करने वाले व्यक्तियों को खासकर, तथा संसर्ग में आने वाले शवानुगामी सम्बन्धियों को भी सचैल स्नान करना ही चाहिए। देहली जैसे बड़े नगरों में कुछ दिन से ऐसी कुप्रथा पड़ गई है कि कुछ कार्यव्यस्त सम्बन्धी अपनापन प्रकट करने के लिए थोड़ी दूर तक मृतक को कन्धा देकर पुनः कार्य में पूर्ववत् संलग्न हो जाते हैं। वस्त्र प्रक्षालन की कौन कहे स्नान करना भी आवश्यक नहीं समझते, तथा कुछ व्यसनी शवानुगमन करते हुवे और श्मशान भूमि तक में भी बीड़ी सिगरेट पीते रहते हैं। ये दोनों कुप्रथाएँ अनेक संक्रामक रोगों के कीटाणुओं को निमन्त्रित करने के बराबर हैं जिनका परिहार होना नितान्त आवश्यक है।

अग्निस्पर्श और निम्बपत्र चवर्ण क्यों ?

मनु के उपरोक्त आदेशानुसार कुरुक्षेत्रादि धार्मिक प्रदेशों में श्मशान तक जाने वाले समस्त सम्बन्धी सचैल स्नानके अनन्तर घर लौटने से पूर्व अग्निस्पर्श करते हैं। इस प्रथा के महत्त्व पर अधिक

लिखने की आवश्यकता नहीं, प्रत्येक बुद्धिमान् स्वयं अनुमान कर सकता है कि अग्नि स्पर्श से समस्त संक्रामक बीमारियों के कीटाणु भस्मसात् हो जाते हैं अतः इसका संस्पर्श बहुत ही लाभप्रद है। निम्ब परमोत्तम संशोधक पदार्थ है। जब किसी शव को किसी विशेष घटना के कारण देर तक रखना अनिवार्य होता है तो उसे निम्बपत्रों से ढांप रखते हैं, इस क्रिया से उसके सड़ जाने का भय नहीं रहता। ऐसी स्थिति में निम्बपत्र चवर्ण और घृतप्राशन रहे सहे संक्रामक रोगों के कीटाणुओं के खतरे से सर्वथा उन्मुक्त हो जाने का वैज्ञानिक साधन है।

अस्थियों को गंगा में क्यों डालें ?

शास्त्रों में वर्णन आता है, कि मृतक की पंचांग अस्थियें गंगा में प्रवाहित करनी चाहियें। यथाः—

यावदस्थीनी गंगायां तिष्ठन्ति पुरुषस्य च।
तावद्वर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ॥ (शंख० ७)

अर्थात्—मृतक की अस्थिएँ जब तक गंगा में रहती हैं तब तक मृतात्मा शुभ लोकों में निवास करता हुआ आनन्दोपभोग करता है।

मां गंगा के सम्बन्ध में तो हम तीर्थ महिमा के प्रसंग में आगे यथा स्थान लिखेंगे, परन्तु यहाँ इतना जान लेना परमावश्यक है कि मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा अपने शरीर की भस्मी में भी मोह रखता है। जब तक सम्बन्धी उस भस्म को ठिकाने नहीं लगाते तब तक मृतात्मा इसी चक्कर में पड़ा रहता है और अपनी परलोक यात्रा को आरम्भ नहीं करता। इसीलिए हिन्दू शास्त्रों में तत्काल शव का दाह कर दिया जाता है और ज्यों ही चौथे

दिन भस्म हाथ छूने लायक ठंडी हो पाई कि उसे उठाकर किसी निकटस्थ नदी नद में प्रवाहित कर दिया जाता है। इस तरह मृतात्मा की धूल भी अवशिष्ट नहीं रहने दी जाती। केवल पंचांग अस्थियें जिन्हें कि धार्मिक परिभाषा में 'फूल' कहा जाता है—गंगा माता के प्रवाह में स्थापित करदी जाती हैं, जिनके कारण मृतात्मा को ऐसे बिलक्षण आनन्द का अनुभव होने लगता है कि मानो मैं स्वयं ही मां गङ्गा की पवित्र गोद में बैठा हुआ कल्लोल कर रहा हूँ।

इसके अतिरिक्त गंगादि नदियों में अस्थियों के डालने का एक अन्य तथा स्थूल लाभ भी है जिसे सभी वैज्ञानिकों ने एक मत से स्वीकार किया है। अस्थियों के वैज्ञानिक परीक्षण से यह सिद्ध हुआ है कि उनमें फास्फोरस अत्यधिक मात्रा में होता है जो खाद के रूप में भूमि को अत्यन्त उपजाऊ बनानेकी क्षमता रखता है। आज तो इससे काफी मात्रा में खाद तैयार किया जाने लगा है। निरन्तर बहते रहने से नदियों का जल और विशेषत: गंगा जैसी महानदी का जल—जिसे कैलाश से लेकर बंगाल की खाड़ी तक लगभग १४०० वर्गमील का मार्ग तय करना पड़ता है और जो सहस्रों वर्गमील भूमि को सींचकर उपजाऊ तथा हरा भरा बनाता है—अपनी फास्फोरस शक्ति को खो देता है। वह भूमि को उतना अधिक उपजाऊ बनाने में समर्थ नहीं रहता। इसमें प्रचुर मात्रा में अस्थि डाल देने से अस्थिगत फास्फोरस जल में संमिश्रित हो जाता है और वह भूमि को उर्वरा करने में सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार के अस्थि विसर्जन के कृत्य से एक भारतीय संस्कृतिका पुजारी जहां जीवन दशा में अपने तन को मातृभूमि की सेवा एवं समृद्धि में लगाता है, वहां मरने पर

अपनी अस्थियों को भी मातृभूमि की समृद्धि के लिए समर्पित कर सत्पुत्र का कर्तव्य पालन करता है।

कहना न होगा कि पिता माता की अस्थियों को फूल नाम से स्मरण करना जहां मृतात्माओं के प्रति अगाध श्रद्धा और समादर का सूचक है वहां वैज्ञानिक हेतुसे भी समर्थित है। सभी जानते हैं कि प्रत्येक वृक्षमें पुष्पोद्गम होने के अनन्तर ही फलोदय होता है। सो हिन्दू परम्परा में चूंकि सन्तान को फल नाम से स्मरण करते हैं अतः सन्तान रूप फल, माता पिता की जिन अस्थियों के सार से समुद्भूत् हैं उन्हें 'फूल' नाम से स्मरण करना युक्तिसंगत ही है।

राष्ट्रपिता गांधीजी की भस्म का राष्ट्र-धन-व्यय से भारत के समस्त तीर्थों में बहाया जाना इस बात का प्रबल संकेत है कि जीवन काल में भले ही कुछ लोग धार्मिक भावनाओं की, पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा के दूषित प्रभाव से उपेक्षा करने को भूल कर देते हों, परन्तु रोम २ में रमी हुई आर्य परम्पराओं की आस्था अन्त में अपना अमिट प्रभाव प्रकट किये बिना नहीं रहती। इस प्रकार गर्भाधान से अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त वैदिक संस्कारों का संक्षिप्त निरूपण करने के अनन्तर हम इस अध्याय को यहीं करते हैं।

गर्भाधान कर्म से लेकर मृत्युकाल तक सकल विधान।
क्या ? कब करना ? धर्म-रीति से शास्त्रविहित धर्मानुष्ठान।
यद्यपि हैं अदृष्ट-फल-मूलक तो भी दृष्ट-लाभ-विस्तार।
हेतु पुरस्सर सिद्ध किया अध्याय तीसरे में यह सार॥

प्रकीर्णाध्यायः

(चौथा अध्याय)

वैदिक्यो या मुहूर्ताद्या, नाना शास्त्रमताः क्रियाः ।
हेतुवादैः परिष्कृत्य, प्रदर्श्यन्तेऽत्र सप्रमाः ॥

विगत अध्यायों में वे सिद्धान्त— जो ध्रुव की भांति सदैव
टल हैं तथा प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की समस्त शास्त्रीय
धियों का और गर्भाधान से लेकर और्ध्वदैहिक क्रिया पर्यन्त
सके समस्त संस्कारों का सप्रमाण और सयौक्तिक वर्णन किया
ा चुका है। ध्यानपूर्वक मनन करने पर तत्तत् क्रियाओं की इति
र्तव्यता का सहेतुक 'क्यों' तत्त्व सम्यक् विदित हो जाएगा;
म्प्रति इस अध्याय में अवशिष्ट समस्त विशेष क्रियाओं पर
काश डालने का प्रयत्न किया जायेगा। हम इस अध्याय का
ीगणेश तो मुहूर्त वर्णन से कर रहे हैं परन्तु विषय की संकीर्णता
कारण इसकी परिसमाप्ति होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं
ोता इसलिए ग्रन्थ का कलेवर, भगवत्कृपा और हमारी शक्ति
हांतक अनुकूल रहेगी वहां तक 'जस जस सुरसा वदन बढ़ावा,
सु दुगुण कपि रूप दिखावा' के न्यायानुसार न 'क्यों' का अन्त है न
उसके समाधान का परला किनारा है। सो बहुत कुछ लिखने
र भी यह अध्याय अपूर्ण ही रहेगा, आशा है यह अपूर्णता भी

महामहिम अनन्त भगवान् के मूर्तरूप सनातन धर्म की अनन्तता की ही परिचायक सिद्ध होगी। जिसे अनुभव करते हुवे विज्ञ पाठक भी हमारे साथ—'असितगिरिसमं०' से आरम्भ करके 'तदपि तव गुणानामीश ! पारं न याति' तक के पुण्य पाठ में सहर्ष सम्मिलित होंगे।

मुहूर्त विज्ञान

वेदादि शास्त्रों में—सूत्र ग्रन्थों में और तदुपजीवी ज्योतिष शास्त्रों में प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के लिए तदनुकूल काल साधन विज्ञानके आधार पर मुहूर्त साधन का विस्तृत विधान विद्यमान है तदनुसार प्रत्येक हिन्दू गर्भाधान आदि संस्कारों की कौन कहे-नूतन वस्त्र पहिननें जैसी छोटी २ क्रियाओं से लेकर मरण तक के लिए सर्व प्रथम बड़ी सावधानी से मुहूर्त सधाता है। आज के इस नास्तिकता पूर्ण वातावरण में भी मुहूर्त साधनेकी प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। विवाह आदि का मुहूर्त न सधने पर, घर में सब सामग्री तैय्यार रहते भी—वह न हो सकेगा यह मर्यादा अभीतक भी यथाकथञ्चित् सुरक्षित है।

अन्यान्य मतों में मुहूर्त साधना

मुहूर्त साधने की भावना अन्यान्य मतों में भी पाई जाती है, वे भी अमुक दिनमें अमुकसमय में ही अमुक कार्य करने को महत्त्व देते हैं। ईसाई रविवार को पवित्र मानते हैं-बाईबिल के लेखानुसार छः दिन में खुदाने सृष्टि रचना कर डाली, सातवें दिन थककर विश्राम किया। उनका विश्वास है कि वह दिन रविवार

यानी 'सन्डे' था। इसलिए ईसाई सम्प्रदाय में यह दिन, खेल कूद विश्राम, ईश्वर प्रार्थना और रङ्गरलियां मनाने का दिन ही समझा जाता है। गुड् फ्राइडे=शुभ शुक्रवार और ईस्टर के दिनों को भी पवित्र मानते हैं, पहिली अप्रैल को तो हमारी होली की भांति तथा सवाया मांगलिक दिन मानते हैं।

इसी प्रकार मुसलमानों में भी शुक्रवार को पवित्र दिन माना जाता है, इसकी पवित्रता की थ्यूरी भी ईसाइयों के समान ही है, परन्तु इनकी मान्यता में विश्राम का दिन (जुम्मा) अर्थात् शुक्रवार था। 'अकरम' के अढ़ाई दिनों में ये लोग नकाह, खतना आदि कोई शुभ संस्कार नहीं करते। हमने 'अकरम' के दिनों का अनुसन्धान करके देखा तो वे दिन हमारे गणित के अनुसार वृश्चिक राशि पर चन्द्रमा की स्थिति के दिन हैं। अर्थात्-विशाखा नक्षत्र का अन्तिम चरण तथा अनुराधा और ज्येष्ठानक्षत्र सम्पूर्ण यही 'अकरम' है। अकरम शब्द भी सीधा अकर्म्म का ही रूपान्तर है जो इबरानी भाषाओं की खरोष्ट्री लिपि में हल अक्षर के उच्चारण की व्यवस्था न होने के कारण स्वाभाविक है। यहां यह भी जान लेना अनावश्यक न होगा कि मुसलमान चान्द्र सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, इसीलिए इनका वर्ष, सब त्योहार चन्द्रमा पर अवलम्बित हैं; इसीलिए आधे चान्द का चिह्न इनका सर्वप्रिय 'मार्का' है। सो वृश्चिक का चन्द्रमा नीच राशि का चन्द्रमा होता है इसलिए वह वर्जित है। मौलाना साहिब के फरिस्ते भी चाहे अकरम के मनहूस होने का रहस्य न जानते हों परन्तु हम उन्हें भी इसका कारण बतला देते हैं। नीच उच्च क्या है?— इसका तत्त्व यहां नहीं बतलाया जा सकता; यह ज्योतिष ग्रन्थों से जानना चाहिए। सो मुसलमान भी 'मुहूर्त'-जिसे वे 'स्यायत' कहते हैं-सुतरां मानते हैं।

आर्य्य समाज के स्वामी दयानन्द ने तो संस्कार विधि में प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में अमुक नक्षत्र अमुक दिन होना आवश्यक स्वीकार किया है और उसके लिए सूत्र ग्रन्थों के अनेक प्रमाण भी उद्धृत किए हैं। हम स्वामी दयानन्द जी के ही शब्दों को यहां उद्धृत करते हैं—

(क) शुक्ल पक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे।

(संस्कार विधि पृष्ठ ५०)

(ख) उत्तरायण शुक्ल पक्ष में जिस दिन आनन्दमङ्गल हो उस दिन यह (चूड़ाकर्म) संस्कार करे।

(सं० वि० ७३)

(ग) यज्ञोपवीत का समय-उत्तरायण सूर्य्य, ब्राह्मण का वसन्त क्षत्रिय का ग्रीष्म, वैश्य का शरद ऋतु में—

(सं० वि० पृ०८०)

जैन बौद्ध तो मुहूर्तों में हमारी ही भांति आस्था रखते हैं। इससे सिद्ध होगया कि मुहूर्त साधने की परिपाटी न्यूनाधिक प्रायः सभी सम्प्रदायों में पाई जाती है। यद्यपि ऐसी स्थितिमें कोई भी मुहज्जब हमसे 'क्यों' पूछनेका मिजाज नहीं रखता, क्योंकि— **'ययोरेव समो दोषः परिहारस्तयोः समः'** इस न्याय के अनुसार इसका उत्तरदायित्व उन पर भी हमारी तरह ही आयद होता है। तथापि वे विचारे अपने कल्पित एवं अवैज्ञानिक मुहुर्तों का क्या रहस्य बतला सकते हैं! अतः हम उपर्युक्त न्याय के बहाने से अपने पाठकों को निराश नहीं कर सकते सो **'शृणुध्वं मुनयः सर्वे'**—

शास्त्रीय स्वरूप

वेद में नव ग्रहों और अट्ठाइस नक्षत्रों से शुभ होने की (नाम निर्देश पूर्वक) प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के [१९वें काण्ड के ७, ८, ९,] पूरे के पूरे सूक्त इस रहस्य से भरे हैं। हम दिङ्मात्र यहां दिखाते हैं यथा—

(क) सुहवमग्ने ! कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।··· ··· ···आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु । (अथर्व० १९ । ७ । २-५)

(ख) शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।
(अथर्व० १९ । ९ । १०)

अर्थात्—(क) हे अग्निदेव ! कृतिका नक्षत्र हमारे लिए कल्याणकारक हो, तथा रोहिणी मृगशिरः आर्द्रा भी शुभ हों। (ख) चन्द्रमा और उससे सम्बद्ध समस्त ग्रह तथा राहु सहित सब सौर ग्रह कल्याणप्रद हों।

वैज्ञानिक विवेचन

हम पीछे 'अण्ड-पिण्ड-वाद' की व्याख्या में यह सिद्ध कर चुके हैं कि हमारा यह मानव पिण्ड वस्तुतः ब्रह्माण्ड का ही संक्षिप्त संस्करण है तदनुसार पिण्डको सबल बनाने के निमित्त जितने संस्कार किंवा पौष्टिक शान्ति कृत्य किए जाते हैं उनके लिए ब्रह्माण्डगत मूल स्रोतों की अनुकूलता भी सर्वथा अनिवार्य है। जैसे नगर के प्रत्येक घर में बिजली फिट हो परन्तु यदि पावर

हाउस की मूल लाइन बन्द हो तो बत्ती के स्विच को सौ बार दबाने पर भी प्रकाश न होगा, अतः हमारी बत्ती जगने के लिए पावर हाउस की लाइन की अनुकूलता आवश्यक है।

बड़े बड़े नगरों में जहां पानी के नल लगे रहते हैं कभी २ जल संकोच के समय मानुषपालती की ओर से नल खुलने का समय नियत हो जाता है। सो सब जलार्थी अपने २ वर्तन लिए जल खुलने के समय की प्रतीक्षा में घड़ी की ओर ताकते रहते हैं कि कब वह मुहूर्त आए जब बर्तन टूंटी के नीचे रक्खा जाए, क्योंकि असमय में टूंटी के नीचे वर्तन रखने से कुछ लाभ नहीं। एक देहाती की दृष्टि में बिजली की बत्ती में प्रकाश है परन्तु नागरिक जानता है कि प्रकाश का खजाना तो पावर हाउस है उसी के करन्ट से बत्ती जल सकती है, पंखा चल सकता है, और अमुक यन्त्र में प्रगति आ सकती है। इसी प्रकार वाटर वर्क्स (पानी की प्रधान टंकी) का भेद न जानने वाला मूर्ख ही यह मान सकता है कि दीवार में लगा यह भूतनाथ कान मरोड़तेही पानी की धारा बहा देता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। बिजली के लिए शक्तिभण्डार (पावर हाउस) और जल के लिए जलभण्डार (वाटर वर्क्स) ही सब कुछ हैं।

यद्यपि कई बार हमारी अपनी असावधानी से बत्ती का फ्यूज जल जाने पर या लाट्टू के विकृत हो जाने पर भी पावर हाउस का करण्ट हमें लाभ नहीं पहुँचा सकता, अतः हमारे अपने यन्त्र का भी ठीक रहना परमावश्यक है, परन्तु उपजीव्य और उपजीवी भाव से पावर हाउस उपजीव्य है और हमारी बत्ती तदुपजीविनी है, उपजीव्य सदा मुख्य होता है। ठीक इसी प्रकार मानवपिण्ड शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण

जीव, आदि जितनी वस्तुएँ हैं ये उपजीवी की भांति किसी विशेष शक्ति द्वारा सञ्चालित यन्त्र मात्र हैं। उनका संचालन करने वाली शक्ति ब्रह्माण्ड में जहां तहाँ व्याप्त है वे ही सब हमारी उपजीव्य हैं, वैदिक विज्ञान परिभाषा में उन्हीं का नाम देवता है।

मुहूर्त इन्हीं ब्रह्माण्ड व्याप्त देवताओं की सानुकूलता परीक्षण की एक विधि मात्र है। जिसके ज्ञान से हम तत्तत् कार्य से संबंध रखने वाली दैवी शक्ति का अपने साथ सामञ्जस्य प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं।

मिस मियो की मरम्मत

हम 'अण्ड पिण्डवाद' में यह सिद्ध कर आए हैं कि हमारे शरीर का सब कुछ इन्हीं देवताओं की देन है। यदि गंवारू भाषा में सीधा कहना चाहें तो यूं कह सकते हैं कि जो शक्तियां हमें सब कुछ देनी हैं वे ही 'देवता' हैं और हम लेने वाले हैं इसलिये हम 'लेवता' हैं। सो मनुष्य पदे २ उन देने वाली शक्तियों का मोहताज है। मिस मेयो के शब्दों में हम 'देवताओं के गुलाम' हैं। अमेरिका की यह उच्छृंखल छोकरी जो कई बच्चों की जननी हो जाने पर भी आयु भर मिस=कुमारी ही बनी रहने का दावा करती है—किसी दिन हमें मिल जाए तो फिर हम उसे बताएं कि कि बाप की बिटिया ! तू स्वयं बता कि तू देवताओं की गुलाम है या नहीं ? हमारा दावा है कि तू तब तक देख भी नहीं सकती जब तक देवता कृपापूर्वक तुझे दृष्टि प्रदान न करें। यदि तुझे अभिमान हो कि तू अपनी ही आंखों से देखती है तो आ अमावस को रात में तुझें जगल की सैर कराएँ।'

'माई लार्ड ! उई री मैय्या !'–'हैं २ यह क्या ? अभी तो' दश

कदम ही चल पाई थी ! क्या हुआ ? मियो मिस्ट्रस ! बोलती क्यों नहीं । ओहो ! सूखे लक्कड़ से टकरा गई ! खोपड़ी फूट गई । तुमने देखा क्यों नहीं, तुम तो अपनी आंखों से देखा करती हो ! तुम सूर्य चांद और टिमटिमाते तारों की या लालटेन टौर्च=अग्नि देवता की गुलाम थोड़े ही हो ! सच बताओ ! क्या वे अपनी बिल्ली जैसी पीली पीली चमकीली आंख घर भूल आई ! ठण्डा, गरम, दूर का निकट का कोई तो चश्मा लगाकर देखो !'

हमारा दावा है कि मनुष्य अपनी आंख से नहीं देखता, किंतु वह मेरे त्र्यबम्क. भगवान् के ही अग्नि सूर्य चन्द्र रूप तीनों नेत्रों में से किसी एक की सहायता से देख पाता है । भाद्रपद की सघन मेघाच्छन्न अमावस की आधी रात में जब कि सूर्य, चन्द्र, तारे और अग्नि प्रकाश इनमें से कोई भी मेरे नेत्रों को सहायता नहीं दे रहा है, तब आंख का चमड़ा और पांव की तली का चमड़ा दोनों निर्विशेष चमड़े ही हैं । क्या अब भी अपनी आंखों से देखने का अभिमान दूर नहीं हुआ ? क्या अब भी केवल भारतीय हिन्दुओं को ही देवताओं के—'गुलाम' बताकर अपनी इस नाम की पुस्तक में अपनी मूर्खता का परिचय दोगी ? अरी अमेरिका की खरो छोकरी ! यदि अब भी तू न समझी तो कल तुझे एक बक्से में बंद करेंगे—फिर देखना कि वायु देवता की कृपा के बिना थोड़े समय में ही तेरे प्राण पखेरू उड़ते हैं कि नहीं ? तू तो चौबीस घण्टे में अन्यून, इक्कीस हजार छः सौ बार वायु देवता की दासता स्वीकार करने के लिये विवश है तब कहीं इतने स्वास ले पाती है ।

मानव पिण्ड—शामिल बाजा

कहा जाता है कि एक बार किसी महाराजा के दरबार में गाना

बजाना हो रहा था, परन्तु महाराज किसी शासन सम्बन्धी अड़चन की उधेड़ बुन में पड़े आज इस आनन्द में भी गम्भीर मुद्रा बनाये सुस्त बैठे थे। चतुर मन्त्री ने राजा को आनन्द विभोर करने के लिए विनोदार्थ चारपाई का एक पांवा कन्धे पर रखकर एक डण्डे से सरङ्गी की भांति बजाना आरम्भ किया। ज्यों ही राजा का ध्यान इधर गया वह इस चेष्टा पर खिलखिला उठे और सब गाने बजाने वालों से बोले कि आप लोग अपने २ बाजे बन्द करो, हम यह नया बाजा सुनना चाहते हैं। बजन्त्री बन्द हो गए, मन्त्री भी अपने पांवे सेरवे को रोककर बैठ गये! राजा ने जब आग्रह किया कि तुम्हारा बाजा सुनने के लिये ही तो सब बाजे बन्द किये हैं, तुम क्यों बन्द करते हो? बजाओ! मन्त्री ने विनोद पूर्वक कहा--श्रीमान् जी! इस बाजे का नाम 'शामिल बाजा' है, इसकी यह तारीफ है कि जब बाजे बजाते हैं तभी यह बजता है अकेले नहीं बजता। राजा इस उत्तर पर और भी हंसा।

दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि वह 'पांवा सेरवा' तो नाम मात्र का ही बाजा था, सब बाजों की ध्वनि में ही इसकी भी प्रतिष्ठा बनीरहती थी, स्वतन्त्र इसकी कुछ भी सत्ता नहीं थी ठीक इसी प्रकार यह मानवपिण्ड भी शामिल बाजे की भांति अपनी कुछ भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता किन्तु सूर्य चन्द्र आदि ब्रह्माण्ड के बाजे जब बजते हैं, तभी यह भी इनकी छाया में यथा तथा सिसकता रहता है। यदि एक क्षण के लिये भी वे बंद हो जायें तो यह भी कोरा खट्वांग ही शेष रह जाता है, तभी तो शिव भगवान् हर वक्त इसे अपने हाथ में संभाले रहते हैं। कदाचित् क्षणमात्र के लिये भी यह उनके हाथ के आश्रय से छूट जाए तो फिर शस्त्र

नहीं रह सकता, खट्वांग को शस्त्र (कार्य साधक) बनाने की शक्ति त्रिशूली में ही है।

अथर्व वेद के १९ वें काण्ड का ४३ वां पूरा सूक्त का सूक्त इस रहस्य से भरा है। यथाः—

(१)· · · अग्निर्मेधा दधातु मे, (२)· · · वायुः प्राणान् दधातु मे, (३)· · · चक्षुः सूर्य्यो दधातु में, (४)· · · मनश्चन्द्रो दाधातु मे, (५)· · · बलमिन्द्रो दधातु मे, (६)· · · ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। (अथर्व० १९। ४३।१-८)

अर्थात्—अग्निदेव मुझे मेधा=धारणा शक्ति प्रदान करें वायु प्राण, सूर्य नेत्र, चन्द्रमा मन, इन्द्र बल, और ब्रह्मा ब्रह्म, प्रदान करें।

गुरु शुक्रास्त वर्जित क्यों ?

गुरु और शुक्र के अस्त हो जाने पर प्रायः सभी शुभ कर्म खासकर विवाहादि स्त्री सम्बन्धी कृत्य वर्जित हैं, क्यों ?-इसलिये कि 'अण्डपिण्ड सिद्धान्त' के अनुसार मानव पिण्ड में 'ज्ञान' गुरु की देन है और 'वीर्य' (काम=स्त्री सम्बन्धी सब चेष्टाएं) शुक्र की देन है सो जब ये दोनों महाग्रह अस्त हों तो 'ज्ञान दुर्बल' और 'हीन वीर्य' मनुष्य जो कुछ भी करेगा वे सब कृत्य अज्ञान विजृम्भित तथा क्लैब्यपूर्ण होंगे। सही मस्तिष्क वाला बलवान् मनुष्य ही सब कृत्यों को औचित्य की भित्ति पर स्थिर करने में समर्थ हो सकता है इसीलिये आज के क़ानून में भी किसी रहन व, बसीहत नामे के परिलेख में कानूनन यह लिखना अनिवार्य है कि—'मुझ लिखने वाले का मस्तिष्क सही है और अपनी होश

हवास में यह परिलेख लिख रहा हूं'—कहना न होगा कि हमारे ऋषियों ने केवल वाचिक प्रतिज्ञामात्र से यह स्वीकार करना पर्याप्त नहीं समझा किन्तु उन्होंने तत्तत् ग्रहों के अस्तकालीन समय में किए हुए कार्यों को धर्म शास्त्रीय कानून के अनुसार अकृत्य समझा क्योंकि ऐसे समय में मनुष्य के मस्तिष्क के सही न होने में ब्रह्माण्डीय वातावरण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

कदाचित् कोई अक्ल का कोल्हू यह शंका कर बैठे कि सूर्य और चन्द्र के अस्त हो जाने पर तो रात में धड़ाधड़ विवाह होते हैं परन्तु इन छोटे २ तारों के अस्त हो जाने पर अमुक कृत्य करने से आफत का पहाड़ आ पड़ेगा ! यह क्या पोप लीला है !!

हम यहां यह बता देना चाहते हैं कि अस्त से तात्पर्य यहां आंखों से ओझल हो जाना नहीं है, किन्तु सूर्य पिण्ड के अत्यन्त सन्निधान में जाकर उसके मण्डल में विलीन हो जाना है, सूर्य कभी अस्त नहीं होता, वह तो रात में केवल आंखों से ओझल मात्र हो जाता है। उसे उपचारात् अस्त कह देते हैं। इस प्रकार का अस्त तो गुरु शुक्रादि का भी वर्जित नहीं। चन्द्रमा भी अमा के दिनों में ही 'अस्त' रहता है तब भी विवाहादि शुभ कृत्य नहीं होते। मङ्गल बुध और शनि का किसी आध्यात्मिक तत्त्व से सम्बन्ध नहीं किन्तु उनका स्थूल मानवपिण्ड से सम्बन्ध है। यह 'अण्ड पिण्ड वाद' में सिद्ध कर आए हैं। उनका मन, बुद्धि अन्तःकरण पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

सिंह गत गुरु में विवाह क्यों न हो ?

तेरह वर्ष के बाद जब बृहस्पति सिंह राशि में आता है तब विवाह नहीं होते, क्यों ?—इसलिये कि—'अण्ड पिण्ड वाद' के

अनुसार सूर्य पिण्ड से पचास कोटि योजन सब ओर परिधि वाले आकाश प्रदेश को एक ब्रह्माण्ड कहते हैं और उपरितन कटाह को 'द्यौः' कहते हैं। इन दोनों कटाहों को ज्योतिःशास्त्र के अनुसार ३६० विभागों (अंशों) में बांटा जाता है सो उनमें से आधे १८० अंश भूमण्डल द्वारा दृश्य रहते हैं और आधे अदृश्य। यही कारण है कि हम एक मैदान में जब खड़े होते हैं तो क्षितिज से बनने वाले कटाह को अपने शिर पर छतरी की तरह देखा करते हैं। यही तीन सौ साठ अंशों वाला आकाश, नक्षत्र गणना के अनुसार २७ भागों में विभक्त है। सवा दो नक्षत्रों के एक समुदाय का नाम ज्योतिःशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'राशि' है अर्थात्—एक अर्ब योजन प्रमाण वाले ब्रह्माण्ड के तीन सौ साठ अंशात्मक गोल के तीस अंश परिमित प्रदेश को एक राशि कहते हैं। इस तरह कुल ब्रह्माण्ड बारह राशियोंमें विभक्त है, उनमें से केवल छः राशि ही पृथ्वी मण्डल पर दृश्य रहती हैं और छः अदृश्य रहती हैं। एक अहोरात्र में क्रमशः बदलती हुई ये बारह राशियें एक चक्र में सब दृश्य और सब अदृश्य हो जाती हैं। क्षितिज पर प्रथम ही जब सूर्य दीख पड़ता है उस स्थान को उदयाचल मानकर सूर्य राशि के अनुसार उस समय वही लग्न माना जाता है। इस तरह सूर्यास्त के समय सातवाँ और आधीरात के समय दसवां लग्न आता है। 'प्रत्यक्ष और परोक्षवाद' की विवेचना के प्रसंग में हम ग्रहों का पश्चिम की ओर जाना सिद्ध कर आए हैं, तदनुसार उदयाचल पर यदि मेष राशि है तो वृष निश्चित ही उसके अधोभाग में अवस्थित है तभी सूर्य आदि ग्रहों का पश्चिम से पूर्व की ओर जाना सम्भव है इस तरह क्रमशः मेष वृष आदि द्वादश राशियों का चक्र है।

इस प्रसङ्ग में यह प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि अश्विनी भरणी कृत्तिका रोहिणी आदि सत्ताइस नक्षत्रों और मेष वृष आदि द्वादश राशियों के जो नाम नियत किए गए हैं वे भी भारतीय ऋषियों के अलौकिक वेद विज्ञान के ज्वलन्त उदाहरण हैं। अकारण ही उन्हें वैसा नहीं कहा जाता किन्तु जिसका जैसा नाम है आकाश में उसका वैसा ही तारागण निर्मित स्वरूप भी प्रत्यक्ष देखा जासकता है। मृगशिर नक्षत्र को प्रायः किसान भी जानते हैं, वे उसे हिरणी नाम से स्मरण करते हैं। कहना न होगा कि मृगी और हरिणी दोनों समान शब्द हैं। वे प्रायः कहा करते हैं कि आगे २ हिरणी दौड़ती है पीछे २ कुत्ता और शिकारी। निःसन्देह मृगशिर के तीन तारे और उसके पीछे मृग व्याध (जिसे 'अमरकोश'कार ने **'इल्विलास्तच्छिरोदेशे तारका निवसन्ति याः'** ऐसा कहते हुवे 'इल्विला' के नाम से स्मरण किया है) इसीप्रकार के जान पड़ते हैं। इन की स्थिति को व्यक्त करने के लिए इस से उत्तम अन्य कोई नाम नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस हिरणी से पश्चिम की ओर कुछ ऊपर 'रोहिणी' नक्षत्र दीख पड़ता है। रोहिणी का अक्षरार्थ है, 'यान'=गाड़ी। सो यह नक्षत्र भी पांच तारों का एक समूह है जो ठीक गाड़ी के ढांचे की भांति अंग्रेजी के अक्षर V के समान है। इसी प्रकार अन्यान्य सब नाम सार्थक हैं।

हमारी इस सब विवेचना का तात्पर्य यह है कि पाठक द्वादश राशियों से परिचित हो जाएं। अब द्वादश राशियों की स्थिति समझ में आजाने पर यह भी जान लेना चाहिए कि सूर्यादि ग्रहों की क्रमिक अवस्थिति पृथ्वी से दूरी के अनुपात से इस प्रकार मानी जाती है—

भूमेः पिण्डः शशांकोज्ञ कविरविकुजेज्याकिनक्षत्रकक्षाः।

अर्थात्—भूमि, चन्द्र, बुध शुक्र, सूर्य मंगल, बृहस्पति, शनि और नक्षत्र इस क्रम से सब ग्रहों की कक्षा है।

राहु केतु स्वतन्त्र ग्रह नहीं, छाया ग्रह हैं इसलिए हमारी इस स्थापना में उनका नाम नहीं आता है। यही कारण है कि उनको वार गणना में अधिकार नहीं मिला। सो जैसे सात मुख्य ग्रहों के नामों पर सात ही बार नियत हुए हैं—जिनका रहस्य आगे प्रकट किया जायगा—इसी प्रकार उक्त द्वादश राशियों में भी सूर्य और चन्द्रमा को एक २ राशि का आधिपत्य मिला है और मङ्गल बुध गुरु शुक्र और शनि इन पांचों को दो दो राशियों का स्वामित्व प्राप्त है। राशिचक्र को एक किले की भांति समझ लेना चाहिए जिसके द्वार के पूर्व पार्श्व में सिंह राशि अवस्थित है, और माला की भांति क्रमशः कन्या, तुल, वृश्चिक आदि राशिएं मण्डलाकार में कोट बनाती हुईं अन्त में द्वार के पश्चिम पार्श्व में अवस्थित हैं। इन दोनों राशियोंको सम्भाले तो ये दोनों वीर (सूर्य चन्द्र) खड़े हैं। सिंह के पीछे कन्या और कर्क के पीछे विलोम क्रम से मिथुन अवस्थित है; अपनी कक्षा के अनुसार यहां बुध की स्थिति है अतः वही इन दोनों का संरक्षक है। कन्या के पीछे तुल है और उधर मिथुन के पीछे विलोम क्रम से वृष है। बुध के बाद शुक्र की कक्षा है अतः यहां वह विराजमान है और इन दोनों राशियों की रक्षा करता है। तुल के पीछे वृश्चिक और दूसरी ओर वृष के पीछे मेष की स्थिति है, इन दोनों की रक्षा अपनी कक्षा के अनुसार मंगल करता है। वृश्चिक के पीछे धन और दूसरी ओर मेष के पीछे मीन अवस्थित है। अपनी कक्षा के अनुसार इन

दोनों का अधिष्ठाता गुरु है, धन के पीछे मकर और दूसरी ओर मीन के पीछे कुम्भ का होना स्वाभाविक है अतः पृथिवी से सुदूर ब्रह्माण्ड की अन्तिम कक्षा में शनि महाराज विराजमान हैं, इन दोनों का स्वामित्व आपके सुपुर्द है। बस! यही राशि और उनके स्वामियों का विवेचन है। एतावता मेष का स्वामी मङ्गल ही क्यों? बुध क्यों नहीं? इत्यादि समस्त 'क्योंओं' का भी यहां समाधान हो जाता है।

हां, तो प्रश्न है कि सिंह के बृहस्पति में विवाहादि शुभ कृत्य क्यों नहीं होते? हम कह चुके हैं कि सिंह राशि का पति सूर्य है जब सूर्य की राशि में गुरु आएगा तो उस समय आधिभौतिक दृष्टि से मानवपिण्ड की सूर्य सम्बद्ध आत्मा में ज्ञान के केन्द्र गुरु का प्रवेश होगा। ऐसे ज्ञान साधना के अपूर्व अवसर से लाभ न उठाकर उसे विवाह आदि सांसारिक प्रवृत्तिवर्धक रजोगुणी कृत्यों में अपव्ययित करना वैसा हो है जैसा कि सन्ध्या वन्दन के समय में गप्पशप्प हांकना और ब्रह्म मुहूर्त में नींद लेना। शास्त्र में ये दोनों कृत्य समय से लाभ न उठाने के कारण पाप हो कहे गए हैं। इसी प्रकार पूरे तेरह वर्ष के वाद सिंहगत गुरु का सुयोग आता है आयु भर में गिनती के ही ऐसे अवसर आ सकते हैं। विवाहादि लौकिक प्रपञ्च तो आयुभर ही चलते रहेंगे, अतः आत्मा और ज्ञान के अपूर्व संगम को सव प्रपञ्च छोड़कर परमार्थ साधना में ही बिताना चाहिए [इसीलिए सिंह गत बृहस्पति में गोदावरी का कुम्भ पर्व नियत है]. सिंह गत गुरु में विवाह निषेध का यह एक आधिभौतिक कारण बताया जा सकता है।

आधिदैविक दृष्टि से—

आधिदैविक दृष्टि से गुरु समस्त देवताओं का गुरु होने के

नाते सूर्यदेव का भी पूज्य गुरु है। जब शिष्य के घर में गुरु का आगमन हो तो शिष्य को गुरु सेवा से अवकाश कहां? हमारे ब्रह्माण्ड का नियन्ता सूर्य है, उसकी साक्षी में हमारे सब कर्म सम्पन्न होते हैं। इसीलिए सूर्य का अन्यतम नाम 'कर्मसाक्षी' भी है। सब कर्म करने के अनन्तर सूर्य को अर्घ्य अञ्जलि देते हुए-**'कर्मसाक्षिणे नमः'** कहकर ही आस्तिकजगत् प्रणाम करता है।

सूर्य के घर सिंह राशि में गुरुदेव के पधारने पर सुयोग्य शिष्य को साक्षी देने की फुरसत कहां? जैसे जज साहिब के यहां अमुक आवश्यक कृत्य होने के कारण उस दिन मुकद्दमे न हो सकेंगे किन्तु आगे की तारीख पड़ जायगी। ठीक इसी भांति जब सूर्य भगवान् गुरुसेवा रूप अपने घरेलू आवश्यक कार्य में व्यस्त हैं तब वे साक्षी देने की स्थिति में नहीं हैं। वेद भगवान् ने सूर्य भगवान् की छुट्टी की दरख्वास्त पर सदा के लिए लिख दिया कि जब कभी गुरुदेव पधारें आप उनकी सेवा के लिए स्वतन्त्र हैं, यदि पाधाजी हजार वार भी आवाहन करें तो बेशक न जाएं। उसी दिन से शास्त्र में भी इस भगवदाज्ञा का उल्लेख हो गया।

धन मीन के सूर्य में मलमास क्यों ?

धन और मीन राशि के सूर्य में भी विवाहादि कृत्य नहीं होते। पौष और चैत्र को इसी कारण से मलमास कहने की प्रथा प्रसिद्ध है। यहां भी सिंह गत बृहस्पति वाला विज्ञान ही पूरा का पूरा घटता है अन्तर केवल इतना है कि सिंह गत बृहस्पति में शिष्य के घर में गुरु पधारता है और धन मीन राशि के सूर्य में गुरुदेव के घर में शिष्य पहुंच जाता है। हम पीछे सिद्ध कर आए हैं कि धन और मीन ये दोनों राशि बृहस्पति

के घरां हैं। सो बात बराबर है, शिष्य के घर में गुरु पहुँच जाए तब भी शिष्य सेवा में व्यस्त रहता है, और जब शिष्य स्वयं गुरु-गृह में पहुंच जाए तब तो कान खुजलाने की भी उसे फुरसत नहीं हो सकती। गुरुजी तो पूरे वर्ष भर शिष्य के घर में रहते हैं, अतः शनैः २ खूब सेवा करने का लम्बा अवसर है। अतः गङ्गा और गोदावरी आदि नदो के तट पर रहने वाले सज्जन ऐसे समय में विवाहादि कृत्य करें तो कुम्भ पर पधारे हुवे गुरुदेव के अनुगामी सूर्य भगवान् यथा तथा साक्षी देने का समय निकाल भी लेते हैं इसी आशय से गङ्गा और गौदावरी के मध्यभाग को छोड़कर अन्यत्र सिंह गत गुरु में विवाह हो जाने का शास्त्र में अपवाद पाया जाता है। जिस कीं क्यों 'देश-वैचित्र्यवाद' से समाहित हो सकती है। परन्तु धन और मीन में तो सूर्य केवल एक मास ही ठहरता है। जब कि देव वर्ष की गणना से हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन ही होता है तब हमारा एक मास तो पलक झमक में ही बीत जाएगा, ऐसी स्थित में सूर्य का साक्ष्य कथमपि सम्भव नहीं।

मीन के सूर्य में उपनयन क्यों ?

मीन के सूर्य में अन्य सब कृत्य जहां वर्जित हैं वहां ब्राह्मण कुमार के उपनयन संस्कार के लिये मीन बहुत प्रशस्त है, यह क्यों ? इसलिए कि 'उपनयन' का तात्पर्य है शिष्य का गुरु के उप= समीप नयन=प्रापण ! यही इस संस्कार का प्रधान लक्ष्य है। जब गुरुदेव के घर में स्वयं शिष्य पधारे हों ऐसे अवसर पर यदि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' के अनुसार संसार के अन्यान्य

|Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

शिष्य भी गुरु के समीप जाएं तो यह 'यथा राजा तथा प्रजा:' का ही उदाहरण होगा।

परन्तु यह आज्ञा केवल ब्राह्मण बालक के लिए ही है—यह क्यों ?–इसलिए कि 'देश वैचित्र्यवाद' और 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के अधिष्ठाता बृहस्पति पिण्ड का, ज्ञानके मुख्य अध्यक्ष ब्राह्मण वर्ण पर विशेष प्रभाव पड़ता है, मीन गुरुदेव का घर है सूर्य के मीन राशिमें स्थिति उसके भावि उच्चतम पद की सूचक है। जिस प्रकार सूर्य आदि ग्रह अमुक राशि के स्वामी माने जाते हैं इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि—क्रमश; मेष, बृष, मकर, कन्या, कर्क मीन और तुला राषि में आजाने पर 'उच्चस्थ, माने जाते हैं। इनकी यह उच्चता भी 'देश वैचित्र्यवाद' सिद्धान्त के अनुसार आकाश के तत्तत् प्रदेश-वैलक्षण्य पर आधारित है। जब कोई ग्रह अपनी उच्च कही जानेवाली राशि से पहिलो राशि में अवस्थित हो जाता है तो उच्चाभिलाषी कहा जाता है। जैसे मेष का सूर्य उच्च होता है तो मीन का उच्चभिलाषी कहा जा एगा। इसी प्रकर चन्द्रमा बृष का उच्च का होता है तो मेष राशि का उच्चाधिकारी कहा जाएगा। सो मीन का सूर्य उच्चाभिलाषी है अर्थात् वह अपने उच्चतम स्थान मेष राशि पर आरूढ़ होने का उम्मदवार हो गया है इस लिए मीन के सूर्य में ब्राह्मण कुमार का उपनयन भी उसको ज्ञान के उच्चपद पर आरूढ़ करने का द्योतक है। परन्तु क्षत्रिय और वैश्य का परम ज्ञानी बन जाना उन्नतिसूचक नहीं किन्तु क्षत्रिय का वीर बनना और वैश्य का व्यवसायी बनना ही उसके वर्ण धर्म की दृष्टि से परम उन्नति का आदर्श है क्योंकि क्षत्रिय और वैश्य तो ज्ञानी बन

जाने पर अर्जुन और समाधि वैश्य की भाँति युद्ध व्यवहार से उपरत होकर 'भैक्ष्यमपीह लोके' कहने पर उतारू हो जाएंगे। जिसे उनकी उन्नति नहीं पतन ही समझा जाएगा, अतः मीन राशिस्थ सूर्य का केवल ब्राह्मण कुमार पर ही अनुकूल प्रभाव पड़ेगा अन्य वर्ण के बालक पर नहीं। इसलिए मीनस्थ सूर्य में केवल ब्राह्मण कुमार का ही उपनयन विज्ञान संगत है अन्य का नहीं। एतावता धनस्थ सूर्य, गुरु भवनस्थ होता हुआ भी उच्चाभिलाषी न होने के कारण ग्राह्य नहीं हुआ, 'क्यों' का यह छोटा सा पुछल्ला भी इससे समाहित हो जाएगा।

आर्यसमाज में विचित्र विवाह मुहूर्त !

आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने प्रायः सब संस्कारों में वीना सींग पूंछ हिलाए गृह्यसूत्रों में लिखे तत्तत् मुहूर्त को ही स्त्रीकार किया है, परंतु विवाह मुहूर्त जहां—**'उदगयन आपूर्यमाण-** **पक्षे पुण्यनक्षत्रे'**—यह प्रमाण देकर उत्तरायण शुक्ल पक्ष और पुण्य नक्षत्र में माना है वहां अनुपदं ही **'संस्कार विधि'** पृष्ठ १२३ में—'जब कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो जाए, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो उसमें विवाह करने के लिए प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चहिये'—यह भी लिखा है। स्वामी जी की इस दूसरी आज्ञा के अनुसार आर्यसमाज में विवाह का शुभ मुहूर्त (रजस्वला होकर चौथे दिन ऋतुस्नाता कन्या के विचार से) ऋतुकाल की पाँचवी रात निश्चित ही प्रशस्त है। परन्तु यहां कोई भी विद्वान् यह भली प्रकार समझ सकता है कि यह मुहूर्त साधना कन्या के माता पिता या संस्कार कराने वाले

आर्योपदेशक एवं स्वयं कन्या के भी अपने हाथ की बात नहीं। प्रकृति के ही नियन्त्रण से ऋतुस्राव होता है, वह ठीक किस दिन होता है यह पहिले से ही निश्चित नहीं किया जा सकता। कई बार खान पान और गर्मी सर्दी के तारतम्य से दो दिन आगे दो दिन पीछे भी हो सकता है और होता है—यह प्रत्येक गृहस्थ अपने २ घर में स्वयं अनुभव कर सकता है। ऐसी स्थिति में आर्यसमाजी पिता पहिले से ही अपनी कन्या के विवाह का दिन निश्चय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। सब जानते हैं कि विवाह संस्कार का दिन महीनों पहिले निश्चित करना अनिवार्य है, क्योंकि प्रायः दूर-देशस्थ वरपक्ष वालों को सूचना देना, एतदर्थ सगे सम्बन्धियों को निमन्त्रण पहुंचाना, यह सब व्यवस्था लम्बे समय की अपेक्षा रखती है। और जब तक विवाह की कोई निश्चित तिथि ही न हो, तो निमन्त्रण क्या दिया जाएगा ! इसलिए आर्यसमाज के सामने चौथे दिन का मुहूर्त साधना सर्वथा असाध्य है क्योंकि वह चौथा दिन आगे पीछे कभी भी आ सकता है।

व्यावहारिक रूप में जब समाजी विवाह साधने बैठे तो उसे सर्व प्रथम घरवाली या स्वयं कन्या से ही यह पूछना होगा कि अनुमानतः वह चौथा दिन कब पड़ेगा। कन्या ऋतुधर्म का दिन ही जानती है भावीके लिये वह बेचारी क्या गारन्टी दे सकती है। कल्पना करो, अगत्या पिछले अनुभव के आधार पर भावी दिन भी अमुक फर्ज किया और तदनुसार सबको निमन्त्रण दिया गया। अब यदि खान पान के वैषम्य में तीन दिन पूर्व ही ऋतु आगये तो बारात आने से पहिले ही मुहूर्त टल जाएगा अर्थात् ऋतु स्नान की चौथी रात्रि तीन दिन पूर्व ही हो चुकेगी। क्या ऐसी दशा में बरात को कहा जाएगा कि महाशयो ! बैरङ्ग लौट जाइये ! इस वार तो

'चांस' टल चुका है आगे कृपा कीजिये। उस समय वर और उसके निजी अभिभावकोंको तो जाने दीजिये, परन्तु केवल मिठाई उड़ाने के लिये दफ्तर से 'विदाउट पे' छुट्टी लेने वाले बाराती महाशयों पर क्या बीतेगी ? इसका अनुमान स्वामी जी ने भी न किया होगा।

अब इसके दूसरे पहलू पर विचार कीजिए! कल्पना करो पूर्व ऋतु के आधार पर निर्धारित चौथा दिन, दो चार दिन आगे बढ़ जाए, तब बारातको पूरे एक सप्ताह तक रोकना अनिवार्य होगा। इस राशनिंग के महर्घतापूर्ण समय में दर्जनों आदमियों को भोजन खिलाने में कन्या के पिता का साल भर का वेतन चट हो जाएगा। यहां यह समाधान कुछ अर्थ नहीं रखता कि नगर का नगर में ही वर निश्चय कर लिया जाए, जिस दिन कन्या रजस्वला हो जाए उसी दिन तत्काल वर पक्ष को सूचना दे दी जावे। इस तरह बारात वापिस जाने या अधिक दिन ठहरने का खतरा नहीं होगा। परन्तु समाधाता महाशय को यह मालूम नहीं कि स्वामी दयानन्दजी के मतानुसार तो भारतीय कन्या का काबुल, कन्धार, अमेरिका आदि दूर देशों में विवाह करना प्रशस्त है, वे एक ही नगरस्थ वर कन्या के विवाह के समर्थक नहीं।

हमने शान्त चित्त से और निष्पक्षपात से स्वामी जी के इस चौथे दिन वाले मुहूर्त की इतिकर्तव्यता पर खूब विचार किया कि वेचारे महाशयों के लिए कोई रास्ता निकल ही आए, परन्तु हम सोचते २ थक गए इस अनोखी पहेली का कुछ भी हल न मिल सका अन्त में—यही निश्चय करना पड़ा कि स्वामीजी का न विवाह हुआ और नांही वे संन्यासी होने के कारण कभी बारात गए। ऐसे शास्त्र और लोकव्यवहारानभिज्ञ व्यक्ति की व्यवस्था विवाह प्रसंग में मानना निरे निठल्ले का ही काम है।

यात्रा विज्ञान

वेदादि शास्त्रों में यात्रा कालीन मुहूर्त साधने का उल्लेख विद्यमान है। प्रत्येक मनुष्य को यात्रा करनी पड़ती है, इसलिए इस प्रसङ्ग में भी सर्व साधारण को उचित परामर्श देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

शास्त्रीय स्वरूप

वेद कहता है कि—

(क) यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे···ममैतानि शिवानि सन्तु।

(ख) स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु। सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन्।

(ग) अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम्। सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परातान्त्सवितः सुव।

(अथर्व० १९ । ८ । १-३)

(घ) उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शन्नो दिविचरा ग्रहाः।

(ङ) नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु···। (अथर्व० १९।९।७-९)

(च) शं नो भगः···अर्यमा···धाता···अग्निः···इन्द्रः रुद्रः सोमः···शन्नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। अदितिः विष्णुः···पूषा···वायुः···सविता शन्नः पर्जन्यः।

(अथर्व० १९ । १० २-१०)

(छ) इन्द्रः···प्राच्याः दिशः पातु, धाता···दक्षिणायाः, अदितिः प्रतीच्याः सोमः···उदीच्याः दिशः पातु ।

(अथर्व १८ । ३ । २५-२८)

(ज) ये ते पन्थानो बहवो जनायना, रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे । यैस्सञ्चरन्ति उभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ।

(अथर्व० १२ । १ । ४७)

अर्थात्—[क] अन्तरिक्ष और द्युः स्थान में जो नक्षत्र विद्यमान हैं वे सब मेरे लिये शुभ हों [ख] प्रातःकाल, सायं, दिन शुभ हो ! सुन्दर मृगमाला नीलकण्ठ आदि पक्षी शकुन प्रद हों । हे अग्निदेव जाकर यात्रा से प्रसन्नता पूर्वक पुनः लौट आऊं [ग] पीछे से चारों ओर से रोक टोक का वचन, निन्दा क्लेश, छींक (सामने से आते हुए) खाली घड़े यात्रा के समय दूर हों [घ] पृथ्वी और अन्तरिक्ष सम्बन्धी (भूकम्प, अन्धड़, दुर्दिन, विद्युत्पात आदि) उत्पात दूर हों आकाशस्थ ग्रह मण्डल अनुकूल हो [ङ] तारे टूटना, उल्कापात शान्त हों,

[च] (पूर्वाफाल्गुनी नामक नक्षत्र का अधिष्ठाता) भग देवता, (उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र का अधिपति) अर्यमा, (रोहिणी का) धाता, (कृतिका का) अग्नि, (ज्येष्ठा का) इन्द्र (आर्द्रा का) रुद्र (मृगशीर्ष का) सोम (पुनर्वसु का) अदिति, (श्रवणा का) विष्णु, (रेवती का) पूषा, (स्वाति का) वायु (हस्त का) सविता, (शतभिषज् का) वरुण=पर्जन्य, ये सब नक्षत्र देवता चारों दिशाओं में मेरे लिए शुभप्रद हों । (उक्त नक्षत्रों के स्वामियों का यह उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज प्रवर्तक द्वारा

रचित 'संस्कार विधि' के नाम करण संस्कार से लिया गया है) [छ] इन्द्र पूर्व दिशा में, धाता दक्षिण में, अदिति पश्चिम, और सोम उत्तर दिशा में रक्षा करे। [ज] जो बहुत से मनुष्यों द्वारा चलने योग्य मार्ग हैं और जो रथ गाड़ी आदि के चलने योग्य रास्ते हैं, जिन मार्गों से भले बुरे सभी तरह के लोग यात्रा करते हैं वे सब रास्ते शत्रु और चोर डाकुओं से रहित एवं कल्याणकारी हों—हम, यह चाहते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणोंमें किस प्रकार सुस्पष्ट रीति से यात्रा के समय ग्रह नक्षत्र, तिथि और तत्तत् दिशाओं के स्वामियों का उल्लेख करते हुए मुहूर्तचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में लिखी मुहूर्त व्यवथा का समर्थन किया है यह कोई भी हृदय रखने वाला व्यक्ति सम्यक् समझ सकता है। प्रसङ्गोपात्त मृगमाला, शकुनादि का, तथा टोक छींक, खाली घड़ा मिलने का भी सुस्पष्ट उल्लेख होने से इन सब शकुनों को प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

वैज्ञानिक विवेचन

हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि 'अण्ड-पिण्ड-वाद' सिद्धान्त के अनुसार तत्तत् ग्रह नक्षत्र पिण्डों का मानव पिण्ड पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है और यात्रा के समय भी उन सब की अनुकूलता सापेक्ष्य है। अपनी २ कक्षा में जिस प्रकार ग्रहों की अवस्थिति है, इसी प्रकार शनि कक्षा से ऊपर नक्षत्र कक्षा का स्थान है। ग्रहों की भांति नक्षत्रों में भी अनेक वैचित्र्य विद्यमान हैं जिन्हें 'देश वैचित्र्यवाद' और वस्तु वैचित्र्यवाद' के अनुसार भली भांति मनन किया जा सकता है, जो नक्षत्र जैसा विशेष गुण रखता है और मानव पिण्ड पर उसका जैसा प्रभाव पड़ता है तदनुसार ही उस २

नक्षत्रके देवता के नाम की कल्पना की गई है। यह कल्पना कोरी कल्पना नहीं बल्कि 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार जिस देवता का जैसा नाम है वह वैसा ही फलदायक है। जैसे कृतिका नक्षत्र का अधिष्ठाता अग्नि है तो, उक्त नक्षत्रकी कक्षा आग्नेय परमाणुओं से व्याप्त रहती है। भरणी नक्षत्र का देवता यम=मृत्यु है तो आकाश का यह प्रदेश संहारक गैस से उपप्लुत रहता है। इसी प्रकार शतभिषज् का देवता वरुण=पर्जन्य है, तो उक्त नक्षत्र के चारों ओर जलीय परमाणुओं के सघन पटल सदैव परिव्याप्त रहते हैं।

हमने 'अण्डपिण्डवाद' में सिद्ध किया है कि मानव पिण्ड का सब कुछ उक्त ब्रह्माण्डवर्ती तत्तत् पिण्डों की ही देन है, हमारी अमुक शक्ति का मूल स्रोत उक्त ग्रह नक्षत्रात्मक पिण्ड ही हैं। जैसे 'पावर हाउस' की खराबी से समस्त नगर में अन्धेरा छा सकता है और 'वाटर वर्क्स' की खराबी से शहर भर प्यासा मर सकता है ठीक इसी प्रकार उक्त पिण्डों की अनुकूलता किंवा प्रतिकूलता से मानव पिण्ड परिपुष्ट और उपद्रुत हो सकता है।

जैसे लोक में प्रत्यक्ष है कि ग्रीष्म ऋतु में सामने का सूर्य यात्री को चकाचौंध करता है और शिरदर्द आदि अनेक व्याधियों का कारण बन जाता है इसी प्रकार अन्यान्य अमुक ग्रह और अक्षत्र भी अपने से सम्बद्ध तत्त्व पर बुरा या भला प्रभाव अवश्य डालता है। हम उसे सूक्ष्म होने के कारण चाहे सहसा अनुभव न कर पाते हों, परन्तु कोई भी सिद्धान्तवादी हमारी इस स्थापना=मान्यता से इन्कार नहीं कर सकता। अन्तर केवल इतना है कि सूर्य शारीरिक दृष्टि से दायें नेत्र पर प्रभाव डालेगा तो चांद बायें पर डालेगा, वह आत्मा को प्रभावित करेगा तो चांद मन को उद्वेलित करेगा। मंगल रक्त संचार='ब्लेड प्रसर' को उत्तेजित

करेगा, बुध बोलती बन्द कर देगा—कई बार प्रत्यक्ष देखने में आता है कि बड़े २ प्रगल्भ वक्ता अमुक समय मूक हो जाते हैं, समय पर उचित बात भी कहना भूल जाते हैं। अपनी इस अतर्कित मूकता के कारण वे कई प्रकार की हानि भी उठा लेते हैं, समय निकल जाने पर जब दूसरे लोग कहते हैं कि आज तुम चुप क्यों हो गए ? तब वक्ता स्वयं भी अपनी भूल पर बहुत पश्चात्ताप करता हैं, परन्तु—'समय चूकि पुनि का पछिताने' कहना न होगा कि उसकी इस प्रवृत्तिमें 'दैव' ही हेतु है। वैज्ञानिकोंकी दृष्टि में कोई भी कार्य निर्हेतुक नहीं होता हमारे महर्षि भी 'सति मूले तद् विपाकः' सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। समस्त अज्ञात कारणों का ही एक समष्टिनाम 'दैव' है। आस्तिक समुदाय संक्षेपमें किसीभी अज्ञात हेतु को दैव कहकर संतोष करते हैं। परन्तु वैज्ञानिकदृष्टि से जब उस अनेकता का विश्लेषण किया जाता है तो वह एक ही 'देव' अनेक नामों से सामने आता है। इसी व्यष्टि के अनेक नाम ग्रह, नक्षत्र, पञ्च महाभूत आदि कहे जा सकते हैं।

अहिन्दुओं पर प्रभाव क्यों नहीं ?

यहां एक आशङ्का यह भी की जा सकती है कि अहिन्दु लोग यात्रा मुहूर्त के बखेड़े में नहीं पड़ते, उन पर कुछ भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। हम ऐसी आशङ्का करने वालोंसे पूछना चाहते हैं कि हमने 'अण्ड पिण्ड' व्यवस्था के अनुसार जिस सिद्धान्त की स्थापना की है तुम पहिले उसका खण्डन करो, और यह सिद्ध करो कि सूर्यादिका मानवपिण्ड पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, तब हम तुम्हारी क्यों का उत्तर देने के लिए बाध्य हैं। यह बात कोई भी भौतिकविज्ञान-वेत्ता सात जन्म में सिद्ध नहीं कर सकता। फिर

जब विवश हो कर यह स्वीकार कर लिया जाता है, कि मानव पिण्ड पर ब्रह्माण्ड की तत्तद् वस्तुओं का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है तब अहिन्दू उस प्रभाव से कैसे बरी माने जा सकते हैं। अतः हम उच्चैस्तरां कहेंगे कि प्रभाव तो यवन म्लेच्छ नास्तिक और आस्तिक सभी पर समान रूप से पड़ता है, परन्तु मुसलमान उसे 'खुदा की मर्जी' कह कर, ईसाई 'आरडर आफ गाड' कह कर और नास्तिक इत्तिफाकिया = बाई चांस 'ऐक्सीडैण्ट' बता कर, सन्तोष कर लेते हैं। इनमें नास्तिकों का उत्तर एक दम 'अवैधानिक, अननेचरल और मूर्खतापूर्ण है अर्थात् उन्होंने बिना कारण ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हुवे अपनी बुद्धिका स्वयं दिवाला पीट डाला है। ईसाई मुसलमान आदि ईश्वरवादी लोगों ने खुदाका नाम लेकर कुछ कारण तो बताने की चेष्टा की है, परन्तु वे यह जानने में असमर्थ हैं कि आखिर-'खुदा की मर्जी, भी विना कारण ही किसी पर गजब कैसे ढहा सकती है। यदि इतना अन्धेर हो तो फिर खुदा की न्यायशीलता में अन्तर पड़ता है।

ऐसी स्थितिमें भारतीय ऋषियोंकी ईश्वरवादिता इस प्रकार की अन्याय मूलक नहीं, किन्तु वे तो यह मानते हैं कि ईश्वर '**कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं प्रभु**' होते हुवे भी 'कर्म फल दाता' है। मुसलमान ईसाई आदि पुनर्जन्म में विश्वास न रखने वाले मतवादियों से जब भी हमारा 'पुनर्जन्म—जिसे वे मसला तनासुक' कहते हैं, शास्त्रार्थ=मनाजरा हुवा, तो हमारे यह प्रश्न करने पर कि अमुक बालक जन्म से ही अन्धा पैदा हुवा देखा गया, सनातनधर्म की रीति से तो उसकी यह अन्धता पूर्वजन्मकृत पाप का परिणाम है, परन्तु पुनर्जन्म न मानने वालोंके यहां केवल खुदाकी गल्ती या गैरइन्साफीके सिवा इसे और क्या कहा जा सकता

है, बस ! यह सुनने ही बड़े २ मौलाना और पादरी बगलें झांकने लग जाते हैं। हमारे भारतीय वैदिक विज्ञान में ईश्वर की इच्छा भी हमारे कर्म के अनुसार ही होती है वह इत्तिफाकिया, और 'बाई चांस' नहीं होती। जैसे नास्तिक ने पहिले ही उत्तर में बुद्धि का दिवालियापन प्रकट कर दिया तो इन खुदा-परस्त मोमिनों ने भी जिरह करने पर दूसरे ही प्रश्न का उत्तर देते हुवे 'मूल कारण' अन्वेषण की अपनी अक्षमता स्वीकार करली। हम पुनः डंके की चोट उद्घोषित कर देना चाहते हैं कि यात्रा का मुहुर्त न साधने पर अमुक बुराईके शिकार तो सभी होते हैं, परन्तु अपनी अज्ञतावश उस बुराई को अकारण समझ लेना या असली मूल-कारण को छोड़ कर एक मात्र बेचारे ईश्वर पर सब भार लाद देना-यह बात दूसरी है। हम सिद्धान्त रूप से नक्षत्रों का प्रभाव मानने के लिये सब मतवालों को बाध्य कर सकते हैं। अस्तु ! हम कतिपय यात्राकालीन प्रसिद्ध बातों पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं।

दिक् शूल क्यों ?

शनौ चन्द्रे त्यजेत्पूर्वां दक्षिणाञ्च दिशं गुरौ ।
सूर्ये शुक्रे पश्चिमाञ्च बुधे भौमे तथोत्तराम् ॥

अर्थात्—शनि सोम को पूर्व में, गुरु को दक्षिण में, सूर्य शुक्र को पश्चिम में, और बुध मङ्गल को उत्तर दिशा में जाना निषिद्ध है इन वारों को उक्त दिशा में दिक्शूल होती है।

वार क्रम विज्ञान

वार क्या हैं ? वे सात ही क्यों हैं ? और इन का यही क्रम क्यों है ?- इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि

हमारे ब्रह्माण्ड का प्रधान अवलम्ब सूर्य भगवान् हैं। इसी भांति अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के भिन्न २ सूर्य हैं जिन पर तत्तत् ब्रह्माण्डों की अवस्थिति होती है। जैसे शासन तन्त्र को चलाने के लिए प्रधान शासक के साथ अनेक सहयोगियों का मन्त्रीमण्डल भी रहता है, इसी प्रकार सूर्य के साथ चन्द्र आदि छः ग्रह भी हमारे ब्रह्माण्ड के अन्यतम संरक्षक हैं। इन्हीं सात प्रधान ग्रहों के नाम पर सात वार नियत किए गए हैं। यह हम पूर्व ही कह चुके हैं कि राहू केतु छायाग्रह होने के कारण इस गणना में नहीं आते। नक्षत्रों के नाम पर सत्ताइस नक्षत्र नियत हैं। इनका यह क्रम क्यों है? अर्थात् सूर्य के बाद चन्द्र और चन्द्र के बाद मङ्गल क्यों है? यह भी एक रहस्यपूर्ण विज्ञान है। मौलाना से यदि पूछा जाए कि पहिले इतवार क्यों फिर पांचवां जुम्मेरात क्यों? और फिर तुम्हारा सर्व प्रधान वार जुम्मा—विचारा छठे नम्बर पर अपमानित क्यों? बस वे मिमियाते नौ दो ग्यारह हो जाएँगे।

इसी तरह पादरी साहिब भी 'सन्डे' के बाद 'मंडे' और 'मंडे' के बाद 'ट्यूजडे' के क्रम पर कुछ नहीं कह सकेंगे। शङ्काऽऽतङ्क-पङ्काब्धि-मयङ्क, दयानन्दी और 'माई ओपीनियन' के प्रबल पुजारी नास्तिक भी इस सम्बन्ध में 'मौनावलम्बन' के सिवा कुछ न कह सकेंगे।

परन्तु भारतीय ऋषियों ने वार क्रम के सम्बन्ध में लिखा है कि—

(क) मन्दामरेज्यभूपुत्राः सूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः।
परिभ्रमन्त्यधोऽधस्थाः सिद्धविद्याधरा घनाः॥
(सूर्य सिद्धान्त १२-३१)

(ख) मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः।
वर्षाधिपतयस्तावत् तृतीयाश्च प्रकीर्तिताः॥
ऊर्ध्वक्रमेण शशिनो मासानामधिपाः स्मृताः।
होरेशाः सूर्यतनयाद् अधोऽधः क्रमशस्तथा॥
(सूर्यसिद्धान्त १२। ७८-७९)

अर्थात्—(क) शनि, बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्र इस क्रम से एक दूसरेके नीचे २ ये सब ग्रह पृथ्वीसे दूर अवस्थित हैं। अर्थात् चांद पृथ्वी से सबसे निकट है और शनि सबसे दूर है। चन्द्र और पृथ्वी के बीच क्रमशः मेघ, विद्याधर और सिद्ध विचरते हैं। (ख) शनि से नीचे २ क्रमशः प्रत्येक चौथा ग्रह दिन का अधिपति होता है, (अर्थात्—शनि कक्षा से नीचे चौथी कक्षा में सूर्य है, सो शनि के बाद सूर्यवार होगा और सूर्य से चौथी कक्षामें चन्द्रमा अवस्थित है तीसरा वार चन्द्र होगा। पुनः चन्द्र से चौथी कक्षा में भौम आता है, यही चौथा वार होगा, भौम से चौथा बुध आता है, अतः क्रम प्राप्त यही पांचवा वार होगा, और बुध से चौथा पुनः बृहस्पति और उससे चौथा शुक्र, बस ! सातों वारों का क्रम आगया।) इसी क्रम से नीचे २ तीसरा ग्रह वर्ष का अधिपति होगा, और चन्द्र के ऊर्ध्व क्रम से अर्थात् ऊँचे २ क्रम से महीनों के अधिपति होंगे और शनि से नीचे २ क्रम से 'होरा' के अधिपति होंगे।

प्रस्तुत चित्र से यह तत्त्व भली भांति समझ में आ जाएगा—

चौथा ग्रह ही वाराधिपति क्यों ?

जिस वार में सूर्योदय होता है उस समय 'होरा' भी उसी ग्रह

क्यों ?—

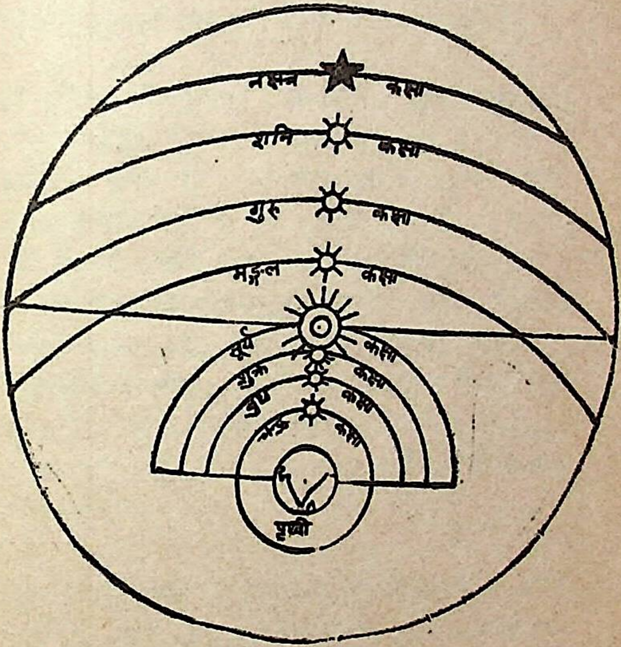
नक्षत्र कक्षा
शनि कक्षा
गुरु कक्षा
मङ्गल कक्षा
सूर्य कक्षा
शुक्र कक्षा
बुध कक्षा
चन्द्र कक्षा
पृथ्वी

शनि, बृहस्पति, मङ्गल, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्र,-इस क्रम से ग्रह कक्षा है । [पृ० ६५२]

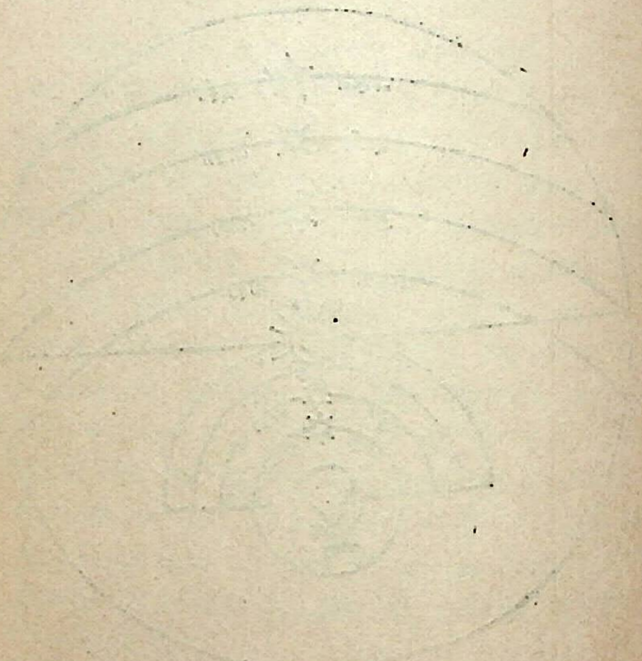

की रहती है। एक अहोरात्रि में बारह लग्न होते हैं। और आधे लग्न को खगौलिक परिभाषा में 'होरा' कहते हैं। इस तरह अहोरात्र में चौबीस 'होरा' होती हैं नवीन गणना के अनुसार होरा को ही घन्टा भी कह सकते हैं। एक घन्टा पूरी अढ़ाई घड़ी का कल्पना किया गया है परन्तु हमारे गणित में तो बाल की भी खाल उतारने की परिपाटी है, क्योंकि हम गणित जैसे विषय में भी 'फरज' करने की प्रवृत्तिको कोरी मूर्खता समझते हैं।

'होरा' पूरी अढ़ाई घड़ीकी न होकर वह लग्नके परिमाण के अनुसार न्यून किंवा अधिक भी होती है। सो जिस वार में सूर्योदय हुआ उस समय तो उस ही ग्रह कक्षा के अनुसार होराएं होंगी। इस तरह सात ग्रहों के तीन चक्र हो जाने पर २१ होराएं समाप्त हो जाएंगी। चौथे चक्र में तीन ग्रहों की होरा बीतते २ चौबीस घन्टे का अहोरात्र समाप्त हो जाएगा। अतः पुनः नये अहोरात्र के समय क्रम प्राप्त चौथे ग्रह की होरा का अवसर है अतः वही वाराधिपति बनेगा, इसीलिए यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि ऊपर से नीचे क्रम से चौथा ग्रह आगामी दिन का वार माना जाएगा। यही सूर्य, चन्द्र, भौम, आदि वारों के क्रम का वैज्ञानिक हेतु है।

वर्ष और मासाधिपति की विवेचना का दिक्‌शूल से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः हम यहां अनावश्यक और अप्रासङ्गिक विस्तार से पराङ्मुख होते हुए पुनः प्रकृत विषय पर आते हैं। हां ! तो वार क्रम जान लेने पर यह भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ये प्रधान चार दिशाएँ हैं। पूर्व की आग्नेय, दक्षिण की नैऋत्य, पश्चिम की

वायव्य और उत्तर की ऐशान्य, ये चार विदिशाएं हैं। सब मिलाकर साधारणतया आठ दिशाएं कही जाती हैं। अपनी २ कक्षा की विशेषता के कारण उक्त आठों दिशाओं के अधिपति माने गए हैं, जैसे पूर्व का अधिपति सूर्य, आग्नेय का शुक्र, दक्षिण का मंगल, नैऋत्य का राहु, (जो छायाग्रह होने के कारण स्थान और अपनी उच्चता के सम्बन्ध से बुध का प्रतिनिधि है) पश्चिम का शनि, वायव्य का चन्द्रमा, उत्तर का बुध और ऐशान्य का बृहस्पति।

दिक्शूल का रहस्य यह है कि अमुक दिशा को जाते हुए जो वार पड़े, यदि वही वार पीठ की दिशा किंवा विदिशा का स्वामी हो तो उस वार को उस दिशामें दिक्शूल समझना चाहिए। अर्थात् दिशा किंवा विदिशा के अधिपति को पीठ देकर यात्रा करना वैसा ही है जैसा कि किसी प्रार्थी का राजा के सामने, किंवा भक्त का प्रतिमा के सामने पीठ देकर खड़े होना। निःसन्देह यह चेष्टा उपास्य का एक प्रकार का अपमान ही है।

अब जरा दिक्शूल विषय को उदाहरण पूर्वक समझिए। यदि हम शनिवार को पूर्व दिशा को जाएं तो शनि महाराज की अधिष्ठित पश्चिम दिशा हमारी पीठमें पड़ेगी, इसलिए शनिवार को पूर्व में दिक्शूल हुआ। इसी प्रकार गुरुवार को दक्षिण को प्रस्थान करेंतो गुरुकी दिशा ऐशान्य हमारी पीठमें रहेगी। रविवार को पश्चिम में जाते हुए सूर्याधिष्ठित दिशा पूर्व, हमारी पीठ में होगी और भौमवार को उत्तर में जाने पर भौम की अधिष्ठित दक्षिण दिशा हमारी पीठमें रहेगी। इसी प्रकार आग्नेयीके स्वामी शुक्र को पश्चिम में जाना, नैऋत्य के स्वामी राहु—तत्प्रतिनिधि बुध को उत्तर में जाना, वायव्य के स्वामी चन्द्र को पूर्व में जाना और ऐशान्य के स्वामी गुरु को दक्षिण में जाना वर्जित है। राहुके

प्रतिनिधि-भूत बुध के कारण जहां इस दिन उत्तर में जाना वर्जित है, वहां उत्तर का स्वामी होने के कारण इस दिन दक्षिण को भी जाना निषिद्ध है। इस तरह यह दोनों ओर जाने में त्याज्य होने के कारण **'सर्वत्र निन्द्यो बुधवारदोषः'** इस प्रवाद का पात्र बना है। कहना न होगा दिक्शूल की भांति यात्राकलीन विधि-निषेध भी जहां प्रमाण मूलक है वहां किसी न किसी वैज्ञानिक हेतु से भी परिपूर्ण है। ग्रन्थ विस्तार भयात् हम इस प्रसङ्ग में अधिक बातों पर प्रकाश डालनेमें असमर्थ है। अतः पाठक, अण्ड पिंड'—देश वैचित्र्य और वस्तु वैचित्र्य आदि वादों के अनुसार वयं तत्तत् विषयों के विज्ञान की कल्पना करके श्रीमती 'क्यों' का विसर्जन करें।

क्या मरना भी मुहूर्त में ही

मुहुर्त विज्ञान उपक्रम में हमने यह भी चर्चा की थी, कि न केवल विवाहादि शुभ कृत्यों के लिये हम मुहुर्त साधते हैं अपितु हमारे पूर्व पुरुष तो आज की भांति बिना मुहुर्त मरने तक के लिए भी प्रस्तुत नहीं थे। अर्थात् मरने का भी मुहुर्त साध कर तभी मरते और यदि कदाचित् मुहुर्त नहीं बनता था तो वे अपना मरना भी स्थगित कर देते थे।

आर्य जाति के गौरव पूर्ण इतिहास ग्रन्थ महाभारत में वर्णन आता है कि महाभारत के संग्राम के समय जब नौ दिन में ही भीष्मपितामह द्वारा कौरवसेना का संचालन करते हुए पांडवों की आधी से अधिक सेना वीरगति को प्राप्त हो चुकी तो पांडवों ने मिलकर मन्त्रणा की कि जबतक भीष्मजी नहीं मरते तबतक पांडवों की विजय असम्भव है। श्रीकृष्ण भगवान् ने प्रस्ताव किया कि भीष्म के मरने का उपाय महाराजा युधिष्ठिर भीष्मपितामह से

ही पूछें। सदाकी भांति रातमें जब युधिष्ठिर भीष्म जी के चरण चांपने गए तो–संकोचवश पूछ न सके। भीष्मजी ने स्वयं उनको उन्मना सा देखकर कारण पूछा और आखीर युधिष्ठिरजीने कड़ा हृदय करके कह ही डाला–पितामह आपके जीते हमारी विजय असम्भव है। यदि आप धर्म की जीत चाहते हैं तो शीघ्रातिशीघ्र निर्वाण प्राप्त कीजिए। भीष्मजी बहुत हंसे और बोले कि अच्छा पुत्र, ज्योतिषियों को बुलाकर मुहूर्त दिखाइए, मुझे मरने में कुछ आपत्ति नहीं। अन्यतम पांडव सहदेव महा ज्योतिर्विद् थे, तत्काल मुहूर्त साधने बैठे, परन्तु दक्षिणायन के कारण मुहूर्त अभी महीनों नहीं बनता था। सहदेवजी ने सत्य बात प्रकट की तो युधिष्ठिर निराश होकर युद्ध से उपरत होने की बात सोचने लग पड़े।

अन्त में नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्मजी ने कहा कि पुत्र ! यद्यपि तुम्हारी जल्दीमें मैं बिना मुहूर्त प्राण त्यागने के लिए तय्यार नहीं तथापि जिससे तुम्हारा काम बन जाए ऐसा उपाय बता देता हूँ। कल रणस्थल में मेरे सामने 'शिखंडी' को खड़ा कर देना, मैं उसे भूतपूर्व स्त्री समझकर पीठ मोड़ लूंगा, तब तुम यथातथा मुझे गिरा देना, इसतरह तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाएगा और मैं मुहूर्त की प्रतीक्षा करूंगा। अगले दिन ऐसा ही किया गया। यह कथा सभी जानते हैं कि उत्तरायण काल की प्रतीक्षा में भीष्म जी शरशय्या पर बहुत समय तक पड़े रहे, और अनेक धर्मोपदेश देते रहे। जब गीताप्रोक्त प्राण त्याग का सुमुहूर्त आया तभी प्राण छोड़े।

इस प्रकार आर्य जाति में अनेक महापुरुष 'स्वच्छन्द मृत्यु' हुए हैं। मरने के मुहूर्त के सम्बन्ध में श्रीमद्भगवद् गीता में सुस्पष्ट लिखा है कि—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
(ख) धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति योगी प्राप्य निवर्तते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ८।२४-२५)

अर्थात्—(क) अग्नि, ज्योतिः दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मास—इस मुहूत में जो ब्रह्मवेत्ता परलोक को प्रयाण करते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (ख) धूम रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मास—इस मुहूर्त में जो योगी शरीर छोड़ते हैं वे चन्द्रलोक तक जाकर पुनः मृत्युलोक में जन्म लेते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों में उत्तरायण शुक्लपक्ष और दिन को मृत्यु के लिये उपयुक्त समय बतलाया है, दक्षिणायन, कृष्णपक्ष और रात को अनुपयुक्त बतलाया है। पहिले मुहूर्त में शरीर त्याग से मोक्ष और दूसरे में मरण से 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का वही जटिल जाल ! यद्यपि कुछ भाष्यकारों ने उक्त श्लोकों की व्याख्या में अर्थान्तर करने का भी प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसे सुस्पष्ट शब्दों की विद्यमानता में तथा श्री भीष्म जी द्वारा उत्तरायण की प्रतीक्षा में शरशय्या पर पड़े रहने की प्रत्यक्ष गाथा की उपलब्धि में अर्थान्तर कल्पना केवल बुद्धि की अजीर्णता का ही परिपाक कहा जा सकता है।

वैज्ञानिक विवेचन

उत्तरायण शुक्लपक्ष और दिन में मरने से मोक्ष क्यों मिलता

है, इसका कारण 'अण्डपिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार भली प्रकार मनन किया जा सकता है। मृत्यु के समय यदि प्राण शक्ति का प्राबल्य हो तो वह जीवन उन्मुक्त हो जाता है, क्योंकि प्राण शक्ति का सम्बन्ध सूर्य पिण्ड से है। अतः उत्तरायणादि के समय सूर्य के आकर्षण से जीव ब्रह्माण्ड पिण्ड से पार निकल जाता है। सूर्य के आकर्षण के सामने अन्य किसी ग्रह नक्षत्र का आकर्षण उसे पुनः पृथ्वी की ओर खींचने में समर्थ नहीं है, यही मुक्ति है। इसी प्रकार दक्षिणायन कृष्णपक्ष और रात के समय मनोमय चान्द्र शक्ति का प्रावल्य रहता है, अतः उस समय मरने वाला प्राणी ब्रह्माण्ड परिधि से पार नहीं जाता। चन्द्र पिण्ड तक पहुँच कर पुनः पृथ्वी पर जन्म लेता है, क्योंकि चन्द्र पिण्ड भूपिण्ड के अत्यन्त निकट है।

इस प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि भला ! यात्रा विवाह आदि कृत्यों में तो मुहूर्तसाधना का कथित फल—सानन्द पुनः घर लौटना, दम्पति में सौमनस्य रहना—आदि यथाकथञ्चित् स्वीकार भी किये जा सकते हैं, परन्तु जब मरना ही पड़ रहा है अर्थात् सब कुछ छोड़कर जीवनलीला ही परिसमाप्त हो रही हो, ऐसी स्थिति में—'अमुक समय मरना और अमुक समय नहीं मरना'—इस प्रकार की पोपलीला का क्या फल हो सकता है ? और फिर मृत्यु तो कोई काम्यकर्म भी नहीं है कि जब चाहो मरो ! और जब चाहो न मरो—चलते फिरते हार्ट फेल हो जाए, मिनटों में लीला समाप्त !!

कहना न होगा कि ऐसे प्रश्न करने वाला सज्जन इस भ्रम में है कि शायद शरीर परित्याग के साथ मनुष्य जीवन सर्वथा और

सर्वदा परिसमाप्त हो जाता है। परन्तु उसे यह विदित नहीं कि जिसका नाम मृत्यु है वह तो केवल स्थूल शरीर मात्र के वियोग का नाम है—'वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च…पुर्य्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः' के अनुसार मर जाने के बाद भी सत्रह तत्त्वों से बना सूक्ष्म शरीर और तदवच्छिन्न जीव आमुक्ति तथैव बना रहता है। ऐसी स्थिति में जीवन काल में मुहूर्त साधने से जो लाभ हो सकते हैं, उससे कहीं अधिक लाभ उपयुक्त मृत्यु से हो सकते हैं। अथच मुहूर्त न साधने पर जीवन में जो हानियें हो सकती हैं, उससे कहीं अधिक मृत्युकालीन असमय के कारण हो सकती हैं। भारतीय शास्त्रों के अनुसार जीवन का प्रमाद इतना भयावह नहीं जितना कि मृत्युकालीन हो सकता है।

वास्तव में मृत्यु एक ऐसा प्रसंग है कि जिससे हमारा भावि जीवन बनना या बिगड़ना दोनों सम्भव हैं। यदि कोई पुरुष विधिवत् मर जाता है तो वह गीता के पूर्वोक्त शब्दों में मुक्त हो जाता है। सदा के लिये जीवन मरण के बन्धन से छूट जाता है। और यदि जीवन भर ठीक रहते हुए भी प्रारब्धवश मृत्यु के समय चौकड़ी चूक जाए, तो मृत्युकालीन भावना के अनुसार ही उसे दानव, मानव, शूकर, कूकर बनने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसीलिए—'यं यं वापि स्मरन् भावम्' 'अन्तमता सो मता' 'बार २ मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कही आवत नाहीं' आदि २। शास्त्रवचन सार्थक होते हैं।

अभिवादन विज्ञान

प्रायः सभी देशों सभी जातियों और सभी वर्गके लोगों में एक दूसरे का सम्मान सत्कार अभिवादन करने की परिपाटी अभी तक प्रचलित है। मुसलमान इसे दुवा, सलाम और ताज़ीम के

नाम से स्मरण करते हैं, ईसाई 'ऐटिकेट' बोलते हैं अन्यान्य भाषाओं में अन्यान्य नाम हो सकते हैं। यद्यपि इसकी अवश्यकरणीयता में किसी भी सभ्य व्यक्ति को विप्रतिपत्ति नहीं है, सभी इसको समान रूप से स्वीकार करते हैं, परन्तु इसकी अनुष्ठान पद्धति एक दूसरे से बहुत विभिन्न देखी जाती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसके वास्तविक-वैज्ञानिक स्वरूप को बिना समझे स्वभावतः लाघवतावादी मानव समाज ने अभिवादन में क्रमशः इतना लाघव कर डाला है कि जिससे इसका असली उद्देश्य ही विलुप्त हो गया है। यदि हम अभिवादन प्रथा के क्रमिक ह्रास का अध्ययन करें तो यह निश्चित हो जायगा कि अभिवादन का आज का विकृत रूप लाभप्रद न होकर उल्टा अनेक हानियों का प्रसारक वन गया है। कहना न होगा कि समस्त सभ्यता और संस्कृतियों की प्रसव भूमि एकमात्र भारतवर्ष है, यह तथ्य सभी ऐतिहासिक मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी प्रथा का विशुद्ध रूप भारतीय शास्त्रों में ही ढूंढा जा सकता है। अन्यान्य लोगों में भले ही अभिवादन को केवल परम्परागत शिष्टाचार मात्र माना जाता हो, परन्तु भारतीय शास्त्रों में तो इसे एक आवश्यक धर्मानुष्ठान स्वीकार किया गया है। इसीलिये हमारे शास्त्रों में इसका स्वरूप, विधि और इतिकर्तव्यता का विस्तृत वर्णन विद्यमान है। यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) अग्निमीडे। (ऋग्वेद १।१।१)

ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। (अथर्व)
नमस्ते भक्तवत्सल ! (वाल्मीकीय रामायण)

(ख) उरसा शिरसा दृष्ट्या, मनसा वचसा तथा ।
पद्भ्यां कराभ्यां जानूभ्यां, प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते ॥
(आह्निक सूत्रावलि)

(ग) प्रणमेद्दण्डवद् भूमौ (रणवीर भक्तरत्नाकर-पाद्मे)

(घ) ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥
(मनु० २।७१-७२)

(ङ) उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत् । (पैठीनसि कुल्लूकभट्टीये)

(च) ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य बर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥
(मनु० २। १२०-१२१)

अर्थात्—(क) मैं अग्निदेव की वन्दना करता हूं। सब से महान् ब्रह्म को नमस्कार करता हूं। हे भक्तवत्सल राम, आपको नमस्कार हो (ख) [देव प्रतिमा के सामने] छाती, शिर, नेत्र, मन, वचन, हाथ, पांव, और घुटने इन आठों अङ्गों द्वारा किये गये प्रणाम को साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। (ग) दंड की भांति भूमि में पड़कर प्रणाम करे। (घ) वेद के स्वाध्याय के आरम्भ में और अन्त में सदैव गुरु के दोनों चरण ग्रहण करने चाहियें। अपने बांयें हाथ से गुरु का बांया चरण और अपने दायें हाथ से गुरु का दायां चरण स्पर्श करना चाहिये (ङ) अपने

दोनों हाथों को उत्तान=ऊपर की ओर सीधा रखते हुए दक्षिण से दक्षिण और वामसे वाम पादका स्पर्शपूर्वक अभिवादन करना चाहिए। (च) क्योंकि सामने आते हुवे वृद्ध पुरुष को देखकर युवकोंके प्राण स्वभावतः ऊपरको उत्क्रान्त होते हैं, अतः जब युवा उठकर अभिवादन करता है तभी वे प्राण पूर्ववत् प्रतिष्ठित होते हैं। [आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्दकृत अर्थ] अभिवादन करने का जिसका स्वभाव है, और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है, उसकी अवस्था, विद्या, कीर्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि आचार्य माता-पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे

उपर्युक्त अभिवादन और प्रत्यभिवादन व्यवस्था को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१—ईश्वर का अभिवादन=यज्ञ वेदपाठ स्तोत्र पाठ आदि साधनों से होना चाहिए, और तत्प्रतिमाओं को साष्टांग प्रणाम करना चाहिए।

२—आयु ज्ञान-यश और बल-वृद्ध गुरुजनों को पाद-स्पर्शपूर्वक प्रणाम करना चाहिये, [यदि प्रणम्यजन साक्षर हैं तो स्वनाम उच्चारण आदि सब विधान करणीय हैं अन्यथा नहीं। वयः प्राप्त ब्रह्मचारियों के लिए वन्दनीय युवतियों का चरण स्पर्श वर्जित है]।

३—समान गुण वयस्कों को परस्पर अपने इष्ट देवता की 'जय' क्रियान्वित नाम ग्रहणपूर्वक सम्मान करना चाहिए। जैसे जयगोपाल, जय हिन्द।

४—गुरुजनों को प्रत्यभिवादन में आशीर्वाद देना चाहिए।

अभिवादन क्यों करे ?

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आखीर अभिवादन करना ही क्यों चाहिए ? इससे क्या लाभ होता है ? क्यों व्यर्थ कवायद परेड की जाय ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान से लिए सर्वप्रथम हमें सभी मत-मतान्तरों की प्रणाम विधियों पर तुलनात्मक ढंग से विचार करना होगा, तभी हम वास्तविक तथ्य पर पहुंच पाएंगे।

ईसाई प्रथा अव्यवहार्य

सर्वप्रथम शिष्टाचार की पुतली मिस मेयो के भाई बान्धवों की ही प्रणाम-विधि पर विचार करते हैं। ईसाइयों में—प्रातः-काल परस्पर 'गुड मार्निग' मध्याह्न में 'गुड नून' दिन ढले 'गुड ईवनिङ्ग' और रात में 'गुड नाइट' करते हैं। इन सब वाक्यों में प्रथम 'गुड' शब्द के माने हैं अच्छा=सुन्दर और शेष शब्दों के अर्थ हैं क्रमशः प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न और रात। यदि एक-दूसरे को 'गुड मार्निग' कहता है तो, इसका सीधा अभिप्राय है कि 'प्रातःकाल मुबारिक !' दूसरा भी उसे कहता है, 'तुझे भी प्रातःकाल मुबारिक !' इस तरह जिह्वा मात्र हिलाने से लाभ दोनों में से किसी को कुछ नहीं हुआ। कदाचित् वे 'ईसा' 'गाड्' कुछ भी कहते तो खुदाका नाम मुखसे निकलनेके कारण मुख ही पवित्र होता। परन्तु 'गुड मार्निग' और गुड नाइट' में तो सार ही कुछ नहीं। अब जरा इसकी व्यावहारिकता पर भी विचार कीजिए। मान लीजिये कि रात में हमारे किसी मित्र के यहां किसी प्रियजन की मृत्यु हो गई, अथवा डाका पड़ गया, चोरी हो गई या मोटर ऐक्सीडैन्ट में हमारा मित्र मरणासन्न हो

गया। हमें प्रातःकाल जब इस अनर्थकारी काण्ड की सूचना मिली तो मानवता के नाते हम उनके कष्ट में सहानुभूति प्रकट करने पहुँचे, और जाते ही 'शिष्टाचारानुरोधात्' तपाक से बोले 'गुड मार्निग' अर्थात् आज का यह प्रभात तुम्हारे लिये मुबारिक=सुहावना है। अब सोचिये, हमारी यह उक्ति जले पर नमक छिड़कने से क्या कम होगी ? मैं सच कहता हूं कि यदि किसी दुःखित पुरुष को कोई मनुष्य ढाढस न देकर, उसके कष्ट में स्वयं भी चार आंसू न गिराकर—उल्टा उसे कहे कि इस कष्ट-प्राप्ति पर तुझे 'बधाई', तो यदि वह दुःखित पुरुष चिढ़कर वक्ता का शिर तोड़ डाले, तो कानून उसे उचित ही समझेगा। क्योंकि कानून की दृष्टि में किसी के जजबात भड़काना, मानों उसको अपराध करने के लिए विवश करना है। इसलिए ईसाइयों की सत्कार-पद्धति जहां निष्प्रयोजन व्यर्थ और अविचार-विजृम्भित है, वहां व्यवहारवादके अनुसार अव्यवहार्य भी है।

मुस्लिम प्रथा रोगों का घर

एक मुसलमान दूसरे को 'अज़ सलामालेकम' कहता है, तो उत्तर में दूसरा बोलता है 'वालेकम सलाम ! इनके शब्दों पर हमें इतनी आपत्ति नहीं, जितनी कि—उपर्युक्त शब्द बोलते हुए एक-दूसरे के हाथ को अपने हाथ में थामकर घर्षण करने में है। इस मुसलमानी प्रथा को ईसाइयों ने तो अपनाया ही था, अब देखा-देखी हिन्दुओंने भी परस्पर हाथ मिलाना आरम्भ कर दिया है। निःसन्देह यह प्रथा एक-दूसरे की संक्रामक बीमारियों के आदान-प्रत्यादान में बड़ी खतरनाक सिद्ध हुई है। कलतक हमारी चिल्लाहट की परवाह नहीं की गई थी, परन्तु अब तो पाश्चात्य देशों के अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने घण्टा घोष के साथ यह

घोषणा की है कि एक बार सेक हैण्ड — अर्थात् हाथ से हाथ मिलाने में हम क्षण मात्र में दूसरे के शरीर में व्याप्त संक्रामक बीमारियों के कितने कीटाणुओं को अपने शरीर में ग्रहण कर लेते हैं और अपने कितने ऐसे कीटाणुवों को दूसरे के शरीर में पहुंचा देते हैं इसका लेखा जोखा करके ठीक संख्या, अधिक से अधिक शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र भी बताने में असमर्थ है। पाश्चात्य देशों में अब यह प्रथा घटने लगी है। समझदार लोग प्राय: दस्ताने पहनकर हाथ मिलाने लगे हैं, परतु प्रश्न तो यह है कि जिह्वा से 'अज सलामालेकुम' और 'वालेकुम सलाम' कहने से लाभ क्या हुआ ? इससे अच्छा तो अल्लाताला, रहीम और करीम आदि खुदा के नाम ही बोल दिये जाते तो कुछ तो फायदा होता !

आर्यसमाजी गए बीते ?

अभिवादन प्रथा के सम्बन्ध में सबसे गए बीते आर्यसमाजी हैं। कहने को तो वे अपने आपको बड़े तर्कतोमर तीसमारखां समझते हैं, परन्तु वास्तव में वे सुस्पष्ट असत्य पर भी आमरण हठ ठानने वाले जटिल जन्तु हैं, जो सौ वार कहने सुनने और समझ लेने पर भी अपने दुराग्रह को छोड़ने के लिये प्रस्तुत नहीं होते। फिर चाहे उनकी इस प्रवृत्ति से आर्यसमाज के चौथे नियम का भले ही दिवाला पिट जाए ? और स्वयं उनको भी कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़े !! हां ! स्वामी दयानन्दजी ने तो संस्कार विधि में प्रमाण पुरस्सर पदे २ अभिवाद नमस्कार पांव छूना लिखा है, परन्तु एक आध स्थान में श्रीमती 'नमस्ते' भी कहीं से आ टपकी हैं जो स्वामी दयानन्दजी की मृत्युके पश्चात् उनके चतुर चेलों की चञ्चल चञ्चु का चमत्कार जान पड़ता है। हम कतिपय

उदाहरण देकर अपनी इस स्थापना को प्रमाणित करना चाहते हैं। यथा:—

१—यह वामदेव्य-गान होने के पश्चात्...नमस्कार सत्कार करे।
(सं० वि० सामान्य प्रकरण पृष्ठ ६१)

२—वधू...'**भवन्तं अभिवादयामि**' ऐसा वाक्य बोलकर पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे। (सं० वि० गर्भाधान पृष्ठ ४३)

३—बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड़ के कहे।
(सं० वि० वेदारम्भ पृष्ठ ६४)

४—...'**भवन्तं अभिवादये**'—ऐसा वाक्य बोल कर आचार्य का वन्दन करे, आचार्य—'**आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य!**' ऐसा आशीर्वाद दे। (सं० वि० वेदारम्भ पृष्ठ ६५)

५—बड़ों को नित्य नमस्कार...। (सं० वि० वेदारम्भ पृ० १०५)

६—आचार्य को अनेक धन्यवाद दे नमस्कार करता हूं।
(सं० वि० समावर्तन पृ० ११३)

७—'**अहं भो अभिवादयामि**' इस वाक्य को बोल के दोनों वधू वर वृद्धों को नमस्कार करे। (सं० वि० विवाह पृ० १८६)

८—वे [संस्कार में पधारे बृद्ध जन] '**सर्वे भवन्तोऽआनन्दिता: सदा भूयासु:**' इस प्रकार आशीर्वाद दें। (सं. वि. पृ. २१२)

इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रबल प्रमाण स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा छपाया गया स्वामी दयानन्द जी का पत्र व्यवहार संग्रह है जिसमें उनके लिखे सैकड़ों पत्र हैं। हमने सब पत्र पढ़े, परन्तु स्वामी दयानन्द जी ने अपने किसी पत्र में भी कभी किसी व्यक्ति को 'नमस्ते' नहीं लिखा, किन्तु सब में प्राय: 'आनन्दित रहो' ऐसा ही लिखा है। अब पाठक स्वयं विचार करें कि इतने प्रबल प्रमाणों

की विद्यमानता में भी आर्यसमाजियों का 'नमस्ते' चिल्लाने का दुराग्रह कितना हठपूर्ण है। यहां यह पूछा जा सकता है कि आखिर नमस्ते में वह क्या इतना बड़ा दोष है जो सनातनधर्मी सदासे इसके प्रति बगावत करते चले आए हैं—आइए हम समझाते हैं।

'नमस्ते', 'नमः' और 'ते' इन दो शब्दोंके सम्मेलन से बना है। 'नमः' का अर्थ है नमना=झुकना=शिर नीचा करना, और 'ते' का अर्थ है 'तेरे लिए'। 'नमः' अव्यय है और 'ते' युष्मत् शब्दकी चतुर्थी का एकवचन है। अब कोई बुद्धिमान् स्वयं सोच सकता है कि गुरुजन यदि अपने से छोटे को नमस्ते कहें तो इसमें नमः शब्द बाधक है। क्योंकि संसार की सभ्यता में पुत्र के सामने माता पिता का, गुरु के सामने शिष्य का और पत्नी के सामने पति का शिर झुकाना=नमना न केवल शास्त्र के अपितु व्यवहारवाद के भी सर्वथा विपरीत है। अब इसके दूसरे पहलू पर विचार करें, यदि छोटा पुरुष अपने गुरुजनों को नमस्ते कहने चले तो इसमें एकवचन 'ते' शब्द बाधक है, अर्थात् अपने वृद्ध जनों को तू कहना सभ्यता का दिवाला पीटना है। किसी देश या जातिकी सभ्यता बड़ों को 'तू' कहने की आज्ञा नहीं दे सकती। ऐसी स्थिति में 'नमस्ते' यह वाक्य न छोटे को बड़ा कह सकता है न बड़े को छोटा बोल सकता है, दोनों रीतियों से यह हेय है।

हमारी इस स्थापना को पूरी सुने बिना ही प्रायः महाशय बीचमें ही चट बोल उठा करते हैं कि वेद में बार बार 'नमस्ते' आता है और '**नमो ज्येष्ठाय, कनिष्ठाय च नमः**' आदि मन्त्रों में तो छोटे बड़े सबको 'नमः' कहनेका सुष्पष्ट विधान है, कौशल्याजी ने अपने

पुत्र राम को 'नमस्ते' की है—इत्यादि २ अनेक उदाहरण देकर स्वामी दयानन्दजी के पूर्वोक्त लेखों की कपाल क्रिया करना चाहा करते हैं। इन सब उक्तियों के उत्तर में हमारा एक जवाब है कि-भारतीय साहित्य में ऐसा एक उदाहरण भी उपलब्ध नहीं हो सकता जहां मानव कोटि के माता पिता गुरुजनों को कभी किसी ने नमस्ते अर्थात्—'तू' कहकर स्मरण किया हो! आप जितने उदाहरण दे रहे हैं या दे सकते हैं वे केवल ईश्वर को लक्ष्य कर के ही कहे गए हैं। एकेश्वरवादी की दृष्टि में जब ईश्वर भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं है, तब ज्येष्ठ कनिष्ठ की कौन कहे—जड़ चेतन सभी कुछ तो उसका ही विराट् रूप है। ऐसी स्थिति में किसी मनुष्य विशेष की ज्येष्ठता कनिष्ठता का अप्रासङ्गिक राग अलापा जायेगा तो आगे 'नमः श्वभ्य:' तस्काराणां पतये नमः' आदि मन्त्रों में महाशय कुतुबुद्दीन को और चोरों के चौधरी को भी तो नमस्कार की गई है। क्या दयानन्दी इसका अनुकरण करके रास्ते में मिले महाशय गधे कुत्तों को भी 'नमस्ते' कहा करेंगे? श्री कौशल्या माता का वह वचन तो हमने स्वयं ही अपने प्रमाणों में उद्धृत किया है, उसमें विद्यमान 'भक्तवत्सल!' शब्द ही महाशयों की तसल्ली के लिये पर्य्याप्त है अर्थात् वह पुत्र समझकर नहीं बल्कि भगवान् समझकर ही वहां 'ते' शब्द का प्रयोग कर रही हैं।

शायद! पाठक अभी तक यह समस्या न सुलझा पाए हों कि यदि अपने से बड़े को 'नमस्ते' कहना अपमान जनक है तब बड़ों से भी बड़े भगवान् को वेद में बार २ 'नमस्ते' आता है, जिसे आप भी स्वीकार करते हैं—इसका तात्पर्य? वास्तविक बात यह है कि जैसे गुरुजनों से 'तू' कहना शोभा नहीं देता,

ठीक इसी प्रकार ईश्वर को आप=भवान्-अर्थात् बहुवचन से सम्बोधित करना भी शोभास्पद नहीं। क्योंकि ईश्वर एक है=अद्वितीय है। उर्दू वाले भी 'तू खालिक है तू सर्जनहार है' इत्यादि शब्दों में उसे तू तू कहकर ही पुकारते हैं। अंग्रेजी में ईश्वर को ही 'दाऊ लार्ड' कहा जाता है, एवं भारतीय साहित्य में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' ऐसा ही कहा जाता है। सो जहां हम यह नियम बना रहे हैं कि अपने से बड़ों को तू बोलना पाप जनक है वहां—ईश्वर इस नियम का अपवाद है। अर्थात्—ईश्वर को 'तू' बोलना ही शोभास्पद है। एतावता ईश्वर कोटि में आया हुआ 'नमस्ते' का प्रयोग पुरुष कोटि के प्रश्न का समाधान नहीं कर सकता।

'तू' शब्द कहाँ बोला जा सकता है इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य का एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक चला आता है। यथा—

बाल्ये सुतानां सुरतेऽङ्गनानां स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम्।
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः·····················॥

अर्थात्—बाल्यावस्था में अबोध पुत्रों द्वारा, सुरतकालीन बेतकल्लुफी के समय स्त्रियों द्वारा, स्तुति पाठ में कवियों द्वारा और रणांगण में योद्धाओं द्वारा 'तू' कहा जाना ही प्रशस्त है।

नमस्ते कहना पाप !

अपने से बड़े को 'तू' कहने पर जो पाप होता है धर्मशास्त्र में उसका सुस्पष्ट प्रायश्चित लिखा है, यथा—

(क) हुँकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।
स्नात्वानश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥

(मनु० ११। २०४)

(ख) गुरुं हुँकृत्य त्वंकृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः ।
श्मशाने जायते वृक्षो गृध्रकङ्कादिसेवितः ।।

(स्मृतिसंग्रह)

अर्थात्—(क) ब्राह्मण को 'हुं' कहे जाने पर और किसी गुरुजन को 'त्वं' कहे जाने पर वक्ता को स्नान करके दिन भर भोजन नहीं करना चाहिए, और चरण स्पर्श पूर्वक अभिवादन करके उनसे क्षमा मांगनी चाहिए। (ख) [यदि यह प्रायश्चित न किया जाएगा तो] गुरुजनों को हुँ तू बोलने वाला व्यक्ति, श्मशान भूमि में वृक्ष योनि को प्राप्त होगा, जिस पर गीध, चील, कव्वे बैठा करेंगे।

महाभारत में भी एक ऐसी गाथा आती है कि जिसमें 'तू' शब्द को मृत्युदण्ड के समान माना है। प्रसंग यह है कि महाभारत संग्राम में एक दिन अर्जुन दूसरे मोर्चे पर युद्ध कर रहे थे और युधिष्ठिरादि दूसरे मोर्चे पर। इस दिन कौरवों ने अर्जुन की अनुपस्थिति में युधिष्ठिरादि की बहुत दुर्गति की। सायंकाल जब अर्जुन वापिस लौटे तो दिन भर के प्रहारों से तंग हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन को निहोरा देते हुए कहा कि तेरे जीते जी हमारी यह दुर्गति! तेरे 'गाण्डीव' को धिक्कार है! यह सुनते ही अर्जुन बहुत खिन्न हुवा, क्योंकि अर्जुन की यह अटल प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे गाण्डीव धनुष का अपमान करेगा मैं उसका वध कर डालूंगा। प्रतिज्ञा पालन के लिये अर्जुन पिता के समान ज्येष्ठ भ्राता का वध करने के लिये उद्यत हो गया। और स्वयं भी प्रायश्चित्तार्थ जलने को चिता पर चढ़ने की तैय्यारी कर ली। बड़ा अनर्थ होने लगा तब अनेक ऋषि मुनि और स्वयं भगवान् कृष्ण, धर्मशास्त्र की कोई ऐसी व्यवस्था ढूंढने लगे कि जिससे

अर्जुन की प्रतिज्ञा भी पूरी हो जाए और दोनों के प्राण भी बच जाएँ। अन्त में सर्व सम्मति से यह निर्णय हुवा कि 'वध' केवल शिर काटने से ही नहीं होता बल्कि शास्त्र दृष्टि से विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों का विभिन्न रीति से वध होता है। जैसे राजा का वध करना हो तो—

'आज्ञाभंगो नरेन्द्राणाम्'

अर्थात्—राजा की आज्ञा न मानना ही उस का वध है। यदि स्त्री का वध करना हो तो—

'पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते'

अर्थात्—स्त्री से पत्नी का सम्बन्ध न रखना ही विना शस्त्र स्त्री का वध करना है। ब्राह्मण का वध भी—

'वपनं द्रविणादानम्'

—के अनुसार उसका शिर मूंडकर धन छीनकर अपमान पूर्वक देश से निकाल देने मात्र से सम्पन्न हो जाता है। बस ! ठीक इसी प्रकार गुरु पिता माता ज्येष्ठ भ्राता आदि गुरुजनों का वध भी—

रने का विधा॰ गरीयसः'

जानेवाले

—के अनुसार उनको 'तू' कह देने मात्र से सम्पन्न हो जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार तब अर्जुन ने युधिष्ठिर को कहा—'सर्व अनर्थों का मूल तू ही है। तूने ही जूवा खेला, तूने ही द्रोपदी को हारा' इत्यादि २। कहना न होगा कि इस ऐतिहासिक तथ्य से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि बड़ों के प्रति 'तू' शब्द का प्रयोग उनका वध करने के बराबर होता है। ऐसी दशा में 'नमस्ते' कहने वाले महाशय स्वयं तो श्मशान के वृक्ष बनेंगे ही, साथ ही वह गुरुजनों का भी तो वध करते हैं।

प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जब लड़ाई झगड़ा आरम्भ होता है तब:—

'रंज की जब गुफ्तगू होने लगी,
आप से तुम, तुम से तू होने लगी।

अर्थात्—पहिले आप २ बोलते हैं, फिर तुम २ बोलने लगते हैं फिर एक वचन तू तू पर ही उतर आते हैं, और तू तू के बाद क्रम प्राप्त डण्डे सोटे का ही अवसर है। इसलिये नमस्ते 'कहना भी वह अक्षम्य अपराध होगा जिसके उत्तर में यदि डण्डा च जाए तो निर्हेतुक न होगा। 'नमस्ते' के उत्तर में ऐसे काण्ड होने का एक ही कारण है कि महाशयों के सौभाग्य से सर्व साधा रण संस्कृत व्याकरण से अपरिचित हैं, वे नहीं जानते कि 'ते क्या बला है? क्या हम आशा करें कि महाशय लोग ठण्डे दिल हमारे इस लेख पर ध्यान देकर (यदि वे नमस्ते से चिपके रहना पसन्द करते हैं, और इस पुरानी बीमारी से किसी प्रक पिण्ड छुड़ा नहीं सकते तो) कम से कम 'नमस्ते' से पूर्व 'अ शब्द और अधिक संयुक्त कर लिया करें। जिससे यह गुरुज के प्रति न होकर ईश्वर के [illegible] प्रहारों स तग [illegible] तरह वे [illegible] कि तेरे जीते ज अक्षम्य पाप से बच सकें।

अन्यान्य मतों और नास्तिक समाज की प्रथाओं का विभि विवेचन करने से यह एक ही विषय—'बाढ़े कथा पार नहिं ल का निदर्शन बन जाएगा। इसलिए यही कहना पर्य्याप्त होगा साष्टांग प्रणाम और चरणस्पर्श से क्रमशः घटते २ यह प्रथा आ कहां जा पहुंची है, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है हिन्दू तो अब भी कम-से-कम दोनों हाथ जोड़कर शिर झुका आवश्यक समझते हैं, परन्तु मुसलमानों ने दोनों हाथों के स्थान

केवल एक हाथ ही मस्तक की ओर करना आरम्भ किया। फौजी लोगों ने केवल डेढ़ अँगुली मात्र को ही बड़े अन्दाजे के साथ मस्तक की ओर उठाना काफी समझा। अब कुछ दिनसे सबकुछ छोड़कर केवल जाति या पेशे का नाम मात्र ग्रहण करना ही चल ड़ा है—जैसे ब्राह्मण को आते देखकर 'पंडित जो ३ !' उत्तरमें ालाजी ३ ! या वैद्यजी ३ ! और मुनीम साहिब ! का बोल बाला । संसार उत्तरोत्तर संक्षेप की ओर बढ़ रहा है। परन्तु इस क्षेप से मानव समाज किन २ अलभ्य लाभों से दिनोंदिन वञ्चित ता जारहा है यह सर्वसाधारण को कानोंकान खबर नहीं।

सनातन धर्मी प्रथा

समस्त मतवालों की अभिवादन की प्रथाओं का निरूपण ने के अनन्तर अब हम क्रम प्राप्त सनातनधर्मी प्रथा और से होनेवाले वैज्ञानिक लाभों का दिग्दर्शन कराते हैं।

साष्टांग प्रणाम क्यों ?

हम पीछे कह आए है कि मन्दिरों में देवप्रतिमाओं के सामने ांग प्रणाम करने का विधान है। इससे सर्व प्रथम तो यह लाभ मन्दिर में जानेवाले राजा, रङ्क सबका अहङ्कार समूल नष्ट एगा। क्योंकि जब तक हमें अपने किसी प्रकार के भी बड़- ा अभिमान बना रहता है तब तक साष्टांग प्रणाम करनेकी ही नहीं होती ! साथ ही दर्शक लोग खास कर स्त्रिएं बड़ी ज के साथ वेषभूषा बनाकर मन्दिर में जाती हैं इससे सर्व- रण के मन में विकार उत्पन्न होता है। देव स्थानों और क उत्सवों में जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सीधे साधे किन्तु ौर स्वच्छ वस्त्र पहिन कर जाना चाहिए। यदि साष्टांग

प्रणाम करनेकी परिपाटी को तत्परतापूर्वक प्रोत्साहन दिया जावे तो स्वभावतः ही तड़क-भड़क वाले चमकीले कीमती वस्त्रों के मलिन हो जाने के भय से भक्त लोग साधारण वस्त्र पहिनकर ही मन्दिरों में आने लगेंगे जिससे विकारमय वातावरण का मूल ही समाप्त हो जाएगा।

इससे एक लाभ और होगा, आज हम जिस समता या साम्यवाद के स्वप्न देख रहे हैं—परन्तु हमारी मनमानी कार्यप्रणालीके दोषसे समता के स्थान में अवांछित 'एकाधिनायकत्व'=Dictetorship का बोलवाला होता जा रहा है-उस समता की उर्वरा प्रसव भूमि ये मन्दिर ही हैं। जिस भगवान् ने राजा रङ्क दोनों को ही समान मूत्र की नाली से उत्पन्न किया और अन्त में भी समान अग्नि जल मिट्टी में मिला देने की व्यवस्था की, उस समोऽहं सर्वभूतेषु' कहने वाले प्रभु के द्वार में भी स्व स्व अधिकारानुसार सबको समान रीति से ही साष्टांग प्रणाम करना चाहिये। साष्टांग प्रणाम में हमारे शरीर का प्रत्येक अङ्ग, दृष्टि और मन सब कुछ ही प्रभु के सामने सुतरां झुक जाता है, अर्थात्—हम सर्वात्मना आत्मनिवेदन कर देते हैं। कहना न होगा कि नवधा भक्ति का अन्तिम उज्ज्वल रूप 'आत्म-निवेदन' ही है, जिसकी प्राप्ति का उच्चतम ध्येय उक्त साष्टांग प्रणाम में निहित है।

हम पीछे सिद्ध कर आये हैं कि पार्थिव आकर्षण का मानव पिण्ड पर समधिक प्रभाव पड़ता है। जब हम साष्टांग प्रणाम करेंगे तो हमारा पिण्ड एकबारगी नीचे से ऊपर तक पृथ्वी पिण्ड से स्पृष्ट होने के कारण पार्थिव विद्युत् से भरपूर हो जाएगा। अब हम जब खड़े होकर प्रभु प्रतिमा को सस्पृह दृष्टि से देखेंगे तो वैज्ञानिक पूजाविधान के द्वारा प्रतिमा में व्याप्त हुए दैवी

गुण हमारे पिंड में भी विकसित हो जाएंगे। हमारी इस स्थापना को यों समझना चाहिए कि जैसे सूर्य की किरणों में सर्वत्र व्याप्त अग्निस्फुलिङ्ग, सूर्यकान्त = आतशी शीशे के सान्निध्य से अपने निकटवर्ती द्रव्यों को भी प्रज्वलित कर देते हैं, ठीक इसी प्रकार सर्वव्यापक प्रभु की विश्व में परिव्याप्त अनन्त शक्तियें प्रतिमा पीठ के सान्निध्य से भक्तों के हृदयों को भी सशक्त बना देती हैं। परन्तु सूर्यकान्त के सम्पर्क में आने वाले वे ही पदार्थ प्रज्वलित हो पाते हैं जो कि स्वयं भी अग्निस्फुलिङ्ग ग्रहण कर सकने की योग्यता रखते हों। पाषाण, जल, लोह जैसे समधिक ठोस पदार्थों पर झटिति आतिशी शीशे की किरणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु रुई, घास, फूंस जैसे ज्वलनशील पदार्थों पर ही हो सकेगी। ठीक इसी प्रकार भक्तों को भी प्रतिमा के दैवी गुणों को अपने पिंड में प्रस्फुटित करने के लिए प्रथम तादृश योग्यता सम्पादन करने की आवश्यकता है। साष्टांग प्रणाम इस योग्यता सम्पादन का अन्यतम साधन है।

चरण छूकर क्यों ?

अब गुरुजनों की चरण स्पर्शपूर्वक की गई वन्दना का रहस्य समझिये। हमारे यहां प्रणाम करना अन्यान्य पन्थोंकी भांति एक निरर्थक व्यापार नहीं है। किन्तु मनु आदि महर्षियों ने इसके चार लाभ प्रकट किये हैं। यथा–प्रथम आयुवृद्धि। दूसरा-विद्यावृद्धि, तीसरा– यशोवृद्धि और चौथा—बलवृद्धि। ये चार पदार्थ कैसे मिलेंगे, इसका वैज्ञनिक हेतु हमारे प्रणाम करने की विधि में सुरक्षित है। हम 'अण्ड पिंड' सिद्धान्त में और विद्युत् आकर्षण प्रघट्ट में यह सिद्ध कर आये हैं कि प्रत्येक मानव पिंड में 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' के अनुसार विभिन्न प्रकार की शक्तियों का समावेश

रहता है। वह वैद्युत् शक्ति ऋणात्मक और धनात्मक अर्थात् नैगिटिव और पौजिटिव नामसे दो प्रकार की है जिसका निरूपण भी पीछे हो चुका है। मानव-पिंड के बायें अङ्ग में नैगिटिव का आधिक्य और दायें अङ्ग में पौजिटिव का बाहुल्य पाया जाता है। यह बात सभी जानते हैं कि अर्धाङ्ग पक्षाघात रोग में मनुष्य का ऊपर से नीचे तकका बराबर आधा-आधा अङ्ग शिथिल हो जाता है। अर्थात् एक पांव, एक हाथ और एक आंख आदि २ सर्वथा जड़ प्रायः हो जाते है, और दूसरी ओर के पांव हाथ नेत्र पूर्ववत् प्रगतिशील बने रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव शरीर में आधो आध दो धाराएं विद्यमान हैं। जब हम किसी गुरुजन को प्रणाम करने चलें तो स्वभावतः सामने वाले व्यक्ति के दायें और बायें अङ्ग हमारे दायें और बायें अङ्गों से ठीक विपरीत होंगे, ऐसी स्थिति में हमारे ऋषियों ने हाथ घुमाकर दांयें हाथ से दायें पांव का और बायें हाथ से बायें पांव का स्पर्श करने का विधान किया है। जिससे प्रणामकर्ता और प्रणम्य दोनों पिण्डों की नैगिटिव और पाजिटिव दोनों धाराएं समान रूप से सम्मिलित हो सकें।

गुरुजन—आयुः, ज्ञान, यशः और बल इन चारों गुणों से अथवा किसी एक या अधिक गुण से परिपूर्ण हैं, और प्रणाम करने वाला निश्चित ही आयुः ज्ञान यशः और बल की पूर्णता का सुपात्र इच्छुक है। जैसे विद्युत् उत्पादक यन्त्र=डैनुमा में सञ्चित विद्युत् अपने सम्पर्क में आने वाले सुस्पृष्ट दूसरे यन्त्र में प्रवाहित हो उठता है, अथवा 'पावर हाउस' से स्विच मिला देने पर हमारी बत्ती जल उठती है, पंखा चलने लगता है, ठीक इसी प्रकार प्रणम्य गुरुजन में जो भी विशिष्ट गुण होंगे वे चरण स्पर्श के कारण प्रणाम करने वाले में

संक्रमण कर जाएंगे। उधर गुरु जन शास्त्र विधि के अनुसार प्रणाम करने वाले के मस्तक पर अपना दायां हाथ रखकर आशीर्वाद देंगे जिससे प्रणम्य और प्रणामकर्ता दोनों में अमुक गुणों से परिपूर्ण वैद्युत् प्रवाह एक आवर्त=सरकल के रूप में सञ्चालित हो उठेगा।

जैसे दीपक से जला दीपक पूर्व दीपकके प्रकाश आदि समस्त गुणों का आधार बन जाता है, परन्तु इससे पूर्वदीपक में कुछ न्यूनता नहीं पड़ती, ठीक इसी प्रकार गुरुजनों के समस्त गुण हमारी प्रणाम पद्धति के अनुसार प्रणामकर्ता में विकसित हो जाते हैं, और इससे प्रणम्य गुरुजनों की शक्ति में कोई न्यूनता नहीं पड़ती। हां! वाचिक आशीर्वाद में शक्ति अवश्य व्ययित होती है इसीलिये शापानुग्रह करते हुए हमारे पूर्वज बहुत फूंक-फूंककर पांव रखते थे। अब भी शास्त्र-विश्वासी विद्वान् किसी को दीक्षित शिष्य बनाने में पात्रापात्र के विचार से आनाकानी अवश्य करते हैं।

दायें हाथके संस्पर्श से, स्पृष्ट मनुष्य के अनेक दोषों का मार्जन किया जा सकता है, और स्पर्श करने वाला व्यक्ति अपने ओज का उसमें आधान कर सकता है। यह वैदिक सिद्धान्त है और वर्तमान युग के शारीरिक विज्ञान निष्णात विद्वान् इसका सर्वात्मना समर्थन करते हैं यथा—

अयं मे हस्तः भगवानयं भगवत्तरः। अयं मे विश्व-भेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ (अथर्व ४।१३।६)

अर्थात्—यह हाथ अधिक गुणकारी है, मेरा यह हाथ सब रोगों की दवा ही है, और यह मेरा हाथ स्पर्श से शुभ=आरोग्य करने वाला है।

आशा है पाठकगण तुलनात्मक दृष्टि से सभी पन्थों की अभिवादन पद्धतियों पर विचार करते हुवे गुण दोष विश्लेषणपूर्वक भारतीय वैदिक पद्धति की सार्थकता, वैज्ञानिकता और अवश्यकरणीयता का भली प्रकार मनन करेंगे। हमारी इस प्रणाम पद्धति की वैज्ञानिकता में यही एक प्रबल प्रमाण पर्याप्त है कि ऋषियों ने दायें हाथ से दायां पांव और बांयें हाथ से बायां पांव छूने की जो व्यवस्था दी है वह अहैतुकी नहीं हो सकती !

गो महिमा

वैदिक वाङ्मय में गाय की लोकोत्तर महिमा का विस्तृत उल्लेख विद्यमान है तदनुसार सभी सम्प्रदायों के हिन्दु अन्यान्य विषयों में मतभेद रखते हुवे भी गौ का समान आदर करते हैं। यह आदर केवल परम्परागत अन्धविश्वास पर अवलम्बित हो सो बात नहीं किन्तु गाय की उन लोकोत्तर विशेषताओं पर अवलम्बित है जो कि भगवान् ने अपनी अनन्त सृष्टि में एकमात्र इसी जीव को प्रदान की हैं। यद्यपि गाय के विषय में 'हमारा गोधन' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं तथापि 'क्यों ?' में गोमाता का सर्वथा उल्लेख ही न होना जहां ग्रन्थ के गौरव को घटाने का कारण बनता है वहां पाठकों को भी गोमहिमा के पुण्यपाठ से प्राप्त होने वाले असीम लाभों से वञ्चित रखने का हेतु बनता है। एतदर्थ हम यहां गोमहिमा का संक्षिप्त दिग्दर्शन करते हैं यथा—

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) गोस्तु मात्रा न विद्यते (ऋग्वेद)

(ख) यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरंचित्
कृणुथा सुप्रतीकम् (अथर्व ४।२१।६)

(ग) सर्वे देवाः स्थिता देहे (बृहत्पाराशस्मृति ३।३३)

(घ) मातरः सर्वभूतानां गोषु पाप्मा न विद्यते ।(महाभारत)

(ङ) गावो नो परमा मित्ता (ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १३।१४)

अर्थात्—(क) गाय द्वारा होने वाले लाभों की कोई गणना हो नहीं है। (ख) गाय का दूध वलिष्ठ बनाता है, और बेडोल मुटापे को हटा कर संननांग बना देता है । (ग) गाय के देह में सब देवताओं का निवास है। (घ) गाय सब प्राणियों की माता है, गव्य पदार्थों में यक्ष्मा बीमारियों के कीटाणुवों को दूर करने की शक्ति विद्यमान है (ङ) गाय मानव समाज की परम मित्र है।

वेदों में गाय को माता कहा गया है यह श्रद्धातिरेक के कारण नहीं किन्तु वस्तुतः ही गाय मानव समाज की माता है, क्योंकि यदि चंद महीने वर्ष या दो वर्ष स्तन पिलानेवाली जननी मां है तो फिर आजीवन दूध पिलाने वाली और मरने पर पांवों की रक्षार्थ अपना चर्म प्रदान करने वाली करुणामयी पुत्रवत्सला गौ, माता नहीं तो और क्या हो सकती है । इसके अतिरिक्त चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ जीव मनुष्य योनि में उत्पन्न होने से पूर्व गो जाति में ही जन्म लेता है, क्योंकि तमोगुण और रजोगुण प्रधान सर्प, सिंह आदि योनियों के अनन्तर पशुओं में सर्वाधिक सत्त्व प्रधान जन्तु केवल गाय ही है इसीलिये भी गौ मानव समाज की जननी है ।

पञ्चगव्य-पान क्यों ?

मत्स्य, कुक्कुट, सूकर जैसे मलभोजी जानवरों के मक्षा-

शयों तक का माँस भक्षण करने वाले कई अहिन्दू गाय के दूध, दही, घृत, गोमूत्र और गोमय द्वारा वैज्ञानिक विधि से निर्मित पञ्च गव्य के पान पर कटु आक्षेप किया करते हैं। परन्तु वे स्वयं नित्य मधु मक्खियों की वमन=शहद और बारहसिंगे की भस्म तथा हिमालय के वानरों की विष्ठा=शिलाजीत तथा मनुष्य की विष्ठा से निर्मित नौसादर को तोलों के भाव से खरीद २ कर खाते है।

वास्तव में वस्तु विशेष की पवित्रता और अपवित्रता उसके तत्तद् गुणों पर ही निर्भर है। यकृत और प्लीहा की खराबी को दूर करने के लिये 'गोमूत्र' के गुणों का परीक्षण हमने स्वयं किया है। वैद्य और डाक्टरों की बहुमूल्य औषधियें जिस रोग को चार वर्ष तक सेवन करने पर भी दूर न कर सकीं, वही रोग गोमूत्र सेवन से चन्द दिनों में काफूर हो गया। गोमय मक्खी, मच्छर, रोग कीटाणुओं तथा सील सीमक आदि दोषों को दूर करने में अमोघ है। इसमें गन्धक और पारद के तात्त्विक अंश प्रचुर मात्रा में होते हैं। नये अनुसन्धान में गोबर से एक विशेष प्रकार की गैस उत्पन्न को गई है और उससे बिजली पैदा करके गांवों को प्रकाशित करने का प्रयोग चल रहा है।

प्रभु के अनन्त धन्यवाद के साथ इस भाग को हम यहीं समाप्त करते हैं। अस्तु,

* * *

सुकवि तुलसी की विदित भणन्त,
अमित हरि श्री, हरि कथा अनन्त।
सहैतुक कतिपय कहे सुकर्म्म,
यही अध्याय तुर्य्य का मर्म॥

माधव पुस्तकालय
१०३ ए कमलानगर दिल्ली से प्रकाशित

क्यों ?

(धर्म-दिग्दर्शन—पूर्वार्द्ध)

इस ग्रंथ को पढ़ने से आपको उन प्राकृतिक एवं सार्वभौम सिद्धांतों का पता लगेगा कि जिनको समझ लेने के बाद ब्रह्माण्ड भर की कोई भी शंका अवशिष्ट नहीं रहती।

इससे आपको प्रातः जगने से लेकर पुनः शयन पर्यन्त की समस्त दैनिक क्रियाओं का, तथा गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त संस्कारों की इतिकर्तव्यता का एवं मूहूर्त अभिवादन आदि २ नित्य व्यवहार में आने वाले अनेक विषयों का सप्रमाण सयौक्तिक अथच विज्ञानपूर्ण रहस्य विदित हो जाएगा।

प्रातःस्मरणीय अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने भूमिका लिखकर इस ग्रंथ का गौरव बढ़ाया है और भारत के सभी चोटी के विद्वानों तथा समाचार-पत्रों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है।

यत्र तत्र गहन विषय को समझाने के लिए अनेक वैज्ञानिक चित्र दिए गये हैं। संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण—

(सात सौ पृष्ठ के बृहत् ग्रन्थ का मूल्य केवल—आठ रुपये)

बेजोड़ !　　विलक्षण !!　　बेमिसाल !!!

धार्मिक साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाला महाग्रंथ

क्यों ?

(धर्म-दिग्दर्शन-उत्तरार्द्ध)

इस ग्रंथ से ईश्वर की सत्ता और तद्विषयक समस्त शंकाओं का निराकरण, अवतारवाद, ईश्वर-उपासना, मूर्तिपूजा, वर्ण-व्यवस्था, स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, त्योहार, पर्व, देवता उनके स्वरूप और वाहन, अश्व, नर गोमेध आदि यज्ञों की इतिकर्तव्यता, एवं मांस के भक्ष्याभक्ष्य आदि का, चारों वर्णों और चारों आश्रमों के विभिन्न अनुष्ठेय कर्मों की इयत्ता का, अमुक-अमुक पदार्थों के स्पृश्यास्पृश्य, ग्राह्याग्राह्य और भक्ष्याभक्ष्य होने की व्यवस्था का—गर्ज है कि सनातन-धर्म की प्रत्येक रीति और नीति का सप्रमाण सयौक्तिक एवं विज्ञानपूर्ण रहस्य विदित हो जाएगा। फिर आपको कोई भी शंकावादी 'क्यों ?' के झमेले में डालकर पथभ्रष्ट नहीं कर सकेगा। अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करवायें।

चन्द्रोदय धर्मपीठाधीश्वर अनन्तश्री जगद्गुरु स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्य जी महाराज ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की भूमिका लिखने के साथ-साथ ११००) पुरस्कार देकर इसको सम्मानित किया है।

[सवा नौ सौ पृष्ठ के ग्रंथ का मूल्य केवल—आठ रुपया]

:o:—:o:

पुराणों की तमाम शंकाओं को भगा देने वाला अपूर्व ग्रन्थ

पुराण दिग्दर्शन

[पृष्ठ संख्या आठ सौ, मूल्य केवल आठ रुपया]

सनातनधर्म जगत् के सुप्रसिद्ध सेनानी शास्त्रार्थ महारथी पं० माधवाचार्य जी शास्त्री की चमत्कारपूर्ण लेखनी से लिखा हुआ अनुपम ग्रन्थरत्न 'पुराण-दिग्दर्शन'—जिसके लिए जनता कई वर्ष से अतीव लालायित थी, और प्रति मास हमें अपने देश-विदेश के अनेक कृपालु ग्राहकों को निराश करना पड़ता था, अब नई सज धज के साथ परिवर्द्धित तथा संशोधित रूप में पुनः प्रकाशित हो गया है। यह वही ग्रन्थ है, जिसका प्रथम संस्करण अफ्रीका प्रवासी भारतीय भाइयों के सदुद्योग से छपकर भारत और उपनिवेशों में एक वर्ष में ही हाथों हाथ अपना लिया गया था। अनन्तर विद्वत्समाज की अतीव उत्कण्ठा देखकर जिसे श्री महारानी सरकार साहिबा बलरामपुर राज्य ने अपने सात्विक दान से प्रकाशित कराकर अधिकारी पण्डितों को प्रदान किया था। पुनश्च जिस ग्रन्थ की मौलिकता और उपादेयता से प्रभावित होकर अध्यात्म-विद्यापीठ नैमिषारण्य के कुलपति गुरुदेव भगवान् श्रीनारदानन्द जी महाराज ने ११००) पुरस्कार देकर जिसका गौरव बढ़ाया। इस ग्रंथ की—

विशेषता यह है—

(१) इसमें अठारहों पुराणों की प्रायः सभी कथाओं और कथांशों को वेदमन्त्रों द्वारा अक्षरशः समन्वित किया गया है।

(२) साइन्स की कसौटी पर कस कर 'बावन तोले और पाव रत्ती' सिद्ध किया गया है।

(३) समाजी, जैन, बौद्ध, मुसलमान और ईसाइयों का मान्य पुस्तकों के प्रमाण देकर तुलनात्मक दृष्टि से परखा गया है।

(४) आज तक पुराणों के खण्डन में जितने पुस्तक किंवा लेख छप चुके हैं प्रायः उन सब का मुंहतोड़ किन्तु सभ्यतापूर्ण जवाब दिया गया है।

(५) विषय प्रतिपादन शैली इतनी विलक्षण और आकर्षक है कि पुस्तक को एक बार पढ़ना शुरु कर देने पर बिना समाप्त किये छोड़ने को जी नहीं चाहता।

(६) भाषा इतनी सरल और रसीली है कि पढ़ते हुवे उपन्यास जैसा आनन्द आता है तथापि भावगाम्भीर्य और लोकोत्तर रहस्यों का अटूट खजाना है।

(७) सभी वर्ग के धर्माचार्य्यों, जगद्गुरुओं, प्रसिद्ध नेताओं महामहोपाध्यायों ग्रन्थानुसन्धायकों, और आलोचक-चक्र-चूड़ामणियों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

(८) विद्वत्परिषद् (पंजाब और कलकत्ता) ने अपने विषय का मौलिक ग्रन्थ मानकर लेखक को 'शास्त्रार्थ महारथ' और 'विद्यावाचस्पति' सम्मानोपाधियों के अतिरिक्त दो स्वर्ण पदक तथा एक सहस्र और दो सौ पचास नकद रकम देकर पुरकृस्त किया है।

(९) अध्यात्म विद्यापीठ नैमिषारण्य की विद्वत्परिषद् ने (११००) पुरस्कार देकर ग्रंथ का गौरव बढ़ाया है।

(१०) इस ग्रन्थ का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि थोड़े ही समय में इसके तीन संस्करण छप चुके हैं।

'क्यों' के सम्बन्ध में प्राप्त कुछ सम्मतियें

शारदापीठाधीश्वर श्री जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य ी अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ जी महाराज—इस पुस्तक में चात्य शिक्षित जनों द्वारा हिन्दू-धर्म पर किये जाने वाले सब आक्षेपों सप्रमाण सयौक्तिक तथा वैज्ञानिक उत्तर दिया गया है। प्रत्येक स्तिक को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी ष्णबोधाश्रम जी महाराज—शास्त्रसम्मत तर्कों एवं वैज्ञानिक चन द्वारा सनातनधर्म के विभिन्न मर्मों को समझाने का प्रयत्न ा गया है। लेखन शैली विलक्षण और भाषा तथा भाव परिष्कृत प्रत्येक सनातनधर्मी को इसे पढ़ना चाहिए।

त्न-श्रीविभूषित श्रद्धेय स्वामी करपात्री जी महाराज—निक नवशिक्षित समाज को वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख करने लये यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है। निश्चित ही इसके द्वारा शास्त्र की ओर जनता की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

नीय श्री अनन्तशयनम् आयंगर भू. पू. अध्यक्ष—रतीय लोकसभा, नई देहली—

सनातनधर्म के महान् विद्वान् श्री पं० माधवाचार्य शास्त्री जी द्वारा त ग्रंथ क्यों ? (धर्मदिग्दर्शन), में सनातनधर्म के सिद्धान्तों का करण और विवेचन भली प्रकार किया गया है। वर्तमान युग में ऐसे ग्रंथ की—जिसमें सनातनधर्म के मूल सिद्धान्तों पर शास्त्रीय णों के अतिरिक्त युक्तियुक्त वर्णन हो, अत्यन्त आवश्यकता थी। लेखक ने इस ग्रंथ द्वारा पूर्ति करके एक महान् कार्य किया है। र्म दिग्दर्शन (क्यों ?) द्वारा धर्मोदय होगा मेरी शुभ कामना है।

श्री १०८ स्वामी राघवाचार्य जी महाराज आचार्य-पीठ बरेली— 'स्वामी जी जैसे प्रवल वक्ता हैं वैसे ही सिद्धहस्त लेखक भी।...प्रस्तुत ग्रंथ ने सनातनधर्म पर की जाने वाली शंकाओं को मिटाने में जितना प्रयास किया है उतना अन्य किसी ने नहीं।

स्व० श्री गोस्वामी गणेशदत्त जी मन्त्री स. ध. प्रतिनिधि सभा पंजाब—'यह वहुत सुन्दर महत्त्वपूर्ण और उपयोगी ग्रंथ है।...यह पुस्तक सनातनधर्मी जनता के लिये बड़ी उपयोगी है उन्हें इसे अधिक से अधिक ग्रहण कर लाभ उठाना चाहिए।'

पं० गंगाशंकर मिश्र एम. ए. प्रधान सम्पादक सन्मार्ग (बनारस, देहली, कलकत्ता)—'हिन्दूधर्म पर विधर्मियों द्वारा जो कुतर्कों की बौछार होती है इनका उत्तर देना सहज नहीं, परन्तु शास्त्री जी ने प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसे सभी कुतर्कों की अच्छी खबर ली है। भारतीय जीवनचर्या को लौकिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य सिद्ध करके दिखलाया है।'

श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश—...इसमें हिन्दुधर्म के सभी अंगों को विज्ञान की कसौटी पर युक्तियुक्त सिद्ध कर दिया है।......विवेचना अद्वितीय है, जिससे प्रतिपक्षियों के छक्के छूट जाते हैं। प्रत्येक हिन्दु को पं० जी की यह पुस्तक अवश्य संगृहीत करनी चाहिए।

भक्त रामशरणदास जी पिलखुवा—'क्यों?' ग्रंथ लिखकर देश, सभ्यता एवं संस्कृति की महान् सेवा की है। जो मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे और चोटी जनेऊ तक उतार फेंक चुके थे इस 'क्यों' ग्रंथ को पढ़ने पर उनको मन्दिर में बैठे चोटी जनेऊ धारण कर भजन करते हमने स्वयं देखा है।...प्रत्येक हिन्दु को अवश्य पढ़ना चाहिए।'

दैनिक नवभारत टाइम्स, दिल्ली—'आजकल कलिाल में समस्त शास्त्र ग्रन्थ पढ़ने के अभाव में केवल इस ग्रन्थ के अध्यन से सनातनधर्म की समस्त परिपाटी का ज्ञान हो जाता है।'

दैनिक जनसत्ता दिल्ली—हिंदु संस्कृति की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने में ग्रन्थकार को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है ! भारतीय विचारधारा, सभ्यता एवं संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने में क्यों ?' जैसे सरल सरस रोचक ग्रन्थों का सदा महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा।'

दैनिक सन्मार्ग बनारस—'विवेचन कला साफ सुथरी और निखरी हुई है। भाषा प्रवाहमयी तथा शैली अत्यन्त रोचक है। पुस्तक त्येक हिंदु के लिए संग्रहणीय और पठनीय है।'

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' देहली—

The author of WHY asks such questions by he hundred,—and to a very great extent ansers them to sciantific satisfaction. He Succeds to a commandable degree in convincing ven a scepxic that this eleborate, and at times igmatic structure of ritual that envelops the ilosophical core of Hinduism is scientifically med at enabling the Hindu to lead a life of alth and strength and consequently of intectual keenness and moral purity···The auths erudition manifest in the book commands pect.

शास्त्रार्थ पंचक	२)
डाक्टरी गाइड	४)
पुराण-दिग्दर्शन परिशिष्ट	१)
सनातन-धर्म	७५ न.पै.
हैदराबाद शास्त्रार्थ	७५ ,,
लेखबद्ध शास्त्रार्थ	७५ ,,
हमारे पर्व त्यौहार	७५ ,,
श्राद्ध-विज्ञान	७५ ,,
हिन्दू और हिन्दुराष्ट्र	७५ ,,
शिखा-सूत्र	७५ ,,
शल्योजेष्यति पाण्डवान्	७५ ,,
श्रीगणेश	५० ,,
विवाह-विज्ञान	५० ,,
उपासना रहस्य	५० ,,
कबीरचरितम्	५० ,,
लबड़ धौं धौं	५० ,,
मर्य्यादा पुरुषोत्तम राम	५० ,,
प्रेरक कथाएं	५० ,,
ओंकार शिवलिंग	४० ,,
गृहलक्ष्मी	२५ न.पै.

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्	२५ ,,
राधा कृष्ण	२५ ,,
टुडे स्मृति	२५ ,,
पुराण प्रश्नोत्तर माला	२५
रास-लीला	२५
आँख का शहतीर	२५
शास्त्रार्थ राजधनवार	२५
हमारा गोधन	२५
निष्कलंक कृष्ण	२२
दूधका दूध पानीका पानी	२५
पुराणों के परब्रह्म कृष्ण	२५
गटरभेकका दिमाग क्रेक	२५
परतत्त्वस्य एकत्वम्	२५
परतत्त्व एक है	२५
ब्रह्मा पुत्री	२०
विष्णु वृन्दा	२०
चीर हरण	१२
पराजय पञ्चक	१२
ग्रह पूजन विज्ञान	१२

४) राधा बृ

९ १) दुडे स्मृ

न नै पुराण प्र